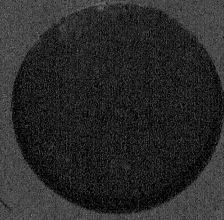
हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक



हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाग ४२
अङ्क १

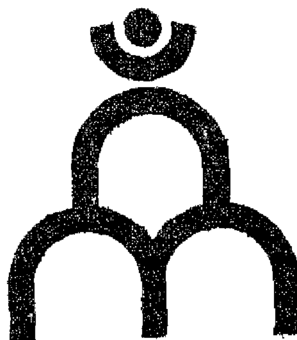
जनवरी-मार्च
सन् १९८१ ई०

प्रधान संपादक
डॉ० रामकुमार वर्मा

संपादक
डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक संपादक
डॉ० रामजी पाण्डेय

मूल्य : ५ रुपये]



[वार्षिक : २० रुपये

अनुक्रम

शासन और साहित्य

प्रिय डॉ० जगदीश गुप्त,

आप 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के लिए 'शासन और साहित्य' विषय पर मेरे विचार लेख-रूप में चाहते है। मैं इधर लेख की अपेक्षा लम्बे पत्र लिखना पसन्द करता हूँ। उसमें आत्मीयता रहती है। आपने अपने पत्र में संकेत भी दिया है कि साहित्य अकादमी में लम्बे अरसे के अनुभव को भी मैं आधार बनाऊँ। ठीक है, आपकी इच्छा स्वीकार है। सत्य, अप्रिय हो, तो भी कहना चाहिये—हमारे गुरुओं ने हमें सिखाया है : कबीर, निराला, राहुल ये सब हमारे गुरुस्थानीय है।

क़िस्सा यों शुरू होता है कि साहित्य तब भी था जब शासन नहीं था, और साहित्य तब भी रहेगा जब यह-या-वह शासन नहीं रहेगा। 'हद-बेहद दोनों गया, कबिरा देखा नूर'। 'जो जो अर्थ थे चले ग।/कुछ बुरे गये, कुछ भले गये'। यानी आपने एक वस्तु जो शाश्वत है जिसका नाम है 'साहित्य' और दूसरी जो 'क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृतिवेश' है, यानी 'शासन'—दोनों को एक-साथ जोड़कर देखने का यह 'द्वैती' काम सामने रख दिया। आप तो अच्छे चित्रकार हैं—आपको एक चुटकी में यह भेद बतला दूँ, सब 'पर्सपेक्टिव' का फर्क है। यानी आप यह प्रश्न किस परिप्रेक्ष्य में पूछना चाह रहे है? उतने ही उसके उत्तर होंगे। यदि यह प्रश्न हिन्दुस्तानी एकेडेमी के स्वर्गीय असिस्टेंट सेक्रेटरी सत्यव्रत सिन्हा की स्मृति में है तो उत्तर भिन्न है, यदि यह प्रश्न पंजे के नीचे छोटे-छोटे टाइप में 'चुनाव विज्ञापन श्रीकांत वर्मा द्वारा प्रचारित-प्रसारित' लिखा है तो उत्तर दूसरा है। यदि यह प्रश्न उत्तर प्रदेश शासन के सत्तर वर्ष के अनकरीब लेखकों को ही क्यों सम्मानित करता है, के बारे में है तो उत्तर तीसरा है। और प्रश्न राजस्थान के मुख्यमंत्री ने जयपुर में महादेवी वर्मा से क्या कहा के बारे में है तो चौथा।

आज ही मैंने (यानी १८ जून, १९८१ को) बम्बई के महाराष्ट्र टाइम्स में एक सम्पादकीय पढ़ा 'सरकारी वाल्मीकि'। और समाचार पढ़े कि कवि 'कुसुमाग्रज' ने बम्बई राज्य साहित्य संस्कृति मण्डल की दस हजार की फेलोशिप अस्वीकृत कर दी। महाराष्ट्र में जो हो रहा है, वह कल अन्य प्रदेशों में होते देर नहीं लगेगी, तब किसी मुक्तिबोध का 'जादुई' नाम काम नहीं देगा। एक बार विक्रम विश्वविद्यालय के विद्यार्थी फीस बढ़ाने के विरोध में आन्दोलन कर रहे थे। कवि—उपकुलपति डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने उन बच्चों को 'कालिदास की भूमि' आदि कहकर कविता सुनानी शुरू कर दी। बच्चे ये तरकीब समझ चुके थे। बोले—'अब कविता नहीं चलेगी, सर फीस ही कम होगी।'

तो सबसे पहले प्रणम्य वर्ग तो उन सन्तों, फकीरों, फक्कड़ों का है जिन्होने साहित्य 'स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' लिखा, जिन्होंने कहा—'संतन को सीकरी सों कहा काम ?' इमर्जेन्सी के समय सातारा की महाराष्ट्र साहित्य परिषद् की अध्यक्ष दुर्गा भागवत ने गुरु समर्थ रामदास की पंक्तियां दुहराई थीं—'हमें आपके पास आने की क्या जरूरत है ? सिर्फ श्रांति होती है।' (इस भाषण का अनुवाद 'अज्ञेय के लिए' 'नया प्रतीक' में छपवाया गया था) आंध्र कवि पोतन्ना से राजा ने बात कही क्या सेवा कर सकता हूँ? वे बोले मेरी छोटी-सी जमीन

काफी है अन्य और कुछ नहीं चाहिए आधुनिक काल मे ऐसे त्याग के उदाहरण कम नहीं हैं संस्कृत अँग्रेजी कोश के सम्पादक वामन शिवराम आपटे सरकारी नौकरी मे कुछ तीसेक के करीब ज्यादह ही रुपये पाते थे। तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा की पुकार दी—नौकरी छोड़कर स्वेच्छा से चालीस रुपये माहवार पर नौकरी करने लगे। छोटी उम्र में मर गये। कई लोगों को अच्छी-अच्छी शासनिक सेवाओं की प्रलोभन-भरी बातें कही गईं, मगर उन्होंने मना कर दिया था। प्रेमचन्द ने 'वार जरनल' के लिए लेख नहीं लिखे। हमारे छुटभैये सह-सम्पादकों की मर्दानगी छोड़ दीजिये—उन्होंने रमा जैन के अभिनन्दन से लगाकर 'आनन्द मार्ग' के पत्रों में लिखने तक, अमरीकी-रूसी एम्बैसियों के लिए अनुवादों की बात छोड़ दीजिये—पर बड़े-बड़े महाकवियों (?) ने भारत में काम किये—क्या-क्या नहीं किया। ठीक है, 'अर्थस्य पुरुषो दासः'—महाभारत में भीष्माचार्य ने भी कहा। पर फिर भाई, हजार चूहे खाय के 'स्वतन्त्रता' और 'स्वायत्तता' का उपदेश तो मत दो। मुझे दुर्भाग्य से दिल्ली में, साहित्यिक केन्द्रीय संस्थाओं के अतिनिकट रहने से सभी भाषाओं के अनेक प्रगतिशील और अ-प्रगतिशील का दुचित्तापन; और शासन के प्रति यह प्रेम-द्वेष, राग-विराग (एम्बीवैलेन्स) बहुत देखने को मिला है। इसलिए उसकी चर्चा क्या करना? पंत जी परिवार-नियोजन पर लिखी कविता के लिए थोड़े ही याद किये जायेंगे, न अज्ञेय जी—नहीं-नहीं कैप्टन वात्स्यायन जी—आसाम फ्रंट पर 'दिल्ली-खुश-सभा' के नामजदगी अफसर के नाते, न नरेन्द्र शर्मा उनके फिल्मी गीतों के लिए, न 'दिनकर' जी 'भरती हो जा फौज में/अपनी-अपनी मौज में' के लिए, न 'जोश' मलीहाबादी फिल्मों के लिए लिखे—जैसे तुर्की की फौज आदि गानों के लिए; ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'बीबी' कहानी लिखी, मगर वह उसके लेखक के नाते मशहूर नहीं हैं; इसी तरह कितने लोगों को पता है कि मिर्जा गालिब ने लार्ड हार्डिंज के नाम क़सीदा लिखा था; या मैथिलीशरण गुप्त की 'मंगल-घट' में ब्रिटिश राजपुत्र के स्वागत पर भी गीत हैं। 'ईवन होमर नोड्स'। बड़े-से-बड़े लेखकों ने कमजोरियाँ दिखाई हैं—'निराला' जी ने दुलारेलाल भार्गव के लिए दोहे रच दिये, ऐसी आख्यायिका है। अब क्या कीजिये, इस सारी कमजोरी का? किसी ने संपत्ति के, किसी ने सुरा के, किसी ने सुन्दरी के—और अब आजकल इन नशों में सब सबसे बड़ा नशा 'सत्ता' के आगे हाथ टेक दिये हैं। सत्ता की एक 'कृपा-कटाक्ष की कनी' पाने के लिये क्या-क्या पापड़ नहीं बेले हैं!! यही सुसरी कांचन और कामिनी से बुरी लत कीर्ति की है।

इसलिए एक पक्ष का कहना यह है कि साहित्यिक नामक प्राणी के लिए हजार खून माफ है। वह फिर दुम हिलाता है कुर्सी के आगे—हिलाने दो! बच्चन ने सार्त्र के नोबल पुरस्कार ठुकराने पर लम्बी कविता 'धर्मयुग' मे लिखी। 'साहित्य अकादमी' का पुरस्कार ले लिया, तब यह भी कहा, 'मैं सार्त्र थोड़े ही हूं।' भगवती बाबू को लोग 'चित्रलेखा' से याद रखेंगे, न कि चरणसिंह की चारणगिरी में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में लिखे दो लेखों के कारण। मकबूल फिदा हुसैन महान् कलाकार पहले ही बन चुके थे, इन्दिरा जी पर उन्होंने 'सिंहवाहिनी दुर्गा' चित्र बनाया क्या और न बनाया क्या—'की फर्क पैन्दा है।' 'निराला' जी ने चिढ़-चिढ़कर गांधी पर, नेहरू पर, टण्डन पर लेख लिखे हैं—पर लोग उनको याद रखेंगे 'राम की शक्तिपूजा' के लिए, उनके गीतों के लिए, उनकी 'सरोज-स्मृति' के लिए। यह सब बातें 'शासन' नामी जो यंत्र होता है वह नहीं समझता। नौकरशाही के पास दूरदृष्टि नहीं होती न हृदय होता है वह बहुत छोटे-छोटे समझौते और सौदे करती रहती है वह बहुत छोटे कान्फर्मिटी पर खुश हो

जाती है। मराठी में कहावत है 'कोल्हा काकड़ी लांच राजी' (सियार ककड़ी से ही खुश !)

मैं २१ वर्ष साहित्य अकादमी में रहा। पुरस्कारों की योजना चलती रही। मेरी जानकारी में केवल गुजराती के एक स्वामी आनन्द ने अपनी संस्मरणों की पुस्तक पर मिला ५,००० रु० का पुरस्कार बड़ी विनम्रता से अस्वीकार कर दिया—"मैं आपके पुरस्कार और सम्मान का आभारी हूँ। मैं स्वामी हूँ। पैसा नहीं छूता। किसी परोपकारी कार्य में यह राशि दे दीजिये।" बस, इतना-सा छोटा पत्र आया था।

अब एक बार मराठी के आधुनिक कहानीकार श्री जी० ए० कुलकर्णी ने पुरस्कार इस बात पर अस्वीकृत कर दिया कि जिस वर्ष के प्रकाशन के नाते यह पुरस्कार दिया गया, उससे अगले वर्ष की प्रकाशन तिथि उस पुस्तक पर थी। बस। शेष सारी भाषाओं के सारे पुरस्कार अब तक सब तरह के साहित्यकारों ने स्वीकार किये—किसी ने भी अकादमी को राशि लौटाई नहीं। यह बात दूसरी है कि रामकृष्ण मिशन के स्वामी ने यह राशि ली, तेलुगु पुस्तक के लिए, मिशन को दी। एक अति वामपक्षी कवि बहुत धमकियाँ दे गये, पर बाद में उन्होंने चुपचाप चैक ग्रहण कर लिया। 'पैसा किसी को नहीं काटता'। राजाश्रय का प्रेम भी कहीं-न-कहीं हरेक लेखक-कलाकार के सामंती मन में अचेतन में—भारत में प्रसुप्त है। नहीं तो आस्थान-कवि, राजकवि, राष्ट्रकवि जनकवि, क्रांतकवि ऐसे बिरुदों की इतनी दिल खोलकर खैरात नहीं होती—कुछ तो किफ़ायतशारी बरती ही जाती।

स्वतन्त्र भारत के १९४७ से १९६४ तक प्रथम सत्रह वर्ष नेहरू इस देश के कर्णधार थे। कांग्रेस पक्ष ही सर्वप्रधान था। शासन की बागडोर उन्हीं के हाथों थी। प्रबुद्ध राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, साहित्य-कला के पारखी थे एक से एक बढ़कर—राजेन्द्र प्रसाद, राधाकृष्णन, ज़ाकिर हुसैन आदि। गांधी-नेहरू-युग में बौद्धिक बड़ी संख्या में राजनीति में खिंचकर आये—सब के सब अँगूठाछाप 'स्वीकारवादी' (कन्फर्मिस्ट) नहीं थे। हुमायूँ कबीर, सरदार पणिक्कर, सी० डी० देशमुख, सी० राजगोपालाचारी, डॉ० रघुवीर, काका गाडगिल—हर प्रांत और भाषा में लेखक-चिन्तक विद्वान् थे जो 'शासन' की आलोचना करते थे, शासन से जुड़े भी हुए थे। सब के सब सौ प्रतिशत 'हाँ-में-हाँ' मिलाने वाले 'जी हुज़ूर' टाइप नहीं थे। विरोध बड़े पाये से होता था और वह सहन किया जाता था। आचार्य नरेन्द्रदेव और सम्पूर्णानन्द, शिब्बनलाल सक्सेना और शार्दूलसिंह कवीश्वर, सुभाषचन्द्र बोस और मानवेन्द्रनाथ राय, राहुल सांकृत्यायन और स्वामी सहजानन्द—कितने-कितने नाम याद आ रहे हैं जिनके वज़नदार विरोध को कांग्रेस की गौशाला के 'वत्स' भी शांति से सुनते थे। उससे ग्रहण करते थे। तब विरोध और शासन के बीच स्वस्थ 'संवाद' चलता था।

अब कुछ सम्बन्ध शोषक-शोषितों वाले आ गये—गये पन्द्रह वर्षों से यह अधिक बढ़ गये। लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद से (१९६६ से) यह मानवीय वृक्ष शासन से कुछ कम हो गया। जर्मन भाषा में जिसे 'रि आल पोलिटीक' कहते हैं, जो माकियावैली का सिद्धान्त था, या उससे भी पहले कौटिल्य—चाणक्य की जो 'साम-दाम-दण्ड-भेद' की जोड़-तोड़ की राजनीति थी, वह ज्यादह हावी हो गयी। उसी मात्रा में मानवीय पक्ष कम होता गया। मैं किसी व्यक्ति, नेता, पक्ष या प्रोग्राम पर दोष आरोपित करके छुट्टी नहीं करना चाहता हूँ। साहित्यकार अवश्य अपने आपको अब एकदम 'जलावतन', 'आत्म-निर्वासित', 'आउट-साइडर' अनुभव करने लगा। नेहरू जिस दिन मरे मामा वरेरकर ने कहा था मैं अनाथ हो गया यह जो भावना है

यह भव किनने नेताओ के विषय मे कितने पक्षधर या पक्ष अधर साहित्यकारो मे आज है। कमलापति जी त्रिपाठी उत्तर प्रदेश के बड़े बुजुग कांग्रेसी माने जाते थे—या उनसे पहले द्वारकाप्रसाद मिश्र मध्यप्रदेश को लीजिये। उनके मंत्री न रहने पर कितने लेखकों को 'दुख' हुआ? ये उदाहरण मैंने सहज लिये, चूँकि दोनों का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य, पत्रकारिता आदि से प्रकारान्तर से रहा है। अब राष्ट्रीय नाट्यशाला चाणक्य सेन का 'मुख्य मंत्री' नाटक खेलती है। कल शायद और कुछ मंत्रियों पर या विरोधी पक्ष के जोकरों पर नाटक और फार्स लिखे जायें? क्या साहित्य का राजनीति से इतना ही सम्बन्ध भारत में रह गया है? राजनीति साहित्य को नये-नये व्यंगचित्र देती चलेगी—कब तक?

शासन भी आखिर भारतीय ही करते हैं। हमारे-आप जैसे मध्यवित्त, किरानी, क्लर्क, बाबू, छोटे-बड़े अफसर, उसी में से चुने जानेवाले सचिव, इत्यादि। क्या उनमें साहित्य प्रेम अब शून्य हो गया है? एक श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' लिखा। बस। ततः किम्? या गोविंद मिश्र ने 'धांसू' लिखा। तो क्या हुआ? 'वन स्वालो इज नाट मेक ए समर'—अकेला चना भाड़ नहीं फोडता। प्रशासन में अब 'कार्बन कापियाँ' बैठी हैं। उन आई-सी-एसों में जैसे जगदीशचन्द्र माथुर थे या पी० एस० लाड थे, अब बहुत कम लोग हैं। कहीं किसी अशोक वाजपेयी या किसी सीताकांत महापात्र जैसे आई० ए० एस० का साहित्य-प्रेम बहुत स्पष्ट रूप से सामने आता है। पर अन्नदाशंकर राय और रा० कृ० पाटील भी आई० सी० एस० थे जिन्होंने अपना आई० सी० एस० पद सिद्धांतों के लिए छोड़ दिया। अब 'पदेन' साहित्यिक अनेक हैं। कई लोगों ने पद पर आने के पहले तक एक भी पुस्तक नहीं लिखी होती थी, पर पद प्राप्त करते ही उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, उनकी रुचि से खरीद होती है। पद भी साहित्यिक कीर्ति का एक आवश्यक जुज बन जाता है। इसकी नैतिकता को मार्क्सवादी, समाजवादी, गांधीवादी, रसवादी, हिन्दुत्वनिष्ठ सब अपने-अपने ढंग से केवल स्वीकार ही नहीं करते, उसे प्रोत्साहन भी देते हैं।

इस तरह के नये चिन्तन मे तीन तरह की तार्किक भूलें हैं: नंबर एक, पद के कारण एक व्यक्ति लेखक माना गया। पद जाते ही उसके लेखन को कोई नहीं मानता। उसकी जो किताबें खरीदी गईं, वह फिर कौन पढ़ता है? आपने 'अनबुझी प्यास' नामक उपन्यास का नाम सुना है? तिरंगे कवर में बहुत पक्की जिल्द में इसकी हजारों प्रतियाँ तब मध्य प्रदेश में खरीदी गई थी जब उसके लेखक मंत्री-मण्डल के सदस्य थे। वही हाल अन्य पदों का है। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रकाशकों के प्रकाशन सलाहकार भी हो जाते हैं। इसमें कोई दोहरी नैतिकता नहीं देखी जाती। फिर राजनैतिक पक्षों, मंचों, पुरस्कारों, विदेश-यात्राओं आदि-आदि में ये पद बड़े काम आते हैं। एक विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष ने जीवन में एक ही किताब लिखी (वैसे और कई जगह उसकी भी जरूरत नहीं होती); वे पद्मश्री बन गये, वे सोवियत रूस हो आये; वे नेहरू फेलोशिप पा गये, वे और भी अनेक कमेटियों पर हैं। यह खिचड़ी में एक दाना टटोलने की तरह केवल 'स्थाली पुलाक न्याय' है। वैसे एक स्थान पर तो एक व्यक्ति की रीडर के नाते नियुक्ति हो गई, जो पी-एच० डी० भी नहीं था/थी; पढ़ाने का भी उसे कोई अनुभव नहीं था, कोई प्रकाशन भी नहीं था। किसी की रिश्तेदारी, किसी की जाति का होना, किसी बड़े साधु का चेला होना, किसी तरह शासन की 'हाँ-में-हाँ' मिलाने की योग्यता रखना क्या अपने-अपने काफी गुण नहीं हैं। हमारे एक मित्र ने हिंदी विभागाध्यक्षों की गत तीस वर्षों की नियुक्तियों में 'जाति-उपजातिवाद का योगदान' पर पूरी रिसर्च की है। पर बेचारे विश्वविद्यालयों को, या

कैबिनेट के मंत्रियों-उपमंत्रियों और आई० एस० एस० नौकरशाहों को ही क्यों दोष दें—साहित्य के व्यवसाय के जो अन्य पक्ष हैं, वे कहाँ तक नैतिक हैं ? संपादक, प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेता, पाठक आदि भी तो साहित्य-व्यवसाय के महत्वपूर्ण अंग हैं, केवल लेखक या अध्यापक या प्रशासक ही नहीं ।

प्रत्येक क्षेत्र में शासन ने अपनी टाँग अड़ानी शुरू कर दी है । पुस्तक, ग्रंथ, पत्र-पत्रिका, आदि के मुद्रण व्यवसाय में कागज एक प्रधान वस्तु है । उसका एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट लगाकर लाइब्रेरियों में थोक खरीद तक में कहीं-न-कहीं सरकार आती है । सारे देश में प्रकाशन-व्यवसाय त्राहि-त्राहि कर रहा है । किसी को फिक्र ही नहीं है । क्या मजे की बात है कि हमारे देश के बुद्धिमान वैज्ञानिक, शास्त्रविद् विदेशों के लिए लिख रहे हैं और अच्छी रायल्टी पा रहे हैं । और हमारे देश में नौकरशाह बैठक है कि वह निर्णय ही नहीं कर पाता । कहीं-कहीं पाठ्य-पुस्तक निर्माण, प्रकाशन आदि का राष्ट्रीयकरण उर्फ सरकारीकरण हो गया । पर उससे समस्याएँ सुलझी नहीं, बढ़ती ही चली गयीं । एन-सी-ई-आर-टी के भारतीय इतिहास के ग्रंथ को लेकर कितना शोर हुआ—पक्ष में, विपक्ष में । अब तो लगता है हर चीज का राजनीति-करण हो जायेगा । ऐसे में बेचारा साहित्य क्या करे ?

कुछ पुराने साहित्यकार मिलते हैं । वे दुःख के मारे अनेक कमेटियों में अपने को अलग करके बैठे हैं । कुछ मँझले लोग । उन्होंने अपने-अपने परिचित पकड़ लिये हैं । बल्कि यहाँ तक होता है कि पुरस्कार समितियों में, पाठ्य-ग्रंथ समितियों में सर्वत्र वे ही नाम घूम-फिरकर बार-बार सामने आते हैं । यह विचित्र स्थिति है । सब पक्षधर होने की होड़ में लगे हुए हैं । 'निष्पक्ष' होना मानो पाप है । ऐसे लोग जो गुट-निरपेक्ष हैं, वे 'हंसा जाइ अकेला' की तरह उपेक्षित रह जाते हैं । संघर्ष आजीवन करते रहे, कर रहे हैं, करते रहेंगे । उनके मरने पर झट से उनके नाम से फायदा उठाने वाले सामने आ जायेंगे । श्राद्धभोजियों की अपने देश में कमी नहीं ।

तीन ही विकल्प हैं—

(१) शासन साहित्य को पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ दे । कहीं भी दूर-दराज से भी दखलन्दाजी न करे ।

(२) शासन केवल साहित्य-निर्माण के लिए आवश्यक साधन, उपकरण, परिस्थितियाँ, परिवेश आदि जुटाये । साहित्य की निर्मिति मूल्य-निर्णय के चक्कर में न पड़े ।

(३) अन्यथा जैसा साम्यवादी देशों में होता है, साहित्य का पूरा व्यवसाय शासन-नियंत्रित हो जाय । 'कमिसार' जैसा कहें, वैसा आदेश सब पालन करें । सरकार ही लिखवाये, वही पढ़वाये, वही बेचे, वही खरीदे । लेखक केवल 'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्' होकर रहे ।

यह जो हमने मिली-जुली व्यवस्था अभी रखी है, इससे कोई खुश नहीं । और अवसरवादी को जैसे राजनीति में, वैसे साहित्य में भी, खूब चरने का मौका मिलता है ।

उत्तर प्रदेश सरकार के वार्षिक पुरस्कार हों या बिहार के वृद्ध या रुग्ण साहित्यकारों को सहायता की योजना हो, या मध्य प्रदेश में 'कविता की वापसी' हो या महाराष्ट्र में लेखकों के 'शिबिर' और वन-विहार की योजना हो, हर अच्छे इरादे के पीछे-पीछे उसे खराब रूढ़ि में बदल देनेवाली मानवीय कमजोरी विद्यमान रहती है । शासन उससे पूरा लाभ ले सकता है । राजस्थान और जम्मू-कश्मीर में अच्छे हस्तलिखितों को प्रकाशनार्थ पुरस्कार देने की योजना के अन्तर्गत कितनी महत्वपूर्ण पुस्तकें छपीं ? या अन्य अकादमियों ने कितने श्रेष्ठ अनुवाद या मौलिक

श्रेष्ठ पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित किये ? पहले ही सूचना प्रसार मंत्रालय, नेशनल बुक ट्रस्ट और साहित्य अकादमी के गोदामों में अनबिकी पुस्तकों की संख्या कम नहीं है। उनमें कुछ और बढ़ा दी गई। क्या सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा योजना को गंभीरता से लिया ? कितने लोगों में पुस्तकें खरीद कर पढ़ने की ललक इन दो-तीन दशकों में बढ़ी ? यदि नहीं, तो क्यों नहीं ?

— क्या पुस्तकों के दाम अधिक हैं ?

—क्या पुस्तकें लाइब्रेरियों से लेकर अखबार पढ़ लेने पर खरीद कर रखने लायक, संग्रहणीय नहीं लगती ?

—क्या पुस्तकों का प्रचार और शोर (पब्लिसिटी) ही अधिक होता है ? प्रत्यक्ष दर्शन में वे उतनी आकर्षक या मनोरंजक या उपयोगी नहीं होतीं ?

—क्या सरकारी पुस्तकें भाड़े पर लिखवाई जा रही है ? उनमें जान कम है ? उनके पीछे अन्त:प्रेरणा नहीं है ?

—क्या पुस्तक मात्र से पाठक ऊबता जा रहा है ? उसका विश्वास अखबारी किस्म के लेखन से उठ गया है ? यदि यह सच हो तो बिना सरकारी प्रचार के गुलशन नन्दा या भगवान रजनीश या 'मनोहर कहानियाँ, 'बेस्ट सेलर्स' हिन्दी में क्यों हैं ?

—साहित्य के प्रति लोगों की अभिरुचि तेजी से बदलती जा रही है और इस कारण वे हिन्दी या भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी में पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं ?

इन सब कारणों का विस्तृत अध्ययन करके यह अर्थ निकलता है कि चाहे जो परिस्थितियाँ रही हों, साहित्यकार ने शासन को अपने से प्रधान कभी नहीं माना है। अब यह बात दूसरी है कि साहित्य मात्र की भूमिका आज के समाज में अ-प्रभावी या गौण हो गयी है।

अब इसमें से कोई रास्ता निकालना चाहिये। आप लोग ही निकालेंगे। हम तो अब वानप्रस्थ हो गये (६४ बरस के)।

सस्नेह आपका,

प्रभाकर माचवे

निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्
३६-ए शेक्सपीयर सरणि,
कलकत्ता—७०००१७

भरतेश्वर बाहुबली रास

डॉ० सनत्कुमार रंगाटिया

प्रस्तुत रास के रचयिता श्री जिनसाधु सूरि हैं। सूरि जी के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उन्होंने अपने गुरु तथा गच्छ का उल्लेख कृति के प्रारम्भ में तथा अंत में इस प्रकार किया है—

—संतुष्ठा जिनरयणसूरि गुरुणो पाया सदा मो सुहं। १।
—श्री जिनसाधुसूरिस कएइ भणतां उच्छव रिद्धि।
तपगच्छराय महिमा निलय श्री जिनरत्नसूरिसवर।
तस पट्टि सूरि सोराकरण श्री जिनसाधुसूरिंद गुरु। ३२०-२१

इससे स्पष्ट है कि तपागच्छीय प्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीजिनरत्नसूरि की शिष्य-परम्परा में श्री जिनसाधुसूरि हुए हैं। कवि ने रास के रचनास्थल 'सह्मालापुर' का निर्देश किया है और प्रति का लेखन भी उन्होंने ही किया है। पुष्पिका में श्री साधुकीर्ति के चरणों की वन्दना की गई है।[1] श्री साधुकीर्ति पंद्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। अतः इस कृति का कृतित्व पंद्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध ठहरता है। प्रस्तुत रास माणिक चौक, अहमदाबाद में स्थित 'डेहला उपाश्रय भाण्डार' क्रमांक ७०/६६ में विद्यमान है। इस कृति की प्रतिलिपि लेखक के पास है। पद संख्या ३२३ है। कृति को अनेक छंदों में विभक्त किया गया है। प्रस्तुत रचना अद्यावधि अप्रकाशित है।

श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत और बाहुबलि के संबंध में अनेक वर्णन, चरित, कथा आदि अति प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इस साहित्य की परम्परा १८वीं शती तक मिलती है। कथा-रूढ़ि एक-सी है। वर्णन एवं घटनाओं में वैभिन्न्य मिलता है। कहीं-कहीं मात्र भरत या बाहुबलि का वर्णन उपलब्ध होता है। कुछ स्थल इस प्रकार हैं—'जम्बुद्दीवपन्नति' में भरत की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है। 'उत्तरज्झयण' के १८वें अध्ययन में भरत के दीक्षित होने का वर्णन है। श्री जिनदासगणि-कृत 'आवश्यक चूर्णि' में भरत की दिग्विजय तथा राज्याभिषेक वर्णित है। 'वसुदेव-हिण्डी' में 'सामसिरिलम्भन' के अन्तर्गत बाहुबलि और भरत के युद्ध का वर्णन है। श्री नेमिचन्द्र-कृत 'अक्खाणमणि कोस' (सं० ११२६) में 'चतुर्विधबुद्धि वर्णन' नामक अधिकार में भरत का आख्यान प्राप्त होता है। 'उवएसमाला' पर आधारित 'धर्मोपदेशमाला' के प्रथम विश्राम में भरत की कथा है। श्री हेमचन्द्रसूरि (मलधारी) कृत 'भवभावना' (सन् ११२३) में भरत का उल्लेख प्राप्त है। श्री विमलसूरि-कृत 'पउमचरिय' के चतुर्थ उद्देशक मे बाहुबलि की दीक्षा तथा भरत की समृद्धि वर्णित है। श्री गुणचन्द्रगणि ने अपने 'महावीर चरिय' (सं० ११३९) के द्वितीय प्रस्ताव मे ऋषभदेव, भरत और बाहुबलि के पूर्वभवों के वर्णन किये हैं। श्री देवेन्द्रसूरि-कृत 'सुदंसणाचरिय' के दशम उद्देश्य में भरत के कैवल्य-प्राप्ति का उल्लेख है। भरत और बाहुबलि के परस्पर युद्ध का वर्णन रविषेणाचार्य-कृत 'पद्मपुराण' में, धनेश्वरसूरि-कृत 'धर्मोपदेशमाला' में, जिनसेन-कृत 'आदिपुराण' में. पुष्पदंत-कृत 'त्रिसष्ठि महापुरुष गुणालंकार' में. हेमचन्द्राचार्य-कृत 'त्रिसष्ठि चरित' में सोमप्रभाचार्य-कृत कुमारपाल प्रतिबोध' में तथा 'धार्मिनाम

चरित' में प्राप्त होता है। परवर्ती साहित्य में श्री व्रजसेनसूरि-कृत 'भरेश्वर बाहुबलि घोर रास' में, शान्तिभद्रसूरि-कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' मे, १४वीं शती के जिनेन्द्रसूरि-कृत 'पद्मनन्द महाकाव्य' (सर्ग १६-१८) में, १५वीं शती के मेरुतुंग-कृत 'स्तंभनेन्द्र प्रबन्ध' में, जयशेखरसूरि-कृत 'उपदेशचिन्तामणि' की टीका में, अज्ञात कवि-कृत 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग' में, गुणरत्नसूरि तथा जिनसाधुसूरि-कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में, तथा सं० १७५५ में जिनहर्षगणि के 'शत्रुजय रास' में भरत-बाहुबलि का चरित्र वर्णित है।

कथावस्तु—जैनों के आदि जिनेश्वर श्री ऋषभदेव के भरत और बाहुबलि नामक दो वीर पुत्रों की साम्राज्य-लालसा से उत्पन्न घोर युद्ध का वर्णन प्रस्तुत रास में उपलब्ध है। आयु के अन्तिम दिनों में श्री ऋषभदेव ने अपना विस्तृत राज्य अपने सौ पुत्रों में बाँट दिया और स्वयं मोक्ष-पथगामी हुए। भरत की आयुधशाला में उद्भूत दैवी चक्ररत्न ने भरत को चक्रवर्ती बनने की प्रेरणा दी। बाहुबलि के अतिरिक्त सभी भाइयों का राज्य छीना गया। पिता ऋषभदेव के परामर्श से ९८ भाई तो आत्मसाधक बन गये, किन्तु बाहुबलि भरत का प्रतिस्पर्धी बना। दोनों में घोर युद्ध हुआ। तत्पश्चात् जीवहानि रोकने के विचार से दोनों व्यक्तिगत युद्ध करने लगे। दृष्टि, वाक् तथा मल्ल युद्धों में भरत परास्त हुआ। उसने विवश होकर चक्ररत्न की सहायता ली, किन्तु चक्ररत्न स्वजन-घातक नहीं हो सकता था। ज्येष्ठ भ्राता के निर्वेद से बाहुबलि दुखी हुआ। अतः उसने केश-लोच करके आत्मशत्रुओं को परास्त करने के हेतु मुनिव्रत लेकर वनगमन किया। पूर्ववर्ती श्री शालिभद्र-सूरि-कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' का प्रस्तुत कृति पर प्रभाव लक्षित होता है। इस रास की प्रमुख विशेषता यह है कि इसका करीब दो-तिहाई भाग संवादात्मक है। पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा सुचारु कथा-संयोजन कवि की कुशलता का परिचायक है। वस्तु वर्णन मे नगर वर्णन, विजयोत्सव वर्णन, शकुन-अपशकुन वर्णन, राज्य वैभव वर्णन, प्रकृति वर्णन, युद्ध वर्णन आदि का आयोजन है।

प्रमुख घटनास्थल तक्षशिला नगर है। अतः कवि ने इसका वर्णन करने में पर्याप्त रुचि दिखाई है। वन्य पशुओं से युक्त नदी, सरोवर, वापी, उपवन, आदि से रम्य तक्षशिला में खेत लहलहाते है। धरती इतनी स-रस है कि धान्यवपन निष्फल नही होता। बारह योजन लम्बी तथा नौ योजन चौड़ी तक्षशिला में असंख्य चौहट, मुहल्ले, जिनप्रासाद आदि हैं। सर्वत्र अहिंसा का साम्राज्य है। व्याधि, वैर आदि से रहित नगरजनों को स्वप्न में भी शोक प्राप्त नहीं होता—

पेषइ वरवाडी बहु वृक्ष नदी सरोवर वापी लक्ष।
फकलइं सषरीस सारस मोर चंचल चमरी गाइं आधार।
विसरी वाघ सरीसीं वलइ सीहिणि नइं सीगि सिउं एलइं।
सोविन मइं हलिहाली एलइं एक चास वली करसण लुणइं।
एक वार जे वावइ धान निष्फति नूं नवि लाभइं मांन। ७१-७३।

इस बाहुबलि के सम्मुख भरत के राज्य-वैभव का और भरत के सम्मुख बाहुबलि के राज्य-वैभव का संख्यात्मक अत्युक्तिमय बयान देता है जिनमें सेना की संख्या, हाथी, घोड़े, पैदल, सामर्थ्य आदि वर्णित हैं। किन्तु भरत के सम्मुख सामर्थ्य का तुलनात्मक वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। दूत भरत को कहता है कि "जितने मुकुटधारी आपकी वंदना करते है, इतने तो वहाँ आँगन बुहारते हैं। आपके सीमारक्षक के समान लोग तो वहाँ प्रत्येक गृह में 'पवाडा' गाते हैं। हमारे यहाँ जितने नृपति हैं इतने तो बाहुबलि के सीमारक्षक हैं हमारे यहाँ के व्यापारी वहाँ निधन कहलाते हैं

बाहुबलि एवं हमारे में गिरि तथा सरसव, रत्न तथा कंकर, कल्पवृक्ष तथा ...र, सिंह तथा खरगोश सी विषमता है—

जे मउडुधा तुम्ह जुहारइं तेह सरिखा तिहां अंगण बाहारइं।
जे ओलग करइं तम्ह सीमाडा तेहवा तेह घरि गाइं पवाडा।
जे आपणइ छइं अति भलराणा बाहुबलि घरि तिसिया ओलगाणा।
जे व्यवहारी आहां कहाइं ते तिहां निर्धन नाम धराइं।
सुरगिरि नइं सिरशव जिम अंतर रतन काकरा जिजिउ पटंतर।
कल्पद्रुम नइं क्यरह जामलि आगला सीह नहुइं जिम तडोघडि। ८०-८२।

पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा जिनसाधुसूरि-चित्रित दूत व्यवहार-कुशल और सत्यप्रिय है। दूत का ऐसा सार्थक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। दूत से अपेक्षित विनय एवं सद्वर्तन प्रस्तुत कृति के दूत में है। भरत का सन्देश लेकर तक्षशिला की ओर प्रस्थान करते समय हुए शकुन-अपशकुनों से दूत निर्भय है। बाहुबलि के चरण-स्पर्श करके आसन ग्रहण करके सविनय कहता है कि वह पृथ्वी पर प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा भरत की कुशलता विदित करने आया है। दूतकार्य कार्यदक्ष मनुष्य ही कर सकता है। राजनीति के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्यादे की कुशलता देखिए—

बाहूबलि तूं बांह बीजी छइं बीहामणीय।
भरतराउ तुझ प्राणिआ कंपावइं सुर धणीय।
पेखी बंधव जोड यमराजा आकंपीउ ए।
पेखीय भाईं जोड दिणयर तेजि कांपीउ ए।
पेखीय बंधव जोड सेषनाग पुण सलसलीय। ९८-१००।

किन्तु यह प्रस्ताव 'आशङ्कितगान भवेत साधुः' सा नहीं है। विनय का अर्थ शरण नहीं है। विनय वीरोचित आचार है। जब बाहुबलि ने दर्प से आन स्वीकृति का प्रस्ताव ठुकरा दिया तब स्वामिभक्त दूत का हृदय पुकार उठा—

भरत प्रताप दावानलि तूं हिव होहिसि छार।
मरण कालि कीडी अनइं निश्चि आवइं पांख।
वृक्ष डाल तूं छेदीहं जउ लागइं तिहां लाष।
अवनीपति आडि हुआं मूंकावइं मन रोस।
जे जण थइं जीविसि दूत तणु कुण दोस। १४२-४६।

विजयोत्सव वर्णन परम्परागत शैली में किया गया है। कवि ने 'कुमारपाल रास' के समान विजित देशों की दीर्घ सूची दी है। इस प्रकार प्रकृति वर्णन में वृक्षों की तथा बाहुबलि के गोपालों के नामों की दीर्घ सूची प्राप्त होती है। भरत ने सेनापति को आमंत्रित करके पृच्छा की—'हमारी सेना का परिमाण क्या है?' सेनापति ने अपने अस्तबल में स्थित प्रदेश विशेष के अश्वों का वर्णन किया। घोड़ों के प्रकारों की परिगणना 'राजविलास' (छठा विलास ८-१०) में भी प्राप्त होती है। सेनापति अश्वों के अपलक्षण बताते हुए कहता है कि चाबुक फटकारते ही रणभूमि से भागने वाला, सदा बैठ जाने वाला तथा बार-बार भय से चमकने वाला, इच्छानुसार नहीं घूमने वाला, कूदकर चलने वाला, अल्प दाँतों वाला, दीन, ऊँघनेवाला, काना तथा टापर कर्णवाला, लोटने व काटने की वृत्तिहीन, गतिहीन तथा रण में कायर ऐसे अश्व अच्छे नहीं होते—

इकि पाणाहू लषण अहिनसि बइसण विलगण झबकण चीति।
वालिया नहु वलणा कटकट चलणा अधिक ओच्छा मुहि दंत

गतिहीणा दीक्षा सदा ऊखाणा काणा टापर मन्न
पखाला विलखण कादर कितना कण कण सूना मन्न ।
नवि लोटण, करडण सूना हीडण खोडी पूँठि घोर ।
पागति नवि पुरा रण नवि सूरा ए उपलक्षण घोर । १९५-९६ ।

तीर्थंकर विशेष की माता को तीर्थंकर के जन्म से पूर्व शुभ स्वप्न दर्शन होते हैं। जैन कवियों में स्वप्न वर्णन रूढ़-सा हो गया है।[२] कवि ने भी ऋषभदेव के जन्म से पूर्व, उनकी माता को चौदह स्वप्न दिखने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार शकुन-अपशकुन के वर्णन में तत्कालीन जनमानस का प्रतिबिम्ब झलकता है। यात्रा प्रस्थान के समय किसी का छींकना, 'आप कहाँ जा रहे है?' प्रश्न करना, साँप या बिल्ली का रास्ता काटना आदि अद्यावधि अपशकुन माने जाते है। दूत देखता है कि आगे अग्नि प्रदीप्त है। रथारूढ़ होते ही अश्व वाम पक्ष में मुड़ रहे हैं। शुक-गद्‌गदीन ध्वनि निकाल रहा है। पूर्व दिशा में लाली (पक्षी विशेष) बोल रही है। वाम नेत्र स्फुरित होता है और सम्मुख अंगारे उड़ते प्रतीत होते हैं। उल्कापात तथा भूकंप हो रहा है। इन अपशकुनों के निवारण के हेतु सूर्य तथा चंद्र ने व्यंतर देव का रूप धारण किया। सामने मुनि के रूप में उनको देखकर, वंदना करके दूत ने तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया—

जिमणी छींक हुई यम दिसिऊ बेठू सबि सुणहा भसई।
किहां जाई छुड बोलई बाल आडउ उतरइ बहु विकराल।
पगवाली रथि बएतउ जांभ फिरी तुरी साहामु हुई वांभ।
कालु भूजंगम आडउ वहई घर राजा जिमणउ सरल हुई।
पुरव दिसि रही लाली लवई लोही आण हुइ नेह बोलिवई।
डाबू फुरकई नयण लगार साहामु आविउ एडिउ छार। ७३-८०।

भरत-बाहुबलि विषयक रासो में युद्ध-वर्णन सविस्तार किया गया है। भरत और बाहुबलि के अतिरिक्त उनके वीर सामंतों के भी हम विस्तृत वर्णन पाते हैं। दोनों ओर युद्ध के लिए अत्युत्साह लक्षित होता है। सर्वत्र अनोखा उल्लास है। हाथी और घोड़े सजाये जाते हैं। बालाएँ चर्चा कर रही हैं कि 'शूरवीर ने मेरा मन मोह लिया है।' एक वीर अपनी गृहिणी को अपनी सर्वसंपत्ति समर्पित करते हुए कहता है, 'आप सकुशल रहें और मेरी प्रतीक्षा करें।' कोई सुभट तिलक धारण करके अपनी माता को प्रणाम करता है, तब जननी कहती है कि 'मेरे पिता, पति व भ्राता शूरवीर थे। ऐ बेटा, मैं वीरप्रसू कहलाऊँ—ऐसा कार्य करना।' मध्ययुगीन दर्प एवं तेज की झलक नारी चरित्रों में दीख पड़ती है—

एक सुरू मनि मोहीउ इण परि बोलती बाल।
तानहु हूँ अरि हणिसु गेडी मसि करमाल।
एक सुरू घरि नारि नई सुंपई सवि आघाट।
रूडि परि रहियो रमणि वहिला ज्यो-ज्यो वाट।
वीर पिता मझ वीर पति सूरवीर मझ भाय।
वीर प्रसू जिम नाम हुई तिम करे सुजाय। २०२-२०८।

रणभेरी की ध्वनि से वातावरण गूँज उठा। घोड़े हिनहिनाने लगे। जिनके गंडस्थल से मद झरता है और मदरस में भ्रमर लीन हैं, ऐसे हाथियों में भी उत्साह है। आसपास के वृक्षों पर स्थित पक्षियों में हाहाकार मच गया। कवि ने अनुरणनात्मक भाषा में युद्ध के लिए प्रयाण का तादृश्य वर्णन किया है जो परंपरागत होते हुए भी नूतन प्रतीत होता है

तरउरीआ तीषा तूरी वेगि वाथ वुलत।
हसमसता हय हणहणइं कह कह कह्य करंति।
झम झम देइं दडवडी पाषार पाणभ झूणंति।
गज गर्जित गेलि गमइं पर्वत पाहि पीन।
माथइं मद जेहनइं झिरइं मदरसि मधुकर लीन।
कारं फरुकइं फारकी फरि फरि फालि देअंति।
रोस वसि असि बालवइ एक्की हक्कि हसंति। १०-१७।

तक्षशिला की सीमा पर आसन्न सैनिकों के कार्यकलाप का सूक्ष्म तथा गत्यात्मक चित्रण किया गया है। किसी का अपने घोड़े को नहलाना, आलस से अंग मरोड़ना, तैरना, जल में स्नान करना, वस्त्र धोना आदि तो ठीक है, किन्तु कवि ने किसी को खिचड़ी तथा रोटी खाता हुआ वर्णित किया है। भरत के द्वारा मनोवांछित भोजन प्राप्त करने वाले सैनिक खिचड़ी तथा रोटी स्वयं नहीं पका सकते, इस स्वाभाविकता की ओर कवि का ध्यान नहीं गया। युद्ध में प्रचलित शस्त्रों के अतिरिक्त दिव्य चक्ररत्न भी उल्लेखित है। बाहुबलि के सेनापति अनलवेग ने चक्र को चूर करने के हेतु मुष्टि प्रहार किया जिसे चक्र ने वक्र होकर चुका दिया। अब रुष्ट चक्र ने उसका पीछा किया। चक्र से रक्षित रहने के लिए यज्ञ का अनुष्ठान किया, किन्तु याज्ञिक निष्फल रहे। एक वज्र पिंजर में अनलवेग घुस गया। चक्ररत्न पिंजर के सामने बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। अन्ततः पिंजर में से बाहर निकले हुए अनलवेग का शिरोच्छेद करके चक्र पुनः भरत के पास पहुँच गया। चक्र की अद्‌भुत शक्ति का वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त यत्र-तत्र नैतिक उपदेश भी लक्षित होता है। कवि ने सुवचन, मौन, राग, राजनीति आदि विषयों पर दोहे प्रस्तुत किये हैं। किसी विषय में ज्ञान हो तब ही बोलना चाहिए, अन्यथा मौन ही उचित है। प्रत्येक कथन के पीछे मनन होना आवश्यक है, अन्यथा कार्य निष्फल होता है। अतिराग के प्रभाव से रुदन ही प्राप्त होता है—

वचने राजा रंजीउं वचनि लाधां मांन।
वचनि कीरति विस्तरइं वचने लाभइं दान।
वचनरसि सही रंजीइं वचनि काजइ सीध। ५०-५२।

कवि की शैली सरल है। पूर्ववर्ती कवियों के द्वारा प्रयुक्त 'ढाल' (सर्गसूचक शब्द) यहाँ राग-रागिनी विशेष बन गया है। तत्कालीन लोकगीत के ध्रुवपद के आधार पर 'ढाल' निर्देशित है, यथा 'आप सभा सवि ढाल', 'पुन्नि धरम ए ढाल', 'जिम सहकरि ढाल'। वस्तुतः इन ढालों के अन्तर्गत कोई न कोई मात्रिक-छंद रहा है। कवि की छंद-विषयक अभिज्ञता ने 'जिम सहकारि ढाल' लिख दिया जो 'गौतम स्वामी रास' का रास छंद में लिखित प्रसिद्ध छंद है। 'पुन्नि धरम ए ढाल' के मूल में चौपाई है। 'तारउ रडवकइ ढाल' के मूल में सवैया प्रतीत होता है। 'आप सभा सवि ढाल', 'आजर तूं सवि ढाल', 'वीर जिणेसर ढाल', तथा 'विद्याविलास ढाल' के मूल में दोहा प्रयुक्त है। इससे प्रतीत होता है कि परवर्ती काव्यों में उपलब्ध 'ढाल' शब्द विशेषतः गीत शैली का परिचायक है। इसका पंद्रहवीं शती के पश्चात् 'सर्ग विभाजन' अर्थ लुप्त हो जाता है। दोहा, चौपाई के अतिरिक्त पद्धरि (पद ३५-४०), अडिल्ल (पद ४१-४७), वस्तु (पद ८६, २१९-२१), रसाल (पद २१८) आदि छंद भी प्रयुक्त हैं।

भाषा वस्तुतः अपभ्रंश मिश्रित इकारबहुला तत्सम तद्‌भव तथा देशज प्रयोग से युक्त

है। उदाहरण अन्यत्र दिये जा चुके हैं। भाषा सरल, तरल, भावानुरूप एवं घरेलू बोलचाल की है। यत्र-तत्र अनेक अनूठी उक्तियाँ तथा लोकोक्तियाँ बिखरी हुई हैं। यथा—

—मुरडी मूंछि महीपति भमहिं चडावी भालि।
—मंडक चाहइं चींत लोहु लहीनइं गंध जिम।
—आलसं आणइं अंगनइं ते नर जीवई कांइ।
—मुह स्याम स्वामि कहुं काइ आज।

अलंकारों में अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, स्मरण आदि हैं। प्रकृति-वर्णन में यमक को कुशलता से सँजोया गया है। उपमा तो जैनाचार्यों का अत्यन्त प्रिय अलंकार है। अभिव्यक्ति को तीव्रतर बनाने के हेतु कहीं-कहीं उपमाओं का ताँता लग जाता है जिसे मालोपमा कहा जा जाता है। युद्ध-वर्णन अत्युक्तिपूर्ण है तो संभावनामूलक अत्युक्ति का उदाहरण चक्ररत्न द्वारा अनलवेग का पीछा करने में है।

वीररस-प्रधान प्रस्तुत कृति निर्वेदान्त है। वीर के साथ-साथ बीभत्स, जुगुप्सा, भय आदि निरूपित हैं। चौदह कोटि विद्याधरों के सेनापति अनलवेग का उत्साह दर्शनीय है। घोर युद्ध में बाहुबलि भरत को म्रियमाण कर देते हैं। ज्यों-ज्यों मुष्टि प्रहार करते हैं, त्यों-त्यों शरीर कंपायमान होता है। उनका मोह तथा साम्राज्य-शक्ति तिरोहित होती जाती है और वहीं मुष्टि से केश-लोच कर देते हैं। यौवन और जीवन की अस्थिरता के विचार से चित्त निर्वेद से भर जाता है—

अति आकंपइं मरण मुहं भरत सजल थे द्रेठि।
मोह तिम-तिम मन त्रुटि लियूं जागिउ चित्ति विवेक।
जीवी यौवन अथिर सवि इम कीधु आलोच। ३०२-३०६।

यहाँ भरत की म्रियमाण स्थिति आलंबन है, उसका बार-बार (मुष्टि-प्रहार से) धरती में आकंठ धुस जाना, आकंपन आदि उद्दीपन हैं, बाहुबलि का क्रमशः विरक्त होना, सांसारिक नश्वरता का ज्ञानोदय होना, आलोच करना आदि संचारी भाव हैं और स्थायीभाव निर्वेद है।

कवि का प्रधान उद्देश्य भरत और बाहुबलि के चरित्र का गुणगान करना है। रास की मुख्य संवेदना भौतिक उपलब्धियों पर आध्यात्मिक उपलब्धियों की विजय स्थापित करना है। आदिकालीन वीरगाथात्मक प्रस्तुत रास विषयवस्तु, शिल्प, छंद तथा भाषा आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पंद्रहवीं शती के विस्तृत आकार वाले श्रेष्ठ रासों में इसका स्थान महत्व रखता है।

संदर्भ-संकेत

१. श्री जिनसाधुसूरि-भरतेश्वर बाहुबली रास—१५वीं शती—पद्य ३२३।
म० श्री जिनसाधुसूरिणा लेखि (त) पुरुवरु ए नयर समृद्ध सहआला पुरु ए मंडणु ए। जिनवरुए श्री नेमि दुरित तमो मवंडणु ए तेह ए लहीय पसाउ रचिउ रास जय जय करु ए। पंडित वरु ए श्री साधुकीर्ति प्रयप्रणमी गुणसागरु ए।

२. देखिए लेखक का लेख—जैन रास साहित्य में स्वप्न वर्णन—जैन सिद्धांत भास्कर—भाग २५, किरण २, पृ० १०-२२।

एल० डी० आर्ट्स कॉलेज,
नवरंगपुरा,
अहमदाबाद ३८०००९

डॉ० दशरथराज

क—उत्तर भारत की प्रेमगाथाओं का संक्षिप्त परिचय

उत्तर भारत में दो प्रकार की प्रेमगाथाएँ उपलब्ध होती है—सूफ़ी प्रेमगाथाएँ और हिन्दू प्रेमगाथाएँ। सूफी प्रेमगाथाएँ रूपकात्मक हैं जिनमें कहीं-कहीं इस रूपक को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने इस रूपकोक्ति को स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता ही महसूस नहीं की। ऐसे कवियों के सामने भी हाफिज का आदर्श था जिसने कहीं भी अपनी रचनाओं की रूपकात्मकता को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है। इन प्रेमगाथाओं में नायिका ईश्वर के प्रतीक के रूप में आती है जिसके रूप-वर्णन में कवियों ने अपनी कलात्मकता का पूरा परिचय दिया है। इन कथाओं के नायक साधारण प्रेमी न रह कर साधकों के प्रतीक हैं जो हर विपत्ति का सामना करके भी अपने प्रेम की अनन्यता एवं दृढ़ता का परिचय देते हैं और अन्त में पूर्णकाम होकर साधना-पथ के महत्व का प्रतिपादन करते हैं। ऐसी रचनाओं में सांकेतिकता की प्रधानता होती है और प्रेम की पीर की प्रधानता रहती है जिससे कथानकों में भावुकता एवं स्वाभाविकता का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इन गाथाओं का भावपक्ष कलापक्ष की अपेक्षा अधिक सबल है।

हिन्दू प्रेमगाथाएँ शुद्ध प्रेमगाथाएँ हैं जिनमें किसी प्रकार की रूपकात्मकता नहीं और ये भारतीय प्रेमाख्यान परम्परा का विकसित रूप हैं। इन प्रेमगाथाओं का कलापक्ष भावपक्ष की अपेक्षा अधिक सबल रहा है। कलात्मकता के आग्रह में भावुकता का अभाव कहीं-कहीं अखर जाता है। सूफी प्रेमगाथाकारों ने मसनवी पद्धति को अपनाया है जिसमें सम्पूर्ण रचना में एक ही सम छन्द का प्रयोग होता है और यह छन्द विशेषकर फारसी बहर में होता है; किन्तु उत्तर भारत के सूफी प्रेमगाथाकारों ने चौपाई एवं दोहा छन्द को अपनाया है। हिन्दू प्रेमगाथाओं में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। सूफी प्रेमगाथाओं में जहाँ नायक का नायिका के प्रति आकर्षण, रूपकात्मक कथानक होने के कारण अधिक संयत है, वहाँ शुद्ध प्रेमगाथाओं में स्वच्छन्द प्रेम का प्रवाह प्रवाहित है जो किसी प्रकार के संयम और बंधन को पसंद नहीं करता। सूफी प्रेमगाथाओं में कवियों ने मिलनावसरों पर अपनी भावाविष्ट अवस्था का परिचय दिया है और कहीं-कहीं वे असंयत भी लगते हैं, फिर भी उसमें अस्वाभाविकता नहीं आने पायी। सूफी प्रेमगाथाओं में विरह का विशद चित्रण मिलता है, उनका वियोग पक्ष अधिक सबल रहा है, जहाँ कि शुद्ध प्रेमगाथाओं का संयोग पक्ष अधिक निखरा हुआ है, वियोग पक्ष में उनका मन नहीं लगा। इसका प्रधान कारण दोनों भावधाराओं के कवियों का व्यक्तिगत जीवन रहा है। सूफी प्रेमगाथाकारों का जीवन स्वयंसाधकों का जीवन रहा है और उन्होंने इस जीवन को अपने प्रिय की वियोगावस्था मानकर विरहानुभूति को सहज रूपकात्मक अभिव्यक्ति दी है। दूसरी ओर हिन्दू प्रेमगाथाकार राज्याश्रयी कवि रहे हैं, अथवा स्वयं भोगविलास के जीवन के प्रति रुचि रखने वाले कवि रहे हैं, अतः उन्हें संयोग वर्णन में ही अधिक सफलता मिली है। इन दोनों धाराओं में फिर भी कुछ बातों की समानता है, जैसे रूप-सौन्दर्य का वर्णन, प्रेमी के पथ की विविध बाधाओं का वर्णन, नायक की ओर से प्रयत्न तथा इतिवृत्तात्मक शैली

शुद्ध प्रेमाख्यानों में निम्नलिखित रचनाओं को रखा जा सकता है—कल्लोल कृत "ढोला मारु रा दूहा" (१४७३), पृथ्वीराज कृत "वेलि क्रिसन रुक्मिणी री" (रचना काल १५८० ई०), ईश्वरदास कृत "सत्यवती कथा" (रचना काल १५०० ई० के करीब), नन्ददास कृत "रूपमंजरी", दामो कवि कृत "लखमसेन पद्मावती" (सन् १४५७ ई०), नारायणदास कृत "छिताई वार्ता" (१५२३ ई०)—इस रचना को कवि रतनरंग तथा देवीचन्द ने पूरक के रूप में आगे बढ़ाया। जान कवि ने भी सन् १६३६ ई० में 'छीता' की रचना की। साधन कृत "मैना सत" (१५६७ ई०), नरपति व्यास कृत "नल दमयंती" (१५७५ ई० के आसपास), सूरदास कृत "नलदमन" (१६३७ ई०)। "माधवानल कामकंदला" की कथाएँ विभिन्न कवियों द्वारा लिखी गयी हैं—गणपति की रचना (१५२७ ई०), माधव शर्मा कृत (१५४३ ई०), कुशललाभ कृत "माधवानल कामकंदला चउपाई" (१५५३ ई०), दामोदर कृत "माधवानल कथा" (अज्ञातकालीन), कवि आलम की अवधी में रचना (१५८३ ई०), चतुर्भुज कायथ कृत "मधुमालती" (१४७३ के करीब)। जान कवि (सन् १६१० ई०—१६६४ ई०) की रचनाएँ—(१) कथा कामलता, (२) कथा रतनावली, (३) कथा नलदमयंती, (४) कथा लैला मजनू, (५) कथा कनकावती, (६) कथा कलावती, (७) कथा रूपमंजरी, (८) कथा खिजरखा सहिजादा देवा देवल दे की चौपाई, (९) कथा निरमल है, (१०) कथा कामरानी, (११) चन्द्रसेन राजा सील निदान की कथा, (१२) कथा छबिसागर, (१३) कथा मोहिनी, (१४) कथा तमीम अंसारी, (१५) कथा सतवंती, (१६) कथा सीलवंती, (१७) कथा सुलवंती, (१८) कथा मधुकर मालती, (१९) कथा रतन मंजरी, (२०) कथा छीता, (२१) कथा निर्मल देबोधा कृत "विरह वारीश" (१७५२ ई०-१७५८ ई०)। जनकुंज-कृत "उषाचरित" सन् १७८२ ई० में लिखित उषा अनिरुद्ध का अवधी प्रेमाख्यान है।

ख—दक्खिन भारत में प्राप्य प्रेमगाथाएँ

लोक-प्रचलित प्रेमगाथाएँ—दक्खिन के सूफ़ी कवियों ने भी उत्तर भारत के सूफ़ी कवियों की तरह लोकगाथाओं के प्रति अपनी रुचि का परिचय उन कथाओं को आधार रूप में अपना कर दिया है। इस वर्ग के अन्तर्गत मुल्ला गवासी कृत "मैना सतवंती" (सन् १६२६ ई० के करीब), "तूतीनामा" (सन् १६४० ई०), मुल्ला नुसरती कृत "गुलशने इश्क" (सन् १६५७ ई०) तथा कवि हुनर कृत "नेहदर्पण" (सन् १७३२ ई०) का उल्लेख किया जा सकता है।

तूतीनामा—तूतीनामा संस्कृत की शुक सप्तशती का दक्खिनी रूपान्तर है, किन्तु कवि ने इसे संस्कृत से नहीं लिया। कवि ने फ़ारसी गद्य रचना से इसे अपनाया है जिसका रचयिता नख़शबी था। नख़शबी ने संस्कृत से ७० कहानियों को अपनाया था जिसमें से गवासी ने अपनी रुचि के अनुसार केवल ५२ कहानियों को ही अपनाया है। तूतीनामा में नख़शबी की रचना से केवल ४५ कहानियाँ ली गयी हैं और शेष पंचतन्त्र, हितोपदेश तथा वैताल-पच्चीसी और जातक से ली गयी हैं।

मैना सतवंती—मैना सतवन्ती गवासी की, साधन की मैनासत कथानक से मिलती-जुलती कहानी है। साधन की मैनासत की अपेक्षा मैना सतवंती का कथानक अधिक व्यापक और सुगठित है। मैना सतवन्ती में सूफी प्रेमगाथाओं की रूपकात्मकता का नितांत अभाव है। उसमें मैना के सतीत्व का वर्णन ही प्रधान है जिससे रचना का नैतिक पहलू अधिक उभर आया है।

गुलशने इश्क—नुसरती कृत "गुलशने इश्क" में कुंवर मनहर और मधुमालती की सुप्रसिद्ध लोकगाथा को दक्खिनी प्रेमगाथा साहित्य में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जितना उत्तर भारतीय प्रेमगाथाओं में मंझन की मधुमालती को। भावपक्ष की दृष्टि से तथा कला-पक्ष की दृष्टि से गुलशने-इश्क एक सफल रचना है। कवि ने कथानक के स्रोत के विषय में कोई संकेत नहीं किया। इस रचना में सूफी विचारधारा का निर्वाह करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

नेह दर्पण--हुनर ने अपनी प्रेमगाथा "नेह दर्पण" इब्न निशाती की फूलबन के जवाब में लिखी है जिसका आधार संभवत: "कामरूप और कलाकाम" की प्रसिद्ध लोकगाथा रही हो। कामरूप और कलाकाम के आधार पर ही सुप्रसिद्ध "अलिफ् लैला" के किस्से का निर्माण हुआ है जिसमें शामी परम्पराओं का प्रभाव भी विशेष रूप से मिल गया है। अलिफ्-लैला में सिंदबाद के साहसी जीवन की कथा है। अंग्रेजी मे भी इसी कथानक के आधार पर "सिंदबाद सेलर" का निर्माण हुआ है जिसमें सिंदबाद की साहसपूर्ण यात्रा का वर्णन है। "एडवेंचर्स डी कामरूप" के नाम से फ्रांसीसी भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ है। फ्रैंकलिन ने इससे भी ४० वर्ष पूर्व अंग्रेजी में इसको १७९३ ई० में अनूदित किया था। जर्मनी भाषा में भी प्रो० रोज गारटेने ने इसका अनुवाद किया था जिसकी प्रशंसा गोइटे जैसे विद्वान् ने भी की थी। हुनर ने इस कथानक का आधार लेकर इसे रूपकात्मक प्रेमगाथा के रूप में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कवि ने इसमे सभी पात्र हिन्दू रखे हैं और वातावरण को भी भरसक भारतीय बनाए रखने का प्रयत्न किया है।

अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रेमगाथाएँ-अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रेमगाथाओं में दक्खिनी में वजही कृत "कुतुबमुश्तरी" (सन् १६०९), गुलामअली कृत "पद्मावत" (सन् १६८० ई०), वशरती कृत "दीपक पतंग"(१६८५ ई०) तथा मुकीमी कृत "चन्द्रबदन व महियार" (रचनाकाल सन् १६२५ ई० से १६३८ ई०) का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें कुतुबमुश्तरी आरम्भकालीन प्रेमगाथा होने पर भी अत्यंत सफल और सुन्दर कलाकृति है।

कुतुब मुश्तरी—कुतुब मुश्तरी में लगभग २ हजार शेर हैं जिनकी रचना कवि ने १२ दिनो में की है। वहजी राजदरबार से सम्बन्धित रहा है और अपने युग का बहुत बड़ा कवि और गद्य-लेखक माना गया है। उसकी गद्य रचना "सबरस" दक्खिनी गद्य के प्राचीनतम सुन्दर रूप को प्रस्तुत करती है और रचना की दृष्टि से भी सबरस एक अत्यंत सुन्दर एवं सफल प्रेमाख्यान है। कुतुबमुश्तरी में कवि ने युवराज मुहम्मद कुली कुतुबशाह के जीवन के आधार पर यह रूपकात्मक प्रेमगाथा लिखी है।

दक्खिनी में जायसी कृत "पद्मावत" के आधार पर इशरती कृत "दीपक पतंग", गुलाम अली कृत "पद्मावत" तथा मीर गुलाम अलीकृत "इशरत" और जियाउद्दीन "इबरत" कृत "मसनवी शमा परवाना" (सन् १७९६ ई०) रचनाएँ मिलती हैं। गुलाम अली के पद्मावत की कोई भी पूर्ण प्रति इस प्रबन्ध के लेखक को नहीं मिल सकी। इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी, लण्डन की प्रति भी अपूर्ण है जिसके अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि दक्खिनी में इशरती का 'दीपक पतंग' ही अधिक सफल और सुन्दर रचना है। इतना होने पर भी यह रचना जायसी की ऊँचाई का स्पर्श करने में नितांत असफल ही मानी जायगी। दक्खिनी में वली वेलूरी की "मसनवी रतन व पदम का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है जिसका आधार भी जायसी कृत पद्मावत

ही है। किन्तु दुर्भाग्य से आज इसकी कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्य नहीं है, अतः उस विषय में कुछ कहना संभव नहीं।

चन्द्रबदन व महियार—मुकीमी की "चन्द्रबदन व महियार" के कथानक को ऐतिहासिक आधार देने वालों में सैयद नुरूल्लाह तथा शाह तजली अली "तजली" का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपनी रचनाओं "तारीख आदिलशाही" तथा "तोजके आसफ़िया" में इस कथा का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। कलात्मक दृष्टि से यह रचना के रचयिता का हिन्दुओं के प्रति द्वेषभाव रचना में स्पष्ट नजर आता है और इस्लाम के प्रचार की भावना भी स्पष्ट झलकती दिखाई देती है। इसी कथानक को मुकीमी के बाद और कवियों ने भी अपनाया है। इन रचनाओं में "मसनवी नुदरते इश्क", "मसनवी अगवाक्रिफ़", "मसनवी अज बुलबल", "मसनवी अज मुहम्मद अब्दुल कादिर" और "मसनवी अजसेफ़ अल्लाह" के नाम लिये जा सकते हैं।

हिन्द-ईरानी प्रेमगाथाएँ—दक्खिनी प्रेमगाथाकारों पर ईरानी तथा शामी परम्परा का विशेष प्रभाव रहा है। यही कारण है कि उन्होंने ईरानी प्रेमगाथाओं का आधार विशेष रूप से लिया है। इस वर्ग के अन्तर्गत (१) ग़वासी कृत "सैफ़ुलमलूक बदीउलजमाल" (सन् १६२६ ई०), (२) आजिज कृत "लैला मजनू" (सन् १६२० ई०), (३) अमीन और दौलत कृत "शाह बहराम व बानू हुस्न" (सन् १६४० ई०), (४) इब्राहीम सनती कृत "मसनवी गुलदस्ता सनती" (सन् १६४४ ई०), (५) इब्न नशाती कृत "फूलबन" (सन् १६६५ ई०), (६) तबई कृत "बहराम व गुलंदाम" (सन् १६७० ई०), (७) शेख अहमद जुनैदी कृत "माह पेकर" (सन् १६५३ ई०), (८) फायज कृत "रिजवानशाह रूहअफ़जा" (सन् १६८३ ई०), (९) हाशिमी बीजापुरी कृत "यूसफ जुलेखा" (सन् १६८८ ई०), (१०) वजीहुद्दीन "वजदी" कृत "मखजने इश्क" (सन् १७३१ ई०), "पंछी बाछा" (सन् १७३३ ई०), तथा "तुहफ़ आशिका" (सन् १७३९-४० ई०), (११) जुईफ़ी कृत "इश्क सादिक" (रचनाकाल संभवतः ११०० हि०—सन् १६८९ ई०), (१२) महमूद कृत "किस्से मलिके मिस्र वा फ़ेरोजशाह" (सन् १६८९ ई०।

सैफ़ुलमलूक बदीउलजमाल—दक्खिनी की उपलब्ध प्रेमगाथाओं में मुल्ला ग़वासी की "सैफ़ुलमलूक बदीउलजमाल" को ही शुद्ध प्रेमगाथा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। शेष समस्त रचनाएँ रूपकात्मक सूफ़ी प्रेमगाथाओं के वर्ग में आती हैं। डॉ० कुमारी विमल वाग्रे ने अपने शोध प्रबन्ध "दक्खिनी के सूफ़ी लेखक" में ग़वासी को भी स्थान दिया है और उनकी तीनों रचनाओं का उल्लेख किया है, पर अपने समर्थन में कहीं भी उसकी रचना में से कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। ग़वासी की तीनों रचनाओं में कहीं भी रूपकात्मक विचारधारा दिखाई नहीं देती। दरबारी कवियों की भाँति ग़वासी ने भी अपने आश्रयदाता एवं प्रशंसकों की तारीफ़ के पुल बाँधे हैं। आजीवन उसे मान-सम्मान पाने की इच्छा बनी रही है जो सूफ़ी संतों के विपरीत गुण हैं। इस पर विस्तारपूर्वक विवेचन कवि-परिचय एवं कथा-प्रसंग में किया जायेगा। सैफ़ुलमलूक बदीउलजमाल के कथानक का आधार सुप्रसिद्ध सामी रचना "अलिफ़ लैला" रहा है। ग़वासी "राजकवि" था और अपनी कला में निपुण। उसने कथा संगठन एवं कथा निर्वाह में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया है। २२८१ शेरों में लिखा हुआ यह काव्य ग़वासी ने ३० दिन में लिखा है।

फूलबन—इब्न निशाती कृत—"फूलबन" दक्खिनी प्रेमगाथाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। परवर्ती कवियों पर भी इस रचना का बड़ा प्रभाव रहा है। हुन ने अपने 'मेहू दर्पण' की प्रेरणा इब्न निशाती के फूलबन से ही पायी। इब्न निशाती की इस प्रेमगाथा का आधार

फ़ारसी मसनवी "बिसातीन" है जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं अपनी रचना में किया है। प्रो० अब्दुल कादिर सरवरी साहब के सम्पादन में यह प्रेमगाथा प्रकाशित हो चुकी है। डॉ० नारंग का विचार है कि बिसातीन की कोई पांडुलिपि भारत में प्राप्त नहीं है कि उससे उसकी तुलना की जा सके। किस्से का अन्दाज ईरानी है, किन्तु उसके शेरों में स्थान-स्थान पर स्थानीय वातावरण की झलक मिलती है। दृश्य-विधान एवं वातावरण तो पूर्णतया भारतीय है, इससे यह भी संदेह होता है कि इब्न निशाती ने मूल कथानक में अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ा है। उसे न भारतीय रहने दिया है और न ईरानी ही, वह दोनों का मिश्रण बन गया है। भाव तथा कलापक्ष की दृष्टि से फूलबन एक सफल प्रेमगाथा है जिसका आध्यात्मिक पहलू भी बहुत निखरा हुआ है।

शेख अहमद जुनैदी कृत "माह पेकर" ग़जनी के वातावरण में लिखी हुई प्रेमगाथा है। इब्न निशाती ने अपनी रचना फूलबन में "शेख अहमद" का उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि जुनैदी को अपनी इस रचना से पूर्व ही पर्याप्त ख्याति मिल चुकी थी। इनकी दो और रचनाओं का भी उल्लेख आया है जिनमें से "मुसीबत बहले बेल" की पांडुलिपि इण्डिया आफ़िस लन्दन के ग्रंथालय में है और "लैला मजनू" की पांडुलिपि का कहीं पता नहीं चला। कथा के स्रोत के विषय में कवि ने कोई उल्लेख नहीं किया। मित्रों के आग्रह करने पर ही कवि ने इस कथानक को प्रेमगाथा का रूप दिया है। कवि की आध्यात्मिक भावधारा रचना पर छायी हुई है।

यूसुफ जुलेखा—"यूसुफ जुलेखा" जामी की सुप्रसिद्ध ईरानी प्रेमगाथा है जिसको दक्खिनी के दो कवियों—हाशमी बीजपुरी और अमीन ने और उत्तर भारत में शेख निसार ने प्रेमगाथा का रूप दिया है। दोनों रचनाओं में केवल दस वर्ष का अन्तर रहा है। हाशिमी का रचनाकाल सन् १६८८ ई० है और अमीन गूजरी की रचना का रचनाकाल सन् १६९८ ई०। हाशिमी एक जन्मांध कवि था। उसने अगर जामी की रचना को आधार बनाया भी होगा तो श्रुत रूप में ही। दोनों की रचनाओं का आध्यात्मिक पहलू पर्याप्त निखरा हुआ है।

वजदी कृत तुहफ़े आशिका, पंछी बाछा और मख़जने इश्क—इस वर्ग के अन्तर्गत वजीहुद्दीन "वजदी" की तीन रचनाएँ दक्खिनी प्रेमगाथाओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। वजदी की दो रचनाएँ—"तुहफ़े आशिका" और "पंछी बाछा" फ़रीदुद्दीन अतार की दो प्रसिद्ध प्रेमगाथाओं "गुल व हुरमूज" तथा "मंतिकुत्तैर" का अनुवाद हैं और "मखजने इश्क" भी किसी फ़ारसी रचना पर आधारित है जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं किया है, पर यह भी कहा है कि वह भूल गया है कि रचना किसकी थी और उसका नाम क्या था। अतः स्वाभाविक रूप से इस रचना में कवि की मौलिकता का परिचय अत्तार की रचनाओं के अनुवादों की अपेक्षा अधिक मिलता है। अत्तार की सुप्रसिद्ध प्रेमगाथाओं में वह मनोनुकूल परिवर्तन करने के पक्ष में भी सम्भवतः न रहा हो। उन रचनाओं का आधार अत्तार की रचनाओं से लघु भी है, अतः कवि ने संभवतः प्रधान घटनाओं को अपनाया है जिससे कथा के प्रवाह पर भी कोई व्याघात नहीं पहुँचा।

कल्पनाश्रित प्रेमगाथाएँ—दक्खिनी प्रेमगाथाकारों ने कल्पनाश्रित प्रेमगाथाओं की ओर अपनी उदासीनता दिखाई है। उत्तर भारत के अंतिम प्रेमगाथाकारों को छोड़कर अन्य प्रेमगाथाकारों में भी यह उदासीनता का भाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसका प्रधान कारण यही था कि उनको अपने विचारों एवं धर्म का प्रचार करना था जो प्रसिद्ध कथानकों को अपनाने से सुगम था, कल्पनाश्रित कथानकों को अपनाने से उन्हें अपने मत-संस्थापन एवं धर्म-प्रचार कार्य में उतनी सफलता भी शायद न मिलती। दक्खिनी के भी दो अंतिम कवियों ने कल्पनाश्रित कथानकों की

ओर अपना आग्रह दिखाया है। एक है सिराज औरंगाबादी की "बूस्ताने ख्याल" (रचनाकाल सन् १७४६ ई०) और दूसरी आसिफुद्दीन आजिज की "लाल व गोहर" (रचनकाल सन् १७१८ ई०)। "बुस्ताने ख्याल" में सिराज ने मसनवी की प्रचलित परम्परा को तोडा है। आरम्भ में उसने न ईश्वर-वन्दना दी है, न पीर और नबी की बंदना दी है और न ही रचना का कारण ही दिया है। कवि ने अपनी मर्म-वेदना की पुकार से कथा आरम्भ की है। इसमे कवि ने लड़के के प्रति अपने प्रेमभाव का परिचय दिया है। "लाल व गोहर" के कवि ने अपनी रचना के स्रोत के विषय में कुछ नहीं कहा। कवि पर मधुमालती के कथानक का प्रभाव भी लक्षित होता है। संभव है कवि ने पूर्वप्रचलित कथानकों के आधार पर कल्पना के आधार पर ही "लाल व गोहर" की रचना की हो। दोनो का आध्यात्मिक पहलू स्पष्ट है।

विशेषताएँ

१. दक्खिनी प्रेमगाथाकारों का ईरानी प्रेमगाथाओं के प्रति विशेष आग्रह रहा है। अधिकतर प्रेमगाथाओं का आधार ईरानी प्रेमगाथाएँ रही है।

२. कुछ कवियों ने लोक-प्रचलित गाथाओं को भी अपनी प्रेमगाथाओं में स्थान दिया है।

३. उत्तर भारत के प्रेमगाथाकारों की भाँति दक्खिनी के प्रेमगाथाकार भी कल्पनाश्रित कथानकों के प्रति उदासीन रहे हैं। केवल दो कवियों ने ही इस दिशा में अपनी रुचि का परिचय दिया है।

४. अधिकतर प्रेमगाथाओं का रूपकात्मक पहलू अत्यन्त सबल रहा है और कवियों ने अवसर पाते ही अपने सिद्धान्तों तथा विचारधारा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

५. दक्खिनी के प्रेमगाथाकार भी सूफ़ी साधकों की तरह लौकिक जीवन के प्रति उदासीन रहे हैं।

६. कुछ प्रेमगाथाकारों की रचना में इस्लाम दर्शन एवं इस्लाम प्रचार की भावना अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त हुई है।

७. दक्खिनी कवियों के दार्शनिक विचार इस्लामी परम्परा और इस्लाम दर्शन के अनुकूल हैं।

८. दक्खिनी रचनाओं पर शामी एवं ईरानी परम्परा का प्रभाव विशेष रूप से विद्यमान है।

९. प्रेम के उदय के लिये दक्खिनी प्रेमगाथाकारों ने भी प्रत्यक्ष दर्शन, स्वप्न दर्शन, चित्र-दर्शन एवं गुण श्रवण का अवलम्ब लिया है।

१०. दक्खिनी प्रेमगाथाओं में भी नायिका प्राय: ईश्वर के प्रतीक के रूप में और प्रेमी साधक के प्रतीक रूप में आया है।

११. सादी द्वारा चलायी "अमरद" को माशूक के रूप में अपनाने की भावना का भी परिचय मिलता है।

१२. प्रेमभाव का उदय कुछ कथानकों में, भारतीय परम्परा के अनुसार, पहले नायिका में भी दिखाया गया है।

१३. विरह-वेदना का अंकन उभय पक्षों में पाया जाता है।

१४. सभी प्रेमगाथाएँ मसनवी शैली में लिखी गयी हैं।

१५. प्रायः प्रेयसी को पाने के लिये नायक को ही प्रयत्नशील दिखाया गया है। कुछ कथानकों में यह प्रयास नायिका की ओर से भी हुआ है।

१६. कवियों ने प्रायः अलंकारमयी भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा की ओर अपनी रुचि का परिचय दिया है।

आलोचना

प्रत्येक देश के विकसित साहित्य के बीज उस देश के लोक-साहित्य में सरलता से खोजे जा सकते हैं। लोक-साहित्य में मानव की अनुभूति की निश्चल अभिव्यक्ति पायी जाती है। यह निश्चल अभिव्यक्ति जहाँ एक ओर सबल आत्मा की परिचायक है, वहाँ दूसरी ओर मानव मात्र में आत्मीयता के भाव की भी परिचायक है। आज के युग में जहाँ व्यक्ति अकेला खड़ा है, उसकी आत्मा संकुचित हो गयी है, आत्मीयता के भाव का लोप हो चुका है, निश्छल अभिव्यक्ति संभव नहीं। आज के सभ्य-संस्कृत युग में हम अपनी भावनाओं के लिये भी बाह्य आवरण खोजकर उनको सभ्य एवं संस्कृत रूप में अभिव्यक्त करने के पक्ष में हैं, भले ही इस प्रक्रिया में उसके प्राण निकल जायँ। आज के हमारे सभ्य समाज में निश्छल भावाभिव्यक्ति संभव नहीं है, हम तो आज लोक साहित्य में भी अश्लीलता का अनुभव करते हैं।

हमारा प्राचीन लोक-साहित्य जिसका रूप हमें वैदिक, पौराणिक साहित्य में तथा महाभारत एवं लोक-कथाओं के संग्रह कथासरित्सागर में मिलता है, इस बात की ओर इंगित करता है कि प्रेम मानव की सहज एवं आदिम वृत्ति है, जो व्यक्ति मात्र के आकर्षण एवं आनन्द का विशेष कारण बनी रही है। मानव जहाँ इस भावना की अभिव्यक्ति में आनन्दानुभूति करता है, वहाँ वह दूसरों की अभिव्यक्ति में भी भावसाम्य के कारण आनन्द का अनुभव करता है। यही कारण है कि आदिकाल से प्रेम-कथा के माध्यम से शिक्षा देने की वृत्ति का परिचय हमें अपने प्राचीन साहित्य के अध्ययन से मिलता है।

यही कारण है कि धर्म-प्रचारकों ने भी विवश होकर अपने धर्म-प्रचार के कार्य को सफल बनाने के लिये प्रेम-कथाओं का आश्रय लिया। हमारे इस भाव की पुष्टि वसुदेवहिण्डीकार के इस विचार से भी होगी—"नरवाहनदत्त आदि लौकिक कामकथाएँ सुनकर लोग एकांत में काम-कथाओं का आनन्द लेते हैं। ज्वरपित्त से यदि किसी रोगी का मुँह कड़वा हो जाय तो जैसे उसे गुड़, शक्कर, खाण्ड और मत्स्यंडिका (बूरा) आदि भी कड़वी लगती हैं, वैसे ही सुगति को ले जाने वाले धर्म को सुनने की लोग इच्छा नहीं करते। धर्म, अर्थ और काम से ही सुख की प्राप्ति होती है, तथा धर्म, अर्थ और काम का मूल है धर्म, और इसमें लोग मंदतर रहते हैं। अमृत-औषध को पीने की इच्छा न करने वाले किसी रोगी को जैसे कोई वैद्य मनोभिलाषित वस्तु देने के बहाने उसे अपनी ओषधि भी दे देता है, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय कामकथा के श्रवण करने में संलग्न है, उन्हें शृंगार कथा के बहाने मैं इस धर्म-कथा का श्रवण कराता हूँ।"

धार्मिक प्रचारकों ने नित्य एक बात का ध्यान रखा है कि प्रचार के लिये उन्होंने सभ्य-शिक्षित वर्ग को अपना लक्ष्य बनाने की अपेक्षा अशिक्षित, पिछड़े हुए जन-समुदाय को ही अपना लक्ष्य बनाया है। इसके प्रमाण भारत में ढूँढ़ने नहीं पड़ेंगे। हम अच्छी तरह जानते हैं कि किस प्रकार मुसलमानों ने, अंग्रेजों ने अपने धर्म-प्रचार के लिये निम्न वर्ग के लोगों में ही अपना प्रचार किया और उनका धर्म-परिवर्तन करने में वे सफल भी हुए इसका कारण मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता

है। व्यक्ति अपने से दुर्बल व्यक्तित्व वाले व्यक्ति से प्रभावित नहीं होता। हम अपने से कम व्यक्तित्व वाले व्यक्ति को ही प्रभावित कर सकते हैं। यही कारण है कि धर्म-प्रचारकों ने भी उन लोगों में प्रचार करने में हित समझा जिन्होंने चिंतन-मनन से अपनी विचारधारा को पुष्ट नहीं बनाया था। चिंतन-मनन से पुष्ट विचारकों के विचार-परिवर्तन का कार्य सरल नहीं है। यही कारण है कि नये-नये धर्म-प्रचारकों ने नित्य ही जनता की वाणी को और जनता की भावधारा को अपनाया, ताकि वे उनके प्रति अपनी आत्मीयता का परिचय देकर उनका विश्वास पाकर, उनकी दुखती नस को पहचान कर, उसे सहलाकर, विश्वास के बल पर उसको अपना अनुयायी बना सकें।

सूफ़ी सम्प्रदाय को विषम परिस्थितियों में अपने को स्थिर करना था। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के स्पष्ट वक्ताओं का हाल देख लिया था। स्पष्ट वक्ताओं की स्थिति संभवतः हर देश, हर काल में समान ही होती है। एवहार्ट ने अपने एक भजन मे संत आगस्टाइन का यह कथन कि "मनुष्य जिसे प्रेम करता है, वही होता है" उद्धृत करते हुए यह टीका लिखी है—"यदि वह पत्थर से प्रेम करता है तो वह एक पत्थर है : यदि वह मनुष्य से प्रेम करता है तो वह एक मनुष्य है : यदि वह परमात्मा से प्रेम करता है तो मैं आगे कहने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि यदि मैं कहूँ कि "तो वह परमात्मा है" तो आप लोग मुझे पत्थरों से मार डालेंगे।"

अलग़ज़ाली ने इस स्थिति को अच्छी तरह महसूस किया और सूफ़ी सम्प्रदाय को इस्लाम के अनुकूल और इस्लाम का अनुयायी साबित कर सूफ़ी सम्प्रदाय को इस्लाम में निश्चित स्थिति प्रदान की। उसके बाद भी सूफ़ी सम्प्रदाय के साधकों ने यह महसूस किया कि जन साधारण का प्रेम और विश्वास पाने के लिये उन्हें वही रास्ता अपनाना पड़ेगा जो उन्हे प्रिय है। सूफ़ी साधको ने अपनी अलौकिक अनुभूति को लौकिक भावभूमि पर प्रस्तुत किया। इससे एक ओर जहाँ उन्हें पाठक और श्रोता मिले, वहाँ कुछ लोगों ने उन्हें गलत भी समझा। उनकी रचना जहाँ लौकिक शृंगार में रुचि रखने वालों का मनोरंजन करने में सक्षम है, वहाँ साधको को भावाविष्टावस्था मे लाने में भी सक्षम है।

सूफ़ी सम्प्रदाय ने आरम्भ से ही अपने को जनानुकूल बनाने की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। भारत में उन्होंने अपनी पूर्वानुभूति एवं अपने से पूर्व के धर्म-प्रचारकों के अनुभव से लाभ उठाया। जनभाषा में—उत्तर में अवधी और दक्खिन में दक्खिनी, पंजाब में पंजाबी, सिन्ध में सिन्धी, गुजरात में गुजराती भाषा में अपना प्रचार कार्य जन-प्रचलित कथा कहानियों के माध्यम से आरम्भ किया और अपने कार्य में उन्हें अद्वितीय सफलता भी मिली। विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध सूफ़ी साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि उनका मूल उद्देश्य अपने मत और धर्म का प्रचार था।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, खैरताबाद,
हैदराबाद-५०००४।

कवि फ़क़ीरा कृत अल्लाहनामा

स्वामी वाहिद काज़मी

अब से कोई पचासी वर्ष पूर्व, अर्थात् सन् १८८६ ई० में कानपुर से एक वृहदकाय ग्रंथ प्रकाशित हुआ था जिसमें अरबी, फारसी व उर्दू के कुछ ग्रंथ एवं कुछेक हिन्दी के सूफ़ी-काव्य आदि तेरह पुस्तकें संकलित थीं। ग्रंथ का नाम था 'रिसाला रहबरे राहे हक़' और फारसी लिपि मे छापा था नवलकिशोर प्रैस ने। संपादन किया था अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् ज़रदार खाँ साहब ने। उक्त ग्रंथ मेरे निजी संग्रह में है। इसमें एक हिन्दी रचना भी 'मसनवी अल्लाहनामा' के शीर्षक से सम्मिलित है। इस मसनवी का अति संक्षिप्त उल्लेख हिन्दी की सूफ़ी-कृतियों के इतिहास-विषयक ग्रंथों में बरायेनाम ही मिलता है।

यद्यपि इस रचना को मसनवी इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसमें आदि से अंत तक कोई एक ही कथानक या आख्यान नहीं है, तथापि इसे मसनवी की श्रेणी में इसलिये शामिल कर लेना शायद अनुचित न होगा कि इसमें मसनवी शैली जैसी शैली अपना कर कुछ छोटी-छोटी प्रतीक-कथायें पिरोयी गयी है जिन्हें 'कहावत' की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण कृति मे यों तो छह कथाएँ हैं, किन्तु स्वयं रचयिता व इनके संपादक ने भी इन्हें न मालूम क्यों पाँच ही गिना है।

'अल्लाहनामा' के रचयिता का नाम कहीं भी न दिया होने से इसे अनाम कवि की रचना मान लिया गया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रंथ 'सूफ़ी काव्य-संग्रह' में भी इसे किसी अनाम कवि की रचना करार दे दिया है। किंतु मेरा यह निश्चित अनुमान है कि यदि इस कवि का नाम नहीं तो उपनाम 'फ़क़ीरा' था। इस शब्द—फ़क़ीरा—का प्रयोग कवि ने ठीक उसी प्रकार किया है, और उसी ढंग से किया है कि यह किसी के लिये सम्बोधन न होकर कवि के अपने उपनाम या तख़ल्लुस का सूचक प्रतीत होता है। संसार से निस्पृह जीवन-यापन करने वाले साधु, संत और मनमौजी स्वभाव वाले व्यक्ति अपने उपनाम इसी तरह के रख भी नहीं, बल्कि गढ़ लिया करते थे। जैसे मस्ता, पंछी, घसीटा, शाही, मस्तान, जुगनूँ, पेमी, कबिरा आदि-आदि। (ये केवल शब्द नहीं, वरन् इन उपनामों वाले शाइर या कवि वास्तव में हुए हैं। विभिन्न हिन्दी-फारसी ग्रंथो मे इनका परिचय भी मिलता है।) 'फ़क़ीरा' उपनामधारी तो कई शाइर भी हो गये है। अब अगर 'अल्लाहनामा' के रचयिता का उपनाम 'फ़कीर' से बिगड़ कर या मूलत: 'फ़क़ीरा' हो तो आश्चर्यजनक बात नहीं है। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं कवि की ऐसी पंक्तियों से भी ध्वनित होती है। यथा—

इतना पढ़ो कहे है 'फ़क़ीरा', जा पर अमल करो रे बीरा।

×

जिस जिस तरफ़ 'फ़क़ीरा' धाया, अल्लाह बिन कोई और न पाया।

×

कहे फ़क़ीरा' सुनो रे यारो आब बदू को मार पछाड़ो

×

ऊँची पूंजी लाया 'फ़क़ीरा'; जैसे ऊँट के मुँह में जीरा।

इतना ही नहीं, बल्कि दो स्थानों पर तो कवि ने एक और शब्द 'सानेवाले' भी प्रयुक्त किया है। कोई सूफ़ियाना रहस्य के अतिरिक्त यह भी संभव है कि इस शब्द का प्रयोग उसने अपने निवास-स्थान के संकेत-रूप में किया हो। उसके एक दोहे की पंक्ति है—

सुन रे फ़क़ीरा सानेवाले, अल्लाह से चित ल्याव।

अन्यत्र भी कहा है—

कहे फ़क़ीरा सानेवाला; तू लख हो तेरा उजियारा।

कवि फ़क़ीरा ने अपनी रचना प्रमुख रूप से दोहा-चौपाई शैली में रची है। इसमें १६२ चौपाई और छह दोहे हैं। भाषा सरल एवं सुबोध है और बोलचाल के उर्दू शब्दों का भी पुट है जिससे रचना क्लिष्ट नहीं हो सकी है। विषयवस्तु भी कोई बहुत गूढ़तम प्रसंग, आदर्श अथवा रहस्य-प्रधान प्रसंग नहीं, बल्कि सहज ही गले से उतर जाने वाली बात, यानी सीधा-सादा ईश्वर नाम स्मरण करने और सदाचारी रहकर सन्मार्ग पर चलने के उपदेश मात्र हैं जिनका महत्त्व विविध उदाहरणों एवं मिसालों द्वारा दर्शाया गया है। वर्ण्य विषय में रोचकता लाने और सरसता बढ़ाने के लिये कुछ आसान-सी प्रतीक-कथाओं का अवलम्बन लिया गया है जिसका अनुमान तीसरी कथा के इस संक्षिप्त रूप से सरलतापूर्वक किया जा सकेगा—

एक शख्स ने तोता पाला। पिंजर के पिंजरे मे डाला।।
मेहनत कर कर वाहि पढ़ाया। बहुत अक़ायद याद कराया।।
दीन ईमान की राह सिखाये। ग्यान अक़ायद याद कराये।।
हक का उसको नाम सिखाया। अन्तर चातुर बहोत कहाया।।
मुल्ला पंडत बहुत बुलाये। अपने तोते पास बिठाये।।
तोता मिठाई खा-खा फूला। मन से अल्लाह नाम को भूला।।
मजलिस भीतर आवन लागा। मीठे बोल सुनावन लागा।।
हिन्दू-तुरका आवन लागे। पान मिठाई लावन लागे।।
आखिर दम का सोच न कीना। दिल से अल्लाह नाम न लीना।।
बातें कर कर लोग रिझाये। टुकड़े खाये दिन बहलाये।।
आख़िर के इक बिल्ली आई। दौड़ के पिंजरे ऊपर धाई।।
तोते को पिंजरे बीच दबोचा। पंजों से सारा तन नोचा।।
जितने बेद पढ़ा था भूला। जब बिल्ली ने तोड़ा कूला।।
तड़प-तड़प कर लागा मरने। टें टें टें टें लागा करने।।
ऐसे बेद न पढ़ियो कोई। जा से दुनियां हासिल होई।।
आख़िर को कुछ काम न आवै। तुरत फुरत यों ही मर जावै।।

बाह्याडम्बरानुगी साधुओं और किताबी ज्ञान का दंभ लिये रहते व्यक्तियों, पाखंडी लोगों से ऐसे सरलचित्त संत हमेशा से चिढ़े रहते हैं। ये भी कहते हैं—

मुल्ला बहुत किताबें बाँचें। लालच देख ज्यों बंदरा नाचें।।
बैठे-बैठे बातें बनायें तब मसला लोगों को सुनावें

दाढ़ी बड़ी-सी मुंह पर राखें। लुकमा सदा हरम का चाखें।
करके वुज़ू मसजिद में आवें। मुर्गे की भी बांग सुनावें।।
और बहुत है पंडत देखे। हैं पापी सब मेरे लेखे।।
गंगा जाकर काया धोवें। जी की बातें कहीं न खोवें।।
पोथी पढ़-पढ़ सदके खावें। कहु वे नर्क में क्यों न जावें।।
पोथी पढ़-पढ़ कुछ सुनावें। आप न करें लोगों को जलावें।।

इस प्रकार के मुल्ला-पंडत के दिखावटी कर्मकांड वाले मार्ग का अनुकरण करने की अपेक्षा फ़क़ीरा इस प्रकार की बातों के पक्षधर हैं—

आप से बेहतर सबको मानों। पीरो-पयम्बर सबको मानों।।
मात-पिता की ख़िदमत करियो। चरन में उनके हरदम पड़ियो।।
हसद बुग्ज़ का हक्स न कीजो। भूखों के तईं भोजन दीजो।।
बड़ों का कहना हैगा बजाये। बासी बचे न कुत्ता खाये।।
बुरा है बैरी नफ़्स तुम्हारा। वह जीता जिन वाको मारा।।
जो बैरी को प्यार करेगा। अल्लाह को बेज़ार करेगा।।
चौकस होके तुम नित जागो। इस बैरी से कोसों भागो।।
थोड़ा हँसो बहुत-सा रोओ। ग़ाफ़िल होकर तुम मत सोओ।।
जो बैरी से ग़ाफ़िल सोवे। सगरी पूंजी अपनी खोवे।।
ग़ाफ़िल होके 'फ़क़ीरा' सोया। उस बैरी ने घटना खोया।।

'अल्लाहनामा' के कर्त्ता का हिन्दी ही नहीं, अपितु उर्दू व अरबी भाषा के अच्छे ज्ञाता होने का संकेत भी उसकी इस रचना से मिलता है। कहीं-कहीं उसने कुछ चौपाइयों में पवित्र क़ुरआन की आयतें भी उनके अर्थ तथा व्याख्या के आधार पर पिरोयी है। क़ुरआन के अनुसार सृष्टि-सृजन का उल्लेख करते हुए कहा है—

जात-पात पूछै नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।।
'कुन्त कुन्तन' जब उससे कहा। बहुत सो मुद्दत मख़फ़ी रहा।।
जब उसके कुछ मन में आयी। 'इन्नी जाइलुन' कह बात सुनायी।।
सुन के फ़रिश्ते लागे कहने। 'काल्‌ू लज्जालू' लागे पढ़ने।।
मनभेदी का भेद न जाना। कहा खुदा......हाँ से माना।।
'अना अलीमुन हकीमुन' कहाया। वही किया जो वाको भाया।।
अपने बोल को फिर-फिर बोला। 'रुक़इन्नी आलम' कह बोला।।
माटी का इक पुतला कीन्हा। दमे नफ़ख़्‌त वामे दीन्हा।।

इस रचना के अन्त में उर्दू के चालीस अशआर की एक लंबी नज़्म भी इसी कवि द्वारा रची हुई दी गयी है। यह भी एक उपदेशात्मक नज़्म है और इसमें 'पाप' की व्याधि से रोगमुक्त होने का एक नुस्ख़ा कुछ ऐसे रोचक ढंग से काव्यबद्ध किया गया है, जैसे शाइर स्वयं भी वैद्यक का ज्ञाता रहा हो। स्थानाभाव के कारण उसके कुछ अंश प्रस्तुत न करके अपने शब्दों में उसका सार यहाँ दे रहा हूं।

"ईश्वर आस्था की जड़ और धैर्य का कड़वा गोंद लो। उसमें मधुर वचन की मिसरी, सहिष्णुता के पत्ते और स्वयं के प्रति कठोरता मिलाओ। फिर प्रभु-बोध के खरल में डालकर सद्बुद्धि की मूसली से पीसो। जब यह पाँचों वस्तुयें एक हो जायें तो गुरुसेवा के बड़े पात्र में इनको डालो और प्रयास के चूल्हे पर चढ़ाकर, उत्साह की आँच में, अभ्यास का ताव आने दो। तदुपरान्त इसे साफ करके निर्मल हृदय-पात्र में रख लो, और प्रेम के चम्मच से ठंडा करके सायं व प्रातः नियमपूर्वक सेवन करो। (किन्तु इस दवाई के साथ यह परहेज भी अनिवार्य है) लोभरूपी धनियाँ, क्रोधरूपी दवा, और ईर्ष्या व निंदा की मिर्च न खाये, न अहंकार के बैगन खायें, इसके साथ ही हलाल, यानी श्रमपूर्वक कमायी गयी जीविका-रूपी आहार लें और कटु वचन न बोलें। यदि दवा के साथ यह परहेज न किया गया तो परलोक में पछताना होगा।"

उपर्युक्त बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लघुकाय होते हुए भी रचना 'अल्लाहनामा' सूफ़ी-काव्य-शैली की एक उत्तम रचना है और उसका रचयिता फकीरा उपनामी एक अच्छा कवि था। खेद यही है कि इस कवि के जन्म, जन्मस्थान, निवास या ऐसी ही तमाम व्यक्तिगत बातें अभी तक अंधकार में ही हैं।

२ इ/८७, एन० आई० टी०
फरीदाबाद—121001

काव्य-सृजन की शक्ति—कल्पना

●

डॉ० आशानन्द वोहरा

काव्य-सृजन एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया का परिणाम है जिसके सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-सृजन की शक्ति का 'काव्यहेतु' प्रकरण में विचार हुआ है। यहाँ प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास—तीन तत्वों में प्रतिभा को काव्य-सृजन की प्रधान शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। उसे 'अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा' तथा 'नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा'[1] के रूप में मानकर उसकी सृजन-क्षमता एवं मूर्तिविधायनी शक्ति का स्तवन किया जाता रहा है। इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'कल्पना' को काव्य-सृजन की शक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त है। वहाँ पर इस सृजन-शक्ति का विवेचन 'सृजनात्मक सहजानुभूति' (क्रियेटिव इन्ट्यूशन्) और 'सृजनात्मक कल्पना' (क्रियेटिव इमैजिनेशन) के अन्तर्गत हुआ है। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी सौंदर्यशास्त्री ज्याक मारितें ने अपने ग्रन्थ 'क्रियेटिव इन्ट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोएट्री' में इस सृजनात्मक शक्ति पर विचार करते हुए लिखा है कि काव्य के मूलभूत तत्वों के अन्वेषण के लिए हमें 'प्रथम कवि'[2] की ओर दृष्टिपात करने से बढ़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं दिखाई देता है। 'प्रथम कवि' से उसका तात्पर्य ईश्वर से है। हमारे यहाँ भी कवि को ईश्वर के समान स्रष्टा[3] ही माना जाता है, परन्तु पाश्चात्य धारणा की तरह वह एक विवश[4] ईश्वर न होकर असीमित शक्ति-सम्पन्न माना जाता है।

काव्य कवि-प्रजापति[5] के कला-कौशल की अद्भुत प्रदर्शनी होता है जिसमें वह निजी अन्तःकरण में स्थित संस्कारों, अनुभूतियों और धारणाओं को छन्द के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। वह कल्पना की कूची से भाँति-भाँति के सुन्दर गूढ़े और फीके रंगों से मानवीय जीवन के ही नहीं, प्रत्युत जड़ पदार्थों के भी मानवीकृत रूपों की हँसती रोती जीवन-कहानी को प्रस्तुत करता है। उसकी वह मूक चित्रावली सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा की बनाई हुई सजीव मूर्तियों से कहीं अधिक मोहक एवं आनन्द-प्रदायिनी होती है। काव्यप्रकाशकार[6] ने कवि की इस अद्भुत सृष्टि का वर्णन करते हुए कहा है कि नवरसों का आस्वादन कराने वाली छन्दमयी कवि-सृष्टि विधाता की लोक-सृष्टि की भाँति पराधीन नहीं होती, वह तो उससे भी अधिक तल्लीन अवस्था में सृजित होती है। कवि अपने अस्तित्व को भूल कर चिन्तन की तल्लीनता में कल्पना के पंखों के सहारे अनुपम जीती-जागती सजीव प्रतिमाओं को अपने छन्दों में साकार कर देता है और विधाता की नश्वर सृष्टि को अमरता प्रदान कर चिरकाल तक भावुक मन वाले सहृदय रसिकों को आनन्द से अभिभूत करता रहता है।

इसका रहस्य उसकी कल्पना शक्ति में निहित है। लयात्मक शब्द-रूप-विधान यदि काव्य का शरीर है तो कल्पना उसकी आत्मा कही जाती है।[7] कल्पना से रहित काव्य निष्प्राण कहा जाता है। कल्पना काव्य की सबसे बड़ी विधायिका शक्ति है। इसके परिणाम-स्वरूप अतीत एवं अनागत एक अन्तःसूत्र में संबन्धित से प्रतीत होने लगते हैं। इसी शक्ति के द्वारा कवि गगनचुम्बी उड़ानें भरता है। इसी के द्वारा काव्य में 'सुन्दरं' की प्रतिष्ठा करता है। इसी के द्वारा उसे

सजीवता प्रदान कर प्राणवान बनाता[८] है। इसीलिए पाश्चात्य कवि शैले ने एक स्थान पर कहा है कि 'काव्य कल्पना की अभिव्यक्ति ही है।'[९] प्रतिभाशाली कवि इसी कल्पना के आलोक से पुरातन घटनाओं और विषयवस्तु को अलौकिक कमनीयता से कलात्मक रूपों में सजाकर प्रस्तुत करता है।[१०] इस संसार की वस्तुओं के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त करता है। इसीलिए साहित्यिक जगत् में यह कथन प्रचलित हो गया है कि 'जहाँ न जाये रवि, वहाँ जाये कवि।' इस कथन से कल्पना-शक्ति की महिमा का सहज ही अनुभव लगाया जा सकता है। "विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है। इतिहास के लेखक के सामने अपनी विषयवस्तु की एक निश्चित सामग्री है जिसे अधिक से अधिक सजाकर वह आकर्षक कृति उपस्थित कर सकता है। परन्तु अबाध कविता नहीं कर सकता। कवियों ने अपनी कल्पना के बल से कितने ऐसे महान् पात्रों की सृष्टि की है जो संसार के हृदय पर शासन करते है और चिर दिन तक करेंगे। उन्होने कितनी ही कामिनियों का शृंगार सजाया है जिन्हें देखकर मनुष्य एकान्त भाव से मुग्ध हुआ। कलाकार की कल्पना संसार को प्रायः समस्त उज्ज्वल, उदात्त और ऊर्जस्वित भावनाओं को पुष्ट करने वाली, उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य जीवन में मिला देने वाली सिद्ध हुई है। कवि अपनी कल्पना इंगित से सहस्रों वर्षों तक—अमित काल-पर्यन्त—संसार-व्यापी समाज के मन पर शासन करता है। मानव-हृदय के सिंहासन पर अधिष्ठित हो वह अपनी प्रभुता का विस्तार करता है और लोक श्रद्धांजलि उसके चरणों का नित्य प्रति अभिषेक करती है।"[११]

काव्य को कल्पना की यह देन कितनी महान् है। इसी कारण कवि के भाव या विचार, इतिहास, धर्म या उपदेश बनने से बच जाते है और इन रुक्ष रूपों में अभिव्यक्ति न पाकर काव्य के सरस रूप में अभिव्यक्त होते हैं। काव्य में कवि की अनुभूति-प्रवणता, चिन्तन-शक्ति ही सब कुछ नहीं है, कवि की कल्पनाशीलता और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि भी काव्य-सृजन में आवश्यक हैं। सत्य और सौंदर्य की सृष्टि कवि कल्पना के द्वारा ही करता है। वास्तव में कल्पना एक ऐसा सौंदर्य-बोधात्मक व्यापार है जिसके संयोग से काव्य हृदयावर्जक मनोवेगों के चित्रण द्वारा 'सुन्दर' की सृष्टि करता है। काव्य-सृजन प्रक्रिया का मूल आधार यही मानसिक शक्ति होती है जो उसे असत्य से सत्य की सृष्टि करने की समर्थता प्रदान करती है। वह एक तरह से दृश्य वस्तुओं में निहित अदृश्य सम्बन्धों का विधान करने वाली शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा कवि अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष में, भूत और भविष्य को वर्तमान में और असुन्दर को सुन्दर में परिवर्तित कर देने की समर्थता प्राप्त करता है। इसी शक्ति को काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में 'कल्पना' कहा जाता है। यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को नैसर्गिक रूप में प्राप्त होती है, परन्तु कवि को यह बात कुछ अधिक प्राप्त होती है। इसी के द्वारा वह काव्य-सृजन में सफलता प्राप्त करता है। यह एक ऐसी मानसी क्रिया है जिसके आधार पर कवि या कलाकार नूतन काव्य-सृजन करता है और नवीन रूपविधान की शक्ति प्राप्त करता है।

व्युत्पत्ति और स्वरूप—व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से इस 'कल्पना' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्लृप'[१२] धातु से हुई है जिसका अर्थ है—'करने की समर्थता रखना', 'सृजन करना या सृष्टि करना'। इसी आधार पर कल्पना के अनेक अर्थ प्रचलित है जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—(१) रचना, बनावट, सजावट। (२) वह शक्ति जो अन्तःकरण में ऐसी वस्तुओं का स्वरूप उपस्थित करती है जो उस समय इन्द्रियों के सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं। (३) एक वस्तु में अन्य का आरोप। (४) भावना

या अनुमान। (५) मनगढ़न्त बात।[13] हिन्दी में यह 'कल्पना' शब्द अंग्रेजी के 'इमैजिनेशन' शब्द के समानार्थक शब्द के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'इमैजिनिशिओ' और 'इमेज' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है—'रूपों की सृष्टि करना', 'रचना करना'। इस 'इमैजिनेशन' शब्द के 'ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी' में निम्न अर्थ दिए गए है[14]—

(१) जो वस्तु इन्द्रियों के सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं है, उसका मानसिक रूपविधान कल्पना है। (२) अघटित घटनाओं और कार्यों का मानसिक चिन्तन ; (३) वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा अप्रत्यक्ष बाह्य पदार्थों के बिम्ब और प्रत्यय (कान्सेप्ट्स) निर्मित होते हैं। (४) मस्तिष्क की वह शक्ति जो बाह्य पदार्थों के आधार पर उपलब्ध निष्कर्षों के अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में प्रत्ययों की रचना करती है। (५) चिन्तन में लीन मस्तिष्क या चिन्तन, विचार या मत। उक्त दोनों के आधार पर 'कल्पना' शब्द के अर्थों का विश्लेषण करते हुए डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त उसकी समानताओं और असमानताओं सम्बन्धी निष्कर्षों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते है—

समानताएँ—(क) दोनों कल्पना का क्षेत्र मानसिक मानते हैं। (ख) दोनों उसे एक विशेष शक्ति के रूप में स्वीकार करते है। (ग) दोनों उसका कार्य रचना (सृजन) करना मानते हैं। (घ) दोनों के अनुसार कल्पना वास्तविक पदार्थों, कार्यों एवं घटनाओं की अनुपस्थिति मे उनका रूप-विधान करती है। (ङ) यह रूप-विधान मूल रूप के सर्वथा अनुकूल हो, यह आवश्यक नहीं—हिन्दी शब्दकोश के अनुसार एक वस्तु में दूसरी वस्तु का मिश्रण या आरोप हो जाता है तो अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार—कल्पना मूल रूप के अतिरिक्त प्रत्ययों का भी निर्माण कर सकती है।

असमानताएँ—(१) हिन्दी शब्दकोश में कल्पना के साथ बिम्बों और प्रत्ययों का उल्लेख नही, जबकि अंग्रेजी कोश में ऐसा है। (२) हिन्दी में कल्पना का भावना से तो सम्बन्ध माना गया है, किन्तु उसके चिन्तनात्मक पक्ष की उपेक्षा की गई है, जबकि अंग्रेजी कोश के अनुसार वह कभी-कभी चिन्तन, विचार या मत की पर्यायवाची भी बन सकती है।

'सम्भवतः इस अन्तर का कारण स्वयं 'कल्पना' का अर्थ नहीं, अपितु उससे सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन है।'[15] इस शब्द के अन्य भी कई अर्थ मिलते हैं, जैसे कि—उद्भवन-भावना, विचार तरंग, अनुमान, मानसिक उड़ान और दिमागी खेल[16]। वैब्सटर[17] ने अपने कोश में इसके दो अर्थ दिए है। उनके अनुसार, इस शब्द का एक अर्थ यह है कि यह एक चित्रविधायिनी शक्ति है। इसके द्वारा पहले से देखी हुई वस्तुओं या अनुभव में आई भाव-स्थितियों की पुनः अभिव्यक्ति होती है। दूसरे अर्थ में मनुष्य अपने अनुभव या अनुमान के सहारे नवीन रूप-विधान इस शक्ति के द्वारा प्रस्तुत करता है।

उक्त विश्लेषण से भी यह तो स्पष्ट ही है कि सृष्टि करना अथवा रचना करना कल्पना का मुख्य अर्थ है और रूपों की सृष्टि करना अथवा पुनः निर्माण करना एक ही वस्तु है। 'इमैजिनिशेन' शब्द के मूल में जो 'इमेज' शब्द है, उसका अर्थ है मूर्ति अथवा रूप। इस तरह से कल्पना एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया मानी जा सकती है जिसमें कवि मूर्ति अथवा रूपों की सृष्टि करता है। इसी 'कल्पना' को काव्य-सृजन-प्रक्रिया में मूर्तविधायिनी शक्ति या सृजनात्मक शक्ति कहा जाता है। इसी आधार पर हम कह सकते है कि यह एक ऐसी मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तुओं के बिम्बों को प्रत्यक्ष किया जाता है। इसी के द्वारा इन बिम्बो को रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस तरह से काव्य-सृजन में -विधान, उद्दीपन

विधान, अप्रस्तुत-विधान आदि में इस शक्ति की महिमा देखी जा सकती है। इसका सृजनकर्ता मन संकल्प-विकल्पात्मक कहा गया है[१८] जो उसका मूल स्रोत है। इसी से प्रेरणा लेने वाली यह कल्पना 'क्रियेटिव इमैजिनेशन', 'सेम्प्लास्टिक पावर', 'शेपिंग स्प्रिट ऑफ इमैजिनेशन', 'ए यूनीफाइंग क्रियेटिव फैकल्टी', 'दि ब्यूटीफुल एण्ड दि ब्यूटी मेकिंग पावर' आदि नामों से पुकारी जाती है। यही प्रकृति के सुन्दर और स्थायी तत्वों का निरूपण करती है।

इसके व्यावहारिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ० श्यामसुन्दर दास जी लिखते हैं—"दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी है—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेंद्रियों, अर्थात् आँख, कान, नाक और त्वचा से होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उस मनुष्य का प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है। जब तक हम उस मनुष्य को देखते हैं, तब तक वह प्रतिबिम्ब स्पष्ट रहता है; परन्तु जब हम नेत्र बंद कर लेते हैं, तब वह प्रतिबिंब विलीन हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को "परिज्ञान" कहते है। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर "स्मरण" शक्ति की सहायता से हम उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं; परन्तु फिर भी पहले की भाँति स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं आ जाता। यदि हम उसी मनुष्य को बार-बार देखें और ध्यान से उसके प्रत्येक अंग की बनावट तथा उसके रूपादि को अपने मन में बैठा लें, तो फिर हमारी स्मरण-शक्ति कुछ अधिक सहायता कर सकती है और हमारे मन में उस व्यक्ति का एक स्पष्ट चित्र-सा बन जाता है। यह कार्य मन की स्मरण-शक्ति के द्वारा संपन्न होता है।"[१९]

मान लीजिए कि उक्त मनुष्य, जिसका हमें पहले आँखों द्वारा परिज्ञान हुआ और जिस का चित्र हम अपने मन पर स्मरण-शक्ति द्वारा खचित कर सके हैं, एक अँगरेज है। हमने एक संन्यासी को भी देखा है और हमे उस संन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब यदि हम चाहें तो अपने मन में उस अँगरेज का सूट-बूट छीन कर उसे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं; और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अँगरेज संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है। हमने बाह्य जगत् में केवल एक साधारण अँगरेज तथा एक संन्यासी को देखा; हमारी ज्ञानेन्द्रियों ने हमें उनका तद्रूप बोध कराया और स्मरण-शक्ति ने उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को मन में अंकित कर लिया। इसके अनंतर मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है, परन्तु जिसका बाह्य जगत् से स्वतन्त्र चित्र हमारे मन में रहता है। मन की इस क्रिया को 'कल्पना' कहते हैं। जो उदाहरण हमने दिया है, वह साधारण कल्पना का है। उसके आगे उस कल्पना का प्रादुर्भाव होता है जिसे 'मन की तरंग' कहते हैं। मनोरागों का अस्तित्व भी इसका प्रधान लक्षण है। इन्हीं रागों के द्वारा यह कल्पना उत्तेजित होती है और काव्यों द्वारा आनंद का उद्रेक करने में सहायक बनती है। जब यह कल्पना और उत्तेजित हो जाती है, तब यह अपनी बिलकुल नई सृष्टि खड़ी करने में भी समर्थ होती है। यह कल्पना-शक्ति की पराकाष्ठा है। इसी की सहायता से बड़े-बड़े काव्य रचने में प्रतिभाशाली लेखक और कवि समर्थ होते हैं। विधायक कल्पना ही संसार में नए-नए वैज्ञानिक आविष्कारों को संभव कर दिखाती है और संसार

का ज्ञान बढ़ाती है।"[२०] इस तरह से इसके स्वरूप को जाना जा सकता है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कल्पना का अर्थ है सौंदर्यपूर्ण नूतन सृष्टि-निर्माण में समर्थ मनःशक्ति।

स्पीयरमैन ने इसके स्वरूप और प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसकी सर्वांगीण विवेचना करने में कोई भी सिद्धान्त समर्थ नहीं हुआ।[२१] इसके रहस्य को उजागर कर सकने की समर्थता शायद किसी में नहीं दिखाई देती है। कल्पना का विचार करने वाले पाश्चात्य विचारकों की एक लम्बी परम्परा मिलती है जिनके चिन्तन में इसके स्वरूप-सम्बन्धी अनेक रूपों की व्याख्याएँ मिलती हैं। अनेक काव्यशास्त्रियों, सौंदर्यशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों आदि ने कल्पना-सम्बन्धी विचारधारा को स्पष्ट करने में अपना योगदान दिया है। इनके कल्पना-सम्बन्धी विचारों के विकास से अवगत हो लेना प्रस्तुत अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

'कल्पना' सम्बन्धी चिन्तन की काव्यशास्त्रीय और दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्लेटो ने कल्पना-सम्बन्धी कोई उपयोगी स्थापना प्रस्तुत नहीं की। उन्होंने कला को जीवन का अनुकरण माना था।[२२] नैतिकता के पुजारी प्लेटो ने असत्य को ही कल्पना का आधार माना। इन्होंने कल्पना के लिए 'फैंटेसिया' शब्द का प्रयोग किया है। उनकी कल्पना-विषयक उक्त मान्यता कला से सम्बन्धित न होकर रहस्यमय जगत् और ईश्वर से सम्बन्धित थी जिसके कारण उन्होंने इसे 'भ्रम' के रूप में समझा। उन्होंने 'रिपब्लिक' में 'मिथ' की व्याख्या करते हुए इसे एक घटिया वृत्ति कहा है जो भ्रम-सृजन की मूल थी। अरस्तू ने इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए यह विचार अभिव्यक्त किया कि "कल्पना हमारे विचारों को सुगठित रूप देती है और इसी के द्वारा ही प्रत्येक मनुष्य किसी विचार को धारण करता है। अरस्तू ने इसे सम्वेदन, तर्क, स्मृति और बुद्धि का उपकारक माना है और चिन्तन को मूर्तिमान करने वाला साधन बताया है। लौंजिनस और क्विंटिलियन ने इसका सम्बन्ध मनोवेगों और मनोविकारों के साथ बताया है। आगे आने वाले अन्य मध्यकालीन विचारकों ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए। काफी समय तक प्लेटो का दिया शब्द 'फैंटेसिया' ही साहित्यिक जगत् में चर्चा का विषय बना रहा। अनेक काव्यशास्त्री तो 'फैंटेसी' और 'कल्पना' के पृथक् रूपों को समझने में ही लगे रहे। अलबर्ट मैगनस तक आते-आते इन दोनों शब्दों का अन्तर स्पष्ट हो गया और कालरिज ने इस अन्तर को विस्तार से समझाते हुए कहा कि "कल्पना पुनःसृष्टि का सृजन करने वाली शक्ति होती है और 'फैंटेसी' शब्द संगठनात्मक कल्पना के लिए प्रयुक्त होना चाहिए।" कई चिन्तकों ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि 'कल्पना' का सम्बन्ध कवि के साथ होता है। 'इमैजिनेशन' ही कवि का धर्म है जो साधारण मनुष्य की पहुँच से परे है। 'फैंटेसी' शब्द का सम्बन्ध संगीतकार, वस्तुकार आदि के साथ होता है। इस तरह से मध्यकालीन विचारकों ने 'कल्पना' का कोई स्वस्थ साहित्यिक स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया। १७वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने भी इस 'रचनात्मक' कल्पना की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। हॉब्स आदि ने अपने वस्तुवादी मनोविज्ञान के अन्तर्गत कल्पना की व्याख्या करते हुए इसे एक नाशकारी शक्ति (डिकेइंग सेन्स) बताया और विवेक (जजमेण्ट) को मौलिक शक्ति कहा जो काव्य को रूप प्रदान करती है।[२३] दूसरी ओर काण्ट और हीगल आदि ने इस कल्पना-शक्ति का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया। काण्ट के अनुसार, कल्पना 'एटीच्यूड ऑफ माइण्ड' के रूप में स्वीकृत हुई उन्होंने अपने ग्रंथ 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न'

में बताया है कि कल्पना वह शक्ति है जो अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत ही नहीं करती, अपितु उसको हमारी सहजानुभूति का अंग भी बना देती है। मैगनस के अनुसार, कांट ने कल्पना के तीन रूपों का विवेचन प्रस्तुत किया। वह तीन रूप निम्नानुसार हैं—

१. पुनरुत्पादक कल्पना—यह शक्ति पुनः निर्माण से सम्बन्ध रखती है। यह वस्तुबोध पर निर्भर रहने वाली अनुभूतिपरक सहजानुभूति (इमोशनल इन्ट्यूशन) को बिम्बों में परिवर्तित करती है। इस बिम्बविधायक प्रक्रिया में 'ऐसोसिएशन' का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसमें प्रभावों को ग्रहण करने की समर्थता भी होती है।

२. उत्पादक कल्पना—यह एक ऐसी आत्मनिर्भर शक्ति होती है जो सहजानुभूति को विचार चित्र बना देती है क्योंकि सहजानुभूतियाँ निराकार होती हैं।

३. सौंदर्यपरक कल्पना—यह कल्पना सौंदर्य-बोध कराती है। इसका अधिक सम्बन्ध बुद्धि (अण्डर-स्टैंडिंग) के साथ होता है। यह तर्कप्रधान और अनुभूतिमूलक विचारों की योजना करती है।[२४]

कांट का यह कल्पना-विश्लेषण दार्शनिक था। एडीसन ने ही सर्वप्रथम अपने निबन्ध 'ऑन दि प्लीजर ऑफ दि इमैजिनेशन' में कल्पना के काव्यगत स्वरूप की व्याख्या की और कल्पना का सम्बन्ध बिम्ब-विधान और रसानुभूति के साथ स्थिर किया। इन्होंने तर्क और स्मृति की तुलना में कल्पना की सृजनात्मक शक्ति की महत्ता प्रतिपादित की। कल्पना का जादू यही है कि प्रायः हमारी इन्द्रियों के अनुभव में आनेवाले दुःखदायी रूप कल्पना का स्पर्श पाकर सहज सुख देने वाले बन जाते हैं। एडीसन ने इस कल्पना की ऐंद्रियता पर बल देते हुए काव्य-चिन्तन को नवीन दिशा प्रदान की। इन्होंने इस तरह से इसके साहित्यिक स्वरूप का उद्घाटन और विश्लेषण प्रस्तुत किया। स्विस सौंदर्यशास्त्री ब्रिटिंग ने 'कल्पना और रूपक' का सम्बन्ध स्थिर किया। इन्होंने भी कल्पना के साहित्यिक स्वरूप का प्रचार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस तरह से सौंदर्य-शास्त्र और काव्यशास्त्र मे रस की प्रधानता के साथ-साथ 'सृजनात्मक और वासना-प्रेरित कल्पना' के सिद्धान्तों की स्थापना होने लगी।

उक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त रोमांटिक कवियों और तत्कालीन अनेक समीक्षकों ने भी काव्य-सृजन की शक्ति कल्पना का तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया। रोमांटिक काल के कवियों ने इस अन्तर्मुखी सहज अनुभूति को 'डबल विज़न' बताया, क्योंकि उनके पास वस्तुजगत् के अतिरिक्त एक अन्य भावजगत् भी होता है। कल्पना शक्ति के विवेचकों में से कालरिज का नाम अत्यन्त गौरव से लिया जाता है। इनके समकालीन उक्त ब्लेक आदि कवियों के अतिरिक्त वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि ने भी कल्पना का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया। १८वीं शताब्दी से पूर्व काव्य के क्षेत्र में कल्पना का कोई विशेष स्थान नहीं माना जाता था, परन्तु रोमांटिक युग के व्यक्तिवादी कवियों ने कल्पना की अद्वितीय शक्ति में ऐसा विश्वास अभिव्यक्त किया कि वे जीवन के किसी भी क्षेत्र में इसकी रहितता को बुरा कहने लगे। इस कल्पना शक्ति ने ही उन्हें काव्य-सृजन की नवीन स्फूर्ति प्रदान कर उन्हें काव्य-स्रष्टा बना दिया।

कालरिज ने कल्पना के सम्बन्ध में अपनी सुविख्यात पुस्तक 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के १३वें अध्याय में बताया कि कल्पना दो प्रकार की होती है। "मेरे विचार में कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण होती है। मुख्य कल्पना तो मेरे अनुसार समस्त मानवीय ज्ञान की जीवंत शक्ति और प्रमुख माध्यम होती है; वह असीम में होने वाली अनन्त सृजन-प्रक्रिया की ससीम मन में

आकृति होती है। गौण कल्पना को मैं मुख्य कल्पना की छाया मात्र समझता हूँ। सचेतन संकल्प-शक्ति के साथ उसका सह अस्तित्व होता है, परन्तु फिर भी माध्यम के प्रकार में वह वैसी ही होती है, जैसे मुख्य कल्पना—अन्तर होता है मात्रा का और क्रियाविधि का। पुनः सृजन के निमित्त उसका तिरोधान, विकिरण, विघटन होता है या जहाँ यह प्रक्रिया असंभव होती है, वहाँ भी आदर्शीकरण तथा एकीकरण का प्रयत्न तो होता ही है। वह मूलतः सजीव होती है, वैसे ही जैसे (वस्तुओं के रूप में) सभी वस्तुएँ मूलतः अचल और निर्जीव होती हैं।"[२५] कांट ने जिसे "रिप्रोडक्टिव इमैजिनेशन' कहा है, उसे ही कालरिज ने 'प्राइमरी इमैजिनेशन' कहा है। इसका सम्बन्ध समस्त मानवीय ज्ञान से होता है जबकि 'सेकेण्डरी इमैजिनेशन' का सम्बन्ध मनुष्य की चेतन इच्छा के साथ है। यही कांट की 'एस्थेटिक इमैजिनेशन' कही जा सकती है। इस तरह से कालरिज ने कल्पना को मनुष्य की ऐसी सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में स्वीकार किया है जो मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में क्रियमान बना देती है।"

कालरिज के इस कल्पना सिद्धांत पर प्लेटो, कांट, प्लोटायनस, पेटर स्टेरी और डेविड हर्टले आदि अनेक दार्शनिकों का पर्याप्त प्रभाव है। इस विवेचन के अनुसार वह एक आध्यात्मिक विचारक सिद्ध होते हैं। वह स्वयं भी इस कल्पना के क्षेत्र को "दि होली जंगिल ऑफ ट्रॉन्सडेन्टल मेटाफिजिक्स" कहते हैं। कालरिज रहस्यवादी दर्शन से प्रभावित थे। इनकी कल्पना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने कल्पना और ललित कल्पना (फैन्सी) के पृथक् रूप को स्वीकार करते हुए उसकी परिभाषा के विषय में कहा है कि "इसके विपरीत, ललित कल्पना की क्रीड़ा का अचलता और निर्दिष्टता के क्षेत्र के अतिरिक्त और कोई ठिकाना नहीं होता। ललित कल्पना, वास्तव में, देशकाल के अनुशासन से मुक्त स्मरण की एक रीति है—और कुछ नहीं, वह इच्छा-शक्ति के उस अनुभवमूलक व्यापार से पुष्ट और परिवर्तित होती है जिसे वह 'चयन' शब्द से व्यंजित करते हैं। परन्तु साधारण स्मृति की भाँति ललित कल्पना भी अपनी सम्पूर्ण सामग्री साहचर्य-नियम से यथावत् ग्रहण करती है।"[२६] इस ललित कल्पना के कालरिज ने चार गुण बताये हैं—

(१) यह वह शक्ति है जिसके द्वारा बहुत्य बिम्बो को किसी आंशिक सादृश्य के आधार पर एकत्र किया जाता है। (२) इसके द्वारा बिम्बो के एकत्र होने पर भी उनमें उतनी ही परस्पर पृथकता रहती है जितनी कि पृथक्-पृथक् रहने पर। (३) इसके द्वारा योजित बिम्बों का एकत्रीकरण भी कवि-प्रतिभा की नवीन सूझों पर निर्भर रहता है। (४) बिम्बों के संग्रह में कवि की उस इच्छा की प्रधानता रहती है जो कवि की चुनी हुई सम्बन्धों की योजना पर निर्भर रहती है।

यह 'स्थिरता' और 'निश्चयता' के साथ खेलती है जो देशकाल के बन्धनो से मुक्त होती है। यह काव्य में विचित्र बिम्बों और चमत्कारी मूर्तिविधान की शोभा का मूल कारण है।[२७] काव्य में कल्पना और ललित कल्पना, दोनों का साथ-साथ ही कार्य-व्यापार होता है और एक सीमा तक दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। कल्पना का अनुपम रूप लम्बी रचनाओं में अधिकतर देखा जा सकता है और ललित कल्पना गीतात्मक रचनाओं मे ही अपने चमत्कार दिखाकर शान्त हो जाती है। इसलिए इन दोनों के भिन्न रूपों को पहचाना जा सकता है। जैसे एक चित्रकार किसी चित्र को बनाने के लिए दो तरह की कूचियों को प्रयोग में लाता है—एक बारीक और दूसरी कुछ मोटी। चित्र को रूप प्रदान करने में दोनों का महत्वपूर्ण योगदान होता है, परन्तु पारखू नजर दोनों के हलके-फीके रंगों के स्पर्शों को पहचान लेती है। कालरिज इन दोनों के भेद को एक रूपक द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं, औचित्य काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा का शरीर है ललित कल्पना

उसकी साज सज्जा है गति उसकी जीवनी शक्ति है और कल्पना उसकी आत्मा है जो प्रत्येक स्थान पर व्याप्त है और जो सबको सम्पूर्णता प्रदान करती है।[२८] इसी भाव को अन्य शब्दों में कहा जाये तो हम कह सकते हैं कि ललित कल्पना अंग है और कल्पना अंगि है। दोनों में अंग-अंगि सम्बन्ध है। न तो ललित कल्पना के बिना कल्पना काव्य को विभूषित कर सकती है और न ही कल्पना के बिना ललित कल्पना किसी रचना को सम्पूर्णता प्रदान कर सकती है।

इस तरह से कहा जा सकता है कि काव्य की सृजन-प्रक्रिया में काव्यास्वाद की उत्पत्ति के लिए चाहे ललित कल्पना से कल्पना का स्थान ऊँचा है तो भी दोनों को काव्य-सृजन-प्रक्रिया में गौरवशाली स्थान प्राप्त होता है। एडीसन की साहित्यिक व्याख्या ने इसके गौरव को और अधिक बढ़ा दिया। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि कल्पना प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का मूल तत्त्व है। इसके सहारे ही कवि जीवन के ज्ञान को काव्य में प्रत्यक्ष करता है।

कालरिज के पश्चात् की पीढ़ी में हंट, हैजलिट, रस्किन आदि काव्यचिन्तकों एवं दार्शनिकों ने इस कल्पना के व्यावहारिक रूप पर ही अधिक विचार किया। मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान के सहारे इसके एंद्रिय-बोध का वर्णन किया। किसी ने इसके साथ अनुभूति पक्ष पर बल दिया। किसी ने इसे बिम्ब-विधान की शक्ति माना। इसी के द्वारा कवि अपनी शब्द-योजना को नवीन अर्थ प्रदान करता है। आधुनिक विचारकों ने रोमांटिक कवियों की कल्पना पर नये सिरे से प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आई० ए० रिचर्ड्स और एडर्सन आदि ने अनुभूति के बिना कल्पना की सत्ता ही स्वीकार नहीं की। दूसरी ओर क्रोचे ने कल्पना को मूलरूप में प्रातिभ-ज्ञान (इन्ट्यूशन) ही माना था। उन्हें सांसारिक अनुभूति से कोई सरोकार नहीं था। इनकी विचार-धारा का ब्रैडले आदि काव्यचिन्तकों ने समर्थन किया। ई० डी० फासेट ने पुनः नये सिरे से जर्मनी के दार्शनिकों के सिद्धान्तों को सजीवता प्रदान की और कहा कि 'संसार स्वयं ही कल्पना है।'

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचारानुसार कल्पना-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इनके सार-रूप में कहा जा सकता है कि यह कल्पना काव्य की सृजन-प्रक्रिया में मानसिक बिम्ब-विधान को विशेष रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करती है। इसकी यह विशेषता होती है कि यह मूर्त से मूर्त को ही निर्मित नहीं करती, अपितु अमूर्त की सहायता से मूर्त का निर्माण भी करती है। काव्य-कला में यह अमूर्त कल्पना आवश्यक मूर्त-विधान के लिए अमूर्त आधारों को ढूँढ़ती है। इसका हमारी बुद्धि, स्मृति और अनुमान शक्ति से निकट का सम्बन्ध होता है।

'कल्पना' का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

'कल्पना का हमारे मन से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। मन की क्रियाओं का अन्त किसी ने भी नहीं पाया है। मन का अनेक विषयों के साथ भी सम्बन्ध होता है। इसीलिए अनेक मनोवैज्ञानिकों ने इस कल्पना को मानसी शक्ति कहा है। इसका हमारी इच्छाओं के साथ अटूट सम्बन्ध है। वास्तव में कल्पना के द्वारा हम अपनी अनेक अपूर्ण इच्छाओं को पूर्णता प्रदान करते हैं।'[२९] महान् मनोवैज्ञानिक मर्फी का विचार है कि 'कल्पना अलक्ष्य उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है।'[३०] इसलिए कवि भी अपनी अनन्त इच्छाओं को असीमित परिस्थितियों में पूर्ण करने का जो प्रयास करता है, उसके मूल में 'कल्पना' विद्यमान रहती है। सुविख्यात मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल का विचार भी कुछ ऐसा ही है। उनका कथन है कि "अप्रत्यक्ष वस्तुओं के साथ सम्बन्ध रखने वाला हमारा चिन्तन-

मनन ही कल्पना है वुडवर्थ के विचार में यह एक मानसिक चमत्कार है इसी तरह की परिभाषाएँ देने वाले मनोवैज्ञानिकों ने एन्द्रिय-बोध की दृष्टि से इसके छह भेदों का वर्णन किया है—

१. **दृष्टि-कल्पना**—यह प्रत्यभिज्ञान और मूर्त-विधान की जननी है। जो कवि दृष्टि-कल्पना का धनी होता है, उसकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त तीव्र होती है। काव्य में वर्ण और रूप की योजना यही कल्पना करती है।

२. **ध्वनि-कल्पना**—इसका सम्बन्ध ध्वनि-लहरियों और संगीत के साथ होता है। इसकी सहायता से हम एक दूसरे स्वर-भेद को भिन्न-भिन्न रूपों मे समझ सकते हैं।

३. **स्पर्श-कल्पना**—यह सूक्ष्म कलाओं के सृजन में सहायक सिद्ध होती है।

४. **क्रिया कल्पना**—इसका आधार हमारी स्मृति होती है। यह हमारी स्मरण-शक्ति और हमारी विचार उत्पादक अनुभूतियों के साथ सम्बन्ध रखती है।

५. **रस-कल्पना**—काव्य-सृजन की दृष्टि से यह कल्पना सबसे अधिक महत्व की अधिकारिणी है। यह हमें अनेक रसों का आस्वादन कराती है।

६. **गंध-कल्पना**—इसका सम्बन्ध हमारे गन्ध-बोध से होता है।

'कल्पना' का यह स्वरूप-विवेचन हमारे एंद्रिय-बोध से सम्बन्धित है। यह प्रत्येक व्यक्ति मे संस्कारों एवम् रुचियों के आधार पर किसी में कम और किसी में अधिक होती है। इस तरह मे अचेतन में जिसे स्वप्नों की दुनिया कहा जाता है, चेतनता की अवस्था में वही कल्पना कहलाती है। यह कल्पना का व्यावहारिक वर्गीकरण था। इसके सृजनात्मक पक्ष के विषय में भी मनोवैज्ञानिको ने विचार व्यक्त करते हुए इसके तीन भेद किए है—

१. **निष्क्रिय और सक्रिय कल्पना**—चेतन मन की कल्पना सक्रिय कहलाती है, परन्तु मन हमेशा चेतन हालत में ही नही रहता, अपितु कई बार कम चेतन अवस्था में भी रहता है। ऐसी हालत में वह मानसिक सृष्टि करता हुआ भी निष्क्रिय कल्पना के द्वारा मूर्ति-निर्माण में संलग्न रहता है।

२ **धारणात्मक और सृजनात्मक कल्पना**—धारणात्मक कल्पना हमें किसी वस्तु को धारण करने की शक्ति प्रदान करती है और सृजनात्मक कल्पना मानसिक चित्रों के निर्माण की शक्ति प्रदान करती है।

३. **बोधक, व्यावहारिक और सौन्दर्यपरक कल्पना**—बोधक कल्पना का सम्बन्ध हमारी बुद्धि के साथ होता है। जब किसी विशेष घटना को देखकर हमारी बुद्धि उसे आधार बनाकर उसके समाधान ढूंढ़ती है, तब उसे बोधक कल्पना कहते हैं, जैसे न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त। व्यावहारिक कल्पना का सम्बन्ध हमारे दैनिक व्यावहारिक जीवन के साथ होता है। सौंदर्यपरक कल्पना हमारी सौंदर्य-चेतना को सन्तुष्ट करती है। कवि, चित्रकार आदि इसी कल्पना से प्रेरित होते हैं।

कल्पना के इस मनोवैज्ञानिक निरूपण से यह सिद्ध होता है कि हम किसी परी-लोक मे पहुँचे कवि की रचनाओं की इसके द्वारा व्याख्या कर सकते हैं। कवि के स्वप्नों के संसार का विश्लेषण इसके द्वारा ही हो सकता है। कालरिज की कविता 'कुबलाखां' आदि के रहस्य को इस विश्लेषण और अनुमान के द्वारा ही समझा जा सकता है। परन्तु कवि की काव्यगत कल्पना में अज्ञात वस्तुओं को रूप प्रदान किया जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में यद्यपि मनोविज्ञान की देन को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता तथापि यह तो देखा ही जाता है कि इसके सब निष्कर्ष वर्तमान

युग के अनुकूल नहीं निकलते। इसलिए हमें विज्ञान के अन्य निष्कर्षों पर भी विचार कर लेना चाहिए। जीव-विज्ञानियों का कथन है कि वही मस्तिष्क अधिक कल्पनाशील होगा जिसमें चेता कोशों की संख्या अधिक होगी और यह कोश परस्पर मिले हुए होते है। एक मानसिक चित्र अन्य चित्र को प्रस्तुत करता है और दूसरा तीसरे को। इस तरह इसकी कड़ी बन जाती है। यही सृजन के लिए प्रेरित करती है। इसी मानसिक रूप-विधान का एक रूप कल्पना कहलाता है।

'कल्पना' का काव्यगत स्वरूप और प्रयोग

जैसा कि हम पहले कल्पना-सम्बन्धी विचारों के विकास में देख आये हैं कि कई साहित्यकारों एवं कवियों ने भी इसकी अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत कर इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। दार्शनिकों एवं सौंदर्यशास्त्रियो ने भी इसके स्वरूप को समझने और समझाने के प्रयास किए हैं। उन सब के नामों की सूची बहुत ही लम्बी है। यहाँ कुछ प्रमुख कवियों के विचार दिए जा रहे हैं जिनका योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रसिद्ध कवि कीट्स ने कल्पना के सम्बन्ध में लिखा है कि "मुझे पवित्र हृदय की सहानुभूति और कल्पना के सत्य में पूरा विश्वास है। कल्पना द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु की सत्ता चाहे हो या न हो, पर वह प्रमाणित होकर रहती है। और वह भी 'सुन्दरं' की तरह सदैव ही 'सत्यं' से अलंकृत रहती है।[११] कवि और कल्पनाशास्त्री कॉलरिज के कल्पना-सम्बन्धी विचार बिलकुल साहित्यिक हैं। उनके विचारानुसार इस मानसिक शक्ति के द्वारा मस्तिष्क में बिम्बों का विधान किया जाता है।

काव्य में 'कल्पना' कई रूपों में प्रकट होती है। आई० ए० रिचर्ड्स ने विभिन्न सिद्धातो का सार देते हुए कल्पना के छह अर्थ और प्रयोजन बताए हैं—

१. **गोचर बिम्ब-विधान**—सर्वप्रथम हम इस 'कल्पना' शब्द का प्रयोग मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रों के लिए करते हैं। प्रत्यक्ष जगत् में हम जो कुछ देखते हैं या सुनते हैं, उसके विषय में हमारे मन में अपने आप अनेक भाव-तरंगें उठती हैं। मन उन्हें बिम्बों में बदल देता है। वह अपनी इच्छानुसार उनके चित्र बनाता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उनमें काट-छाँट भी करता रहता है। उसकी यह क्रिया अपने आप होती ही रहती है। कवि का मन इस 'क्रिया' से नहीं बच सकता। उसकी भाव-पूरित रचनाओं में यह क्रिया बिम्बों के सृजन में सहायक सिद्ध होती है।

२. **अलंकृत भाषा का प्रयोग**—कल्पना का उपयोग काव्य में अलङ्कार-योजना के लिए किया जाता है। उसमें अप्रस्तुत विधान के लिए अलंकारों के रूप में कल्पना ही सब कार्य करती है। इसी रूप के प्रयोग से काव्य में विविध काव्यरूपों की झलक दिखाई देती है। अनेक सादृश्य-मूलक एवं विषमतामूलक अलंकारों की योजना इसी के द्वारा की जाती है।[१२] उपमा, रूपक, विरोध, विषम, विभावना आदि में इसी कल्पना का सहारा लिया जाता है।

३. **लोगों की मानसिक अवस्थाओं का पुनः-सृजन**—कल्पना अपने संकुचित अर्थ में लोगो की मानसिक अवस्थाओं को चित्रित करती है। किसी सीधे-सादे मनुष्य को यह कहते हुए सुन करके कि मुझे तो इस कविता में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, तब हम अक्सर यह कह देते हैं कि तेरी कल्पना शक्ति बहुत कमजोर है। यहाँ कल्पना का भाव कवि या कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव कराने वाली शक्ति से है। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द-शक्तियो

के विवेचन के अन्तर्गत लक्षणा आदि का सम्बन्ध इसी कल्पना-शक्ति के द्वारा ही सिद्ध किया जाता है। यदि कवि अपनी मानसिक अवस्था को प्रेषणीय नहीं बना सकता, तब यही कहा जायेगा कि कि उसमें कल्पना-शक्ति की कमी है। और यदि पाठक या श्रोता उसके भावों को, उसकी मानसिक अवस्था को समझने में समर्थ नहीं होते तो भी यही कहा जायेगा कि उनमें कल्पना-शक्ति की कमी है। इसीलिए काव्य में अभिव्यक्त विशेष सांकेतिक भावों को कल्पनारहित पाठक या श्रोता समझने मे असमर्थ रहते हैं। यह शक्ति पाठक को काव्य की रसानुभूति कराने में सहायक सिद्ध होती है। इसी के सहारे वह रचना की सुन्दरता को अनुभव करने में समर्थ होता है।

४. **नूतन आविष्कार या सादृश्य-विधान**—कल्पना का 'नूतन आविष्कार' अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक के लिए कल्पनाशील होना इसलिए आवश्यक कहा जाता है कि वे इस शक्ति के द्वारा नवीन-नवीन वस्तुएँ आविष्कृत करते है। काव्य में कवि प्राय: ऐसी वस्तुओ के परस्पर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं जिनमें अक्सर विरोधी गुण होते हैं। इस तरह के प्रयोग अनोखी घटनाओं के दृश्यों के चित्रों में किए जाते हैं।

५. **वैज्ञानिक कल्पना**—इस तरह की कल्पना के द्वारा ऐसे उदाहरणों का चयन किया जाता है जिनके द्वारा हम किसी दृश्य या वस्तु-सम्बन्धी अनुभूतियों को किसी विशेष उद्देश्य के लिए एक विशेष तरतीब देते हैं। इसमें हमारी अनुभूतियाँ ठीक स्थानों पर रहती हैं। काव्य मे कलात्मकता इसी के द्वारा लाई जाती है। इसी के द्वारा रिक्त स्थानों को भरने का काम भी लिया जाता है। यह उन कारणों को खोजती है जिनके द्वारा वस्तुओं के टूटते स्वरूपों को सगति प्रदान करके एकता लाई जाती है। इसी प्रक्रिया को रूप-विधान भी कहते है।

६. **सौंदर्यात्मक कल्पना**—इस कल्पना को काव्यात्मक कल्पना भी कहा जाता है। काव्य-सृजन में इसका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। यह कल्पना ऐसी जादूभरी शक्ति है जो परस्पर-विरोधी गुणों और अतिवादों में सन्तुलन पैदा करती है। जानी-पहचानी या पुरानी वस्तुओं मे भी असाधारण भाव-बोध के कारण नवीनता लाती है। इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता खोजता है। वह अनेक विचारों और भावों को एक विशेष विचार या भाव में एकरूपता देता है। शेक्सपियर इसी को 'स्वस्थ कल्पना' कहते हैं। इसके द्वारा कवि संसार की अनेक विभिन्नताओं को पचाकर अपने विशाल हृदय की सत्ता सिद्ध करता है। महाकवि तुलसी, प्रसाद, शेक्सपियर, मिलटन, गुरु नानक, भाई सन्तोष सिंह आदि अनेक कवियों ने विरोधी विचारों मे समन्वय स्थापित करके ससार के हृदयों पर राज्य किया है और करते रहेंगे।

रिचर्ड्स के कल्पना के उक्त विश्लेषण का आधार कालरिज-रचित 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' ही था। उन्होंने उनके भावों को स्पष्टता प्रदान की। कल्पना का उद्देश्य भी काव्य के उद्देश्य के साथ-समानता रखता है। दोनों का उद्देश्य पाठक को आनन्द का बोध कराना है। कवि इसके दो प्रमुख रूपों—विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना—द्वारा नवीन उद्भावनाओं को प्रस्तुत करता है और आनन्द प्रदान करने में पूर्ण योग देता है। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की तरह ही हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी एवं छायावादी कवियों की रचनाओं में इसके उक्त जलवे देखे जा सकते हैं। काव्यगत कल्पना की महिमा का वर्णन करते हुए एक आलोचक का कथन है कि "कल्पना की सहायता से ही कवि अपनी व्यथा एवं अनुभूति को सार्वभौम बना देता है। यदि वह ऐसा न करे, तो उसके अतिरिक्त उसे अन्य कौन पढ़ेगा?" वास्तव में कवि की यह कल्पना ही हमारे जीवन मे आनन्द का संचार करती है। इसीलिए कहा जा सकता है कि कल्पना के बिना काव्य का सृजन हो नहीं हो सकता। वही अप्रस्तुत विधान के सौन्दर्यपरक विविध सयोजनों को करने की

प्रेरक शक्ति है। इसी के द्वारा संवेदनशील मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिलती है। इसी कारण प्रो० साधुराम गुप्ता ने इसे मानवीय मस्तिष्क की कीर्तियुक्त उड़ान कहा है जो हमें अज्ञात के दर्शन करा सकती है।[३६]

इसीलिए हिन्दी के छायावादी कवियों का इसके प्रति अत्यधिक मोह रहा है। महादेवी वर्मा ने भी एक स्थान पर लिखा है—

"बाहर के वैषम्य और संघर्ष से थकित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है, उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय-समय पर उनके पास पहुँचती ही रही हूँ जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है।"[३७] श्रीमती वर्मा पाठक की कल्पना की अपेक्षा स्वीकार करती हुई जैसे कहती हैं—"जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है।" बाह्य उत्तेजना के अभाव में अनुभूति का आवेश कल्पना का ही फल है—

"कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है।"—पन्त

पन्त ने वियोगी को पहला कवि माना है। सिसकते गान के मूल में अश्रु है और उन अश्रुओं की जन्मदातृ वेदना कल्पना के ही आवेश का कारण है। कल्पना की अतिशयता ही 'बच्चन' में सपना बन कर आती है—

स्वप्नो ने ही मुझको लूटा,
स्वप्नों का, हा, मोह न छूटा,
मेरे नीड़-नयन में आओ, कर लो, प्रेयसि, रैन-बसेरा।—'निशा-निमंत्रण'

कल्पना को 'व्योम-कुंजों की परी' स्वीकार करने वाले कवियों के प्रति विद्रोह की भावना जगी अत्यधिक वस्तुवादी मोह के कारण। छायायुगीन काव्य-साहित्य में कल्पना का प्राचुर्य देख आज का वस्तुवादी कवि कल्पना के तिरस्कार का संकल्प लेकर चला। किन्तु ऐसा वह कर कहाँ सका और 'दिनकर' को लिखना पड़ा—

व्योम-कुंजों की परी, अयि कल्पने,
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
उड़ न सकते हम तुम्हारे स्वप्न तक
शक्ति है तो फिर बसा अलका यहीं।

इस तरह से कल्पना के महत्व को प्रायः सभी कवियों ने स्वीकार किया है। डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के शब्दों में कहा जा सकता है कि "उसके स्पर्श में नूतनता, भावोद्रेक और चमत्कार-वैचित्र्य है। इस प्रकार वह केवल आकृष्ट ही नहीं करती, बल्कि मानसिक प्रत्यक्षीकरण द्वारा आधार भी उपस्थित करती है। वह घटनाओं के संघटन और रूपान्तरकरण द्वारा अनुभूति के उपयुक्त वातावरण तैयार करती है और साधारण से साधारण घटनाओं को उन्नयन द्वारा सजगता और सजीवता देती है। कल्पना अलक्ष्य को लक्ष्य, अमूर्त को मूर्त ही नहीं बनाती, बल्कि मानवीय रागात्मिका वृत्ति, आकांक्षा और वासना के उदात्त चित्र उपस्थित करती है जिसमें कला की चेतन-धारा और सौन्दर्य-बोध का आग्रह है।"[३८]

संदर्भ-संकेत

१. ध्वन्यालोक—लोचन, पृ० ६३। २. जैक्वीज मैरीटेन, क्रियेटिव इन्ट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोयट्री, पृ० ८। ३. "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"—शुक्लयजु संहिता, अ० ४०, म० ८। ४ जैक्वीज् मैरीटेन क्रियेटिव इन्ट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोयट्री, पृ० ८१

५. अपारे काव्यससारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥—(१) अग्निपुराण, अध्याय ३३८।

६. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥—मम्मट : काव्यप्रकाशः, कारिका १, पृ० ५।

७. लाला हरदयाल, हिण्ट्स फॉर सेल्फ-कल्चर, पृ० १४३। ८. ओवेन फेलथाम, पोएट्स एण्ड पोयट्री। ६. शेले, दि डिफेन्स ऑफ पोएसी। १०. ड्यूगाल्ड स्टीवर्ट। ११. डॉ० श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन, पृ० १०३-४ (सम्वत् २००८)। १२. क्लृप+अ+नञा। यथापूर्वकल्पयत्। १३. हिन्दी शब्दसागर, खंड १, पृ० ४०२ से उद्धृत। (द्रष्टव्य. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन पृ० १७५)। १४. ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी। १५. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन, पृ० १७६। १६. पंडित रामदहिन मिश्र : काव्य-दर्पण, पृ० ३२ (१६५१)। १७. वैब्सटर्स डिक्शनरी, पृ० ७२५। १८. श्री बालगंगाधर तिलक : गीता रहस्य, 'संकल्पविकल्पात्मकम् मन'। १६. डॉ० श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन, पृ० २५४-५५। २०. डॉ० श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन, पृ० २५५। २१. क्रियेटिव माइण्ड, पृ० ६-२ (१६३०)। २२. प्लेटो। २३. शिप्ले : डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स, पृ० २२०। २४. सर फिलिप सैगनस : इंगलिश स्टडीज, पृ० ८३। २५. द्रष्टव्य : सावित्री सिन्हा (सम्पादिका) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० १६६। २६. वही। २७. कोलरिज आन इमैजिनेशन : आई० ए० रिचर्ड्स, पृ० ७२, ४४। २८. बाइयोग्राफिया लिटरेरिया, अध्याय XIV, पृ० १५४। २६. मार्क, दि साइकॉलोजी ऑफ इमैजिनेशन, पृ० २११। ३०. मर्फी : ए ब्रीफ जनरल साइकॉलोजी, पृ० ३४६। ३१. कीट्स। ३२. प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० २३६-४२। ३३. वही, पृ० २४०। ३४. वही, पृ० २२४। ३५. लाला हरदयाल : हिण्ट्स फॉर सेल्फ-कल्चर, पृ० १४१। ३६. एस० आर० गुप्ता : दि ट्रान्सडेण्टलिस्ट (नावेल इन प्रेस)। ३८. हिमालय : अग्रहण, संवत् २००३।

मकान नं० २ (दो),
आदर्श नगर (माडल टाउन)
अम्बाला शहर—१३४००३

अर्थगत स्तर-भेद



डॉ० राधाकृष्ण सहाय

अर्थविज्ञान का इतिहास विचित्र ढंग से उलझा और जटिल है, क्योंकि इसके साथ विविध क्षेत्रों का अध्ययन सम्बद्ध है—तथापि ऐसा कहना भी भ्रांतिपूर्ण कथन होगा कि यह आधुनिक भाषाविदों के लिए आज भी खोज का विषय बना हुआ है।

निश्चय ही, आनेवाला कल यंत्रमानवों का होगा और यंत्रमानवों के आदर्श समाज में भाषा का काम केवल एक होगा—अर्जित ज्ञान की सूचना देना; परन्तु, ठीक यही स्थिति मनुष्य-समाज पर घटित नहीं होती। व्यक्ति-व्यक्ति अथवा समूह-समूह के बीच सभी सभी तरह के द्वन्द्व अथवा दबाव उठते रहते हैं और भाषा पारस्परिक क्रिया के रूप में एक प्रमुख कार्य सम्पन्न करती रहती है। तटस्थ सूचनात्मक कार्य के अलावा भाषा का महत्वपूर्ण काम है– अभिव्यंजना। लिखने या बोलनेवाले की भावनाओं, मनोवृत्तियों को भाषा अभिव्यक्ति देती है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण शपथ या उद्‌गार के शब्द हैं। भाषा के सूचनात्मक स्तर पर अवधारणात्मक अर्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं, किन्तु व्यंजना के स्तर पर भावात्मक अर्थ महत्त्वपूर्ण होते है। भाषा का तीसरा काम आदेशात्मक होता है जिसके द्वारा हम दूसरे के व्यवहार तथा मनोवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। आदेश या अनुनय, इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। काव्यात्मक भाषा-प्रयोग को भाषा के भावात्मक कार्य के निमित्त माना जाता है, लेकिन इसके लिये एक पृथक् सौन्दर्यपरक कार्य कोटि का निर्धारण अधिक उपयुक्त होगा। सौन्दर्यपरक कार्य अवधारणात्मक तथा भावात्मक, दोनों अर्थस्तरों के साथ जुड़ा होता है, परन्तु काव्य के सन्दर्भ में अर्थ का सबसे अधिक महत्वपूर्ण बिन्दु होता है—भाषा का 'सब तरह से' सम्प्रेषणीय होना; सम्प्रेषणीयता के सभी संभव रास्तों, अर्थ के सभी स्तरों के प्रयोग के निमित्त एकदम खुला होना; क्योंकि, सम्प्रेषणीयता के स्तर पर कवि तथा पाठक, दोनों ही अर्थ की उच्चतम सूक्ष्मग्राहिता-स्थिति तक पहुँचे हुए होते हैं।

मानवीय व्यवहार के जटिल परिवेश में आज केवल यह कहने या जानने से हमारा काम नहीं चल सकता कि अर्थ 'वस्तु और नाम के बीच का सम्बन्ध' है या 'भाषा का प्रयोग' है। इसलिये आज यह आवश्यक हो उठा है कि शोध एवं अर्जित ज्ञान द्वारा आज तक की उपलब्ध सामग्री के सहारे हम अर्थ के विभिन्न स्तरों को देखने-समझने का प्रयत्न करें।

व्यापक रूप से, भाषा-माध्यम से जो अभिव्यक्त होता है, उनको निम्नलिखित स्तरों पर विभाजित किया जा सकता है; यथा—अवधारणात्मक अर्थ, गुणार्थक अर्थ, शैलीगत अर्थ, भावात्मक अर्थ, विमर्शक अर्थ, विन्यस्त अर्थ, विषयक अर्थ।

अवधारणात्मक अर्थ—भाषा-सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से अवधारणात्मक अर्थ को केन्द्रीय उपकरण के रूप में ग्रहण किया जाता है, क्योंकि भाषा-कार्य-व्यापार का यह अनिवार्यतः एक अविच्छिन्न अंग होता है, जबकि अन्य अर्थस्तरों की स्थिति ऐसी नहीं होती। इसका प्रमुख कारण यह है कि वाक्यीय तथा ध्वनिग्रामीय स्तर पर इस अर्थस्तर की समानता की परीक्षा की जा सकती है। उदाहरण के लिए, एक भाषाशास्त्री दो प्रतिमानों—व्यतिरेकी तथा संघटक गठन के सिद्धान्त के

सकता है। ध्वनि-प्रक्रियात्मक वर्गीकरण में व्यतिरेकी विशेषताएँ जिस तरह सी तरह भाषा-गठन में अवधारणात्मक अर्थ।

औरत = + प्रौढ़, + आदमी, − पुरुष.
बालक = + पुरुष, + आदमी, − पुरुष.

र, दूसरे सिद्धान्त संघटक गठन को भाषाशास्त्रीय इकाइयों में निहित छोटी-रूप में रक्खा जा सकता है। यथा—

(व्यक्ति) (रंक) (नहीं) (होता)

वाक्य
उद्देश्य विधेय
निश्चयवाचक संज्ञा
(कोई) (व्यक्ति)
पूरक क्रिया
(होता)
संज्ञा निश्चयवाचक
(रंक) (नहीं)

वाक्यीय गठन के महत्त्व और उसकी उपयोगिता को बहुत पहले समझ लिया हाल ही से यह भी माना जाने लगा है कि प्रकृततः भाषा में वाक्यीय गठन के का भी निजी संघटक गठन होता है। निम्नलिखित रूप में भाषा-सामर्थ्य को यम से समझा जा सकता है—

श्रोता
क. ध्वनि प्रक्रिया
ख. वाक्य
ग. अर्थ
कूटनिर्माण
वक्ता
कूटस्पष्टीकरण

कि किसी वाक्य के विश्लेषण के लिए हमें 'ध्वनि-प्रक्रियात्मक', 'वाक्यीय' तथा ों को स्थिर करना पड़ता है। साथ-साथ, हमें इन निरूपणों के विभिन्न स्तरों र करना होता है। अवधारणात्मक अर्थ का लक्ष्य किसी वाक्य की व्याख्या में ंरूपण होता है जिसे अर्थात्मक निरूपण माना जा सकता है। सम्भावित अर्थों के ी तुलना करें, तो हम देखेंगे कि यह ध्वनि-प्रक्रियात्मक तथा वाक्यीय निरूपणों जिसकी हमें खोज थी; यथा—कूटनिर्माण की दिशा : ग—ख—क तथा कूट-शा : क—ख—ग। इस प्रकार, वाक्य के इन तीनों स्तरों की दिशा समान यह सिद्ध होता है कि भाषाज्ञान के लिए अवधारणात्मक अर्थस्तर अत्यन्त है और यह भाषा का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इसके बिना भाषा को ध्या जा सकता। निश्चय ही अवधारणात्मक अर्थस्तर जितना आदमी की भाषा है, उतना अर्थ के अन्य स्तर नहीं बन पाते।

गुणात्मक अर्थ—गुणार्थक अर्थ अवधारणात्मक अन्तर्वस्तु के साथ-साथ सम्प्रेषणीय मूल्य के साथ सम्बद्ध होता है जिसमें अभिव्यक्तिगत संकेत निहित होते हैं। अधिकांशतः प्रेषण-बोध गुणार्थक अर्थ के साथ अतिव्याप्त होता है। उदाहरणार्थ, 'औरत' शब्द अवधारणात्मक स्तर पर तीन लक्षणों को परिभाषित करता है (+मनुष्य, +प्रौढ़, —पुरुष) और यही तीन लक्षण इस शब्द के व्यवहार के लिए मान स्थिर करते हैं। वास्तविक जगत् में ये ही व्यतिरेकी लक्षण 'औरत' शब्द के गुण प्रकट करते हैं, परन्तु यही शब्द जानकारी के आधार पर उपर्युक्त विशिष्ट गुणों की तुलना में कहीं अधिक गुणों के साथ जुड़ा होता है। जैवी विशेषताओं ('द्विपाद', 'बच्चादानी' आदि) के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक गुणधर्म तथा नारीत्व के सहधर्मी गुण (बोलने की क्षमता, पाक-ज्ञान, साड़ी, ब्लाउज, स्कर्ट वस्त्रादि) आदि के साथ यह शब्द समन्वित होता है। दूसरी ओर, इनसे अलग, व्यक्ति या समूह या एक पूरे समाज के दृष्टिकोण के अनुरूप गुणार्थक अर्थ 'अनुमानात्मक गुणधर्म' से भी समन्वित होता है; जैसे—पुराने समय में 'औरत' शब्द 'कमजोर', 'अश्रुसिक्त', 'भावप्रधान', 'अबौद्धिक' आदि विशेषणों से विभूषित था, परन्तु आज वैसा या उस रूप में 'औरत' शब्द स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसी तरह नीलस्ट्रांग के चाँद पर पहुँचने के पहले और उसके बाद 'चाँद' शब्द के गुणार्थक अर्थबोध में भारी अन्तर पड़ गया।

असल में, गुणार्थक अर्थ देश, काल और पात्र सापेक्ष होता है। गुणार्थक अर्थ भाषा के आनुषंगिक होते हैं, भाषा की अन्तर्वस्तु नहीं, जैसा कि अवधारणात्मक अर्थ के साथ हम पाते हैं। गुणार्थक अर्थ भाषा के सुस्पष्ट अंग नहीं होते, बल्कि ये संप्रेषणीयता की अन्य प्रक्रियाओं के साथ जुड़े होते हैं। इसीलिये, 'शिशु' का गुणार्थक अर्थ 'रोते हुए शिशु' के चित्र के माध्यम से अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया जा सकता है। आज भाषागत तथा दृश्यगत गुणार्थक अर्थ की अतिव्याप्ति विज्ञापनों में खास तौर पर देखने को मिलती है। इस प्रकार, अवधारणात्मक तथा गुणार्थक अर्थ का भेद भाषा तथा वास्तविक जगत् के बीच की विभाजक रेखा को लेकर होता है।

व्यक्ति-चेतना संस्कृति, इतिहास तथा वैयक्तिक अनुभव के अनुरूप बनती-बिगड़ती रहती है। अतएव, गुणार्थक अर्थ अपेक्षाकृत परिधीय एवं अस्थिर होता है। इसके विपरीत, अर्थविज्ञानी आज यह मानने लगे हैं कि सभी भाषाओं में एक ही अवधारणात्मक गठन होता है जो मानव-मस्तिष्क का सार्वभौमिक गुणधर्म है। प्रमाण रूप में, यह कहा जा सकता है कि एक विशेष भाषा के बोलनेवाले सभी लोग हू-बहू उसी भाषा का व्यवहार करते हैं और उन सभी वक्ताओं का अवधारणात्मक गठन लगभग समान होता है, अन्यथा एक भाषा से उनके बीच की सम्प्रेषणीयता क़ायम कैसे रह पाती ?

परिणामतः यह प्रमाणित होता है कि अवधारणात्मक अन्तर्वस्तु स्वेच्छाधीन नहीं, प्रत्युत वह निश्चित तथा सीमाबद्ध होती है, जबकि गुणार्थक अर्थ मध्यवर्ती होता है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध में जिस तरह हमारी धारणाएँ, हमारे विश्वास खुले/तरल होते हैं, उसी तरह गुणार्थक अर्थ खुले/तरल होते हैं। किसी प्रकार का आत्मपरक ज्ञान गुणार्थक अर्थ को नया आयाम दे सकता है। इसके विपरीत, किसी शब्द या वाक्य का अवधारणात्मक अर्थ सीमित प्रतीकों में ही अभिव्यक्त किया जा सकता है।

शैलीगत अर्थ—सम्प्रेषणीयता परिस्थिति-सापेक्ष होती है। भाषा के वे टुकड़े, जो सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत होते हैं तथा उन पर आश्रित होते हैं, शैलीगत अर्थ कहलाते हैं। जब हम भाषा में व्याप्त प्रयोगगत विभिन्न स्तरों/आयामों का अध्ययन करते हैं तभी हम शैलीगत अर्थ को

पकड़ पाते हैं। प्रयोक्ता के भौगोलिक एवं सामाजिक मूल के आधार पर कतिपय शब्दों को हम 'बोली' मानते हैं। वास्तव में, भाषा की कुछ विशेषताएँ वक्ता तथा श्रोता के सामाजिक पक्ष को उद्घाटित करती हैं, और हम भाषा के उन्हीं विशेष प्रयोगों को बोलचाल, परिचित, गँवार, परिनिष्ठित आदि रूपों से अभिहित करते हैं।

क्रिस्टल, डी० तथा डेवी, डी (इन्वेस्टिगेटिंग इंगलिश स्टाइल, लंदन, लांगमैन) ने शैली के विभिन्न आयामों को निम्नलिखित रूप में रक्खा है—

क—अपेक्षाकृत शैलीगत स्थायी विशेषताएँ

१. वैयक्तिकता (यथा, शुक्लजी या अज्ञेय या रेणु की भाषा आदि)

२. बोली (किसी भौगोलिक क्षेत्र या किसी सामाजिक वर्ग की भाषा आदि)

३. काल (यथा, १८वीं या २०वीं शती की भाषा आदि)

ख—प्रवचन/निबन्ध

१. माध्यम (भाषण/लेखन आदि)

२. सहभागिता (एकालाप, संलाप आदि)

ग—अपेक्षाकृत शैलीगत अस्थायी विशेषताएँ

१. कार्यक्षेत्र (कानून की भाषा, विज्ञान की भाषा, विज्ञापन की भाषा आदि)

२. स्थिति (विनम्र, लच्छेदार, गँवारू आदि)

३. रूपात्मकता (आलोकपत्र, व्याख्यान, हास्य-विनोद आदि)

४. विलक्षणता (राजाजी, शिवपूजनजी, जैनेन्द्रजी की शैली आदि)

ऊपर की सूची सर्वांगीण नहीं कही जा सकती, तथापि किसी भाषा के अन्तर्गत पाये जाने वाले सम्भावित शैलीगत विभेदों के क्षेत्र को यह निर्देशित अवश्य करती है। हम विरले ही ऐसे शब्द पाते हैं जिनके अवधारणात्मक तथा शैलीगत, दोनों ही अर्थ उपलब्ध होते हैं। सम्भवतः इसीलिए, हमें यह सोचने के लिए बाध्य होना होता है कि वास्तव में, शब्दों के पर्याय नहीं होते। अगर ठीक-ठीक सम्प्रेषण मूल्य के मुकाबले पर्याय का परीक्षण किया जाय तो उपर्युक्त कथन की सत्यता का अस्वीकार सम्भव नहीं। इसके बावजूद, हम अवधारणात्मक अर्थ के समकक्ष पर्यायों का प्रयोग करते हैं। इन्हीं पर्यायों के प्रयोग के आधार पर चंचल शैलीगत व्यंजनाओं की तुलना की जा सकती है। यथा—

क. मार्जार (काव्यात्मक), बिल्ली (सामान्य), मायावी (व्यंग्यात्मक), म्यों-म्यों (उपभाषा), म्याऊं (शिशु भाषा)।

ख. आवास (अत्यंत औपचारिक, आफिशियल), निवास (औपचारिक), निकेतन, निवेश (काव्यात्मक), मकान, घर (सामान्य), डेरा, ठिकाना (बोली)।

ग. प्रक्षेपण (साहित्यिक), फेंकना (सामान्य), लुटाना (व्यंग्यात्मक), बहाना (अपभाषा)।

घ. अल्प (औपचारिक), थोड़ा (बोलचाल), ह्रस्व (व्यंग्यात्मक), क्षुद्र (अपभाषा), उन्नीस (बोली)।

इसी प्रकार पर्यायवाची अभिव्यक्तियों के बीच सीमारेखा खींचने के लिए शैली की स्थिति के आयाम विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण होते हैं। नीचे दिए गए पूरे वाक्य में वाक्य तथा शब्द, दोनों स्तरों पर स्थितिभेद लक्षित किया जा सकता है—

१. पुलिस को झाँसा-पट्टी देकर वे सामान के साथ नौ दो ग्यारह हो गए।

२. पुलिस को धोखा देकर वे सामान लेकर भाग गए।

वाक्य (१) अपराध के बाद अपराधियों की चर्चा करते हुए बातचीत के रूप में कहा जा सकता है; वाक्य (२) का प्रयोग कोई पदाधिकारी अपनी रिपोर्ट के सिलसिले में कर सकता है। ये दोनों ही वाक्य एक तथ्य की अभिव्यक्ति के प्रयत्न है और अवधारणात्मक अर्थस्तर पर इनकी समानता लक्षित की जा सकती है।

निष्कर्ष यह है कि यदि भाषागत परिस्थितियों को थोड़ा और व्यापक सन्दर्भ दिया जाय तो हम पायेंगे कि भाषा प्रयोक्ता के वैयक्तिक राग-द्वेष, उसकी भावनाओं से सम्पृक्त होती है जिसका मुख्य लक्ष्य श्रोता/पाठक होता है। अतएव, भावात्मक अर्थ सामान्यतया प्रयुक्त शब्द के अवधारणात्मक या गुणार्थक अन्तर्वस्तु के माध्यम से अभिव्यक्त किये जाते है। यथा—

"महामूर्ख हो, तुमसे कोई आशा नहीं।"

इसी तथ्य को अपेक्षाकृत अधिक अप्रत्यक्ष ढंग से भी कहा जा सकता है—

"यदि बुद्धि का उपयोग किया जाय तो आशा हाथ से कभी नहीं छूटे।" या,

"सोच-समझकर काम करने से निराशा पास नहीं फटकती।"

यहाँ यह भी जोड़ देना उपयुक्त होगा कि बहुत कुछ बोलनेवाले पर, उसके उच्चारण तथा उसके उच्चार-स्वर पर निर्भर करता है। स्वर या उच्चार ढंग से पहला वाक्य स्नेहोद्गार भी हो सकता है अथवा खीज की चरम सीमा में भी बदल सकता है। इसी तरह दूसरा वाक्य यदि उपदेशात्मक हो सकता है तो वही वाक्य काटने वाला व्यंग्य भी बन सकता है और तीसरा मात्र एक हल्का-फुल्का वक्तव्य बनकर भी रह सकता है।

भावात्मक अर्थ मुख्यतया पराश्रयिक होता है; क्योंकि, भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अर्थ के अन्य स्तरों—अवधारणात्मक, गुणार्थक या शैलीगत अर्थों का सहारा लेना पड़ता है। शैली के माध्यम से आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ अधिक प्रखर हो पाती हैं। उदाहरणार्थ, अप्रसन्नता या क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए 'रुक्ष' शब्द का व्यवहार, अथवा प्रसन्नता या मैत्रीभाव के लिए कोमल शब्दों का व्यवहार। (तथापि हमें स्मरण रखना चाहिए कि भाषा में कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान होते हैं जिनका मुख्य काम आवेगों की अभिव्यक्ति होता है, जैसे—हाय, ओह, आह, अरे आदि। और इनके प्रयोग में अर्थ की किसी अन्य कोटि का सहारा नहीं लेना पड़ता।)

विमर्शक अर्थ—अवधारणात्मक अर्थ के जब बहुविध रूप प्रकट होते हैं तथा शब्द जब एक भावबोध के साथ दूसरे-दूसरे भावबोधों के साथ जुड़ जाता है, तब उसे विमर्शक अर्थ कहा जाता है। अत्यधिक परिचय, निकटता, आवृत्ति अथवा संसर्ग, साहचर्य के कारण शब्दों के साथ अन्य भावबोध प्रमुख हो उठते हैं और उनके चालू भावबोध घिस-पिट जाते है। ऐसी ही परिस्थिति में विमर्शक अर्थ भाषा के शाब्दिक स्तर पर अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करते है।

काव्यक्षेत्र विमर्शक अर्थ के लिए सर्वाधिक अनुकूल पड़ता है। काव्यक्षेत्र में इस कोटि के अर्थ के लिए परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं। कारण कि कविता भाषा के उच्चतम सूक्ष्मग्राहिता की माँग करती है। यथा—

ओ मेरे देवदारु अशोक/मेरे होठ/मेरे हाथ/मेरी आँखें/और तू……………………(अज्ञेय)

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि 'देवदारु अशोक' शब्द वृक्ष का भावबोध तो जागृत करता है, किन्तु उससे अधिक कवि के एकान्त और उसकी निःसंगता के भावबोध को वह जागृत करता है।

इसी प्रकार भाषा के शाब्दिक स्तर पर मनुष्य-भाव में बदलाव के कारण भावात्मक परिवर्तन हुआ करते हैं तथा शब्दों के साथ अन्य भावबोध जुड़ जाया करते है। कभी 'नेता' शब्द मानव-मूल्यों के साथ सम्पृक्त था, अब 'नेता' के साथ 'भ्रष्ट व्यक्ति' का भावबोध जुड़ गया है। दूसरी तरह के उदाहरण हैं—वर्जित अर्थों से सम्बद्ध कतिपय शब्द, यथा—सहवास, सम्भोग, आदि। इन शब्दों का निर्दोष भावों के सन्दर्भ में प्रयोग कठिन होता है, तथापि समय-समय पर ये वर्जित अर्थ भावात्मक संकेतों के साथ जुड़कर शब्दों को निर्दोष/निष्पाप बनाते रहते हैं। हिन्दी के सिद्ध साहित्य में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं।

विन्यस्त अर्थ—वातावरण में उत्पन्न अर्थ जो शब्दों के साथ सम्बद्ध ही संसर्ग-प्रधान हो जाया करते हैं, वे विन्यस्त अर्थ कहलाते हैं। इदाहरण के लिए सुन्दर/मनोहारी/रोचक विशेषण लिए जा सकते हैं। इन तीनों के अर्थस्तर लगभग समान हैं, परन्तु संज्ञागत प्रयोगों की व्याप्ति के आधार पर इनके भेद स्पष्ट हो जाते हैं। यथा —

सुन्दर	कविता बच्चा फूल चित्र नगर वधू आदि	मनोहारी	उद्यान दृश्य जगत् आदि	रोचक	प्रसंग पुस्तक चलचित्र आदि

इस प्रकार, इन विशेषणों के विन्यस्त संसर्ग अलग-अलग है और इसलिये इनका प्रयोग भी अलग-अलग होता है, यद्यपि इन तीनों के बीच अर्थव्याप्ति भी सम्भव है।

अर्ध-समानार्थी शब्द विन्यस्त अर्थ के दूसरे उदाहरण होते हैं। यथा—

क. आदमी बोलता है; कुत्ता भौंकता है; बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ करती है, आदि।

ख. भय से प्रकम्पित होना; ठण्ड से थरथराना; क्रोध से काँपना, आदि।

ग. फूलों का झूमना; पत्तों का हिलना; डालों का डोलना, आदि।

इसी प्रकार गाय को 'सानी-पानी' दिया जाता है, उसे 'खाना-पीना' नहीं दिया जाता। अथवा, 'आदमी के बच्चे' की जगह 'कुत्ते, बिल्ली या गाय के बच्चे' का प्रयोग अवधारणात्मक अर्थस्तर पर वर्जित हो जाता है। इसलिए, हमें इनके बीच चुनाव करने की आवश्यकता पड़ती है। तात्पर्य यह कि जब अर्थ के अन्य वर्गों की व्याख्या किसी एक पर आरोपित नही होती, तभी विन्यस्त अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। अन्य स्तरों पर अर्थ-विस्तार सम्भव होता है। परन्तु विन्यस्त अर्थ तो किसी विशेष शब्द का विशिष्ट गुणधर्म होता है, इसलिये विन्यस्त अर्थस्तर पर अर्थ-विस्तार की सम्भावना कम हो जाती है।

संसर्गात्मक अर्थ : एक संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द—ऊपर के विवेचन में हमने लक्ष्य किया कि अवधारणात्मक अर्थ की तुलना में शैलीगत, भावात्मक, विमर्शक तथा विन्यस्त अर्थस्तर गुणार्थक अर्थस्तर के अधिक समीप हैं, अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं। ये सभी अर्थस्तर खुले, विस्तृत, मध्यवर्ती तथा व्याप्ति के निकष पर व्याख्यायित होनेवाले हैं। ये किसी कठोर सीमारेखा में बाँधे नहीं जा सकते। अतएव, अर्थ के इन सभी स्तरों को एक संसर्गात्मक अर्थकोटि में रक्खा जा सकता है। इससे अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों की व्याख्या-निमित्त कृत्रिम आधार के आविष्कार से बचा जा सकेगा और अनुभव-सापेक्ष मानसिक सम्बन्धों पर आधारित 'संसर्गात्मक सिद्धान्त' अधिक व्यावहारिक भी होगा।

अवधारणात्मक अर्थ पूर्वधारणा के दुर्बोध मानसिक गठन पर आश्रित होते हैं और इसीलिए, भाषा तथा मानव जाति के लिए ये विशेष महत्त्व के होते हैं। इसके विपरीत, संसर्गात्मक अर्थ अनगिनत अतिसूक्ष्म निमित्तों के साथ सम्बद्ध होते हैं जिनका क्रमागत अध्ययन केवल आसन्न सांख्यिकीय तकनीक के सहारे ही सम्भव हो सकता है। इस दिशा में आसगुड, सुची तथा टानेनबाउम के प्रयत्न उल्लेख्य हैं। इन्होंने एक पद्धति विकसित की है जो इनकी पुस्तक 'अर्थ की माप' (द मेजरमेंट आफ मीनिंग, १९५७) में उपस्थित की गई है। आसगुड तथा उनके सहयोगी लेखकों ने इस पद्धति को 'अर्थवैज्ञानिक भेदीय पद्धति' (दि सिमेन्टिक डिफरेन्शियल) की संज्ञा दी है। यह पद्धति सांख्यिकीय मापविधि पर आधारित है।

इन अर्थविज्ञानियों ने अर्थ-आलेखन के लिए बहुआयामी स्वर स्थिर किए है। वक्ता के आँकड़ों के आधार पर सात बिन्दु सोपान' में उनके निर्णय दर्ज किए जाते हैं। विशेषण-युग्म के वैषम्य-प्रदर्शन द्वारा इन्होंने सोपान बनाए हैं। उदाहरण के लिए, प्रसन्न-उदास; कठोर-मुलायम; निष्क्रिय-क्रियाशील जैसे विशेषण-युग्म लिये जा सकते हैं तथा हिन्दी भाषाभाषियों के प्रभाव निम्नलिखित रूप में अंकित किए जा सकते है—

		३	२	१	:	१	२	३	
अच्छा	:	—	—	× —		—	—	—	बुरा
कठोर	:	—	× —	—	:	—	—	—	मुलायम
निष्क्रिय	:	—	—	—	:	—	—	× —	क्रियाशील

ऊपर की सांख्यिकी को प्रमुख तीन आयामों—मूल्याकन (अच्छा-बुरा); प्रभविष्णुता (कठोर-मुलायम); गतिविधि (निष्क्रिय-क्रियाशील)—में विभाजित किया जा सकता है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि यह संक्षिप्त चित्ररेखा संसर्गात्मक अर्थ का आंशिक तथा आनुमानिक विवरण ही प्रस्तुत करती है। इससे अधिक इसका महत्त्व नहीं। यह आंशिक विवरण इसलिए माना जाएगा कि इनका चुनाव अनन्त सम्भावित सोपानों के बीच कतिपय सोपानों तक ही सीमित है। इसी के साथ इस विवरण को आनुमानिक इसलिए मानेंगे कि ये सांख्यिकीय नमूने सात बिन्दु-सोपान अर्थ के अविछिन्न प्रवाह को सात खण्डों में काटकर भी विभेदीकरण कर सकने में असमर्थ हैं। वास्तव मे, यह पद्धति लगभग सात मुख्य रंगों के विभिन्न प्रतिबिम्बों को काटने के समान है।

जो भी हो, अपनी सीमाओं के बावजूद यह अर्थविभेदक पद्धति महत्त्वपूर्ण मानी जाएगी। कम से कम इससे हम इस निष्कर्ष पर जरूर पहुँचते हैं कि अपेक्षाकृत ऐसे ही असंवेदनशील उपकरण के सहारे 'संसर्गात्मक अर्थ' का क्रमिक अध्ययन सम्भव हो सकेगा। दूसरी बात यह भी ध्यातव्य है कि अर्थ-विभेदीकरण की यह पद्धति मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

अन्ततः, पुनः यह दुहराना आवश्यक है कि वास्तव में, अवधारणात्मक अर्थ भाषा के सामान्य गठन का महत्त्वपूर्ण अंश होता है, उस भाषा-विशेष के बोलनेवाले समाज के सहभोग का प्रतिफल होता है तथा संसर्गात्मक अर्थ व्यक्ति-अनुभवाश्रित होने के कारण विविध होता है, अस्थायी होता है तथा प्रायः घटता-बढ़ता रहता है।

विषयक अर्थ—लेखक या वक्ता जब किसी सन्देश पर बल या आज्ञा देने के लिए, अथवा उसे प्रकाशित करने के लिये अभिव्यक्त करता है, तो उसे विषयक अर्थस्तर पर रखना चाहिए। प्राय: ऐसा देखने में आता है कि कर्मप्रधान और कर्तृवाच्य वाक्यों के अर्थ में भेद होता है, यद्यपि दोनो की अवधारणात्मक अन्तर्वस्तु एक होती है। यथा—

१. श्रीप्रसाद ने प्रथम पुरस्कार प्रदान किया।

२. प्रथम पुरस्कार श्रीप्रसाद द्वारा प्रदान किया गया।

निश्चय ही, इन दोनों वाक्यों के सम्प्रेषणीय मूल्यों के प्रसंग में अन्तर है। कर्तृवाच्य वाक्य एक स्पष्ट प्रश्न का उत्तर देता है, 'श्रीप्रसाद ने क्या प्रदान किया?' जबकि कर्म-प्रधान वाक्य एक दूसरे प्रश्न का उत्तर देता है, किसने प्रथम पुरस्कार प्रदान किया?' तात्पर्य यह कि यद्यपि इन दोनों वाक्यों की वास्तविकता एक है, या यह मानना असम्भव है कि वाक्य १ की सूचना वाक्य २ की अपेक्षा अधिक ठीक है (अथवा अक्रमात्), तथापि वाक्य २ की तुलना में वाक्य १ में यह ध्वनित हो जाता है कि श्रोता समझ रहा है कि श्रीप्रसाद कौन हैं।

विषयक अर्थ मुख्यत: व्याकरणिक गठनो के विकल्प के बीच चुनाव होते है। यथा—

३. प्रकोष्ठ में एक व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहा है।
४. एक व्यक्ति है जो प्रकोष्ठ में प्रतीक्षा कर रहा है।

५. वे गलियारे के अन्त तक गये।
६. गलियारे के अन्त तक वे गये।

७. मैं अमूल मक्खन पसन्द करता हूँ।
८. अमूल मक्खन ही मैं पसन्द करता हूँ।
९. वह अमूल मक्खन है जिसे मैं पसन्द करता हूँ।

१०. मेरे भाई की कलकत्ते में सबसे बड़ी जूट मिल है।
११. कलकत्ते मे सबसे बड़ी जूट मिल मेरे भाई की है।

इसके अतिरिक्त अन्य स्थितियों में व्याकरणिक गठन के बदले स्वर शैली तथा बलाघात पर वाक्यों में निहित सूचनायें आश्रित होती हैं। यथा—

१२. जर्मनी के घर-घर मे बिजली-चूल्हा व्यवहार होता है।
१३. चूल्हा जो जर्मनी के घर-घर मे व्यवहार में आता है, वह बिजली का होता है।

यहाँ लक्ष्य किया जा सकता है कि वाक्य संख्या १२ में 'बिजली' शब्द पर व्यतिरेकी बल दिया गया है, जब कि वाक्य संख्या १३ में उस शब्द पर बल देकर उसमें निहित नयी सूचना पर ध्यान केन्द्रित किया गया है जिसे हम जानते हैं (कि जर्मनी के घर-घर मे बिजली-चूल्हा का व्यवहार होता है)। इसी तरह अन्य प्रकार के वाक्य-गठनों द्वारा इस सूचना को अभिव्यक्त किया जा सकता है। यहाँ ध्यान देने की दो बातें हैं—

(क) यद्यपि बडे कोष्ठकों में घेरे गये वाक्यों का अर्थ समान है, तथापि उनके सम्प्रेषण-मूल्यों में भेद है;

(ख) एक ही प्रसंग में इनका प्रयोग समान रूप से उपयुक्त नहीं ठहरेगा।

अभिप्रेत तथा भाष्यायित अर्थ : एक स्पष्टीकरण—अभिप्रेत अर्थ से तात्पर्य है—अभिव्यक्त करने की गरज़ से वक्ता के दिमाग़ मे सन्देश का गठन होना; तथा भाष्यायित अर्थ उसे कहेगे जो सुननेवाले के मस्तिष्क तक प्रभाव रूप मे पहुँचता है।

व्यापक दृष्टि से हम अर्थ को 'सम्प्रेषित प्रभाव' के समकक्ष ग्रहण करते है और सम्प्रेषण का अर्थ होता है

(क) स्रोत से (ख) लक्ष्य तक सूचना का स्थानान्तरण। यहाँ तक तर्क दिया जा सकता है कि क्या सम्प्रेषणीयता तभी नहीं मानी जायेगी जब (क) स्रोत (अर्थात्, मानस-जगत् में क्या था जिसे स्थानान्तरित किया गया) अथवा (ख) लक्ष्य (अर्थात्, श्रोता के मस्तिष्क का प्रभाव-ग्रहण तक कितना और क्या स्थानान्तरित हो सका) को भलीभाँति जान लिया जाय ? यह तर्क अपनी जगह पर ठीक हो सकता है, किन्तु हमें यह बराबर स्मरण रखना होगा कि अध्ययन के इन पक्षों में एक भाषाविद् की कोई रुचि नहीं हो सकती। कारण, सम्प्रेषणात्मक प्रक्रिया तक ही किसी भाषाविद् का रुचि-क्षेत्र सीमित होता है। इसमें उसकी कोई रुचि नहीं होती कि सम्प्रेषण का कितना उपयोग या अनुपयोग हुआ। उसकी रुचि भाषा के अर्थपक्ष में होती है जो (क) स्रोत (=कहनेवाले) तथा (ख) लक्ष्य (=सुननेवाले) के मानस में समान होती है। इस अध्ययन-क्रम में, निश्चय ही प्रसंगवश, भाषा के अन्य पक्षों के साथ-साथ अस्पष्टता आ पड़ती है (उदाहरण के लिए, संसर्गात्मक अर्थ की विविधता) जिससे सम्प्रेषणीयता में बाधा उत्पन्न होती है। परन्तु, एक भाषाविद् के लिये 'वक्ता का अर्थ' तथा 'श्रोता का अर्थ' समान होता है। वह इन दोनों के प्रति उदासीन रहकर तटस्थ भाव से भाषागत अर्थ तक अपने अध्ययन को सीमित रखता है। भाषागत अध्ययन से परे समस्याएँ मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक की हो सकती हैं, भाषाविद् की नहीं। सम्प्रेषण की तटस्थीकृत अन्तःसम्भावनाओं (कि कोई क्या कहना चाहता है और वास्तव में, वह क्या कह पाया) का ज्ञान भाषाविद् का क्षेत्र नहीं होता। इसीलिए, प्रस्तुत अर्थस्तरों की तालिका में अभिप्रेत तथा भाष्यायित अर्थ को सम्मिलित नहीं किया गया है।

सीमांकन-समस्या—अर्थ के विभिन्न स्तरों के निर्धारण में इनके बीच की सीमांकन-समस्या बराबर बनी रहती है। अवधारणात्मक तथा परिधीय कोटियों के अर्थ-निर्धारण के समय यह समस्या विशेष रूप में उठ खड़ी होती है। अवधारणात्मक अर्थ को गुणार्थक अर्थ अथवा शैलीगत अर्थ से अलग करते समय इसका अनुभव किया जा चुका है। यथा—

१. उसने अपनी जेब में पैसे रख लिए।

२. उसने अपनी जेब में पैसे डाल लिए।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि (१) तथा (२) का अवधारणात्मक स्तर समानार्थी है और इन दोनों वाक्यों का अन्तर शैलीगत है, तथापि (१) वाक्य नैमित्तिक है, जबकि (२) वाक्य तटस्थ है। दूसरी बात यह भी कि अवधारणात्मक अन्तर के कारण ही शैलीगत अन्तर होता है; जैसे—वाक्य (१) अपेक्षाकृत संक्षिप्त अर्थद्योतक है तथा वाक्य (२) में असावधानी और जल्दबाजी है।

वास्तव में, प्रायः सीमांकन की समस्या अर्थपर्यायों के भेद के निर्णय को लेकर उठती है। कम-से-कम दो स्तरों पर अर्थपर्याय भिन्न होते ही है। इसी तरह भावात्मक, अवधारणात्मक, शैलीगत, गुणार्थक अन्तर्वस्तुओं मे बराबर सीमा का अतिक्रमण होता रहता है।

सारांश - यह मानना गलत होगा कि भाषा जो भी सम्प्रेषित करती है, उनके इतने ही स्तर होते हैं या हो सकते हैं या कि अर्थ के स्तरों को आगे प्रस्तुत तालिका पूर्ण है, तथापि अर्थगत ये स्तर-भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण ठहरते हैं। अतएव, इनकी एक चित्ररेखा प्रस्तुत की जाती है—

अर्थगत स्तर-भेद : एक तालिका

ारणात्मक अर्थ		तार्किक, ज्ञानात्मक या वाच्यार्थ अन्तर्वस्तु
	गुणार्थक अर्थ	भाषा जो संकेतित करे, उसका सम्प्रेषण
	शैलीगत अर्थ	सामाजिक परिस्थितियों के बीच भाषा-व्यवहार का सम्प्रेषण
	भावात्मक अर्थ	वक्ता/लेखक की दृष्टि तथा भावना के आधार पर सम्प्रेषण
	विमर्शक अर्थ	अन्य अभिव्यक्तियों के संसर्ग में सम्प्रेषण
	विन्यस्त अर्थ	विशेष परिवेश में शब्दों के संसर्ग मे सम्प्रेषण
विषयक अर्थ		आज्ञा तथा बलाघात प्रेरित सन्देश का सम्प्रेषण

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर।

रसानुभूति की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा

डॉ० लक्ष्मणप्रसाद शर्मा

पश्चिम में जिसे 'सौन्दर्य' कहते हैं, भारत में उसे ही 'रस' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[1] आरम्भ में आचार्य भरतमुनि ने 'रस' को आस्वाद्य कहकर विषयनिष्ठ माना, किन्तु आगे चलकर परवर्ती विद्वानों में अभिनवगुप्त आदि ने इसे विषयिनिष्ठ सिद्ध किया।[2] इस तरह रस अथवा रसानुभूति का तात्विक विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में रस-प्रसंग के अन्तर्गत काव्यानुभूति के रूप में हुआ है। काव्य की यह अनुभूति रसात्मक होती है और इस रसात्मकता का स्वरूप आनंदात्मक है। अभिप्राय यह है कि काव्यानुभूति आनन्दमयी है। इसी आनंदमयता की दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति में अभेद माना जाता है।[3] किन्तु प्रश्न वहाँ खड़ा होता है जबकि कुछ विद्वान् रस को भी आनंद मानने को तैयार न हों। डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे का विचार है—"रस का अर्थ यदि आनंद है। यह सत्य माना जाय तो रस के आठ, नौ अथवा दस प्रकार कैसे बन सकते हैं? शृंगार, वीर, करुण इत्यादि प्रकार का आनंद कैसे हो सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि एक तो रस का अर्थ आनंद नहीं है, अथवा रस का तात्पर्य केवल आनंद नहीं है।"[4]

डॉ० बारलिंगे के इस मत पर यदि विचार किया जाय तो इसे सर्वांश में स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण कि रस की आनंदरूपता के विरोध में उठने वाले सभी विकल्प या तो असिद्ध हो जाते हैं, या फिर वे भी प्रकारान्तर से आनंद का ही संकेत करते हैं।[5]

पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि रस की आनंदरूपता के दो प्रमाण हैं—एक, वेद के ये वाक्य—आत्मा रस-रूप है, रस को प्राप्त कर ही यह आनंद रूप होता है। और दूसरा सम्पूर्ण सहृदय समाज का प्रत्यक्ष अनुभव।[6] मराठी के काव्यशास्त्रीय आलोचकों ने भी रस की आनंदरूपता को बहुमत से स्वीकार किया है। काव्यालोचन में लिखा है—"काव्य से सहृदय का हृदय-सागर उमड़ आता है। इस उमड़ते हृदय-सागर में जब सहृदय तन्मय हो जाता है तब उसकी तदाकार वृत्ति में जो निहित आनंद है, उसे ही संस्कृत ग्रंथकारों ने रस कहा है।"[7] अतः रस को आनंद न मानने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इसलिए आनंदरूपता की दृष्टि से रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति में तात्विक समानता की स्वीकृति सर्वथा उचित ही है। उक्त सन्दर्भ में एक प्रश्न और भी विचारणीय है कि क्या रस, सौन्दर्य का पर्याय है? डॉ० ललनप्रसाद सक्सेना रस को सौन्दर्य का पर्याय मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विचार है—"रस आनन्द की अनुभूति है, सौन्दर्य की नहीं। सौन्दर्य का गुण आनन्द देना है और रस आनन्द देता है, अतः रस भी सौन्दर्य है, यह तर्क उचित नहीं, क्योंकि आनन्द-दान सौन्दर्य की ही नहीं, और भी बहुत-सी वस्तुओं की विशेषता है।"[8] इस दृष्टि से रस को सौन्दर्य का पर्याय मानना उचित नहीं। यही नहीं, रस और सौन्दर्य के संबंध को लेकर सौन्दर्यशास्त्र में अन्य कई मान्यतायें प्रचलित हैं। डॉ० के० सी० पाण्डेय के मत में रस सौन्दर्यात्मिक वस्तु को सूचित करता है। इसका अर्थ अत्यन्त गम्भीर एवं शास्त्रीय है, किन्तु शास्त्रीय अर्थ में भी इसका मूल अर्थ 'आस्वाद' ही ऐसी वस्तु है जो ऐन्द्रियक न होकर सौन्दर्यात्मिक है।[9] डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे सौन्दर्य और रस को एक नहीं मानते। उनके

शब्दों में रस तो सौन्दर्य की प्रतिभा है, सौन्दर्य नहीं है; इसी कारण रस और सौन्दर्य एक-दूसरे के पूरक हैं। और कला के लिये सौन्दर्य का ध्येय निर्धारित करते समय रस-सिद्धान्त से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं।[१०]

इन मतों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि उक्त विद्वानों ने रस के स्वरूप पर सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया है। इसीलिये डॉ० पाण्डेय ने रस को 'भरतमुनि की रस-विषयक अवधारणा' के अनुसार विषयनिष्ठ मानकर उसे सौन्दर्यात्मक वस्तु कहा है तथा डॉ० बारलिंगे ने रस को सौन्दर्य की प्रतिभा कहकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि रस की अधुनातन सटीक व्याख्या उसे विषयिगत मानकर ही स्वीकार्य हुई है। इस दृष्टि से रस का अर्थ रसानुभूति ही है। दोनों में अभेद है। दोनों एक हैं। जबकि सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति के विषय में ऐसा नहीं है। दोनों में भेद है। सौन्दर्य वस्तु का गुण है और इसके कारण सहृदय को जो आनन्द की अनुभूति होती है, वह सौन्दर्यानुभूति है। इस प्रकार सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ हुआ और सौन्दर्यानुभूति विषयिनिष्ठ। अतः उक्त मतों के आधार पर रस को सौन्दर्यात्मक वस्तु अथवा सौन्दर्य-प्रतिभा कहने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

सच तो यह है कि सौन्दर्य, जिसकी चर्चा कलाओं के व्यापक सन्दर्भ में हुई है, कलाकृति की कलात्मकता यानी उसका ऐसा अनिवार्य गुण है जो हमारी इन्द्रियों को आकर्षित ही नहीं करता, प्रत्युत वह प्रमाता की समस्त चेतना को झकझोर कर उसे आनन्द की अनुभूति भी कराता है। यह आनन्दानुभूति काव्यास्वाद में भी प्राप्त होती है जिसे ही भारतीय रसशास्त्र की शब्दावली में 'रसानुभूति' कहा गया है। इस आधार पर सौन्दर्य और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध मानना उचित प्रतीत होता है। सौन्दर्य कारण है और रसानुभूति उसका कार्य। सौन्दर्य रस नहीं है, प्रत्युत उसकी अनुभूति रसमयी है। अतः रस आनन्द है, किन्तु सौन्दर्य का पर्याय फिर भी नहीं। क्योंकि सौन्दर्य की सत्ता वस्तुनिष्ठ है, जबकि रस भावगत है, भावक में भाव के विकास का चरम रूप है। उसकी अनुभूति आनन्दमयी होती है। कला-विवेचन के संदर्भ को लेकर सौन्दर्यशास्त्रीय शब्दावली में इसे ही सौन्दर्यानुभूति कहते हैं।

रसशास्त्रीय दृष्टि से रस के स्वरूप एवं रसानुभूति की प्रक्रिया एवं उसकी अलौकिकता आदि का तात्त्विक विवेचन भारतीय साहित्यशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ हुआ है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदयजन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मास्वादि सहोदर, लोकोत्तर चमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।"[११] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि (१) रस आस्वादन का विषय है, अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है। वह आस्वाद्य पदार्थ नहीं है। (२) रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। इसका अभिप्राय यह है कि रसानुभूति के क्षणों में सहृदय राग-द्वेष से विमुक्त चित्त की वैशद्य अर्थात् सतोप्रधान स्थिति में होता है। (३) रस अखण्ड है—इस उक्ति का आशय है कि एक तो रसानुभूति में विभावादि की संयुक्त एवं समंजित रूप—एकान्वित अनुभूति होती है। दूसरे रसानुभाव में आत्मा का पूर्ण तन्मयी भाव होने के कारण मात्राभेद नहीं होता। (४) रसानुभूति अन्य ज्ञान एवं अनुभूति से रहित है। इस स्थिति में सहृदय सर्वथा आत्मलीन होता है। स्व, पर एवं देशकाल आदि के बन्धनों से वह मुक्त होता है। इस तरह की रसानुभूति निर्विघ्न होती है। (५) रस, स्वप्रकाशानन्द एवं चिन्मय है। इसका अर्थ है कि रस आत्म-चैतन्य से प्रकाशित स्वयं

आनन्दमयी चेतना है। यह चिन्मय है, अर्थात् उसमें ऐन्द्रिक अनुभूति का अभाव रहता है। (६) यह लोकोत्तर चमत्कारप्राण है। इसका अभिप्राय है कि रसानुभूति अलौकिक है। अलौकिकता से आशय अतिप्राकृतिक होने का नहीं है, प्रत्युत अतीन्द्रिय है—अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा रस की अनुभूति नहीं की जा सकती है। (७) रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है—अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान है। वह चैतन्य आत्मा का विषय है, फिर भी शुद्ध आत्मानन्द नहीं है, क्योंकि रस अस्थायी होता है और ब्रह्मानन्द स्थायी। आचार्य मम्मट का विचार है कि रस सकलप्रयोजन मौलिभूत एवं रसास्वाद आनन्दरूप है।[१५] अभिनवगुप्त के मत में रसास्वाद एक मानस-व्यापार है, भोजनारवाद की तरह रसना-व्यापार नहीं है।[१३]

इसके अतिरिक्त हिन्दी के विद्वानों ने भी रसानुभूति के स्वरूप पर बड़ी गम्भीरता के साथ विचार किया है। उनमें रसानुभूति की आनन्दरूपता एवं अलौकिकता को लेकर काफी विवाद है। आचार्य शुक्ल रस को अलौकिक मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके विचार में, "अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं।"[१४] इसी विचार-शृंखला में उन्होंने आगे चलकर लिखा है कि "रसानुभूति प्रत्यक्ष वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि इसी का उदात्त और अवदात रूप है।"[१५] डॉ० नगेन्द्र रसानुभूति को न ऐन्द्रिय मानसिक अनुभूति मानते हैं और न बौद्धिक अनुभूति। उन्होंने इसे 'अनिवर्चनीय' कहकर पाश्चात्य चिन्तकों की दृष्टि में सौन्दर्य-भावना के रूप में स्वीकार किया है।[१६]

उक्त विद्वानों के विचारों का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि रसानुभूति ऐन्द्रिय मानसिक अनुभूति नहीं है, प्रत्युत वह एक सूक्ष्म अनुभूति है, जो लोकोत्तर है और जिसे अनिवर्चनीय एवं अलौकिक कहा जाता है। आचार्य शुक्ल ने इसे ही लौकिक अनुभूति का उदात्त एवं परिष्कृत रूप स्वीकार किया है। रसानुभूति बौद्धिक अनुभूति भी नहीं है, बल्कि वह एक आनन्दमयी विलक्षण प्रकार की अनुभूति है, जबकि सौन्दर्यानुभूति में उक्त तत्त्वों का अभाव है। सौन्दर्यानुभूति अपेक्षाकृत एक स्थूल अनुभूति है जिसमें ऐन्द्रियता की प्रधानता रहती है। इन्हीं कारणों के आधार पर कुछ विद्वानों ने सौन्दर्यानुभूति एवं रसानुभूति में अन्तर के प्रश्न को उठाया है। इस सन्दर्भ में डॉ० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"अन्यान्य कलाओं की हममें रसानुभूति नहीं, बल्कि सौन्दर्यानुभूति होती है। सौन्दर्यानुभूति हमें मुग्ध कर सकती है, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव हमारे हृदय में नहीं होता, क्योंकि भाव-तन्मयता की शक्ति उसमें नहीं होती।"[१७] डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी अन्य (काव्येतर) कलाओं के सन्दर्भ में रसानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है—"नाटक के प्रदर्शन के समय उसके अंगरूप अभिनेतागण होते हैं जिनमें रसानुभूति का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु किसी काव्य-पुस्तक, पत्थर-निर्मित मूर्ति या चित्र-जैसे निर्जीव पदार्थ में रसानुभूति का अस्तित्व किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?"[१८] जाहिर है कि सौन्दर्यानुभूति एवं रसानुभूति में अन्तर मानने के कारण है—

(१) कलाओं से हमें रसानुभूति ही नहीं, सौन्दर्यानुभूति मिलती है।

(२) सौन्दर्यानुभूति का प्रभाव अस्थायी होता है तथा उसमें तन्मय करने की शक्ति का अभाव है।

(३) कलाओं के उपकरण निर्जीव हैं।

यहाँ उक्त कारणों के औचित्य पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि यदि सौन्दर्यानुभूति

रसानुभूति नहीं है तो फिर यह प्रश्न भी स्वभावतः ही सामने आता है कि कौन किसका पूर्ववर्ती है, अर्थात् सौन्दर्यानुभूति पहले होती है या रसानुभूति।[१९]

जहाँ तक पहले कारण का सम्बन्ध है कि कलाओं से सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होती है, रसानुभूति नहीं—उचित नहीं है। इस आधार पर दोनों में अन्तर करना भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप को न समझने का परिणाम है, क्योंकि हमारे यहाँ रसशास्त्र के अन्तर्गत जिस रसानुभूति का विवेचन हुआ है, पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति के रूप में उसी का विवेचन करता है।[२०] अतः यह अन्तर शब्द का है, कथ्य का नहीं सौन्दर्यानुभूति का प्रभाव अस्थायी होता है तथा उसमें तन्मय करने की भी शक्ति का अभाव है—यह तर्क भी औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता। आनन्दानुभूति, अब चाहे वह कलाओं के सौन्दर्य के कारण हुई हो अथवा काव्यास्वाद के कारण—अस्थायी होती है। कलानुभूति के क्षणों में कला-दृष्टा कलाकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता है। तादात्म्यीकरण की यह स्थिति उसके लिये आनन्दात्मक होती है, किन्तु जैसे ही प्रमाता का तादात्म्य-भाव कलाकृति से टूटता है, पुनः वह अपनी सामान्य स्थिति में पहुँच जाता है। काव्य के प्रसंग में रसानुभूति की अवस्था में भी यही होता है। सहृदय तभी तक आनन्दानुभूति करता है जब तक कि वह साधारणीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा होता है। अत रसानुभूति को स्थायी रूप में आनन्द प्रदान करने वाली अनुभूति नहीं कहा जा सकता। डॉ० नगेन्द्र का विचार है कि रस "शुद्ध आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द नहीं है, क्योंकि (क) ब्रह्मानन्द स्थायी होता है, रस अस्थायी; (ख) रस में लौकिक विघ्नों का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता।"[२१] अत. काव्य अथवा कलाओं के सौन्दर्यात्मक प्रभाव के आधार पर सौन्दर्यानुभूति तथा रसानुभूति में अन्तर मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। जहाँ तक सौन्दर्यानुभूति में तन्मय करने की शक्ति के अभाव का प्रश्न है, यह भी उचित नहीं है। कारण कि सहृदय व कला-दृष्टा की आनन्दानुभूति का आधार तन्मयता ही है। अतन्मयता की स्थिति में आनन्दात्मकता की परिकल्पना नहीं की जा सकती।

चूँकि सौन्दर्यानुभूति तत्त्वतः आनन्दमयी ही होती है, अतः उसमें तन्मयता के अभाव की शक्ति की धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिये स्टालनिज के विचार में सौन्दर्यानुभूति एक ऐसा अनुभव है जिसमें हम वस्तु को ग्रहण करते हैं—उसका आनन्द लेते हैं, कोई प्रश्न नहीं पूछते, हम वस्तु के लिए वस्तु का आलिंगन करते हैं। निश्चय ही यह आलिंगन चित्त द्वारा होता है। प्रश्न पूछना अतन्मयीभवन की स्थिति में ही संभव है, परंतु सौन्दर्यानुभव में क्योंकि चित्त वस्तुमय हो जाता है, बुद्धि सौन्दर्याच्छादित हो जाती है, अतः हम प्रश्न नहीं पूछते, वरन् वस्तु को सम्पूर्ण चेतना से ग्रहण करते हैं। इस स्थिति में आलोचना नहीं होती, चुनौती नहीं होती। जब सौन्दर्यात्मक अभिरुचि अधिक सघन होती है, दृष्टा स्वयं को वस्तु में विलयित कर देता है।[२२] अस्तु, तन्मयता के आधार पर सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति में अन्तर स्थापित करना औचित्यपूर्ण नहीं है।

अब रह जाता है काव्येतर कलाओं के सन्दर्भ में निर्जीव पदार्थों में रसानुभूति के अस्तित्व का प्रश्न? यहाँ यह ध्यातव्य है कि सौन्दर्यानुभूति का संबंध कला-दृष्टा अथवा सहृदय सामाजिक से ही नहीं है, वरन् कलाकार अथवा कवि से भी है। कवि कलाकार अपनी सौन्दर्यानुभूति को किसी कलाकृति के माध्यम से ही व्यक्त करता है। कला-दृष्टा अथवा सहृदय इस कलानिबद्ध सौन्दर्य से तादात्म्यीकरण अथवा की प्रक्रिया के माध्यम से कलानुभूति अथवा

काव्यानुभूति प्राप्त कर आनन्दित होता है। इस तरह कला-द्रष्टा एवं सहृदय सामाजिक, दोनों ही माध्यम-भेद से सौन्दर्यानुभूति अथवा रसानुभूति में रस पाते हैं और दूसरा रसानुभूति में सौन्दर्या-स्वाद-रूप आनन्द की अनुभूति करता है। कहना न होगा कि यह अन्तर शब्दावली का है, अभिप्राय का नहीं।

अतः प्रश्न कला के उपकरणों (चाहे वे सजीव हों या निर्जीव) में रस की सत्ता मानने का नहीं, प्रश्न है कला-द्रष्टा सहृदय में रसानुभूति के संचार का अथवा सौन्दर्य-सम्प्रेषण की प्रक्रिया का। एक दूसरी बात यह भी है कि यदि हम रसानुभूति को सौन्दर्यशास्त्रीय अभिप्राय में कहें तो उसका (रस का) अर्थ होगा—सहृदय में तादात्म्यीकरण की प्रक्रिया से कलात्मक प्रभाव के रूप में हुई आनन्दानुभूति। इस आनन्दानुभूति का आधार सहृदय कला-द्रष्टा का अपना भाव ही होता है जो कला के उपकरणों में अभिव्यक्त कलाकृति की प्रभावात्मकता के कारण उद्दीप्त होता है। इसीलिए 'हरमन ल्यात्ज' कला की उस शक्ति को जिसके कारण सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होती है, निश्चितरूपेण भावानुभूति की शक्ति मानते हैं। काव्य-कला में जैसे शब्द, वाक्य आदि कवि की अनुभूति को व्यक्त करने के उपादान हैं, ठीक वैसे ही काव्येतर कलाओं में मूर्ति, रंग, तूलिका आदि कलाकार की अनुभूति को व्यक्त करने के उपकरण हैं। कवि-कलाकार अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा इन्हें यथा-स्थान उपयोग में लाकर सन्निहित कर काव्य-कलाकृति में कलात्मकता, यानी सौन्दर्य अथवा प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है। यह प्रभावात्मकता (सौन्दर्य) ही सम्प्रेषित होकर सहृदय कला-द्रष्टा में सौन्दर्यानुभूति (रसानुभूति) का संचार करती है।

अब यहाँ एक विकल्प का उठना स्वाभाविक है कि काव्यानुभूति के सन्दर्भ में तो साधारणी-करण की प्रक्रिया द्वारा सहृदय सामाजिक काव्यादि से रसानुभूति प्राप्त कर लेता है, लेकिन काव्येतर कलाओं में यह कैसे संभव होगा क्योंकि वहाँ काव्य-प्रयुक्त उपकरण तो होते नहीं। पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र में कलानुभूति की प्रक्रिया के सन्दर्भ में इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। वहाँ कलाओं से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनमें भावप्रक्षेपणवाद (इम्पैथनिज्म), पृथक्करण (आइसोलेशन), मानसिक अन्तराल (साइकिकल डिस्टान्स), आदि सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन्हीं में से एक तदनुभूति का सिद्धान्त भी है। इस सिद्धान्त की हमारे यहाँ के साधारणीकरण के सिद्धान्त से काफी समानता है।[२४] इसमें कला-द्रष्टा के क्रिया-व्यापारों में कलाकृति आदि के साथ विलयित होने का प्रतिपादन किया गया है। यह स्थिति भाव-तादात्म्य के कारण होती है। इसमें कला-द्रष्टा के भाव का कला-विषय के साथ तादात्म्य हो जाता है और इस तरह वह सौन्दर्यानुभूति प्राप्त कर लेता है। इस सौन्दर्यानुभूति में द्रष्टा अपने अंश का तिरोभाव करता है। सौन्दर्यपूर्ण वस्तु के प्रभाव में द्रष्टा का संस्कार-रूप भावनायें उस वस्तु में स्थानान्तरित हो जाती हैं और वह आनन्द की अनुभूति करता है। द्रष्टा उस अनुभव में न तो यह सोचता है कि वह अनुभव कर रहा है और न अन्य किसी विचार अथवा भावना से ही युक्त होता है।[२५]

'तदनुभूति' शब्द सौन्दर्यशास्त्र में मनोविज्ञान से लिया गया है। इस सन्दर्भ में ए० ई० मैण्डर का तदनुभूति-सम्बन्धी अभिमत द्रष्टव्य है। उनका कथन है—"भाव-तादात्म्य या तदनुभूति पाठक व दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है।"[२६] इस परिभाषा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भाव-तादात्म्य कला-द्रष्टा की एक मानसिक

प्रक्रिया है। इसमें कला-स्रष्टा के समय सहृदय काव्यादि के पात्रों के भावों में अपने भावादि का प्रक्षेपण कर देता है। इस प्रकार तदनुरूप अवस्था को उपलब्ध हुआ सहृदय 'स्व' एवं 'पर' की भावना से अल्पकालीन मुक्ति प्राप्त कर लेता है और आनन्दानुभूति पाता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि काव्यानुभूति के प्रसंग में आचार्य विश्वनाथ ने आश्रय के साथ दर्शक के जिस तादात्म्य की ओर संकेत किया है, उसे विभावादि के साधारणीकरण का ही परिणाम स्वीकार किया है।[२७] अतः इस विवेचन से जाहिर है कि काव्य की ही भांति काव्येतर कलाओं से भी सहृदय कला-द्रष्टा रसानुभूति प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, स्थापत्यकला से गृहीत दर्शक की सौन्दर्यानुभूति को लिया जा सकता है। स्थापित्व के मूल में निर्माता के भाव और विचार रहते हैं। कला के माध्यम से रचयिता के भावों-विचारों से तादात्म्य भी सौन्दर्यानुभूति ही है। एक बौद्ध-मन्दिर मानस में शान्ति की तरंगें आच्छादित करता है; चित्तौड़ का किला द्रष्टा में उत्साहजनित रोमांच उत्पन्न करता है। यही अवस्था जब चरम क्षण में होती है तो द्रष्टा वस्तु-ब्रह्म की अनुभूति करता है।[२८]

अब रसानुभूति की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की विचार-शृंखला में एक प्रश्न अनुत्तरित और रह जाता है—वह यह है कि सौन्दर्यानुभूति पहले होती है या रसानुभूति। सच तो यह है कि इस प्रश्न का अस्तित्व ही तब तक है जब तक कि दोनों में अन्तर है। क्योंकि अन्तर होने पर ही सहृदय को सौन्दर्यानुभूति से रसानुभूति तक की यात्रा तय करनी पड़ती है। अन्तर होने पर तो फिर यह प्रश्न भी उठेगा कि इस दूरी में सहृदय को कितना समय लगता है। इस तरह गणितीय प्रश्नावली की शृंखला जन्म लेगी, जिनके समुचित उत्तर शास्त्रीय दृष्टि से तो कम से कम नहीं दिये जा सकते। अस्तु, सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति में स्वरूप, प्रक्रिया एवं आनन्दरूपता आदि की दृष्टि से अभेद है। इसका विवेचन किया जा चुका है, इसलिए कौन किसका परवर्ती है या पूर्ववर्ती—कहने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। यदि दोनों में एक प्रतिशत अन्तर मान भी लिया जाय, तब भी उक्त प्रश्न में कोई वज़न नहीं दिखाई देता। जैसे, यदि यह कहा जाय कि सौन्दर्यानुभूति पहले होती है। तब फिर वह भी तो आनन्दात्मक ही होती है। रसानुभूति की आनन्दरूपता तो निर्विवाद है ही। ऐसी स्थिति में सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति में एकरूपता को अस्वीकारना औचित्यपूर्ण नहीं है।[२९]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति पृथक्-पृथक् सन्दर्भों में एक ही अनुभूति के दो नाम हैं। सौन्दर्यानुभूति एवं रसानुभूति के स्वरूप एवं आनन्दरूपता के अतिरिक्त प्रक्रिया एवं प्रभाव आदि दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है। जो अन्तर किया भी गया है, वह वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप को भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में न समझने का परिणाम है। दोनों में अन्तर स्थूलतः ही भासित होता है, अन्यथा तात्त्विक रूप में रसानुभूति को एक न मानने के पक्ष में जो विकल्प उठते हैं, वे उक्त विवेचन में प्रदत्त समाधानों के आधार पर या तो असिद्ध हो जाते हैं या फिर आनन्द की एकरूपता को दोनों सन्दर्भों में स्वीकार कर लेते हैं। रसानुभूति काव्यास्वादन-जन्य आनन्द ही नहीं है, प्रत्युत वह काव्येतर कलाओं से तादात्म्यीकरण की प्रक्रिया से उपलब्ध आनन्द का नाम भी है।

संदर्भ-संकेत

१. प्रोफे० ए० बी० शास्त्री, स्टडीज इन संस्कृत लिटरेचर, १९५२, पृ० ३१। २. "भरतसूत्र के व्याख्याता आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमशः विषयिगत होता गया और वह ' ' से 'आस्वाद' बन गया इस अर्थ-परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त

पर है। उनके अनुसार रस का अर्थ है आनंद और आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है।''—रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, प्र० सं० १९६४, पृ० ८१। ३. ''काव्य एवं अन्य कलाओं से होनेवाला अनुभव एक प्रकार का आस्वाद है। पूर्व में काव्य के सन्दर्भ में 'रसानुभूति' के रूप मे, और पश्चिम मे समग्र कलाओं के व्यापक सन्दर्भ मे 'सौन्दर्यानुभूति' के रूप मे इस अनुभूति का विवेचन किया गया है। यह आस्वाद मूलतः एक 'अनुभव' (एक्सपीरियन्स) है जो पौरस्त्य मनीषियो के शब्दों में चर्वणा रूप है, और पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'अनुचिन्तन-प्रधान' (कन्टेम्प्लेटिव) है। इसी आस्वाद-रूप अनुभव की विशेषताओं का निर्देश करते हुए इसकी आनन्दरूपता की ओर विद्वानो ने प्रायः संकेत किया है।''—रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, डॉ० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वि० सं० १९७७, पृ० १२४। ४. सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, ने० प० हा०, नई दिल्ली, प्र० सं० १९६३, पृ० १०५। ५. रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, प्र० सं० १९६४, पृ० १०९। ६. 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवति, इत्यादि श्रुतिः, सकलसहृदय प्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्।' रस गंगाधर (चौखम्बा विद्याभवन), प्रथम आनन, पृ० ९। ७. आधुनिक हिन्दी-मराठी काव्यशास्त्रीय अध्ययन : डॉ० मनोहर काले, पृ० १०९। ८. मंझन का सौन्दर्य-दर्शन, डॉ० ललताप्रसाद सक्सेना, आत्माराम एण्ड संस, प्रा० सं० १९६६, पृ० ३०। ९. इण्डियन एस्थेटिक्स—डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० २०। १०. सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, पृ० ११२। ११. ''सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्द चिन्मयः। वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर। लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।'' सा० दर्पण ३-२.३। १२. 'सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूतं'—सा० दर्पण ३-२.३; 'विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।'—काव्य-प्रकाश, १,२, वृत्ति। १३. 'न रसना-व्यापार आस्वादनम्। अपितु मानस एव।'—अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २९०। १४ चिन्तामणि (भाग १), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग, १९७३, पृ० १९९। १५. चिन्तामणि (भाग १) रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०२। १६. ''रस अथवा रसानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियो से भिन्न है—वह बौद्धिक अनुभूति नहीं है, प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभव, अर्थात् प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूति भी नहीं है, इसीलिए भारतीय मनीषियों ने रस को अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पायी और पाश्चात्य विचारकों ने एक नवीन भावना 'सौन्दर्य-भावना' की कल्पना कर डाली।''—रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ११२। १७. काव्य-दर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ० १२२-२३। १८. रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, प्र० सं० १९७१, पृ० १४१। १९. ''सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति—इन दोनो में से कला व काव्य-साहित्य की दृष्टि से कौन उत्कृष्ट है? रसानुभूति सौन्दर्यानुभूति का परिणाम है या सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति का?''—आधुनिक साहित्य विशेषांक, डॉ० रामेश्वरदयाल खण्डेलवाल के निबन्ध 'सौन्दर्यशास्त्र-संबंधी नवीन दृष्टिकोण' से उद्धृत, जनवरी, १९६७, पृ० १००। २०. ''प्रायः सभी को मान्य है कि काव्य के सन्दर्भ में रस अन्ततः 'काव्यानुभूति' का आस्वाद है जिसे कला के सन्दर्भ में 'कलानुभूति' का आस्वाद कहा जा सकता है। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से इसी 'काव्यानुभूति' या 'कलानुभूति' को 'सौन्दर्यानुभूति' की संज्ञा दी जाती है।—रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ० ३१२। २१. रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ८९। २२. ध्वनि-सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाज-मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० कृष्णकुमार शर्मा, प्र० सं० १९७५: अभिनव भारती इलाहाबाद पृ० १९९-२००।

२३. "सौन्दर्यानुभूति किसी कृति के माध्यम से प्राप्त होने वाली भावाभिव्यक्ति की अनुभूति है।"—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु एस्थेटिक्स—ई० एफ़ कैरिट, १९५५, पृ० ५० । २४. "वस्तुतः साधारणीकरण एवं तादात्म्य—दो भिन्न क्रिया-व्यापार नहीं है, अपितु एक ही कार्य के दो पक्ष हैं। जहाँ वस्तु की दृष्टि से वह साधारणीकरण है, वहाँ पाठक या सामाजिक की दृष्टि से तादात्म्य की प्रक्रिया है।"—रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ० ५३ । २५. ध्वनि-सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाज-मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० कृष्णकुमार शर्मा, पृ० २० । २६. प्रोफे० ए० ई० मैण्डर, साइकॉलोजी फॉर इवरी मैन ऑर वुमन, पृ० ५९ ।

२७. व्यापारोऽस्ति विभावादिनाम्ना साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वादमानं प्रतिपद्यते ॥—सा० द० (३/१-१०) ।

२८. ध्वनि-सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाज-मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० कृष्णकुमार शर्मा, पृ० २०५ । २९. "सौन्दर्यानुभूति (जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में प्रायः रसानुभूति कहा जाता है) व्यक्ति की वस्तु नन्दतिक चेतना (एस्थेटिक कांशसनेस) है जो बाह्य विघ्नों, घातों अथवा प्रभावों से मुक्त रहती है।"—सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, डॉ० कुमार विमल, प्र० सं० १९६७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ६, पृ० १०४ ।

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
श्री ब्रजविहारी डिग्री कॉलेज,
मथुरा

भरत मुनि का रस और भाव : नव मीमांसा

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त

डॉ० नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धान्त' में रसशास्त्र का विकास इस प्रकार इंगित किया है—

"अथर्ववेद के अभिचार मंत्र→कामसूत्र→रसशास्त्र।" पर, यह विकास-क्रम अपूर्ण है। अथर्वण हमारे व्यावहारिक जीवन के अनेक पक्षों का अंकन करता है जिसमें शारीरिक-मानसिक-दैविक सभी हैं। यह उस युग की आस्था-मान्यता का दर्पण है। अभिचार-मंत्र, जादू-टोना आदि उस सभ्यता की मान्यता की उपज हैं जिन्हें आज हम अंधविश्वास और जड़ता कहते हैं। हाँ, वे उस युग में ज्ञान-सदृश थे। अभिचार-मंत्रों के पीछे जो हमारे मानसिक भाव और हमारे मनोवेग थे, जो हमारी कामनाएँ थीं, जिनके प्रति हमारी आसक्ति थी और जिनसे हमारा द्वेष था, वे जीवन के सत्य आधार हैं। वे मानव-जीवन के अंग हैं। वे तब थे, आज हैं और सदा रहेंगे। अतः, ये भाव अथवा जीवन की ये स्थितियाँ हमारे जीवन के सिद्धान्त और व्यवहार को प्रभावित करती हैं।

'कामसूत्र' मुख्यतः हमारे कामभाव का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है। वात्स्यायन की इस कृति के हम अत्यन्त ऋणी हैं। पर वात्स्यायन ने जिस शृंगार काम-हावभाव-संभोग-रतिकला का वैज्ञानिक और भावयुक्त अंकन किया है, वह उनके पूर्व, निश्चित ही, पूर्ण विकसित स्थिति पर था। अथर्वण और कामसूत्र को जोड़नेवाली कड़ी की ओर हमारा ध्यान नहीं गया जिससे रसशास्त्र का विकास हमें बोधगम्य नहीं हो सका है।

भरत के शास्त्र के पूर्व महाभारत-रामायण की रचनाएँ हो चुकी थीं और हमारे देश के ये दो महत् काव्य सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन के विविध भावों को अंकित करने में अद्वितीय हैं। संसार के समस्त साहित्य में ये अप्रतिम हैं। जिस प्रकार नाट्यशास्त्र के विषय में कहा जाता है कि इसमें मानव के समस्त भावों का अंकन-अभिनय है उसी प्रकार, और जोरदार ढंग से, हम कह सकते हैं कि उक्त रचनाएँ, युग-सापेक्ष होते हुए भी मानव-जीवन की वासना-लालसा-कामना और मानव में संघर्ष को प्रतिपादित करती हैं। आदिकाल से मनुष्य बदले हैं, उनकी मनोवृत्तियाँ, उसके सोचने-समझने का ढंग, उसके जीवन-संघर्ष की कहानी मूलतः एक ही है। हाँ, काल-परिवेश के परिवर्तन के साथ इसका रूप बदलना स्वाभाविक है। अतः, रस-सिद्धान्त की खोज करनेवाले को अथर्वण और भरत के नाट्यशास्त्र के मध्य की कड़ी ढूँढनी पड़ेगी जहाँ से रस-भाव के सिद्धान्त लिए गए हैं।

कालिदास, नाट्याभिनय के प्रसंग में, भरत का उल्लेख 'मुनि' कहकर करते हैं जिससे कालिदास का भरत के प्रति समादर स्पष्ट है। 'मालविकाग्निमित्र' में एक प्रसंग बड़ा रोचक है—संगीत, नृत्य तथा नाट्य के दो आचार्यों के बीच बौद्धिक विवाद उठ खड़ा होता है जिसमें क्रमशः उनके शिष्य अपने आचार्य की योग्यता को सिद्ध करने की स्पर्द्धा करते हैं—"नाट्य के ये दोनों आचार्य, एक दूसरे को पराजित करने की कामना वाले मानो दो नाटकीय भाव शरीर धारण कर उपस्थित हैं।" (१.४)

यहाँ 'दो नाटकीय भाव' महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। ये 'नाटकीय भाव' निश्चित ही 'रस' शब्द के अन्तर्गत नहीं आते। ये भाव मानसिक स्थितियों के द्योतक हैं जिनका मूल सम्बन्ध सत्त्व-रज-तम गुणों से है। अतः 'रस' कितना भी व्यापक हो, 'नाटकीय भाव' को व्यक्त नहीं कर सकता। 'रस' की सीमा को हमें समझने का प्रयास करना चाहिए। भाव ही रस है और रस के बिना भाव नहीं—यह मान लेने पर भी 'भाव' का पर्याय रस नहीं। रस-सिद्धान्त ने 'रस' को महत्ता देकर भाव को गौण अथवा परिचारिक का स्थान दिया, यही भूल है। इस पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा।

कालिदास का एक अन्य कथन भी इस संदर्भ में उपयोगी है... "सत्त्व, रज तथा तम के तीन मुख्य गुणों से उत्पन्न मानव-जीवन को उद्घाटित करने का उद्देश्य रखनेवाली यह एक कला (अभिनय) थी और यह विविध भावोद्रेकों से संयुक्त थी। यह नाट्य या दृश्य कला एक प्रकार का मनोरंजन कही जाती थी जो जनता की विविध रुचियों को तृप्त करने वाली थी।" नाट्यकला की यह विशेषता नाट्यशास्त्र में भी लगभग इन्हीं शब्दों में है। यहाँ 'विविध भाव' और 'विविध रुचि' महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। इस भाव को हम 'रस' शब्द से नहीं अभिव्यंजित कर सकते। मेरा अभिप्राय यह है कि 'रस' को परमतत्त्व मान लेने से 'भाव' की उपेक्षा हो जाती है।

यहाँ कालिदास की चर्चा मैंने इसलिए की है कि उनकी कृतियों में मानवीय अनुभूतियों एवं मानवीय भावों की अभिव्यंजना सर्वत्र है—प्रकृति भी मानवी है। जिस प्रकार वाल्मीकि का रामायण अपने विविध भावों की अभिव्यंजना के कारण महाकाव्य है, उसी प्रकार 'रघुवंश', 'कुमारसंभव' हैं। 'कुमारसंभव' में नख-शिख प्रकृति-सौंदर्य है। अभिप्राय यह कि कालिदास का बल, वाल्मीकि की भाँति, 'भाव' पर है।

प्रश्न उठता है कि भरत ने रस को क्यों महत्ता दी? भाव को उन्होंने रस का उत्स माना, अभिनय के लिए भावों पर विचार किया, पर रस को प्रमुख बना दिया। भरत की इस भूल का मूल आयुर्वेद है। चरकसंहिता आयुर्वेद-ग्रंथ है। आयुर्वेद में द्रव्य और रस में कौन मूल है, इस पर विवाद है। मानव-जीवन का संबंध समस्त सृष्टि से है और संसार में जो कुछ भी है या होता है, उस 'भाव' से मनुष्य प्रभावित होता है। 'भवति इति भावः' से भाव को समझना चाहिए। इस भाव में मानसिक-शारीरिक भाव, आलस्य, मृत्यु, अपस्मार, स्वप्न, वितर्क, रोष, क्रोध, मूर्च्छा, समाधि सभी हैं। किसी भाव के सहचारी अनुभाव अथवा सात्त्विक भाव भी इसमें सम्मिलित हैं। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों और रस-सिद्धान्त के मीमांसकों ने भरत के 'भाव' का यह व्यापक अर्थ नहीं ग्रहण किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र आदि भरत के कितने ही भावों को यह मानकर नकारते हैं कि वे मानसिक नहीं हैं। पर भरत ने, आयुर्वेद की भाव की निरुक्ति 'भवतीति भावः' स्वीकार की है, अतः 'भाव' केवल मानसिक भाव नहीं। चरकसंहिता—विमान-स्थान—में जन-पदोध्वंस का विवेचन करते हुए संहिताकार ने शत्रु, अग्नि, विषधर सर्प, साहस (अपने बल से अधिक कार्य करना) अथवा औचित्य का ध्यान न रखकर अनुचित कर्म करना, प्रमत्तता, क्रोध, मोह-लोभ को विनाशकारी भाव माना है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित मद, ग्लानि, अपस्मार आयुर्वेद में वर्णित भाव है। ग्लानि का कारण संहिता में वमन, रेचन, व्याधि, मानसिक क्लेश, अतिशय काम, मद्यपान, अति व्यायाम, लम्बी यात्रा, भूख-प्यास-निद्रा की हानि आदि माना गया है। ग्लानि के अनुभाव अथवा परिणाम हैं

(दी)र्ण आवाज मलिनता अनुत्साह वैवर्ण्य आदि। नाट्यशास्त्र (७/३१) में भी कहा गया है कि ग्लानि के वमन रोग तप तथा जरा से उत्पन्न होती है।

मद्यपान से उत्पन्न मदात्यय अथवा मदावस्था आयुर्वेद का विषय है; मदोन्मत्तता का संबंध जीवन के व्यापार से है। मद्यपानजन्य भावों-अनुभावों का भरत ने, प्रदर्शन के निमित्त, नाट्यशास्त्र में वर्णन किया है—'मदो नाम मद्योपयोगादुत्पद्यते।' शुक्ल (रामचन्द्र) जी ने 'मद' का यथार्थ भाव न ग्रहण कर उसकी मीमांसा करते हुए लिखा है : "मद नामक स्थिति या तो मद्यपान आदि के कारण होती है अथवा प्रेम की उमंग या अभिमान आदि के कारण। दाम्पत्य-रति के वेग से उत्पन्न मद के उदाहरण तो लक्षण-ग्रंथों में मिलते हैं, पर अभिमान के जोर करने पर भी लोग बहँकी-बहँकी बातें करते हैं—भले-बुरे का ध्यान नहीं रखते। किसी की कुछ सुनते नहीं। जो भी मन में आता है, कहते हैं, करते है।" (रस-मीमांसा, पृ० १७६)

वस्तुतः, भरत का 'मद' मद्यजनित है, प्रेमजनित अथवा अहंकारजनित नहीं। साहित्य-दर्पणकार ने 'मद' की व्याख्या की है—"संमोहानन्द संभेदो मदो मद्योपयोगजः।" मद्यपान से संमोह अथवा बेहोशी होती है, यही बेहोशी मद्य पीनेवाले के लिए एक प्रकार का आनन्द है। संमोह स्मृति-नाश अथवा स्मृति-विभ्रंश की अवस्था है, अभिनय में मद्य पीनेवाले की अवस्था के प्रदर्शन के लिए भरत का 'मद' भाव है। भरत ने 'मद' को त्रिविध कहा है—तरुण, मध्य और अवकृष्ट और इसके पंचविध भाव बताए हैं—उत्तम सत्व (मन) वाला सोता है; मध्यम प्रकृति वाला हँसता और गाता है तथा अधम प्रकृति वाला परुषवचन कहता तथा रोता है। (नाट्यशास्त्र ७/३८-४०)।

सुश्रुत संहिता (उ० ४७-१०) में 'मद' की अवस्थाएँ इस प्रकार है—"मद की तीन अवस्थाएँ होती हैं—एक पूर्व, दूसरी मध्य, तीसरी पश्चिम। पूर्व में वीर्य, रति, प्रीति, हर्ष, भाष्य (भाषण, वार्तालाप) आदि का; मध्य अवस्था में प्रलाप, हर्ष तथा युक्तायुक्त क्रिया का; पश्चिम में विसंज्ञ (संज्ञाशून्य) का वर्द्धन होता है।"

भरत ने मद की शांति के उपाय इस प्रकार बताये हैं—"संत्रास, शोक, भय तथा हर्ष आदि कारणों से मद शान्त होता है तथा वमन द्वारा मद शांत कराया जाता है।" (७/४६) वमन का विधान आयुर्वेद में है, यथा—'पित्त के पानात्यय में मधुर द्रव्यों का क्वाथ मद्य मिला के पिलावे, उसमें शहद, मिश्री और सुगंध पदार्थ तथा ईख का रस मिलावे और उसे पीकर थोड़ी देर पीछे निःशेष वमन कर देवे।' (सु० उ० ४७/२४)।

चरक के अनुसार भी संज्ञानाश से बचाने के लिए संस्रन (विरेचन), उल्लेखन (वमन), रक्तमोक्षण, उद्घर्षण उपाय करे। अस्तु, भरत का मद (भाव) मद्यपान से उत्पन्न अवस्था है। मद्य पिये हुए व्यक्ति का अनुकरण किस रूप में किया जाय, इस दृष्टि से भरत ने मद को भाव में सम्मिलित किया है। भरत का मद 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' अथवा 'मदमत्सर अभिमान ज्ञान रिपु इन महँ रहनि अपारो' वाला 'मद' नहीं है।

भरत ने, अभिनय की दृष्टि से, हास्य रस के व्यभिचारी भावों में आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध (विबोध) का वर्णन किया है। आलस्य पर शुक्ल जी की आपत्ति है—"रात भर जगी हुई स्त्री बैठे-बैठे जँभाई लेती है, तो इससे श्रोता या दर्शक को रतिभाव के अनुभव में कुछ सहायता पहुँचती हो, मुझे तो नहीं मालूम पड़ती।......जिस क्रिया या व्यापार से शारीरिक श्रम (थकावट) हुआ, वह तो भावप्रेरित भाव का अंग तक कहा जा सकता है, पर इससे उस श्रम को और उस श्रम से उत्पन्न आलस्य को भाव द्वारा प्रेरित संचारी नहीं कह सकते।" इसी प्रकार

निद्रा-स्वप्न-विबोध पर भी उनकी आपत्ति है, क्योंकि ये मानसिक भाव नहीं व्यक्त करते ; परन्तु भरत ने हास्य के लिए इन भावों—स्थितियों का अभिनय कराया है।

भरत के 'अपस्मार' को शुक्लजी संचारी नहीं मानते-- उनका कहना है, "मरण-व्याधि और अपस्मार भी तभी संचारी होंगे जब किसी भाव के कारण होंगे, अन्यथा नहीं।" पर भरत का 'अपस्मार' (भाव) एक स्थिति है। इस व्यभिचारी भाव का विभाव (कारण) है—देव, यक्ष, नाग, ब्रह्म, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच से गृहीत होना आदि। अपस्मार के अनुभाव है---स्फुरण (दिल फड़कना), निःश्वास (कष्टजन्य गहरी साँस), कम्प, धावन, पतन, स्वेद, स्तम्भ, मुँह से फेन निकलना, हिक्का, तथा जिह्वा-परिलेहन।

भरत ने अपस्मार का विवरण "भूत पिशाच·······रूपाण्येतान्यपस्मारे।" (७/७३-७४) में दिया है। भरत ने, इस लोक-प्रचलित व्याधि की, अनुकरण के लिए, नाट्यशास्त्र में चर्चा की है। अपस्मार के विभाव तत्कालीन अंधविश्वास की देन हैं। अंधविश्वासों और व्याधि के अनुभावों का प्रदर्शन, मनोरंजन एवं अनुकरण की दृष्टि से महत्त्व रखता है। भरत ने मरण, आलस्य, स्वप्न की भाँति अपस्मार को भी भाव-रूप में अंकित किया है।

नाट्यशास्त्र (१.१७) में भरत मुनि ने लिखा है: "पाठ्य ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रस अथर्वण से लिया गया है।" नाट्यशास्त्र (१.११६-१७) में भरत ने लिखा है: "न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न कोई ऐसी कला है, न कोई योग है, और न कोई कार्य है जो इस नाट्य में न प्रवर्तित किया गया हो।·······इस नाट्य की रचना मैंने इसीलिए की कि इसमें तर्कशास्त्र, समस्त शिल्प तथा विविध कर्म एकसाथ हैं।·······नाट्य में असुर और देवता, दोनों के शुभाशुभ विकल्पों, कर्मों, भावों का चित्रण है। नाट्य में त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन है। ये भाव हैं: धर्म, क्रीड़ा, शम, हास्य, युद्ध, काम, वध आदि। इनसे अपनी-अपनी रुचि, स्वभाव, अपेक्षा के अनुसार धर्मप्रवृत्त लोग धर्म की, कामी काम की, शूर उत्साह की, उद्विग्न चित्तवाले धृति की प्रेरणा ग्रहण करेंगे।·······यह नाट्य 'नानाभावोपसंपन्न' है। यह नाना अवस्थाओं का चित्रण करता है और लोकवृत्तानुकरण है।"

'नानाभावोपसम्पन्न' का आशय है लोकवृत्त अथवा जीवन की सभी अवस्थाओं से युक्त। इस प्रकार भाव यहाँ मनोभाव मात्र नहीं सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, शांति-अशांति, उत्थान-पतन—सभी अवस्थाएँ भाव हैं और इसीलिए हर एक रुचि का व्यक्ति नाट्य से कुछ ग्रहण कर सकता है। यहाँ 'नाना रस'—भरत ने नहीं कहा है, 'नाना भाव' कहा है।

'भाव' (भवतीति भावः) अस्तित्व में आनेवाली सभी स्थितियाँ हैं—जो कुछ इस सृष्टि में है, सब भाव है। मनुष्य के जीवन के विविध भाव, अर्थात् उसकी विभिन्न अवस्थायें, उसकी विभिन्न रुचियाँ, उसकी विभिन्न शारीरिक-मानसिक दशायें। इसमें चिंता, वैराग्य, हर्ष, उन्माद, श्रम, आलस्य सभी सम्मिलित हैं। इन भावों से ही मनुष्य भावित-वासित-कृत है। इस दृष्टि से 'भवतीति भावः' भी ठीक है। भरत नाट्य को भावित कहते हैं, क्योंकि नाट्य लोकवृत्तानुकरण है। 'भाव' की इस व्याख्या के अनुसार ही भरत ने आलस्य, उग्रता, स्वप्न, अपस्मार, मृत्यु को भाव माना है। मृत्यु निश्चय ही अभाव है, पर संसार में एक स्थिति यह भी है, इसीलिए मृत्यु भी एक भाव है।

'रस इति कः पदार्थः' का उत्तर देते हुए भरत कहते हैं—

"यथा हि नानाव्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना सुमनस पुरुषा हर्षादींश्चाधि

गच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसा इतिभिव्याख्याताः ।" यहाँ संस्कृत 'अन्न' के रसास्वादन और भरत के रसास्वादन में पूर्ण साम्य है यथा—

(१) 'नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं'=नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् । (२) सुमनसः ही रसास्वादन करता है । (३) आस्वादन से हर्ष की प्राप्ति होती है ।

'संस्कृत' शब्द का आर्थिक समझना अपेक्षित है । चरक के अनुसार संस्कार 'करण' है । 'करण' की व्याख्या है : "करणं हि स्वाभाविक द्रव्याणां संस्कार: ।" अथवा 'संस्कारो हि गुणाधानमुच्यते' अर्थात् 'करण' (संस्कार) का आशय है गुणान्तर का आधान; जैसे—व्रीही (धान) से लाजा बनाकर उसे लघु बनाना ; अग्नि से यह गुणान्तर उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार पानक (पना) की 'संस्कार' से गुरु-लाघव हो जाता है—'पानकानां यथायोग गुरुलाघवमादिशेत् ।' पानक या खांडव इस प्रकार नमकीन, खट्टे, मधुर हो सकते है और कई रसो के योग से पानक का स्वाद विचित्र हो सकता है । यह संस्कार(करण) का ही महत्त्व है । संस्कृत अन्न-पानक को 'कृत' भी कहते हैं । यही 'कृत' वासित अथवा भावित है । संस्कृत अथवा भावित होने से स्वाद बढ़ जाता है ।

'भारतीय नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय में नाट्य-विचक्षण व्यक्तियों ने पूछा है :

"ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥"

तथा

"भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि ।"

[नाट्य में जिसे रस कहते हैं, उसमें रसत्व किस प्रकार सिद्ध होता है ? इसे बतावें । तथा भाव क्या हैं ? ये किसको भावित करते हैं ?]

भरत ने इसका उत्तर एक सादृश्य से दिया है—

"नाना द्रव्यैर्बहुविधैर्व्यंजनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥" (६/३५)

[जिस प्रकार नाना द्रव्यों से बहुविधि व्यंजन की भावना होती है, उसी प्रकार भाव, अभिनय के साथ रसों की भावना करते है ।]

"व्यञ्जनौषधिसंयोगा यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥"(६/३७)

[जिस प्रकार व्यंजन और औषधि का संयोग होने से अन्न में स्वादुता आ जाती है, उसी प्रकार भाव और रस परस्पर भावित करते हैं ।]

आयुर्वेद में यह प्रश्न उठाया गया है कि रस के आधार पर द्रव्य का वर्गीकरण किया जाता है, अतः द्रव्य को मूल न मानकर रस को ही मूल माना जाय ।

षड्रसों की श्रेष्ठता इसी आधार पर है । द्रव्यों के गुण-दोष रस (स्वाद) के आधार पर बताए गए हैं—यथा, कषाय रस मलरोधक; अम्ल रस दाहजनक; लवण रस संतापकारक; मधुर रस स्थूलताकारक आदि । किस दोष में कौन-सा रस हितकर है, यही जानना वैद्य का काम है । वह रस के आधार पर ही द्रव्य की संस्तुति करता है । यथा पित्तप्रधान प्राणी के लिए मधुर रस,

वातरोगी को कटु रस, अग्निमांद्य वाले को अम्ल रस अथवा इनसे सम्बन्धित द्रव्य हितकर है। किस रस के अन्तर्गत कौन से द्रव्य आते है, यह अनुभव के आधार पर वर्गीकरण है। मुख्य-मुख्य भोज्य पदार्थों के रस (स्वाद) लोक में जानते हैं। वैद्य बढ़े हुए रस को विपरीत रस से शमन करे।

इसी साहश्य पर भरत ने किस रस के कौन से सहयोगी भाव हैं, बतलाया है, यथा—शृंगार के लिए एकांत स्थान, माल्य, आभरण, प्रियजन आदि। किस रस के लिए कौन विपरीत भाव हैं, यह भी उन्होंने इंगित किया है, यथा—शृङ्गार में आलस्य, उग्रता आदि। द्रव्यों का मधुर रस जिस प्रकार आह्लादकारी है, वैसे ही मधुर भावजन्य शृङ्गार रस।

इस पद्धति से सोचने पर रस श्रेष्ठ होता है, भाव नहीं। भरत ने भी आयुर्वेद के ऋषियों की भाँति माना है—'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।' (६/३२) [रस के बिना अर्थ (भाव) संभव नहीं है।] तथा

"यथा बीजाद्भवेद वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाव्यवस्थिताः॥" (६/३७)

[जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प-फल होते हैं, उसी प्रकार समस्त रस मूल हैं और उनके द्वारा ही भाव व्यवस्थित होते हैं।]

सुश्रुत सूत्रस्थान (४८/२६) में कहा गया है—

"जन्म तु द्रव्य रसयोरन्योन्यापेक्षकं स्मृतम्।
अन्योन्यापेक्षकं जन्म यथा स्याद्देहदेहिनः॥"

[द्रव्य और रस का जन्म एक दूसरे पर आश्रित है, जैसे शरीर और आत्मा का जन्म अन्योन्यपेक्षक है।]

इसी के अनुसरण पर भरत ने कहा है—

"न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥" (६/३७)

[भावों के बिना रस नहीं और न रस के बिना भाव होता है। अभिनय के द्वारा एक दूसरे के आश्रय से इनकी सिद्धि होती है।]

प्रश्न हो सकता है कि भरत ने मानव में जिन भावों की कल्पना आयुर्वेद के आधार पर की, उसकी भूमिका क्या है? भाव और द्रव्य में क्या साम्य है? और षड्रस के सिद्धान्त को काव्यार्थ में व्यवहृत करने की प्रेरणा कैसे मिली?

इसका उत्तर भी आयुर्वेद में ही है। चरकसंहिता में कहा गया है—

'पुरुषोऽयं लोक सम्मित'—[पुरुष लोक (जगत्) के तुल्य है।] जगत् पाँच तत्वों से बना है और पुरुष भी। पुरुष में आत्मा अधिक है, इसी से उसे षड्धातु वाला कहते हैं।

सुश्रुत संहिता में इसका समर्थन करते हुए कहा गया है—"जो गुण द्रव्यों में हैं, वही प्राणियों के शरीर में"—"गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।" (सू० ४१/२०)

द्रव्य और प्राणी के शरीर का ऐक्य आज भी सत्य माना जा रहा है—हमारे शरीर के पोषक तत्त्व द्रव्यों से ही मिलते हैं—जीवन के लिए अनेक द्रव्य खोज निकाले गए है, यथा—प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, कैल्शियम, आयरन, कापर, विटामिन, फासफोरस आदि। इनके अतिरिक्त अनेक मिनरल्स भी शरीर-रक्षा के लिए अपेक्षित हैं।

आधुनिक पोषण-वैज्ञानिकों का निर्णय है कि शरीर में क्षार और अम्ल (रस) के संतुलन के बिगड़ने से ही रोग होते हैं; आयुर्वेद भी मानता रहा है कि समत्व अपेक्षित है विषमता ही रोगों

की जड़ है मधुर स आज भी वृहण माना जाता है और अम्ल रस दाहक रक। गुड़ क्षार प्रधान है, सिरका अम्लप्रधान। इस प्रकार जगत्संमित पुरुष कहना ठीक ही है।

भरत ने, अपने उत्तर मे, आठ स्थायीभाव (आठ नाट्य रस), तैंसीस सँचारीभाव तथा आठ सत्त्व से उत्पन्न होने वाले भावों को गिनाया है। सात्त्विक भाव हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय। ये भाव सात्त्विक इसलिए हैं कि इनका सम्बन्ध सत्त्व (मन) से है मन के भाव स्वतः शरीर के माध्यम से प्रकट होते हैं क्योंकि चरक संहिता के अनुसार—"शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरं।" (४.३७) [शरीर मन के अनुरूप और मन शरीर के अनुरूप होता है।] सात्त्विक भाव मनोभाव नहीं है—मन-शरीर की स्थितियाँ हैं। इसलिए इन्हें भाव कहा गया है। 'भाव' केवल मनोभाव नहीं है।

भरत के स्थायीभाव को आयुर्वेद की शब्दावली में मुख्य भाव अथवा मुख्य रस तथा व्यभिचारी भावों को गौण रस कह सकते हैं? भरत ने संचारीभावों को 'परिजन' कहा है। मुख्य भाव (रस) ही राजा है।

रस एक है या अनेक, इस सम्बन्ध में भी चरकसंहिता में विचक्षणों की गोष्ठी की चर्चा है। बहुरों की मान्यता है कि मूलतः रस (आत्मा) एक ही है। भाव तो अनगिनत हैं। जिस प्रकार द्रव्य अनन्त हैं, उसी प्रकार भाव भी। पर द्रव्य और भाव का सादृश्य हमें गहराई तक नहीं ले जाता, क्योंकि द्रव्य स्थूल पदार्थ हैं और मानसिक-शारीरिक-आत्मिक भाव सूक्ष्म। अतः भरत के व्याख्यान में प्रयुक्त ये सादृश्य केवल बाह्य हैं।

जिज्ञासु विद्वानों के इस प्रश्न का—कि भाव किसको भावित करते है—भरत ने इस प्रकार उत्तर दिया—इन्हें भाव इसलिए कहा जाता है कि ये वाक्, अंग तथा सत्त्व से युक्त काव्यार्थों को भावित करते हैं—"वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति।"

संस्कृत-कोशों मे भावित-वासित समानार्थी हैं—वासित-सुगंधित पर्याय है। भरत का आशय है कि वाक्, अंग तथा सत्त्व से जो काव्य-नाट्य के सौन्दर्य-सुगन्ध में अभिवृद्धि करे, वही भाव है। अर्थात् भाव रस को—काव्य को—सुस्वादु बनाने में सहायक है। भाव यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ मे है। भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—ये सभी काव्य को सुगन्धित-सुवासित करते हैं।

विभाव कारण है—"विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।" अनुभाव कार्य है। कारण-कार्य के साथ सहचारी भाव मिलकर रस की निष्पत्ति करते हैं। भरत के शब्दो मे "विभावानुभाव व्यभिचारि परिवृत्तः स्थायीभावो रसनाम लभते।" अर्थात्, स्थायीभाव विभावादि परिजनों से परिवृत्त घिरा हुआ होने पर रसत्व की संज्ञा प्राप्त करता है। इसे भरत ने और स्पष्ट करते हुए इस प्रकार रखा है—"बह्वाश्रयत्वात्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः।" अर्थात्, प्रमुख (स्वामी) भाव स्थायी है, अन्य भाव उसके सहचर हैं। राजा-प्रजा का यह सम्बन्ध काव्य-सौन्दर्य मे उचित नहीं—सभी भाव जीवन मे सहायक हैं—रतिभाव स्वतः कुछ नहीं; वह तो काम-सम्बन्धी सभी भावों का एक संश्लिष्ट नाम है। प्रत्येक भाव अपने में महत्त्वपूर्ण हैं। मै समझता हूँ कि भाव को प्रमुख मानकर यदि भरत ने रस सिद्धान्त की व्याख्या की होती तो सुषम या और भाव के साथ उसकी अथवा शैली पर भी उनका ध्यान जाता द्रव्य का रस,

काव्य का रस नहीं हो सकता। द्रव्य का संपूर्ण सत्त्व अथवा उसके समस्त गुण रस में आ जाते हैं—यह वैज्ञानिक नहीं है। उदाहरण के लिए किसी औषध-द्रव्य को लें—उसकी ऊपरी और भीतरी छाल के गुण-प्रभाव में अंतर मिलेगा; पत्ता-गोभी के ऊपरी हरे पत्ते विटामिन आदि की दृष्टि से उसके भीतरी सफेद भाग से अधिक उपयोगी हैं; सब्जी की हरी पत्तियों में जो क्लोरोफिल और कैरोटीन होता है वह द्रव्य के अन्य भागों में नहीं। अमरूद, सेब, गाजर के रेशे पेट साफ करने में सहायक होते हैं, रस नहीं; गेहूँ का चोकर लौह से भरपूर है, जबकि भीतरी मैदा वाला भाग इससे शून्य। इस प्रकार हरित और रूखे द्रव्य का एवं द्रव्य के विभिन्न भागों का अलग-अलग गुण है। 'रस' भारतीय वाङ्मय में अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्द हो गया था—रस आत्मा का, हृदय का, ब्रह्म का बोधक बन गया। इसी से साहित्य में भी रस प्रमुख हो गया। द्रव्य का रस निचोड़ा जा सकता है, पर काव्य का नहीं। अतः, 'रस' को सार मानकर उसे काव्यार्थ का मूल मानना औचित्य के बाहर है।

सुश्रुत सूत्र स्थान (१/५४) में क्रोध, ईर्ष्या, शोक, भय, आनन्द, विषाद, लोभ, काम को राग-द्वेष से उत्पन्न भाव कहा गया है। ये ही भाव हैं जिन्हें भरत ने स्थायी-संचारी के रूप में माना है।

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग माना जाता है। नाट्यशास्त्र भी अपना मूल अथर्ववेद को मानता है। इससे दोनों का एक ही उद्गम है। अन्तर यही है कि भरत ने आयुर्वेद से सामग्री स्वीकार करते हुए भी उसकी चर्चा नहीं की। उन्होंने मूल को ही अंगीकार किया—'रसानाथर्व-णादपि।' मेरा कहना है कि अथर्ववेद भले ही जीवन के विभिन्न भावों के चित्रण के कारण आयुर्वेद और नाट्यशास्त्र दोनों का मूल हो, पर नाट्यशास्त्र का रस-भाव सीधे-सीधे चरकसंहिता—सुश्रुत संहिता पर आधारित है।

भरत के अनुसार, काव्य रस से भरा है। उस रस की निष्पत्ति में उनचास भाव (स्थायी+संचारी+सात्त्विक) सहायक होते हैं—"काव्य रसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यव-गन्तव्याः।" [शुष्क काष्ठ में जैसे अग्नि व्याप्त होती है, उसी प्रकार काव्य में रस। यह रस भावों से उद्भूत या अभिव्यक्त होता है।] (७/७)

यह ठीक है कि काव्य का सौंदर्य काव्य में ओतप्रोत रहता है, पर काव्य और पाठक के बीच जो सम्बन्ध है, वह इस सादृश्य से नहीं बोधित होता और न इससे यही सुबोध होता है कि प्रत्येक अध्येता अपनी क्षमता, अपने संस्कार एवं अपनी ग्रहणशीलता और सहृदयता से किसी काव्य में कितना ग्रहण कर पाता है। कला का 'इंटरप्रिटेशन' और 'इंटरप्रिटेशन' का चारुत्व पाठक पर निर्भर करता है। इसीलिए रस-सिद्धान्त ध्वनिवादियों को अपूर्ण लगा। कवि के शब्द-प्रयोग का जो कौशल है, वह रस-सिद्धान्त में नहीं आता और न शब्द-अर्थ की वक्रता का सौष्ठव ही। अर्थ-छाया का जो सौंदर्य छायावादी काव्यों में है, वह भरत के रस-भाव की सीमा में नहीं आता। आज 'मैटर' से अधिक 'फार्म' अथवा शैली पर इसीलिए बल दिया जा रहा है कि भाषा की मिठास जीवन और काव्य, दोनों में श्रेयस्कर है। काव्य वही सफल है जिसमें जीवन का मधुमय-शिवमय-प्रभविष्णु अंकन हो।

अस्तु, काव्य के आनन्द का बोध रस-भाव की सीमित धारणा से नहीं हो पाता। काव्य के प्रस्तुतीकरण में भाषा-सौन्दर्य का जो योग है, वह भी इससे ग्रहण नहीं होता। काव्य केवल द्रव्यों का समूह नहीं है और न विभिन्न द्रव्यों के रस का षाडव राग षाडव (पानक) का स्वाद केवल

जिह्वा ग्रहण करती है, जबकि काव्य-अभिनय का सुख इंद्रियाँ, मन, मस्तिष्क और आत्मा भी। इसके अतिरिक्त काव्य में मानव-मूल्यों का जो चिंतन होता है, वह भी भरत के काव्य-रस की सीमा में नहीं आता। कलाकार जीवन के जिस यथार्थ संघर्ष का अंकन कर हमारी चेतना को जगाता है और आदर्श का पुट देकर हमें जिस प्रकार अपने लक्ष्य का स्मरण दिलाता है, वह रस-सिद्धान्त में नहीं समाया हुआ है। नाट्य (काव्य) केवल भावों का अनुसरण मात्र नहीं, बल्कि नाना भावों के अंकन से वह मनुष्य को चेतनता देता है। यह चेतनता किसी पेय अथवा द्रव्य-रस से संभव नहीं; काव्य की चेतनता वह है जो हमें सत्य से जोड़ती है, जो हमें प्रेम का पाठ पढ़ाकर उदात्त बनाती है। साहित्य में जो हित की भावना है, वह सर्जनात्मक है; मनुष्य ही उसका अधिकारी है—द्रव्य में वह जीवनदान, ज्ञानदान, आत्मज्ञान की शक्ति कहाँ? द्रव्य (भाव) के पोषण-तत्त्व शारीरिक बल दे सकते हैं, आत्मिक बल नहीं। काव्य शरीर-मन-आत्मा को पवित्र करने में समर्थ है, वह हमें उठा सकता है, ऊँचे उड़ा सकता है। काव्य इस दृष्टि से मानव से बढ़कर है।

कालिदास का एक भाव-अंकन देखें और स्वयं सोचें कि रस-सिद्धान्त से इसके सौंदर्य, इसके काव्यार्थ, इसके चारुत्व को कैसे पाठक-दर्शक पा सकता है—एक नृत्य का वर्णन है। 'मालविकाग्निमित्र' की परिव्राजिका अभिनय का पूर्णतया विश्लेषण करती है और रूप-निरूपण के मुख्य अंगों पर इस प्रकार प्रकाश डालती है—"अभिव्यंजना के साथ मुखरित उसके अंगों से भाव पूर्णतया स्पष्ट हो रहा था; उसकी पदगति (पदन्यास) नितान्त समय के साहचर्य में थी; भावुकता-प्रदर्शन के साथ पूर्ण एकीकरण था; हस्त संचालन से व्यक्त अभिनय मधुर था, जबकि उत्तरोत्तर स्थिति से पीछा किया जाता आवेग आधार-तल से नवीन आवेग को उपस्थित करता था, फिर भी रुचि में अन्तर नहीं होता था।" (२/)

यहाँ जो रूप-निरूपण है, वह उन भावों का है जिन्हें दर्शक ने ग्रहण किया है; नर्तकी की सफलता सौंदर्य की अनुभूति कराने में है। यहाँ जो लय-समत्व-माधुर्य है, वह 'रस' शब्द से अभिव्यक्त नहीं हो पाता। यह काम और शृङ्गार से ऊपर तन्मयता को जन्म देनेवाली भाव-भंगिमा है। इसीलिए नाट्य-कला, कालिदास के शब्दों में, शांतिमय यज्ञ समझी जाती थी। 'यह कला देवताओं को शांति देती थी।' मनुष्य भी शांति प्राप्त करता था तथा शरीर की नश्वरता और विनाशकारी भावों के स्वरूप को समझ दुःख से मुक्त होता था। चरकसंहिता (शरीर-स्थान) में कहा गया है—"स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात्प्रमुच्यते।"

अस्तु, अभिनय-काव्य में भाव ही मुख्य हैं, चाहे वे स्थायी हों, अथवा संचारी-सात्त्विक।

१४७, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद-३

तुलसी की पुराण-चेतना में श्रीमद्भागवत की वरीयता

श्री हरिशंकर मिश्र

तुलसी की पुराण-चेतना में श्रीमद्भागवत की वरीयता के विवेचनार्थ अष्टादश पुराणों में भागवत की स्थिति का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। समस्त पुराण-वाङ्मय में भागवत विशिष्ट एवं अनल्प महत्वशाली ग्रन्थ है।''' लोकधारणा है कि अग्नि, आपत्तिकाल तथा महायुद्ध—स्वर्ण, स्त्री एवं शास्त्रविद् के परीक्षा-स्थल हैं, तो भागवत विद्वानों का परीक्षा-स्थल है।[1] वैसे तो अन्यान्य पुराण भी वेदोपबृंहक हैं, किन्तु भागवत वेदोपबृंहक ही नहीं, अपितु वेद-रूपी कल्पवृक्ष का सुपरिपक्व फल है जिसे शुक्र (शुकदेव मुनि) ने अपने मुख-संयोग से अमृतत्व प्रदान कर दिया है और जिसका द्रव रसिक-भावुक जन निरन्तर सानन्द पान करते हैं। यह पुराण श्रुतिसार, सर्ववेदान्तसार एवं अध्यात्मदीप है। भागवतकार की स्पष्ट उक्ति है, 'सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते' (भा०, १२।१३।१५)। भागवत का परवर्ती पद्मपुराण इस तथ्य को स्वीकारते हुए मानता है कि भागवत के प्रत्येक श्लोक एवं पाद में वेदों का सारांश है।[2]

परवर्ती पुराणों (पद्म एवं स्कन्द) में भागवत के माहात्म्य को स्थान मिलना भी उसकी लोकप्रियता एवं विशिष्टता को प्रमाणित करता है। इसी प्रकार आचार्य शंकर के मायावाद के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने भागवत को आधार रूप में ग्रहण किया है। आचार्य वल्लभ ने तो उसे प्रस्थान की संज्ञा देते हुए उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र के समानान्तर मान्यता दी है तथा 'समाधिभाषा व्यासस्य' कहकर उसके दिव्यत्व की भी उद्घोषणा की है। टीका-सम्पदा की दृष्टि से भी भागवत अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न है। जितनी टीकाएँ, वृत्तियाँ एवं भाष्य आलोच्य पुराण पर लिखे गये हैं, उतने अन्य किसी पुराण पर नहीं। समस्त भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी, फ्रेन्च, फारसी आदि अनेक भारतीयेतर भाषाओं में इसके अनुवाद इसकी व्यापक लोकप्रियता एवं विशिष्टता के प्रमाण हैं।

काव्यात्मकता की दृष्टि से यह महापुराण अद्वितीय है। इसके पद्यों में मानव-हृदय को सहजतया आकृष्ट करने की अद्भुत विलक्षणता विद्यमान है। इसीलिए यह अनेक कवियों का उपजीव्य बनता रहा है और अद्यावधि बन रहा है। भागवत की काव्यात्मकता का चरम निदर्शन विशेषतः उसकी गीतों में हुआ है। जहाँ वक्ता अपने अन्तरतम भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। भागवत के दशम स्कन्ध में इनका प्राचुर्य है।[3] इन गीतों में स्थूलता और कथात्मकता न होकर सूक्ष्मता एवं भावात्मकता है। रमणीय कल्पना के सहारे भाव-बिम्बों का निर्माण किया गया है। भागवत की स्तुतियों में भागवतकार का कवि-हृदय गा उठा है। इन स्थलों पर भगवान् की अनन्त शक्ति, त्रिभुवन मोहन-सौन्दर्य एवं भक्तवत्सलता का काव्यमय चित्रण सहृदयों को भावविभोर कर देने में सक्षम है।

'रसज्ञानां स्वादु-स्वादु पदे-पदे' कहकर पद्मपुराणकार ने भागवत की अपूर्व रसमयता का परिचय कराया है। इसने भगवद्-रति को रसकोटि तक पहुँचा दिया है। भागवतकार का इसे 'रसमालयम्' कहना रूपात्मक होते भी सर्वथा उपयुक्त एवं सार्थक है। रसराज श्रृंगार के दोनों

पक्षों की चरम परिणति इसमें उदात्तता के साथ हुई है। वीर, रौद्र, भयानक, करुण आदि रसों का भी असाधारण परिपाक यहाँ हुआ है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' वाली काव्य-परिभाषा भागवत में सर्वत्र चरितार्थ होती है। श्रोता एवं वक्ता को आनन्दविभोर कर देने वाले उच्चकोटि के सरस साहित्यिक वर्णनों, चित्रणों एवं कथनों से यह परिपूर्ण है। इसमें अन्य पुराणों के से नीरस इतिवृत्तात्मक वर्णन नगण्य हैं। इस प्रकार भागवत एक तत्त्वप्रकाशक पुराण मात्र न होकर मधुरतम काव्य भी है।

मध्ययुग को भागवत ने रामायण और महाभारत से भी अधिक प्रभावित किया है। हिन्दी-साहित्य का समस्त मध्यकाल इससे बहुधा अनुप्राणित है। यहाँ तक कि 'प्रेम के पीर' मलिक मुहम्मद जायसी को भी 'प्रेम-पंथ का संधान' श्रीमद्भागवत से ही मिला था। वे स्वयं कहते है— 'सुनेउँ पढ़ेउँ भागवत पुरान। पायउँ प्रेम पंथ संधाना।'[४] उनके मत में भागवत का प्रेम-वर्णन विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। जायसी-अधीत भाषाओं में तो वैसा प्रेम-चित्रण अनुपलब्ध है। इस विषय मे स्वयं उनका कथन ही प्रमाण है—

"अइसन प्रेम कहानी दूसर जग महँ नाहिं।
तुरकी अरबी फारसी सब देखेउँ अवगाहि॥"[५]

हिन्दीतर अन्य भारतीय भाषाओं—तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, बंगला, असमिया, उड़िया, पंजाबी आदि मे भी भागवतानुसारी साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है। कृष्ण एवं रामचरित वर्णन की दृष्टि से भी भागवत अन्य पुराणों की अपेक्षा अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रक्षिप्तांशों का नितान्त अभाव भी इसकी विशिष्टता को स्थापित करता है।

श्री दयानन्द सरस्वती तथा कुछ ईसाई अंग्रेज विद्वान् श्रीमद्भागवत को बोपदेव-प्रणीत (१३वीं शती) मानते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग श्रीमद्भागवत को महापुराण न मानकर देवी-भागवत को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिए दलीलें प्रस्तुत करते हैं; किन्तु उक्त मत भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध हो चुके हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में 'निगमागम' की अपेक्षा पुराणों से अधिक प्रभाव एवं सामग्री ग्रहण की है; जैसा कि उनके प्रतिज्ञावाक्य 'नानापुराणनिगमागम सम्मतं' मे 'नानापुराण' के प्राथमिक प्रयोग से स्पष्ट होता है। उन्होंने अपनी कृतियों मे सर्वत्र पुराण-प्रामाण्य प्रस्तुत किया है तथा पुराणों को वेदवत् मान्यता दी है। आखिर पुराण वेद के उपबृंहण ही तो हैं। प्रश्न उठ सकता है कि भारतीय-वाङ्मय मे पुराणों से ही तुलसी का सर्वाधिक तादात्म्य क्यों स्थापित हुआ? उत्तर में यह कहना युक्तियुक्त जान पड़ता है कि जो परिस्थितियाँ पुराण-प्रणयन मे प्रेरक थीं, लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ तुलसी के समय में भी थीं। पुराणों ने विभिन्न अवैदिक धर्मों से छिन्न-भिन्न होते ब्राह्मण-धर्म की रक्षा कर उसके मूलभूत तत्त्व वर्णाश्रम-व्यवस्था की दृढ़ता से पुनर्स्थापना की। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पुराणकारों ने अवतारवाद एवं समन्वय की धारणा का अधिकाधिक विकास किया। गोस्वामी जी ने भी 'मानस' में पुराणों की लोकप्रिय सम्वाद-शैली, समन्वय-प्रवणता, अवतारवाद तथा अन्य सनातनी मान्यताओं को अपना कर उनकी दृढ़ता से उपस्थापना की।

यद्यपि तुलसी ने नामतः किसी पुराण का उल्लेख अपनी कृतियों मे नहीं किया; फिर भी कुछ अन्तःप्रमाणों एवं उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि आधार रूप में उन्होंने किन ग्रन्थों को

ग्रहण किया है। उपलब्ध रामायणों में तुलसीदास अध्यात्म रामायण से सर्वाधिक प्रभावित हैं। वेदान्त दर्शन के आधार पर रामभक्ति का प्रतिपादन इसका मुख्य उद्देश्य है। अध्यात्म रामायण तथा परवर्ती रामायणों—आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण आदि पर श्रीमद्भागवत का व्यापक प्रभाव है। इस प्रकार तुलसीदास भागवत से दो प्रकार से प्रभाव ग्रहण करते हैं—एक, सीधे भागवत से, तथा दूसरे, भागवत-प्रेरित साहित्य से। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्म रामायण (मानस का मुख्य आधार) के प्रणयन में भागवत मुख्य रूप से प्रेरक ग्रन्थ रहा है; क्योंकि जो स्थान भागवत में श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओं को प्रदान किया गया है, लगभग वही स्थान राम तथा उनकी लीलाओं को अध्यात्म रामायण में प्राप्त हुआ है। दोनों ग्रन्थों में लौकिक कथा को प्रामाणिक रूप से अलौकिक कथा माना गया है।

तुलसी की काव्य-विषयक मान्यताएँ भागवतानुसार है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि कविता उनका साधन है, साध्य नहीं। 'भनिति' की सुन्दरता की अपेक्षा उन्हें प्रतिपाद्य की सुन्दरता एवं मंगलकारिता अधिक मान्य है।[६] उनके मत में केवल वही वाणी सार्थक है, वही प्रसंग कथनीय तथा वही चरित श्रवणीय है जिसमें लोकमंगलकारी हरियश वर्णित हो। सुकवि-प्रणीत सुन्दर रचना 'रामनाम' के बिना सुशोभित नहीं हो सकती।[७] इसके विपरीत सब गुणों से रहित सामान्य कवि की रचना को 'रामजस अंकित' जानकर सहृदय जन आदर सुनते, कहते एवं ग्रहण करते हैं।[८] इस सन्दर्भ में भागवतकार की काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ अवलोकनीय हैं—जिस वाणी से, चाहे वह रस-भाव-अलंकारादि से युक्त ही क्यों न हो—जगत् को पवित्र करने वाले हरियश का गान नहीं होता, वह कौओं के लिए उच्छिष्ट फेंकने के स्थान के समान अपवित्र मानी जाती है।[९] इसके विपरीत जो सुन्दर रचना भी नहीं है तथा दूषित शब्दों से युक्त भी है; परन्तु जिसका प्रत्येक श्लोक भगवान् के सुयशसूचक नामों से युक्त है; वह वाणी लोगों के समग्र पापों को नष्ट कर देती है, सहृदय जन ऐसी ही वाणी का श्रवण, गायन एवं कीर्तन किया करते हैं।[१०] जिस वाणी से भगवान् के परम पवित्र यश का गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नवीन जान पड़ती है।[११] भागवतकार के अनुसार वह निर्मल ज्ञान भी जो मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, यदि भगवान् की भक्ति से रहित है तो उसकी शोभा नहीं होती—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ॥[१२]

इतना ही नहीं, भगवान् को न सन्तुष्ट कर सकने वाला ज्ञान अधूरा है—

येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ।[१३]

तुलसी की भी मान्यता है कि राम-प्रेम के बिना ज्ञान केवल शोभाहीन ही नहीं, अपितु कर्णधाररहित जलयान की भाँति अपूर्ण भी होता है—

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू । करनधार बिनु जिमि जल जानू ॥[१४]

जिसमें राम-प्रेम प्रधान न हो, वह योग कुयोग है और ज्ञान अज्ञान है—

जोगु कुजोग ग्यान अग्यानू । जहँ नहिं रामप्रेम परधानू ॥[१५]

तुलसीदास 'प्राकृतजन गुनगान' में वाणी की व्यर्थता मानते हैं।[१६] भागवतकार भी अपनी इसी धारणा को सशक्त वाणी में व्यक्त करते हुए कहते हैं कि कवि लोग धन के नशे में चूर घमण्डी धनियों की चापलूसी क्यों करते हैं।[१७] ये अभिमानी राजा लोग तो मृत्यु के खिलौने हैं।[१८]

एवं दोनों वाणी को पवित्र करने के लिए हरियश का गान करते हैं

कीर्ति हरेः स्वां सत्कतु" गिरमन्याभिधासतीम् ।[१९]
निज गिरा पावनि करन कारन रामजस तुलसी कह्यो ।[२०]

हरिचरित की अनन्तता को समान स्वर से स्वीकारते हुए भागवतकार एवं तुलसीदास कहते हैं कि कदाचित् पृथ्वी के बालुका-कण और समुद्र के जल-सीकर तो गिने जा सकते हैं; किन्तु भगवान् के गुणों की गणना नहीं हो सकती—

यो वा अनन्तस्य गुणानन्तानन्तानुक्रमिष्यन् सतु बाल बुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित् कालेन नैवाखिल शक्तिधाम्नः ।।[२१]
राम अनंत अनंत गुनानी । जन्म कर्म अनंत नामानी ।
जल सीकर महि रज गनि जाहीं । रघुबर चरित न बरनि सिराहीं ।।[२२]

भागवत एवं रामचरितमानस में आदिमध्यावसान हरिलीला गुम्फित है ।[२३] दोनों ग्रन्थ 'श्रुतिसार' एवं 'श्रुतिसिद्धान्त निचोड़' है ।[२४] मानस का मंगलाचरण (१ श्लोक छठा) भागवत के मंगल श्लोक (१।१।१) की भाँति अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक है । भागवत-सदृश 'मानस' का प्रतिज्ञा-वाक्य भी उसकी निगमसम्मतता को घोषित करता है ।[२५] किसी अन्य पुराण में इस प्रकार की घोषणा नहीं की गई ।

भागवत पुराण की प्रणयन-भूमिका में कलियुग-त्राण एवं कलि-कलुष-शमन की भावना परिलक्षित होती है । प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त किसी भी पुराण की रचना अथवा प्रचार मे इस प्रकार की कोई भूमिका नहीं निर्मित की गई । पौराणिक परिपाटी पर कलि-वर्णन करना और बात है । भागवत पुराण के प्रारंभ में ही कहा गया है कि कलि को आया हुआ जानकर नैमिषारण्य में एकत्र शौनकादि ऋषियों ने अनेक कष्टों एवं विघ्नों से परिवृत्त अल्पायु कलियुगी जीवों के परम कल्याणार्थ सूत से भगवच्चरित (भागवत) सुनाने की प्रार्थना की थी, क्योंकि केवल भगवच्चरित ही कलिमलहारी है (भाग०, १।१।१६) । लोककल्याणकामी महर्षि वेद व्यास ने इस महापुराण को लोगों के परम निःश्रेयस् के लिए अपने आत्मज्ञानिशिरोमणि पुत्र शुकदेव को ग्रहण कराया था । भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम पधार जाने पर कलियुग के आते ही अज्ञानान्धकार छा गया, उसी की निवृत्ति के लिए यह महापुराण-रूपी सूर्य प्रकट हुआ है (भाग० १।३।४४) । भागवतकार का तो दावा है कि राशि-राशि कलिमलों को ध्वंस करने वाले भगवान् का वर्णन अन्य पुराणों में सर्वत्र नहीं हुआ है; किन्तु प्रस्तुत पुराण के प्रत्येक कथा-प्रसंग में पदे-पदे सर्वस्वरूप भगवान् का ही वर्णन हुआ है ।[२६] स्कन्द पुराणोक्त भागवत-माहात्म्य में कहा गया है कि भवसागर में कलियुग-रूपी ग्राह से ग्रस्त प्राणियों के लिए भागवत ही परमाश्रय है ।[२७]

इस दृष्टि से भी रामचरितमानस का एकमात्र प्रणयन-प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्भागवत निश्चित होता है । यद्यपि 'मानस' में 'कलि-आगमन' जैसी कोई कथा विन्यस्त नहीं है और न ही वहाँ उसका कोई प्रासंगिक औचित्य ही था; किन्तु मानस ही क्या, समस्त तुलसी-साहित्य कलित्राण-प्राप्ति तथा कलिकलुष-शमनार्थ राम की प्रार्थना से परिपूर्ण है ।

'मानस' के प्रारम्भ में ही कवि 'कलिमलदहन' के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन ।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन ।।[२८]

तुलसी मानते हैं कि रामकथा 'कलिमलहरनी'[२९] तथा 'कलिकलुष-विभंजनि'[३०] है । रामचरितमानस की फलश्रुति करते हुए वे कहते हैं—

त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन । कलि कुचाल कुलि कलुष नसावन ।[३१]

भागवतकार-सदृश तुलसी के मत में भी हरियश-श्रवण से कलिकलुष नष्ट होते हैं—

प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवत प्रधानः ।।[३२]

बरनउँ रघुबर बिसद जसु सुनि कलिकलुष नसाइ ।[३३]

यह चरित कलिमलहर जथामति दासतुलसी गायऊ ।[३४]

मानस का उपसंहार करते हुए भी तुलसीदास कहते हैं ·

रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं ।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ।।[३५]

पुराणों की भाँति रामचरितमानस की भी रचना रोचक संवाद-शैली में हुई है। यहाँ भी 'मानस' भागवत के निकट है, क्योंकि अन्यान्य पुराणों की संवाद-योजना उतनी संगुफित नहीं है जितनी भागवत और 'मानस' की।

भागवतकार एवं तुलसी की जीवन-दृष्टि—दोनों जीवन के आत्यन्तिक कल्याण के चिन्तक हैं। अतः उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत प्रवृत्तिपरक न होकर निवृत्तिपरक है। दोनों की दृष्टि में 'नरतनु' दुर्लभ है।[३६] वह साधन-धाम एवं मोक्ष का द्वार है।[३७] शरीर का प्रत्येक अंग हरि-अर्चना करने पर ही सार्थक है, अन्यथा निरर्थक एवं निंद्य है—

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ।।
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।।

× × × ×

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।।

× × × ×

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ।।[३८]

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । श्रवन रंध्र अहि भवन समाना ।।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा । लोचन मोर पंख कर लेखा ।।
जिन्ह हरिभगति हृदय नहिं आनी । जीवत सव समान तेइ प्रानी ।।
जो नहिं करइ राम गुन गाना । जीह सो दादुर जीह समाना ।।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । जो हरिचरित न सुनि हरषाती ।।[३९]

भागवतकार की भाँति तुलसीदास भी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान, दान, अनुष्ठान, संयम-नियम, योग-वैराग्य, आदि का परमफल हरि-भक्ति मानते हैं।[४०] उनकी दृष्टि में देह-धारण करने का एकमात्र फल हरिभजन करना है।[४१]

मानव-शरीर पाकर भी भवसागर न तरनेवाला व्यक्ति आत्मघाती है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।[४२]

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

जो न तरइ भव सागर नर समाज अस पाइ
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ।।[४३]

राजदृष्टि---भागवतकार एवं तुलसीदास लोककल्याणकारी राज्य को श्रेष्ठ मानते हैं। वे निरंकुश राजतन्त्र के समर्थक नहीं है। उनकी दृष्टि में उत्तम राजा वही है जो सब प्रकार से प्रजा के हितसाधन में लगा रहे और प्रजा को प्राणवत् प्रिय माने। उन्होंने प्रजापालन को ही राजा का मुख्य कर्तव्य निरूपित किया है। जो राजा प्रजा से कर तो वसूल करता है, लेकिन उसकी रक्षा नहीं करता, वह प्रजा के पाप का भागी और नरकगामी होता है।[४४] दोनों राजा को 'सर्वदेवमय' तथा 'ईश-अंश-भव' मानते हैं।[४५] 'मानस' में वर्णित 'रामराज्य' का प्रेरणा-स्रोत भागवत-वर्णित 'रामराज्य' एवं 'युधिष्ठिर-राज्य' को माना जा सकता है। भागवतकार एवं तुलसी बतलाते हैं—

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ।।[४६]
दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज काहुहिं नहिं व्यापा ।
अल्पमृत्यु नहिं कउनिउ पीरा । सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा ।।[४७]

× × ×

प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रम गुणान्विताः ।।[४९]
बरनाश्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग ।।[४८]

त्रेतायुग का 'रामराज्य' कृतयुग के समान प्रतीत होता था—

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभूत ।।[५०]
त्रेता भइ कृतजुग कइ करनी ।।[५१]

विविध वर्णन एवं परिकल्पनाएँ—भागवत में विविध रोचक, सजीव एवं हृदय-स्पर्शी वर्णन एवं कल्पनाएँ प्रभूत रूप से विद्यमान हैं जो परवर्ती साहित्य को अनेकविध प्रभावित करती रही हैं। 'मानस' के अनेक वर्णन भी भागवत से अत्यधिक प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ, राम के प्राकट्य-कालीन वातावरण-चित्रण का आधार भागवतपुराण है; क्योंकि प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त ऐसा वातावरण-चित्रण न तो वाल्मीकि रामायण में और न अध्यात्म रामायण तथा अन्य पुराणों में मिलता है। भागवत में इस प्रकार का वातावरण-चित्रण कपिल (३।२४।७-८), वामन (८।१८। ५-१०) तथा श्रीकृष्ण (१०।३।२-७) के प्राकट्य के अवसर पर किया गया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः ।। भागवत, १०।३।१
पावनकाल लोक बिश्रामा ।। रामचरितमानस, १।१९१।२

× × ×

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ।।भाग०; १०।३।४
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ ।। रा० च० मा०, १।१९१।३

× × ×

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ।।भाग०, १०।३।६
हरषित सुर संतन मन चाऊ ।। रा० च० मा०, १।१९१।३

इसी प्रकार राम-जन्मोत्सव वर्णन में भी भागवत से प्रभावित है ज्ञातव्य है

कि इस प्रकार के वर्णन का भी वाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्म रामायण में अभाव है। भागवत तथा 'मानस' में जन्मोत्सव के अवसर पर नगर-सज्जा[५२], स्त्रियों का शृंगार करके उत्सव में भाग लेने हेतु शीघ्रतापूर्वक गमन[५३] तथा उस अवसर पर सूत, मागध, वन्दीजन तथा गायकों द्वारा स्तुति एवं मंगलगान करना समान रूप से वर्णित है—

सौमंगल्य गिरो विप्राः सूत मागध वन्दिनः।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः॥ भागवत, १०।५।५
मागध सूत बंदिगन गायक। पावन जस गावहिं रघुनायक॥
रा० च० मानस, १।१९४।६

राक्षसों के अत्याचार-वर्णन में भी मानसकार भागवत का अनुसरण करते हैं। भागवत-वर्णित हिरण्यकशिपु एवं कंस के अत्याचार वर्णन-प्रसंगों की छाया मानस-वर्णित रावण के अत्याचार-प्रसंग में देखी जा सकती है—

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः।
तं तं जनपदं यात संदीपयत वृश्चत॥
पुरग्राम व्रजोद्यान क्षेत्रारामाश्रमाकरान्।
खेट खर्वट घोषांश्च ददहुः पत्तनानि च॥ भागवत, ७।२।१२,१४
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं॥
रा० च० मानस, १।१८३।८

युद्ध में राक्षसों का माया-विस्तार-चित्रण भी 'मानस' में भागवतानुसार चित्रित है। हिरण्याक्ष[५४] तथा मेघनाद[५५] द्वारा प्रदर्शित माया-विस्तार में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव द्रष्टव्य है—

दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः॥
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥

× × ×

वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत्॥
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव॥
बिष्टा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरषइ कबहुँ उपल बहु छाँड़ा॥

राक्षस-वधोपरान्त उनकी पत्नियों का विलाप-वर्णन भी भागवत और 'मानस' में समान रूप से हुआ है।[५६] मानस का वर्षा एवं शरद ऋतु वर्णन भी भागवत के आधार पर वर्णित है।[५७] रामचरितमानस की रंगभूमि परिकल्पना का आधार भी श्रीमद्भागवत है। भागवत में रंगभूमि-सज्जा तथा नागरिकों, राजाओं एवं मंडलेश्वरों को बैठने की यथोचित व्यवस्था का वर्णन है।[५८] भागवत के इस कल्पना-बीज का तुलसी की कवि-प्रतिभा ने सुन्दर पल्लवन किया है।[५९] रंगभूमि में भिन्न-भिन्न धारणा वाले अनेक लोगों द्वारा राम को भिन्न-भिन्न रूपों में देखे जाने का 'मानस-वर्णित' प्रसंग भी भागवत से गृहीत है; क्योंकि वहाँ भी रंगभूमि में प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण लोगों को तत्तद्भावनानुसार दृष्टिगत होते हैं—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंग गत साग्रजः[६०]

मानसकार ने उक्त परिकल्पना को किञ्चित् विकसित और विस्तृत कर दिया है। रंग-भूमिस्थ राम को लोग निज-निज रुचि के अनुरूप देख रहे हैं—

देखहिं रूप महारन धीरा। मनहुँ बीररस धरे शरीरा॥
पुरबासी देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥
नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज-निज रुचि अनुरूप॥
जनु सोहत श्रृंगार धरि मूरति परम अनूप॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
सहित विदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
विदुषन्ह प्रभु विराटमय दीसा। बहुमुख कर पग लोचन सीसा॥
जोगिन्ह परम तत्त्व मय भासा। सांत शुद्ध सम सहज प्रकासा।
हरि भगतन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥[६१]

इस व्यापक साम्य में एक अद्भुत वैषम्य भी है। भागवतकार के अनुसार कृष्ण अविदुषों को विराट रूप में प्रतीत हुए; किन्तु तुलसीदास के अनुसार राम विदुषों को विराट रूप में दर्शित हुए। यहाँ पर मानसकार ने भागवत के वर्णन को संशोधित किया है, यह सहज अनुमेय है।

बालक राम के मुख में चराचर जगत् को कौसल्या का देखना,[६२] भागवत की उन घटनाओं के आधार पर चित्रित है जिनमें यशोदा बालक कृष्ण के मुख में सम्पूर्ण चराचर जगत् देखती हैं।[६३] विराट रूप-चित्रण में भी तुलसीदास भागवत से अधिक प्रभावित हैं। (मानस, ६।१४-१५; भाग०, २।१।२६-३७)। मानस में वेद-स्तुति के आयोजन (मानस ७।१२-१३) का आधार भागवत-वर्णित वेद-स्तुति (भाग०, १०।८७) ही सुनिश्चित होता है।

उक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि 'मानस' के विविध वर्णनों एवं परिकल्पनाओं पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है।

भक्ति एवं दर्शन—मध्यकाल में 'भक्ति और भागवत' एक-दूसरे के पर्याय बन चुके थे, 'पढ़िए गुनिए भगति भागवत' कहकर उनकी सहस्थिति की घोषणा की जाती थी। इस प्रकार की धारणा भागवत के व्यापक प्रभाव को ही सिद्ध करती है। भक्ति को स्वतन्त्र एवं परमपुरुषार्थ घोषित करने वाला यह आद्य प्रामाणिक ग्रन्थ है (भाग० ३।२६।१४)। यद्यपि अध्यात्म रामायण में भी भक्ति का बहुशः प्रतिपादन हुआ है, किन्तु वहाँ भक्ति को साधन तथा मोक्ष को साध्य माना गया है (अध्यात्म०, १।१।१९, १।७।३६-४१, २।१।२८, ३।३।४०)। उसके अनुसार, ज्ञानयोग नामक राजभवन के शिखर पर चढ़ने के लिए भक्ति एक सीढ़ी है (अध्या०, ६।३।२१)। अध्यात्म रामायणकार भक्ति से ज्ञान तथा ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं।[६४] इस प्रकार अध्यात्म रामायण में मोक्ष को ही श्रेष्ठ एवं चरम पुरुषार्थ माना गया है। अतः भक्ति के क्षेत्र में मानस के प्रेरणा-स्रोत के रूप में अध्यात्म रामायण को श्रेय नहीं दिया जा सकता। भागवत भक्ति को मुक्ति से श्रेष्ठ मानता है।[६५] मुक्ति तो उसकी दासी है।[६६] भक्ति-विषयक अपनी मान्यताओं में तुलसी भागवत से प्रभावित ही नहीं, उसका पूर्ण अनुसरण भी करते हैं। वे भी भक्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।[६७] दोनों भक्ति को स्वतन्त्र तथा ज्ञान-विज्ञान को तदधीन स्वीकार करते हैं।[६८] भागवत

तथा मानस के भक्त मोक्ष नहीं चाहते, वे तो अनपायिनी भक्ति की ही बार-बार याचना करते हैं।[६९] देने पर भी वे मोक्ष को स्वीकार नहीं करते।[७०] भागवतकार एवं तुलसीदास के अनुसार, भगवान् भक्त को मुक्ति तो सहज ही देते हैं, किन्तु भक्ति सहज रूप में नहीं देते—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥ (भाग०, ५।६।१८)

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥ (मानस, ७।८४।४)

भागवत एवं मानस में कहा गया है कि भगवान् का भजन करने पर मुक्ति स्वतः भक्तों के पास आती है, किन्तु वे अनायास प्राप्त उस मुक्ति को निरादृत कर भक्ति के लिए ही लालायित रहते हैं—

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविध वृजिनसंसार परितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परम पुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नैवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त सर्वार्थाः ॥[७१]

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥

अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने ॥[७२]

'मानस' में राम के द्वारा लक्ष्मण को उपदेशित भक्तियोग का आधार भागवत है।[७३] भागवतोक्त नवधा भक्ति को भी तुलसी ने 'नवधादिक मम भगति दृढ़ाहीं' कहकर सादर स्वीकार किया है। भागवत के कृष्ण और मानस के राम अपने को केवल भक्ति से ही ग्राह्य बतलाते हैं—भक्त्याहं एकया ग्राह्यः (भाग०, ११।१४।२१); भगवान् भक्तिमता लभ्यो (भाग०, ४।२४।५४)। भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी (मानस, ३।१६।३)। भागवतकार एवं तुलसी, दोनों भक्ति को ही श्रेष्ठ एवं सुगम पंथ मानते हैं।[७४]

निर्गुण की सुगमता तथा सगुण की अज्ञेयता विषयक अवधारणा भागवत (१०।१४।६-७) में व्यक्त हुई है; उसी के अनुरूप तुलसी भी कहते हैं—

निरगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥ (मानस, ७।७३-ख)

भागवत में नाम-माहात्म्य भूरिशः वर्णित है। अन्य पुराणों की अपेक्षा इस क्षेत्र में भी वह उल्लेखनीय है। तुलसी ने नाम-महिमा का अथक गान किया है। भागवतकार एवं तदनुसार तुलसीदास की मान्यता है कि जो गति ध्यान, यज्ञ तथा योग से अन्य युगों में प्राप्त होती थी, वही कलियुग में केवल 'हरिनाम' से ही प्राप्त हो जाती है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरि कीर्तनात् ॥ (भागवत, १२।३।५२)

कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।

जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग ॥ (रा० च० मा०, ७।१०२-ख)

दर्शन के क्षेत्र में भी 'मानस' भागवत के सिद्धान्तों से अधिकांशतः प्रभावित है। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया आदि सम्बन्धी तुलसी के विचार मुख्यतया भागवतानुसारी हैं। विस्तार-भय से उन सब पर यहाँ विचार करना सम्भव नहीं है। यह धारणा समीचीन है कि तुलसीदास के रामायण के सिद्धान्त अधिकांश में भागवत से ही ग्रहण किये गये हैं—अन्तर केवल इतना है कि भागवत में जो स्थान श्रीकृष्ण को दिया गया है, वही स्थान रामायण में रामचन्द्र को दिया गया है।[७५] रामचरितमानस का उपसंहार भी भागवत से निश्चितरूपेण प्रभावित है—

आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।[७६]
कीरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा आभीर कंका यवना खसादय:।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥[७७]

भागवत एवं मानस के मर्मज्ञ विद्वानों की धारणा है कि भागवत तुलसीदास का नित्य स्वाध्याय ग्रन्थ रहा होगा।[७८] उनके मन में भागवत जैसा प्रभावशाली, भक्ति-प्रकाशक तथा लोकोपकारी ग्रन्थ भाषा में रचने की प्रबल इच्छा रही होगी जिसे रामचरितमानस रचकर उन्होंने पूरा किया।[७९] परन्तु कुछ विद्वान् भागवत का 'मानस' पर प्रभाव स्वीकारने में संकोच करते हैं। आशा है, इस समग्र विवेचन से उनकी संकुचित धारणा (भागवत कृष्णचरितप्रधान तथा मानस रामचरितप्रधान ग्रन्थ है, फिर एक का दूसरे पर प्रभाव कैसा ?) समाप्त हो जायेगी। मेरा तो विचार है कि तुलसी की कवि-चेतना को श्रीमद्भागवत पुराण ने अंतरग एवं बहिरंग, दोनों रूपों में अत्यधिक प्रभावित किया है। अतः तुलसी को तत्त्वतः समझने के लिए भागवत का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

संदर्भ-संकेत

१. धनञ्जये हाटक संपरीक्षा विपत्तिकाले गृहिणी परीक्षा।
महारणे शस्त्रविदां परीक्षा, विद्यावतां भागवते परीक्षा॥

२. तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके-श्लोके पदे-पदे। भागवत-महात्म्य, अ० २, श्लोक-६५
(श्रीमद्भागवत, प्रथम खंड, गीता-प्रेस)

३. वेणुगीत, गोपिकागीत, युगलगीत, भ्रमरगीत, महिषीगीत आदि। ४-५. धर्मयुग (३० मार्च, १९८०), पृ० ३५—डॉ० शिवसहाय पाठक का लेख, "कान्हावत"।

६. भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। रामकथा जगमंगल करनी॥ रा० च० मा०,१।१०।१०

७. भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥ वही, १।१०।२
रामनाम बिनु गिरा न सोहा॥ वही, ५।२३।३

८. सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताहीं। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥ वही, १।१०।५-६

९. न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा: न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षया:॥—भागवत, १।५।१०
मृषा गिरस्तान्ह्यसतीरसकथा न कथ्यते यद् भगवान् अधोक्षज:॥ भागवत, १२।१२।४८

१०. तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनतस्य यशोऽङ्कितानि यत् शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधव:॥ भागवत, १।५।११-

११. भागवत, १२।१२।४९। १२. वही, १।५।१२। १३. वही, १।५।८। १४. रामचरित मानस, २।२७७।५। १५. वही, २।२९१।२।

१६. कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिरधुनि गिरा लगत पछिताना॥—वही, १।११।७।

१७. कस्मात् भजन्ति कवय: धनदुर्मदान्धान्। भागवत, २।२।५।

१८. मृत्यो: क्रीडनका: नृपा:। भागवत, १२।३।१।

१९. भागवत, ३।६।३६। २०. रामचरितमानस, १।३६१।८। २१ भागवत ११।४।२· भागवत, १०।१४ ७, १० ५१ ३८ ८ २३ २९ ८ १ ६ ३२ ७ ५२।३-४।

२३ आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यान संयुतम् ।
हरिलीला कथाव्रातामृत नन्दित सत्सुरम् ।। भागवत १२ १३।११।
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ।।
—रा०च०मा०, ७।६१।६ ।

२४. भागवत, १२।१३।१५, १।२।३, १।३।४२; रामचरितमानस, १।१०।१, १।१०६ ।

२५. (क) निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रव संयुतम् ।। भागवत, १।१।३।
(ख) नानापुराण निगमागम सम्मतं यद्…………………।। रा० च० मा०, १।
मंगलाचरण श्लोक , ७ ।

२६. कलिमलसंहृतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम् ।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः परिपठितोऽनुपदं कथा प्रसङ्गैः ।।—भागवत, १२।१२।६५।

२७. कलिग्राहग्रहीतानां स एव परमाश्रयः ।।—स्कन्दपुराणोक्त भागवत-माहात्म्य, अ० ४, श्लोक, ६ । (भागवत, द्वि० खंड, गीता प्रेस)

२८. रामचरितमानस, मंगलाचरण, सोरठा, २; यहाँ ध्यातव्य है कि गोस्वामीजी ने मूल श्लोक "मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् । यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ।।" को आधार रूप में ग्रहण करते हुए भी 'कलिमलदहन' की प्रार्थना स्वतः की है जिसकी उद्भावना मूल में नहीं है ।

२९. रा० च० मानस, १।२।६, १।१० छन्द । ३०. वही, १।३१।५ । ३१. वही, १।३५।१०। ३२. भागवत, १०।१।१४ । ३३. रा० च० मानस, १।२६-ग । ३४. वही, ३।६०। छन्द; और भी वही, १।४३।३ । ३५. रामचरितमानस, ७।१२०। छन्द २; और भी, मानस, १।१२६।१ ।

३६. दुर्लभो मानुषो देहो देहिनाम्………………। भागवत, ११।२।२९
नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्……………………। वही, ११२०।१७
बड़े भाग मानुष तन पावा ।। रामचरितमानस, ७।४३।७
नर तन सम नहिं कवनिउ देही ।। वही, ७।१२१।६

३७. यं प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् । भागवत, ११।७।७४
साधनधाम मोच्छ कर द्वारा । मानस, ७।४३।८

३८. भाग व०—२।३।२०-२४ । ३९. रा० च० मानस, १।११३।२-७ । ४०. भागवत, १।५।२२, रा० च० मानस, ७।१२६।४-७ । ४१. भागवत, ४।३१।६, ११।५।३७; रा० च० मा०; ४।२३।६ । ४२. भागवत, ११।२०।१७ । ४३. रा० च० मा०, ७।४४।७-८, तथा ७।४४ । ४४. भागवत, ४।२१।२४, ४।२०।१४; रा० च० मानस, ३।७१।६, २।१७२।४ । ४५. भागवत, ४।१४।२७; रा० च० मानस, १।२८।८ । ४६. भागवत, ६।१०।५४, और भी वही, १।१०।६ । ४७. रामचरितमानस, ७।२१।१;५ । ४८. भागवत, ६।१०।५१ । ४९. रा० च० मानस, ७।२० । ५०. भागवत, ६।१०।५२ । ५१. रा० च० मानस, ७।२३।६ । ५२. भागवत, १०।५।६; रा० च० मानस, १।१६४।१ । ५३. भागवत, १०।५।११; रा० च० मानस, १।१६४।३ । ५४. भागवत, ३।१६।१७-२१ । ५५. रा० च० मानस, ६।५२।२-४ । ५६. भागवत, ६।१०।२४-२८; रा० च० मानस, ६।१०४।१-१३। ५७. भागवत, १०।२०।३-२४; रा० च० मानस, ४।१४। १७ दोहा । ५८ भागवत, १०।४२।३३-३५ । ५९. रा० च० मानस, १।२२४।१-८। ६०. भागवत,

१०।४३।१७। ६१. रा० च० मानस, १।२४१।५-८, ११२४२।१-५ । ६२. वही, ११२०१-२०२ । ६३. भागवत, १०।७।३५-३६, १०।८।७-४१। ६४. अध्यात्मरामायण, ३।३।४०-४१ । ६५. अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । भागवत, ३।२५।३३। ६६. भागवत-माहात्म्य, २।७ (श्रीमद्भागवत, द्वि० खं०, गीता प्रेस) । ६७. सरग परम परमारथ एहू । मन क्रम बचन राम पग नेहू ।। रा० च० मानस, २।९३।६। ६८. रा० च० मानस, ३।१६।१; भागवत, १०।१४।४, ११।१४। २०-२१ । ६९. भागवत ३।२९।१३, १०।१६।३७, ११।१४।१४, १२।१०।६; मानस, २।२०४। ६।११९।७।

७०. सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।। भागवत, ३।२९।१३

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ।।—रा० च० मा०, ६।११२।७।

७१. भागवत, ५।६।१७, और भी, वही, ५।१४।४४ । ७२. रा० च० मानस, ७।११९। ८, ९ । ७३. रा० च० मानस, ३।१६।१-१२, ३।१७; भागवत, ११।३।१८-३३ ।

७४ सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतो भयः । भाग० ६।१।१७। और भी, भाग, ३।२५।२९ ।

भगति कि साधन कहउँ बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी । (मानस, ३।१६।३)

सुगम सुखद मारग यह भाई । भगति मोर पुरान श्रुति गाई ।।—वही, ७।४५।१ ।

७५. हिन्दी-साहित्य की भूमिका (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृ० ६० । ७६. रा० च० मानस, ७।१२०। छन्द-१ । ७७. भागवत, २।४।१८ । ७८. मानस एवं मानसकार, पृ० १० (डॉ० विश्वनाथ शुक्ल), अभिनव भारती प्रकाशन, हिन्दी-विभाग, अलीगढ़ मु० वि०, अलीगढ़— प्र० सं० १९७६ ई० । ७९. मानस-अभिनन्दन ग्रन्थ, सतना—डॉ० जगदीश गुप्त, प्रकाशक मानस चतुश्शती समिति, सतना, १९७४ ई० ।

१५९, सोहबतिया बाग,
प्रयाग ।

पुस्तक-समीक्षा

१. उज्ज्वल नीलरस : लेखक—केशव कालाधर : प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद
पृष्ठ-संख्या ७२ : मूल्य : ६/- रुपये

तथाकथित आधुनिकता के सन्निपात ज्वर से पीड़ित, समकालीन हिन्दी कविता के अधिकांश को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि जिस यातना, विवशता, पीड़ा, तनाव, असमंजस और ऊहापोह का जीवन जीने को हम बाध्य हैं, वैसा पहले कभी नहीं था तथा पुरासंदर्भों और पुराकथाओं का नाम लेना भर आधुनिक जमात से बाहर हो जाना है। इस तरह का षड्यंत्र कुछ निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा किया गया, ताकि यहाँ के लोग अपनी संस्कृति और अपने चिंतन की सुदीर्घ, सुव्यवस्थित और सुसम्पन्न परम्परा से साक्षात्कार न कर सकें। 'उज्ज्वल नीलरस' इस षड्यंत्र को बेनकाब करता है और समकालीन मनुष्य की पीड़ा को पुरासंदर्भों के पुरापात्रों की पीड़ा से जोड़ता है और दोनों की पीड़ाओं को जोड़कर एक ऐसा सेतु निर्मित करता है कि पाठक दोनों की पीड़ाओं का साक्षात्कार कर सके और साथ ही वह उन पुरापात्रों के संदर्भ में आज की पीड़ा को विश्लेषित कर सके और उसकी रोशनी में उसका सही निदान भी खोज सके।

केशव कालाधर अपनी जातीय और सांस्कृतिक समृद्धि को भी अच्छी तरह पहचानते हैं और आज को भी। वे आधुनिकता के सभी आयामों से लैस हैं—मसलन रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष, यांत्रिक सभ्यता से उद्भूत अस्तित्व, आज का अजनबीपन, वैज्ञानिक बोध, बौद्धिक चिंतन, तार्किक विश्लेषण, सब के सब उनकी काव्य-यात्रा के साथी हैं। वह यथार्थ को केवल फोटोग्राफी द्वारा पेश नहीं करते, उसे अपने पूर्व के संदर्भों और पात्रों और स्थितियों से जोड़कर और अधिक प्रामाणिक, सशक्त तथा दीर्घकालीन बनाने का प्रयास कर रहे हैं। '[illegible] का आस्वाद' आज की पीड़ा और अपमानजनक स्थितियों, विसंगतियों और विडम्बनाओं को द्वापर-युगीन संदर्भों के अक्स में और तीखा बनाकर प्रस्तुत करती है, साथ ही आज के मानव के दर्पशील स्वाभिमान को भी एक तेज प्रदान करती है—

"ठाकुर !/ तुम्हारी सम्पन्नता से / जब-जब मेरा साक्षात्कार हुआ है / केवल मेरी अकिंचनता ही मुखर हुई है।/ × × × × × × । नहीं आऊँगा —/ मैं अब नहीं आऊँगा / इस मंदिर के दरवाजे/जो मुझ सखा से सुदामा की सीढ़ी पर/ले जाकर खड़ा करता है। (पृ० ६०)

'मुझ में घिरे रहकर भी,' 'प्रतिरस', 'उज्ज्वल नीलरस', 'स्वीकृति' आदि कविताएं इसी तरह की सृजनात्मक उपलब्धि की विशिष्ट कड़ियाँ हैं।

इस संकलन की कविताओं में एक सहज तनाव है, ठंडेपन की सीमा तक। ठंडा इसलिए कि यह तनाव बौखलाता नहीं है, गुस्सा नहीं दिलाता, चिन्ता देता है। कुछ सोचने के लिए आहिस्ता से मजबूर करता है। पाठक को धीरे-धीरे भिगोता है और फिर रिसने के लिए छोड़ जाता है। इस प्रकार का तनाव वहाँ और भी सघन हो उठता है जहाँ कवि वर्तमान तनाव को—नितांत निजी अनुभवजन्य तनाव को भी—पुराकथाओं, पुरापात्रों, इतिहास-संदर्भों या व्यक्तित्वों से जोड़कर प्रस्तुत करता है। 'अनाम गोपिका की कथा', 'लीला होड़ और अर्थहीन संदर्भ' आदि कविताएँ इसकी गवाह हैं।

इस सङ्कलन की कविताओं में अखबारी ताजगी नहीं मिलेगी और मैं इसे अच्छी बात मानता हूँ। अखबारी ताजगी वाली रचनाएँ सनसनी पैदा कर सकती हैं, लेकिन सोच नहीं; खबर बन सकती हैं, लेकिन दस्तावेज नहीं। कवि पहले का व्यंग्यकार है। व्यंग्य शब्द-साधना पर ही निर्भर है। इसलिए केशव कालीधर बनाम केशवचन्द्र वर्मा शब्दों की लगाम साधने में माहिर हैं।

आलोच्य संकलन की कई कविताओं में कवि बेहद प्रश्नाकुल दिखाई देता है। कई कविताओं का तो अन्त ही प्रश्न से हुआ है। लेकिन खूबी यही है कि प्रश्न महज प्रश्न ही नहीं है, उत्तर भी हैं। कवि पहले विश्लेषण करता है और अन्त में धीरे से एक प्रश्न उछाल कर समूची स्थितियों और मनःस्थितियों को दीप्त कर देता है। 'आग किसने जगाई' तथा 'दुःख' कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

केशव कालीधर अपने समकालीन अनुभव-जगत् को अपनी स्मृति के सहारे उसे और समृद्ध करके एक आधार प्रदान करते हैं। पुराप्रतीकों, पुराकथाओं, पुरापात्रों और इतिहास-प्रसंगों की उर्वर भूमि में उसे रोपते हैं जहाँ से जीवन-रस कर्षित कर वह पल्लवित-पुष्पित होकर आगामी अनुभव-जगत् और संवेदन-जगत् को छाँह और गंध दे सकेगा तथा अपने को और भी दीर्घकालीन बना सकेगा। क्षणजीवी होने से बच सकेगा।

कवि ने जहाँ कहीं अपनी इस सांस्कृतिक और जातीय समृद्धि का उपयोग नहीं किया है, वहाँ वह कमजोर साबित हुआ है, साथ ही अस्पष्ट भी। कथ्य उभर कर सामने नहीं आ पाया है। कविता अबूझ-सी हो जाती है या यूँ कहें कि केशव 'केशव' बन जाते हैं। 'जरूरत क्या है?', 'द्युलोक का रास्ता', 'सरे घरों पर बिगुल', 'विकृति', 'प्रतीक्षा : एक और', 'मंत्रसिद्ध पाषाण' आदि कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

कुछ शब्द मैं प्रकाशक महोदय की सेवा में भी अर्पित करना चाहूँगा कि प्रकाशक जी ने कविताओं के साथ न्याय नहीं किया है। संकलन का 'गेट-अप' अच्छा नहीं बनाया जा सका। कागज भी एक तरह का मयस्सर नहीं हो पाया है। कुल मिलाकर पुस्तक को सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयास नहीं किया गया है।

डॉ० अशोक त्रिपाठी
२२, लाउदर रोड,
इलाहाबाद

२. तुलसी और मानवता : लेखक—सूर्यनारायण भट्ट : प्रकाशक—ऊर्जा प्रकाशन,
६६ नया बैरहना, इलाहाबाद
पृष्ठ-संख्या २१६ : मूल्य ४०/- रुपये

भास तभी सत्य-स्वरूप हो जाता है जब ज्ञानियों-संतों का इष्ट बनकर समग्र जन-जीवन में प्रत्यक्षतया मुखर हो उठे। महात्मा तुलसीदास ने अखिल में व्याप्त ईश्वर और जीव का चिंतन 'मानस' में अपने ढंग से किया है। प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा तुलसी के चिंतन, मनन, अनुभूति एव दर्शन को बहुत साफ-सुथरे धरातल पर अंकित किया गया है। 'तुलसी और मानवता' नामक पुस्तक बारह अध्यायों में विभाजित है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) जन-जीवन, (२) मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, (३) संत, (४) मानस में मानवीयता, (५) मानव-चरित्र, (६) जीव-ईश्वर, (७) मानस में समन्वय और संघर्ष की क्रान्तिकारी भूमिका, (८) मानस और तुलसी, (९) राम-माया-ब्रह्म, (१०) ज्ञान और भक्ति, (११) सती-शिव-पार्वती और (१२) रामकथा एवं सत्संग। उक्त वर्गीकरण से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि विद्वान् लेखक ने तुलसी की समग्र रचनाधर्मिता को निष्कर्षतः प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। यद्यपि प्रमुख आधार 'रामचरितमानस' को ही बनाया गया है, फिर भी तुलसी की मूल काव्य-दृष्टि को ध्यान में रखते हुए चिंतन किया गया है।

तुलसी समता के महान् समर्थक हैं—

नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

तुलसी की इस समत्व-भावना में ही सर्वकल्याण का गूढ़ रहस्य निहित है—

कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

तुलसी के समय में धर्म मानवीयता का सबसे बड़ा संबल था, तथापि कुछ लोग स्वार्थ अथवा लाभ के लिए भी उसका प्रयोग करते थे। तुलसी ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

तुलसी की साधना समन्वयात्मक है जो कि भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस देश में कितनी संस्कृतियों का आगमन और आविर्भाव हुआ, परन्तु कालान्तर में वे घुल-मिल कर एक हो गईं; कितनी ही दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक और सौन्दर्य-मूलक विचारधाराओं का विकास हुआ, किन्तु उनकी परिणति संगम-रूप में हुई। तुलसी ने द्वैत-अद्वैत, निर्गुण-सगुण, विद्या-अविद्या, माया और प्रकृति, जगत् की सत्यता-असत्यता, जीव का भेद-अभेद, भाग्य और पुरुषार्थ, कर्म-ज्ञान-भक्ति, शैव-शाक्त-वैष्णव, वर्णाश्रम और मानवता, ब्राह्मण-शूद्र, भक्त और समाज, साधुमत और लोकमत, वेद-शास्त्र और लोक-व्यवहार, राजा-प्रजा, काम और मोक्ष, भावपक्ष और कलापक्ष, स्वानुभूति और बाह्यार्थ, पौरुष और प्रारब्ध, आदि सभी का अत्यन्त विस्तृत, गंभीर और बोधगम्य विवेचन करके समन्वय का पथ प्रदर्शित किया है। तुलसी की महत्ता और लोकप्रियता का बहुत कुछ श्रेय उनकी समन्वय-साधना को है और इस समन्वय-साधना के मूल में है—मानवता।

तुलसी का 'रामचरितमानस' तुलसी की रचनाओं में तो श्रेष्ठ है ही, भारतीय साहित्य मे भी अद्वितीय है। वस्तुतः यह विश्व-साहित्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति का प्रतिष्ठापक है और भारतीय जीवन और समाज के लिए आदर्श का प्रतिपादन करता है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के द्वारा जो महत् प्रयत्न किया है, वह यथार्थ

से सांस्कृतिक विघटन तथा जीवन मूल्यों के क्षरित होने की प्रक्रिया को रोकने के लिए ही है। इस आस्तिकता और आस्था को तुलसी ने अपने 'मानस' में बड़ी तरह से प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में संत तुलसी के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन, आस्था-विश्वास और सामाजिक मूल्यों के साथ ही सहज रूप में उनके द्वारा स्थापित मान्यता के यथार्थ और जीवन्त रूप को उजागर करने में लेखक [illegible] समर्थ और सफल है। यह [illegible] से संबंधित तथ्य कृतियों से इस रूप में लिए [illegible] हैं। [illegible] के [illegible] के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से लेखक ने कहा है कि मानस मार्क्सवाद का विरोधी नहीं, अपितु पोषक है—

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

पूरे समाज को सुखी देखने वाला मनुष्य क्या इससे उत्कृष्ट आदर्श समाज की कल्पना कर सकता है? सार्वजनिक समानता एवं सहज [illegible] किया गया है, इससे तुलसी के [illegible] है। तुलसी के अनन्य पाठक प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन, [illegible] जैसे उज्ज्वल सामाजिक आदर्शों को बड़े खुले रूप में सहज-सरल भाषा में पा सकेंगे। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य का मथकर निकाला गया नवनीत है जो बड़े गर्व से तुलसी के समग्र चिंतन-मनन-अनुभूति का निचोड़ कहा जा सकता है।

[illegible] पाण्डेय
[illegible] बी [illegible], इलाहाबाद

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स के अन्तर्गत [illegible]

१. प्रकाशन का नाम	हिन्दुस्तानी
२. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३. मुद्रक का नाम	नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	९८६, अलोपीबाग, इलाहाबाद
६. प्रकाशक	डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७. राष्ट्रीयता	भारतीय
८. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९. प्रधान संपादक	डॉ० रामकुमार वर्मा
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मैं जगदीश गुप्त, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित तथ्य मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक हैं।

जगदीश गुप्त
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

मुद्रक—नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद।

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

अप्रैल-जून

सन् १९८१ ई०

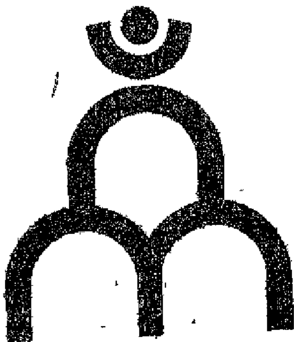
प्रधान संपादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

गुप्त

सहायक संपादक

डॉ० रामजी पाण्डेय



[वार्षिक : २० रुपये

अनुक्रम

काल-दर्शन : भाषायी व्यवस्था के विशेष संदर्भ में

श्री रामकमल पाण्डेय

"स्पेस इज मेॅअरली द अरेंजमेंण्ट आॅव् थिंग्स दैट को-इग्जिस्ट एण्ड टाइम इज द अरेंजमेंण्ट आॅव् थिंग्स दैट सक्सीड वन एन-अदर।"
—जेम्स जीन्स

अवकाश स्थिर, असीम, अमाप्य एवं अविभाज्य सत्ता है। प्रसार इसका कायिक गुण है, गति आत्मिक। दोनों अभेद्य एवं अव्याहृत हैं। इनमें कोई व्यवस्थापूर्ण एकलयता है जो प्रसार को वस्तु एवं गति को व्यापार के रूप में व्यक्त किये हुए है।

काल की संकल्पना का प्रारंभ वस्तुतः इन्हीं दोनों तत्त्वों के गुणात्मक संबंध से व्युत्पन्न अभिलक्षणों के ऊपर निर्भर करता है।

तुलनात्मक दृष्टि से वस्तुओं में आकारगत अंतर तो है ही, उनके टिकाऊपन एवं उनसे जुड़े व्यापारों की संख्या में भी पर्याप्त अंतर है। फूल की अपेक्षा पौधा अधिक टिकता है। पौधे से सम्बद्ध व्यापारों की संख्या फूल से सम्बद्ध व्यापारों की संख्या से अधिक होती है। एक ही प्रकार के व्यापार दो वस्तुओं में समान रूप से घटित होते दिखाई पड़ सकते हैं, पर उनकी लम्बाई में, उनके घटित होने की प्रक्रिया में तेजी एवं धीमेपन का अंतर है। काल की संकल्पना मानव द्वारा अनुभव किये गये उन्हीं अभिलक्षणों पर आधारित है।

वस्तु कोई स्थिर सत्ता नहीं है, बल्कि वह व्यापारों का समुच्चय है, अर्थात् घटना है। कई व्यापार घटित होकर एक घटना का रूप ग्रहण करते हैं और घटना एक सत्ता के रूप में वस्तु (मूर्त एवं अमूर्त) कहलाती है। इस प्रकार एक 'वस्तु' वस्तु होने के साथ-साथ अपने अस्तित्व के लिए स्वतः एक घटना भी है। काल-दर्शन प्रसार पर गति द्वारा अंकित घटनाओं को विश्लिष्ट रूप से, अनुक्रम के साथ अनुभव करने का दर्शन है। काल गत्यात्मक संकल्पना है—घटनाएँ इस गत्यात्मकता पर आई हुई स्थितियाँ हैं। घटनाएँ चूँकि व्यापारों का समुच्चय होती हैं, अतः गति के ऊपर ये बिन्दु-रूप में स्थित न होकर प्रक्रियात्मक वृत्तों के रूप में स्थित होती हैं। काल की संकल्पना खण्डात्मक है और खण्डों की संकल्पना अनुक्रमों के मध्यान्तरों पर आश्रित है। अनुक्रम-निर्धारण घटनाओं के प्रकार एवं अभिलक्षणों में आनेवाले बदलाव पर निर्भर करता है, अन्यथा समानान्तर रूप से कई घटनाएँ चलती रहती हैं और इस सम्बन्ध में भ्रम पैदा हो सकता है।

एक घटना दूसरी घटना से रूप, आकार एवं संघटनात्मक तत्त्वों एवं प्रक्रियाओं के आधार पर ही भिन्न नहीं होती, बल्कि कुछ ऐसे अभिलक्षण होते हैं जो प्राकृतिक परिवर्तन, भावात्मक एवं वैचारिक परिवर्तन तथा अन्य मूल्यों में आनेवाले परिवर्तन से सम्बन्धित होते हैं, वे भी घटना-भेद का कारण बनते हैं। प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक—प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक काल की संकल्पनाएँ विकास के भिन्न-भिन्न चरणों से सम्बद्ध संकल्पनाएँ हैं जिनके पीछे धार्मिक

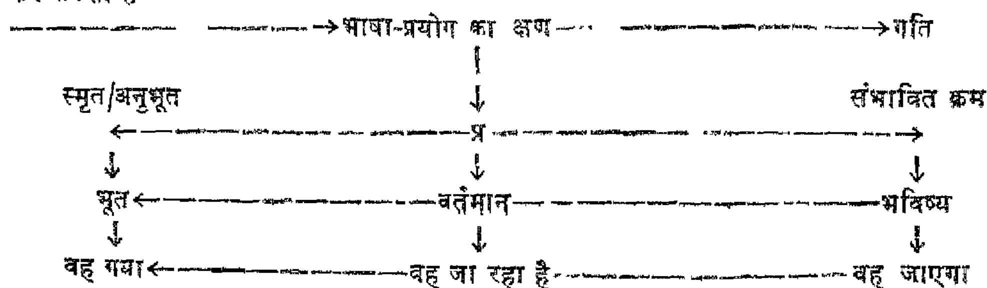
सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तन एवं तद्जन्य अभिलक्षणों के प्रति हमारी बौद्धिक चेतना विद्यमान है।

घटनाओं के मध्य आनेवाले अन्तराल सूक्ष्म एवं यौगिक होते हैं, अतः कालखण्डों की संकल्पना भी सूक्ष्म एवं यौगिक संकलना है। अकबर का काल जहाँगीर के काल से अलग होकर भी पूर्णतया अलग नहीं कहा जा सकता, कारण (i) अकबर के आगे जहाँगीर पैदा हो चुका था, (ii) अकबर की मृत्यु और जहाँगीर के गद्दी पर बैठने की घटना के मध्य एक शून्य काल भी था जब सिंहासन खाली था; (iii) यह विभाजन मात्र शासकों के परिवर्तन का सूचक है।

काल की संकल्पना के मूल में मानव की बौद्धिक शक्ति विद्यमान है जो अत्यन्त समर्थ, व्युत्पादक एवं कल्पनाशील है। फिर भी, मानव-मस्तिष्क अवकाश के विस्तार, प्रसार की संश्लिष्टता एवं गति के छोरों को स्पर्श कर सकने में असमर्थ रहा है। उसकी स्मरण-शक्ति अनन्त अथवा प्रसार में व्याप्त समस्त घटनाओं को—उनके पूरे विस्तार एवं सम्बद्ध प्रक्रियाओं के साथ लगातार धारण किये नहीं रख सकती। उसकी पूर्वानुमान-शक्ति अनागत में आनेवाली घटनाओं का अधिक दूर तक आकलन नहीं कर सकती। अतः, जैसे-जैसे घटनाएँ अतीतस्थ होती जाती हैं, वे उसकी स्मृति में संकुचित होने लगती हैं और एक अवस्था-विशेष के बाद विस्मृत हो उठती हैं। इसी प्रकार अनागत घटनाओं के प्रति भी मनुष्य कोई स्पष्ट अनुमान नहीं प्रस्तुत कर सकता। सुदूर भविष्य में छिपी घटनाओं का अनुमान लगा पाना तो और भी मुश्किल है। अशेष गति पर हमारे चिन्त्य काल की सीमा हमारे बौद्धिक अस्तित्व की स्मृति एवं अनुमान-शक्ति एवं सामर्थ्य की यही सीमा है।

मानव-संकल्पित काल-वृत्त

गत्यात्मक अनुक्रम का बोध जिस क्षण किया जाता है अथवा होता है, उस समानान्तर बिन्दु को हम प्रतीति-बिन्दु कह सकते हैं। बिना प्रतीति-बिन्दु की संकल्पना के काल-सम्बन्धी चिन्तन वायवी होकर रह जायेगा। यह प्रतीति-बिन्दु (=प्र) भाषा-प्रयोग के क्षण से सम्बन्धित है। भाषा-प्रयोक्ता के लिए वह क्षण तात्कालिक वर्तमान (करेंण्ट) होता है। यहीं से वह भूत-विगत एवं वर्तमान-आगत के अनुक्रमों को व्यक्त कर सकता है; भविष्य के बारे में अपनी प्रत्याशा प्रकाशित कर सकता है—



प्रतीति-बिन्दु (=प्र) से वक्ता अपनी स्मृति या अनुभव में एकत्र उन विशिष्ट बिन्दुओं (वि० प्र०) को भाषा का निर्देशांक बना सकता है जहाँ वह कई गतियों या घटनाओं को एक इकाई के रूप में अनुभव करता है अथवा अनुभव करने की संभावना का बोध करता है।

यह प्रतीति-बिन्दु (प्र) स्थिर नहीं होता। वक्ता द्वारा संकेतित हो रही घटना भी समय-बिन्दु-सीमा में बँधी न होकर एक समय-विस्तृति-सीमा में बँधी होती है जो परिसीय दृष्टि से बड़ी भी हो सकती है और हमारे सीमाबोध से छोटी भी हो सकती है

विस्मृति की दृष्टि से अगर तीनों कालों की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर विचार किया जाय तो भूत के बारे में हमारी अवधारणाएँ व्यापक एवं स्पष्ट होती हैं, बनिस्बत वर्तमान एवं भविष्य के। वर्तमान नित परिवर्तमान एवं क्षणांश से भी सूक्ष्म है, भविष्य अनिश्चयपूर्ण एवं सन्दिग्ध।

भाषा की रूप-रचना पर काल का प्रभाव

मानव-बुद्धि ने प्रत्येक वस्तु को मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के भेदक अभिलक्षणों वाली संश्लिष्ट घटना के रूप में अनुभव किया। घटनाएँ पूर्वापर एवं कार्य-कारण रूप में सम्बन्धित एवं व्यापारों का समुच्चय होती हैं जो एक इकाई से प्रतिबद्ध होकर चलती हैं।

मानव-भाषा का स्वरूप इन अनुभवों के आलोक में ही निर्मित हुआ : वस्तु के रूप में उसने विशिष्ट अभिलक्षणों वाली घटनाओं को विशिष्ट अभिलक्षणों वाली स्थिर सत्ताएँ माना और उसे जो नाम दिये, वे संज्ञा-वर्ग की संकल्पना के विकास में सहायक हुए। इसमें पदार्थ, प्राणी एवं स्थान के अलावा, अमूर्त एवं भावात्मक 'पदार्थों' की भी संकल्पना की गई (दया, प्रेम, घृणा)। ऐसे भी पदार्थ संकल्पित हुए जो प्रक्रियात्मक रूप में भी देखे जा सकते हैं (भेंट→भेंटा, चोरी→चुरा, स्वीकार→स्वीकारा, फूल→फूला, खेल→खेला)।

चूँकि प्रत्येक सत्ता को एक घटना माना गया, इसलिए सत्तार्थक क्रिया का विकास हुआ। सत्तार्थक क्रिया घटना को उसकी पूर्णता के साथ व्यक्त करती है। सम्बद्ध प्रक्रियाएं इसमें अन्तर्भुक्त रहती हैं, अनुपस्थित नहीं। सत्तार्थक क्रियाएँ अपने भिन्न-भिन्न सहरूपों के साथ काल के तीनों वृत्तों को स्पष्ट रूप से प्रकट करती हैं (था—है—होगा)।

विश्लिष्ट रूप से घटनाएँ प्रक्रियात्मक होती हैं। किसी भी घटना के साथ कम-से-कम पाँच पूर्वापर रूप से सम्बन्धित विशिष्ट अभिलक्षणों वाली प्रक्रियाएँ होती हैं—प्रारम्भ, बढ़ना, पूर्ण स्थिति प्राप्त करना, घटना और समाप्त होना। इनके अलावा बड़ी और अधिक टिकाऊ घटनाओं के साथ अनेकानेक अन्य प्रक्रियाएँ भी जुटी हुई होती हैं।

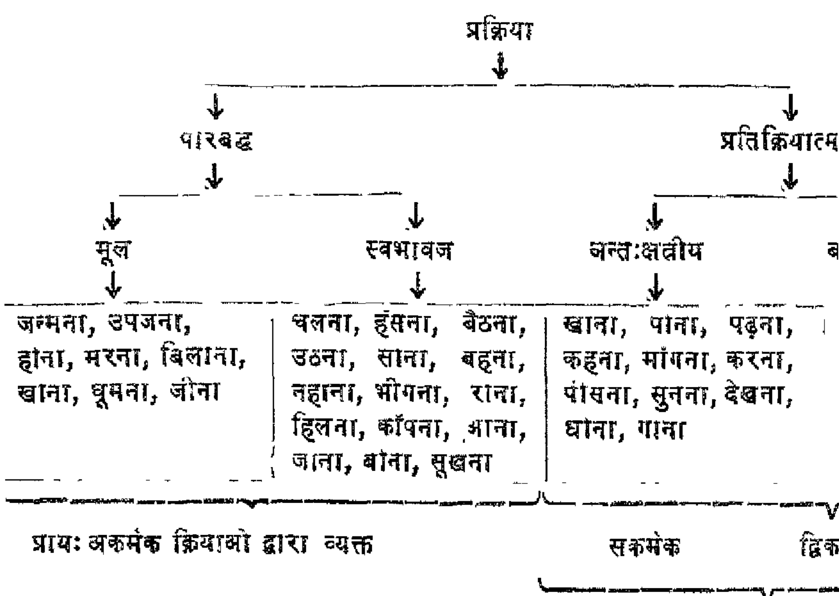
एक प्रक्रिया भिन्न-भिन्न घटनाओं के संदर्भ में एक ही प्रकार से नहीं घटित होती, फिर भी हम उसे एक ही प्रकार का मानकर चलते हैं। खटमल का चलना, पशु का चलना, सिक्के का चलना, गाड़ी का चलना अलग-अलग प्रकार का चलना है, किन्तु हम "चलना" को सामान्यीकृत कर लेते हैं और आन्तरिक रूप से उसका अर्थ अलग-अलग कर लेते हैं। इस सामान्यीकरण की प्रवृत्ति के कारण हम प्रक्रियाओं को सीमित कर लेते हैं। प्रक्रियाओं को कारण की दृष्टि से दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१. परिबद्ध प्रक्रियाएँ—ऐसी प्रक्रियाएँ जो प्राकृतिक रूप से घटित होती रहती हैं। ये सृष्टि के समस्त तत्त्वों के साथ थोड़े-बहुत अभिलक्षणगत अंतर के साथ लागू होती हैं। इन प्रक्रियाओं को दो उपवर्गों में रखा जा सकता है—(क) मूल परिबद्ध प्रक्रियाएँ—ये समस्त तत्त्वों के साथ जुटी हुई हैं। (ख) स्वभावज परिबद्ध प्रक्रियाएँ—कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके स्वभावगत अभिलक्षण विशिष्ट प्रकार के होते हैं। जैसे—कुत्ता भौंकता है, हाथी चिंघाड़ता है, शेर दहाड़ता है, हवा बहती है।

२. प्रतिक्रियात्मक प्रक्रियाएँ—ये प्रक्रियाएँ द्वितीय श्रेणी की प्रक्रियाएँ हैं। एक तत्त्व से सम्बद्ध प्रक्रिया जब दूसरे तत्त्वों को प्रभावित करती है तो ऐसी प्रक्रिया को प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया कहा जा सकता है। इनको भी दो उपवर्गों में रखा जा सकता है—(क) अन्तःक्षेत्रीय प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया—एक प्रक्रिया दूसरे तत्त्व को भी प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य कर देती है। खाने की

प्रतिक्रिया रोटी को उपभोग्या बनने के लिए बाध्य कर देती है (ख) बाह्य-क्षत्रीय प्रक्रिया—एक प्रक्रिया दूसरे तत्त्व को प्रतिक्रियाशील बना उसके माध्यम से तीस प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य कर देती है। देने की प्रक्रिया वस्तु को प्रतिक्रिया बाध्य करती है और वस्तु की प्रतिक्रिया लेनेवाले को प्रतिक्रियाशील कर देती है।

संक्षेप में, समस्त प्रक्रियाओं को इस रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है—



संज्ञा-वर्ग और क्रिया-वर्ग को छोड़कर प्राकृतिक भाषा के जो अन्य घटक आधारित हो व्युत्पन्न हुए होंगे, वे अभिलक्षण-बोध आश्रित थे। वस्तु-भेदक अभि (नाम-वर्ग के एक अंग) के रूप में और प्रक्रिया-भेदक अभिलक्षण क्रियाविशेषण (ना अंग) के रूप में जाने गये। इसके बाद अव्यक्त व्याकरण ने भाषा के रूप-निर्माण व लिया।

कालवाची शब्दों की रचना नाम-वर्गीय शब्दों की रचना के साथ हुई। इस दशान ही बाद में चलकर भाषा की रचना के लिए बौद्धिक आयाम प्रदान करने में स

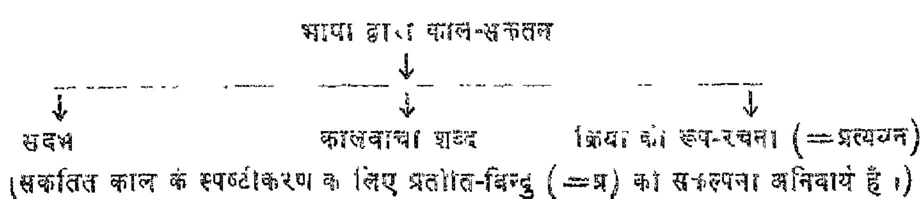
भाषायी व्यवहार में काल का संकेतन

भाषायी व्यवहार में काल संकेतित हो उठने वाला गत्यात्मक घटना-अनु सम्प्रेषण-व्यवस्था में काल-प्रकाशन लक्ष्य नहीं होता, बल्कि वह प्रकाशित की जा रह साथ प्रतिच्छायित होने वाला परिधीय तत्त्व होता है। यह प्रतिच्छाया घटनाबोध (=व्यापार) बोधक शब्दों के साथ प्रतिबद्ध रूप में जुटी हुई होती है।

भाषा उभयमुखी प्रक्रिया है। वक्ता सीमित शब्दों का प्रयोग करता है; श्र अर्थ को ग्रहण कर लेता है। भाषा के सन्दर्भ में वक्ता एवं श्रोता के मध्य जो सूक्ष्म का है, वह सीमित प्रयोगों से असीमित अर्थों को ग्रहण कर लेने का सामर्थ्य देता है। रूप से व्यक्त न किया जाकर भी श्रोता द्वारा समझ लिया जाता है

वाक्यों का प्रयोग नित्य वर्तमान की स्थिति में किया जाता है। प्रतीति-बिन्दु ही वर्तमान है और यह सूक्ष्म तथा नित्य गतिशील है। इस बिन्दु से उच्चरित होने वाली ध्वनियों का संयोग जब तक पूरा वाक्य बन पाता है, ध्वनियाँ विगत हो चुकी होती हैं। अथ सम्भावित भविष्य के दरवाजे पर खड़ा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार भाषा-प्रयोग के माध्यम से जिन घटनाओं को व्यक्त किया जाता है, वे घटनात्मक अनुक्रम में विगत एवं अनागत के मध्य आई हुई अथवा आने-वाली होती हैं। प्रतीति-बिन्दु पर खड़ा वक्ता कभी भूत के संस्मरणों-अनुभवों को प्रकाशित करता है, कभी तत्काल अथवा समानान्तर चल रही घटनाओं के बारे में विवरण या अनुभव व्यक्त करता है और कभी अनुभूत यथार्थों के आधार पर सम्भावनाओं अथवा पूर्वानुमानों को संकेतित करता है।

भाषा में प्रतिच्छायित होने वाले इस काल-तत्त्व का विश्लेषण करने के लिए हमें घटनाओं के अनुक्रम को देखना होगा—उसके प्रभाव को व्यक्त करने वाले प्रत्ययों, शब्दों एवं पदबंधों का विश्लेषण करना होगा। भाषायी व्यवहार में काल तीन रूपों में संकेतित होता है—



(संकेतित काल के स्पष्टीकरण के लिए प्रतीति-बिन्दु (=प्र) की संकल्पना अनिवार्य है।)

१. संदर्भ द्वारा काल-संकेतन

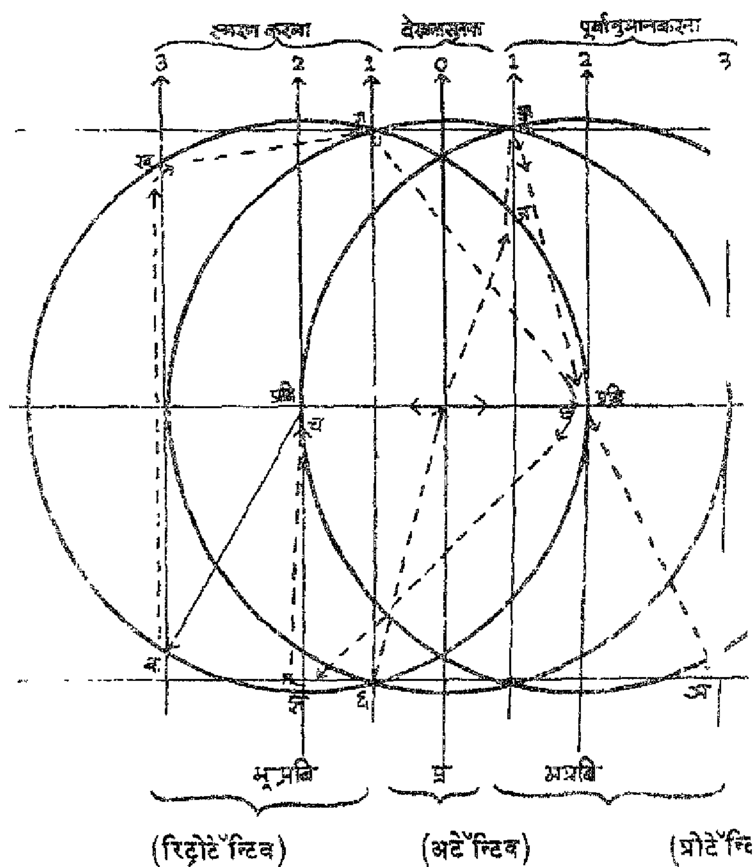
कोई भी ख्यात या प्रसिद्ध घटना संदर्भ का कार्य कर सकती है। भाषायी व्यवहार में ऐसे सन्दर्भों का प्रयोग स्वतः ही उस काल को हमारे सामने ला देता है और घटनाओं के अनुक्रम में हम किसी घटना-विशेष की कौन-सी स्थिति है, इसकी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। यथा—(१) पहला राकेट चन्द्रमा पर पहुँचा। (२) सिकन्दर सिन्धु नदी के तट पर पहुँचा। (३) विद्यार्थी अपनी सीट पर पहुँचा। आदि वाक्यों से भूतकालिकता (=पहुँचा के माध्यम से) तो संकेतित होती है, किन्तु घटनात्मक अनुक्रम की दृष्टि से २, १, ३ का क्रम हमारे संदर्भ-ज्ञान पर आश्रित है। सबसे सांश्लिष्ट स्थिति उन वाक्यों की है जो ऐतिहासिक वर्तमानकाल के कहे जाते हैं। यथा—(१) अलबरूनी लिखता है। (२) तुलसीदास कहते हैं। (३) नेहरू ने लिखा है। इन वाक्यों के कर्ता ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और तीनों में से कोई भी उपस्थित नहीं है, फिर भी क्रिया-पदबंध वर्तमान काल की सूचना देते हैं। निश्चित रूप से अपने कर्तृत्व (लेखन=कथन) के माध्यम से वे आज भी जीवित हैं, यद्यपि उनकी भौतिक सत्ता मिट चुकी है। ऐसे वाक्यों के माध्यम से प्रतिच्छायित होने वाले काल-तत्त्व की संश्लिष्टता को समझने के लिए संदर्भ का ज्ञान अपेक्षित है।

२. कालवाची शब्दों द्वारा काल-संकेतन

(१) लगभग २२०० वर्ष पहले सिकन्दर सिंधु नदी के तट पर पहुँचा। (२) इसी बात को ४०० वर्ष पहले तुलसीदास कहते हैं। (३) कल मैं उनसे कहता हूँ कि वे ऐसा न करें। (४) मोहन कल दिल्ली गया था, आज शाम तक लौटेगा। आदि वाक्यों में घटनात्मक अनुक्रम को स्पष्ट रूप से प्रकट करने के लिए कालवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है क्रिया-पदबंध द्वारा संकेतित

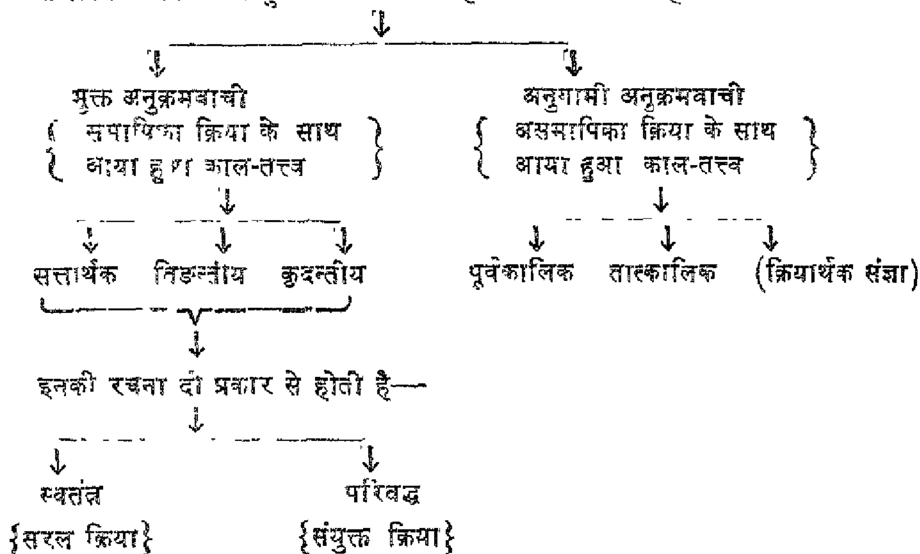
होनेवाला काल तत्त्व समझ की दृष्टि से प्रयुक्त कालवाची शब्दों के आगे है। श्रोता काल-तत्त्व के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए कालवा वाले समय-अर्थ को अधिक विश्वसनीय दृष्टि से स्वीकार करता है। व कालवाची शब्द क्रिया शब्द के साथ जुटे काल-प्रत्ययों की परिधि से व्याप निश्चित काल-विस्तृति में उसे सीमित कर देते है।

३. क्रिया की रूप-रचना



(क) दौड़-धूप करने से, (ख) इतना पता चला कि (ग) वे लोग (घ) हमारा साथ नही देंगे। (ङ) मैं निराश हो (च) चला आया। (छ है कि (ज) यदि मैं वहाँ जाकर (झ) लोगों को समझाऊँ तो (ञ) वे लिए (ट) तैयार हो जायेंगे।

वाक्य के माध्यम से व्यक्त की जानेवाली हर घटना काल-तत्त्व होती है। अगर यह काल-तत्त्व संदर्भ-उल्लेख अथवा कालवाची शब्दों किया गया होता है तो क्रियापद में अन्तर्भुक्त काल-तत्त्व का विश्लेषण और ऐसी स्थिति में सूक्ष्म संरचनात्मक एवं व्याकरणिक व्यवस्थाओं की हो उठते हैं।



मुक्त अनुक्रमवाची काल-तत्त्व समापिका क्रिया के साथ आता है और इससे संकेतित होनेवाला काल-तत्त्व ही मुख्य घटना का सही अनुक्रम होता है। अनुगामी अनुक्रमवाची वस्तुतः काल-परिधि में प्रक्रियात्मक एवं पूर्वपरत्व की दृष्टि से आयी गौण प्रक्रियाओं के आरेख होते हैं जो काल-विस्तृति की दृष्टि से साथ आये मुक्त अनुक्रमवाची के अनुगामी बने रहते हैं—

वह गया—वह खाकर गया/वह खाते हुए गया/उसे खाना था

वह जाता है—वह खाकर जाता है/वह खाते हुए जाता है/उसे खाना है

वह जाएगा—वह खाकर जाएगा/वह खाते हुए जाएगा/उसे खाना होगा

इन वाक्यों में 'गया', 'जाता है', जाएगा', 'था', 'है', 'होगा' मुक्त अनुक्रमवाची हैं और ये स्पष्ट रूप से भूत, वर्तमान, भविष्य का संकेत करते हैं। दूसरी ओर 'खाकर', 'खाते हुए', 'खाना' के रूपों पर ध्यान देने से 'जाने' के पूर्व एवं समानान्तर घटित अथवा चलने वाली दूसरी प्रक्रिया का बोध होता है जो काल-तत्त्व की दृष्टि से मुख्य प्रक्रिया की अनुगामी है। इन वाक्यों का विश्लेषण किया जाय तो—

उसने खाया + वह गया / गौण प्रक्रिया + मुख्य प्रक्रिया = वह खाकर गया

वह खाता है + वह जाता है / (गौण) + (मुख्य) = वह खाकर जाता है

वह खाएगा + वह जाएगा / (गौण) + (मुख्य) = वह खाकर जाएगा

मुक्त अनुक्रमवाची काल-तत्त्व निम्नलिखित क्रियारूपों के माध्यम से आता है—

सत्तार्थक क्रिया—सत्तार्थक क्रिया वाक्य में दो प्रकार से प्रयुक्त होती है। एक तो, उसका अस्तित्व-प्रकाशक प्रयोग होता है जिस रूप में वह 'पूर्ण घटना' (ईवेन्ट ऐज ए होल) को प्रकट करती है दूसरे रूप में वह क्रियारूपों के सहायकत्व का काम करती है

सत्तार्थक क्रिया के वर्तमान-भूत-भविष्यबोधक तीन सहरूप होते हैं—

वह आदमी था ; वह आदमी है ; वह आदमी होगा

↓ ↓ ↓

विगत——————→आगत——————→अनागत का क्रम 'था', है, होगा' स्पष्ट हो जाता है।

सहायक क्रिया के रूप में सत्तार्थक तत्त्व घटनात्मकता को छोड देता है और मुख्य क्रिया के काल-तत्त्व को परिसीमित करता है। इस रूप में कहीं-कहीं अर्थ एवं प्रयोग के स्तर पर सभी काल-प्रतिबद्धताएँ भी लडखडा उठती हैं—

मुझे जाना था—(नहीं जा सका) भूत

मुझे जाना था - (सायकल है कि नहीं) वर्तमान→भविष्य

मैं लिखता हूँ—(जो लोग हँसते हैं) अनुभूत वर्तमान

मैं लिखता हूँ—(आप नकल कर लीजिए) वर्तमान→भविष्य

वह गया होगा—भूत-अप्रत्यक्ष

वह आता होगा—वर्तमान-अप्रत्यक्ष

मैं जा रहा हूँ—तात्कालिक वर्तमान

मैं जा रहा हूँ—(अगले महीने) भविष्यारंभ

तिङन्तीय क्रिया—हिन्दी के संदर्भ में तिङन्तीय रूप निम्नलिखित हैं—

मैं चलूँ — हम चलें

तू चल, तू चले — तुम चलो (आप चलिए)

वह चले — वे चलें

आज्ञार्थक एवं इच्छार्थक लगभग एकसमान हैं, सिवाय मध्यम पुरुष एकवचन (आज्ञा—चल, इच्छा—चले) के। कुछ सीमा तक 'तुम चलो' में भी आज्ञा-प्रकाशन-शक्ति है, अन्यथा सारे रूप इच्छार्थक सुझावबोधक अथवा अनुरोध-प्रकाशक हैं। [व्यवहार में तू चलना, तुम चलना (अब 'आप चलना' भी) इसी इच्छार्थकता को समय-परिधि में विस्तृत करते हुए रूप निकले हैं।] पूर्वधारणा के अनुसार इन रूपों को विशुद्ध रूप से निर्देश-प्रकाशक एवं कालतत्त्व-मुक्त माना जाता रहा है। वस्तु-स्थिति यह है कि ये तिङन्त रूप हैं जो वर्तमानोत्तर प्रक्रिया का आदेश-निर्देश एवं सुझाव देते हैं। इनसे संकेतित होनेवाली वर्तमानोत्तरता 'तू चलना', 'तुम चलना' के प्रयोगों में भविष्यारंभ तक विस्तृति पा जाती है।

मूल तिङन्त रूप संयुक्त क्रिया की रचना में प्रयुक्त नहीं होते, सिवाय भविष्यबोधक 'गा' प्रत्यय को स्वीकार करके स्पष्ट भविष्यत् काल का रूप बनाने में सहायता पहुँचाने के।

कृदन्तीय क्रिया—वाक्य में क्रिया के जो कृदन्तीय रूप आते हैं, वे कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्रिया का साधारण रूप (क्रियार्थक संज्ञा) 'चलना' निर्देश के लिए गत्यात्मिका का कार्य करता है (—'तुम चलना') जिससे भविष्यारंभता का बोध होता है। वैसे काल-तत्त्व की दृष्टि से इसका रूप शून्य है और संयुक्त रचना में आगे आनेवाले सहायक अथवा रंजक तत्त्व ही काल का प्रत्यय ग्रहण करते हैं।

मैं चलना चाहा (+था), (+हूँ/होऊँगा)

मैं चलना चाहता (+था/हूँ/ होऊँगा)

मैं चलना चाहूँ (+गा)

मैं चलने लगा (+था/हूँ/ होऊँगा)

मैं चलने लगता (+था/हूँ/होऊँगा)

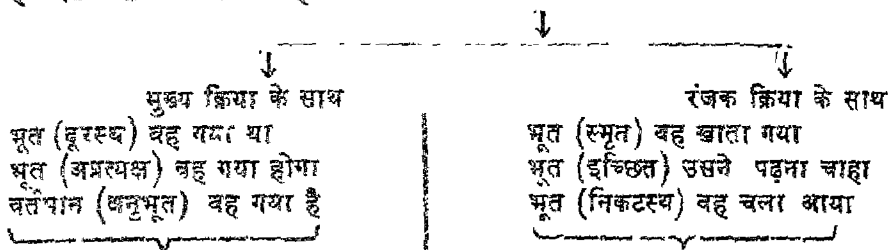
मैं चलने लगूँ (+गा)

मुझे चलना (था/है/होगा)

मुझे चलना चाहिए (+था)

इन वाक्यों में जो क्रियार्थक संज्ञा के रूप आये हैं, वे व्यापार-बोधक मात्र का कार्य करते हैं, प्रक्रियात्मकता उनसे व्यक्त नहीं होती। भूतकालिक कृदन्त के साथ आने वाली क्रियाएँ मुक्त अनुक्रमवाची होती हैं और स्पष्ट रूप से विगत की ओर संकेत करती हैं। इनके द्वारा व्यक्त होने वाला काल-तत्त्व अतीत वर्तमान (बचिए ! कीचड़ पड़ा) से लेकर दूरस्थ भूतकाल (आर्यों का दल पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत आया) की सीमा तक को प्रकाशित कर सकता है—'मनुष्य का विकास होता गया'।

सरल रचना की दृष्टि से कोई भी क्रिया भूतकालिक कृदन्त के प्रत्यय 'आ' को लेकर विगत का संकेत कर सकती है (खाया, पीया, सोया, चला, आदि)। संयुक्त क्रिया की रचना के समय हम इसकी द्वैत स्थिति पाते हैं—

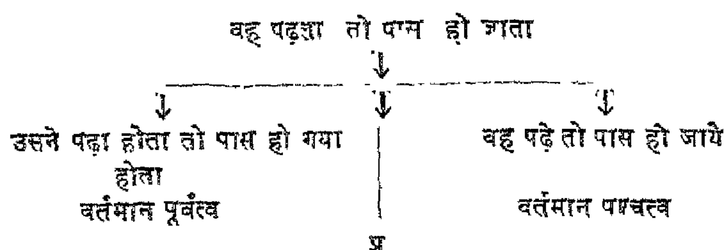


प्रथम वर्ग में भूतकालिक कृदन्तयुक्त क्रिया (जाना) काल का बोधन करा व्यापार अथवा प्रक्रिया की दशा (पूर्णता) का बोध कराती है। काल का संकेतन सहायक क्रिया में निहित है। दूसरे वर्ग में ये व्यापार की दशा का बोध न करा (दशा का बोध—खाता, पढ़ना, चला से होता है) भूतकालत्व का संकेत करती हैं (गया, चाहा, आया आदि)। बिलगाव, चेतावनी अथवा चुनौती प्रकाशन करते समय इस भूतकालिक कृदन्त की विगत प्रतिबद्धता टूट जाती है—'आगे बढ़े कि मार पड़ी'; 'पैसा मिला कि मैं भागा'; 'अच्छा, मैं चला/गया'। ऐसे वाक्यों में ये कथनोत्तर प्रक्रिया का संकेत करते हैं और 'तत्पर वर्तमानकाल' के उदाहरण बनते हैं।

वर्तमानकालिक कृदन्त के प्रयोग में कुछ और शर्तें शामिल हो जाती हैं। यह सरल वाक्य में सरल क्रिया के रूप में मुख्य 'समापिका' का कार्य नहीं करता, किन्तु ज्यों ही वाक्य निषेधात्मक कर दिया जाता है—केवल वर्तमानकाल के संदर्भों में यह सहायक क्रिया को छोड़ कर स्वयं समापक बन बैठता है—'वह जाता [?]'; 'वह जाता है', 'वह नहीं जाता [है ?]'। किन्तु अगर सहायक क्रिया भूतकाल या भविष्य काल की है तो निषेधात्मक वाक्यों में भी यह 'समापक' स्थान पर नहीं आ सकता—'वह जाता था' > वह नहीं जाता था, 'वह जाता होगा' > वह नहीं जाता होगा, आदि।

शर्तबोधक संयुक्त वाक्यों में यह अकेले समापिका का कार्य करने में समर्थ होता है—'वह चलता तो बात बनती', 'पैसा होता तो दिल्ली जाता'।

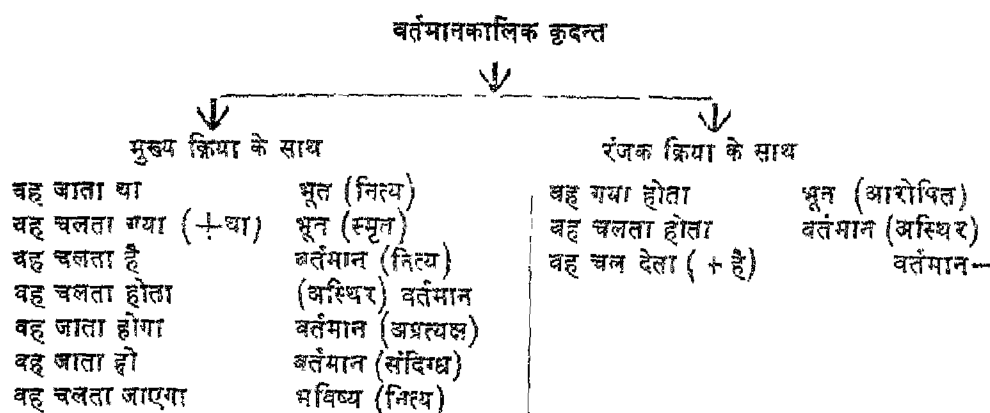
वर्तमानकालिक कृदन्त, काल-संकेतन की दृष्टि से, अस्थिर, गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील वर्तमानत्व का प्रत्यय है। यह कहीं प्रतीति-बिन्दु के पूर्व की वर्तमानकालिकता को संकेतित करता है और कहीं पश्च की ——— को—



निषेधात्मक वाक्यों में यह समानान्तर वर्तमान का संकेतक बन कर आता है। ध्वनित होने वाली प्रक्रिया या तो अनुभव और आदत का प्रकाशन करती है अथवा हठात् लिए गये निर्णय का—

(जहाँ तक मुझे पता है) सूरज नहीं घूमता —अनुभावित
(दोपहर को [मैं]) मैं नहीं सोता —आदत
(तो लीजिए !) मैं दिल्ली नहीं जाता—हठात् निर्णय

भूतकालिक कृदन्त की तरह वर्तमानकालिक कृदन्त भी कहीं मुख्य क्रिया के साथ आता है, कहीं सहायक क्रिया के साथ—

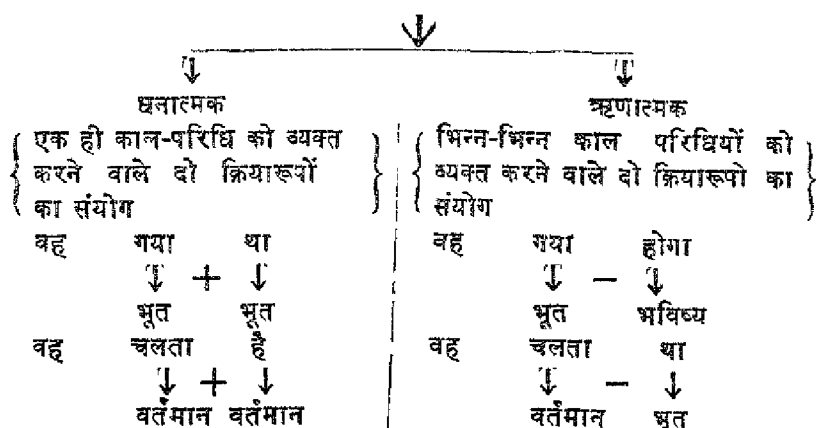


मुख्य क्रिया के रूप में वह प्रक्रिया या व्यापार की दशा प्रकाशित करता है, काल आगे आनेवाली सहायक क्रिया का विषय होता है। रंजक क्रिया के रूप में यह काल-तत्व को परिसीमित करता है, प्रक्रिया एवं व्यापार का उद्घाटन नहीं।

कृदन्तीय क्रियाएँ समापिका क्रिया के रूप में जिस अनुक्रम को व्यक्त करती हैं, वह काल-परिधि की दृष्टि से निश्चित होता है; किन्तु यही रचनाएँ जब संयुक्त क्रियाओं का घटक बनकर आती हैं तो ये कालत्व की दृष्टि से निश्चित सीमाओं से हटकर नये काल-बिन्दुओं के निर्माण में सहायक होती हैं। ये नये काल-बिन्दु प्रक्रिया अथवा व्यापार के पक्ष को प्रकट करते हैं।*

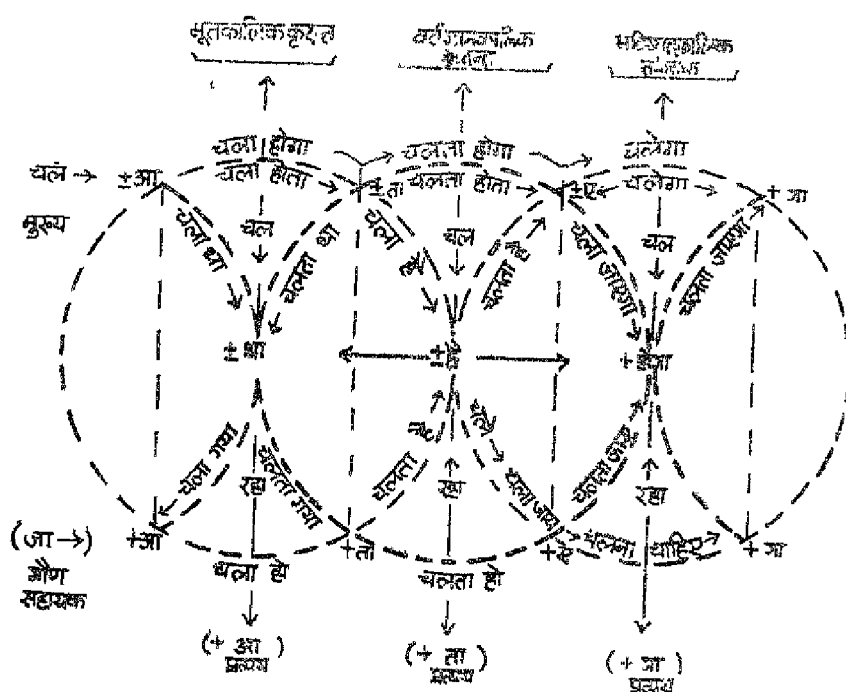
सत्तार्थक क्रिया, तिङन्त क्रिया एवं कृदन्त क्रिया के संयुक्तीकरण को दो रूपों में देखा जा सकता है—

*पक्ष की चर्चा एक दूसरे लेख की अपेक्षा रखती है, अतः उससे बचा गया है



धनात्मक योग में संयुक्त क्रिया के सारे घटक एकोन्मुख हो एक बृहत् काल-परिधि में किसी विशिष्ट स्थिति पर केन्द्रित होते हैं। इस योग में विशिष्ट स्थिति और उसे घेरनेवाली काल-परिधि सजातीय अंग-अंगी होते हैं। ऋणात्मक योग में एक काल की कोई विशिष्ट स्थिति दूसरे काल की परिधि में प्रवृष्ट हो एक प्रक्रियात्मक द्वीप बनाकर बैठ जाती है। अंग दूसरी परिधि का होता है, अंगी दूसरी परिधि। संक्षेप में, भाषा में—विशेष रूप से हिन्दी भाषा में—इस पूरी काल-संकेतन की क्रिया की रूप-रचना से सम्बद्ध व्यवस्था को हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

क्रिया की रूप-रचना द्वारा हिन्दी में काल-संकेतन की व्यवस्था



इस प्रकार क्रिया की रूप-रचना के माध्यम से काल प्रतिभाषित होता है। क्रिया का रूप-विश्लेषण करके हम भाषायी काल-खण्डों का निर्धारण कर सकते हैं और इनकी तर्कसम्मत प्रस्तुति भाषा शिक्षण एवं चिंतन को एक नया आयाम दे सकती है।

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान,
शीतला रोड आगरा

हिन्दी की रूपात्मक संरचना एवं अर्थतत्त्व पर अंग्रेज़ी के गृहीत शब्दों का प्रभाव

डॉ० रविशेखर वर्मा

१. प्रस्तावना

सामान्यतया गृहीत शब्द ग्राहक भाषा के व्याकरण द्वारा नियंत्रित होकर ही उसका अंग बन पाते हैं। कालान्तर में गृहीत शब्दों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होने तथा जनसामान्य में उनका प्रयोग बढ़ जाने पर वे ग्राहक भाषा की रूपात्मक संरचना एवं अर्थतत्त्व को भी प्रभावित करने लगते हैं। ग्राहक भाषा द्वारा पूर्णतया आत्मसात् कर लिए जाने पर गृहीत शब्द उक्त भाषा के रूपग्रामों के साथ संयुक्त होकर नवीन शब्दों की रचना में सहयोग देने लगते हैं। प्रस्तुत लेख के प्रथम भाग में इन मिश्र शब्दों के साथ-साथ अंग्रेज़ी के गृहीत शब्दों से निर्मित मुहाविरों पर भी विचार किया गया है। द्वितीय भाग में अंग्रेज़ी से अनूदित समस्त पदों एवं लोकोक्तियों तथा अंग्रेज़ी के प्रभाव से हिन्दी शब्दों के अर्थ-विस्तार पर विचार किया गया है।

२. हिन्दी की रूपात्मक संरचना पर प्रभाव

रूपात्मक संरचना भाषा की प्रकृति का अभिन्न अंग होती है और इसे सरलता से प्रभावित नहीं किया जा सकता, फिर भी अंग्रेज़ी से गृहीत कुछ उपसर्ग एवं प्रत्यय हिन्दी प्रातिपदिकों के साथ प्रयुक्त होने लगे हैं। इस प्रकार निर्मित शब्दों को *'गृहीत मिश्र शब्द'* कहा जा सकता है। इनके कुछ उदाहरण तालिका संख्या १ में दिये गये हैं—

तालिका संख्या १ : हिन्दी में गृहीत मिश्र शब्द

क्रमसंख्या	अंग्रेज़ी उपसर्ग एवं प्रत्यय	हिन्दी में निर्मित मिश्र शब्द
१.	हाफ़-	हाफ़ कमीज, हाफ़ कुरता
२.	हेड-	हेड पंडित, हेड खज़ांची
३.	डबल-	डबल-रोटी, डबल-दुर्घटना
४.	-इज़्म	गुरुडम
५.	-आइट	नक्सलाइट
६.	-इस्ट	आर्यसमाजिस्ट
७.	-प्रूफ़	झेंप-प्रूफ़

उपर्युक्त मिश्र शब्दों का निर्माण अंग्रेज़ी शब्दों के नमूने पर हुआ है, परन्तु अन्य कुछ मिश्र शब्द स्वतंत्र रूप से हिन्दी में विकसित हुए हैं। इनसे अंग्रेज़ी की गृहीत शब्दावली के बहुप्रयोग तथा हिन्दी द्वारा इसे आत्मसात् कर लिए जाने का पुष्ट प्रमाण मिलता है। इन मिश्र शब्दों का निर्माण अंग्रेज़ी के गृहीत शब्दों के साथ हिन्दी प्रत्यय जोड़कर किया गया है। अत इन्हें संकर

शब्द' भी कहा जा सकता है । स्वतंत्र रूप से विकसित ये 'संकर शब्द' तालिका संख्या २ में प्रदर्शित किये गये हैं—

तालिका संख्या २ : हिन्दी में विकसित संकर शब्द

अंग्रेजी के गृहीत शब्द	हिन्दी प्रत्यय	मिश्र शब्द
फ़ैशन	वाली	फ़ैशनवाली
मोटर	वाला	मोटरवाला
स्टोव	वाला	स्टोववाला
पुलिस	वाला	पुलिसवाला
पॉकेट	मार	पॉकेटमार
रोमांस	वाद	रोमांसवाद
ट्रेजेडी	कार	ट्रेजेडीकार
जेल	खाना	जेलखाना
डिजाइन	दार	डिजाइनदार
सिनेमा	बाज	सिनेमाबाज
स्पीच	नुमा	स्पीचनुमा
कोच	वान	कोचवान
मिडिल	ची	मिडिलची (अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति)

हिन्दी के समस्त पद में गृहीत शब्द का प्रयोग करने से 'संकर समस्त पद' बन जाता है । ऐसे समस्त पद का निर्माण अंग्रेजी के अनुसरण पर न होकर हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप होता है । इसे 'प्रतिलोम प्रतिस्थापन' भी कह सकते हैं, क्योंकि समस्त पद के हिन्दी प्रतिरूप में गृहीत शब्द प्रतिस्थापित कर दिया जाता है । उदाहरणस्वरूप अग्रलिखित समस्त पद प्रस्तुत किए जा सकते हैं—अख़बार-फ़ण्ड, एक्स-किरण, क्लब-घर, काग़ज़-पेंसिल, किसान-फ्रन्ट, ज़नाना-अस्पताल, डाक्टर-वैद्य, नियुक्ति-अफ़सर, पार्टी-दफ़्तर, पुलिस-फ़ौज, मार्च-गीत, राशन-पानी, रेडियो-संस्करण, लाठी-चार्ज, सोफ़ा-कुर्सी, आदि ।

अंग्रेजी से गृहीत कुछ शब्दों का मुहाविरों में भी प्रयोग होने लगा है । यथा—ब्रेक लगाना, कन्ट्रोल करना, लेक्चर पिलाना, पेंशन देना, स्टीम भरना, आदि ।

कुछ विदेशी नाम और उपाधियाँ भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच पाई हैं । उनसे निर्मित कुछ मुहाविरे हैं—अफ़लातून बनना, हैलटशाही करना, ज़ारशाही चलाना, आदि ।

३. हिन्दी के अर्थतत्त्व पर प्रभाव

हिन्दी के अर्थतत्त्व पर भी अंग्रेज़ी के गृहीत शब्दों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । अंग्रेजी के अनेक कथन, वाक्यांश तथा लोकोक्तियाँ अनूदित होकर हिन्दी का अभिन्न अंग बन गई हैं । इन्हें गृहीत अनुवाद अथवा अंग्रेजी में 'काल्क' कहा जाता है । इस प्रकार के अनुवाद में विदेशी कथन/वाक्यांश की रूपग्रामीय संरचना का विश्लेषण करके उनके स्थान पर ग्राहक भाषा के रूपग्राम प्रतिस्थापित कर लिए जाते हैं । इन शब्दों/वाक्यों का न केवल प्रतिरूप ही विदेशी होता है, वरन् इनका अर्थ भी विदेशी भाषा की प्रकृति के अनुरूप होता है । ग्राहक भाषा की दृष्टि से तो ये शब्द/वाक्यांश निरर्थक ही होते हैं ।

गृहीत शब्दों के प्रभाव से कभी-कभी ग्राहक भाषा के शब्दों में अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता है। प्रस्तुत खण्ड में अंग्रेजी शब्दों आदि के गृहीत अनुवाद एवं हिन्दी शब्दों के अर्थ-परिवर्तन पर विचार किया गया है।

३ : १. गृहीत अनुवाद—यहाँ हम अनुवाद की प्रक्रिया द्वारा गृहीत अंग्रेजी कथनों/वाक्यांशों तथा लोकोक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इनमें पूर्णतया शाब्दिक अनुवाद प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। कुछ अनूदित वाक्यांशों का प्रयोग आजकल खूब बढ़ रहा है।

३ : १ : १. अंग्रेज़ी कथनों के गृहीत अनुवाद—नवीन सांस्कृतिक संकल्पनाओं को नामांकित करने के सरलतम साधन के रूप में गृहीत अनुवाद का प्रयोग किया जाता है। आजकल अंग्रेजी के अनेक कथन अनूदित होकर हिन्दी में व्यवहृत हो रहे हैं। अनूदित कथन में बहुधा शब्दों की संरचना एवं उनका क्रम अपरिवर्तित रहते हैं। प्रस्तुत तालिका में अंग्रेजी कथनों के गृहीत अनुवाद के कुछ उदाहरण दिए गए हैं—

तालिका संख्या ३ : अंग्रेज़ी कथनों के गृहीत अनुवाद

अंग्रेज़ी कथन	हिन्दी गृहीत अनुवाद
एअरकन्डीशन्ड	वातानुकूलित
ऐंग्ल ऑव विज़न	दृष्टिकोण
ब्लैक लिस्ट	काली सूची
कैसल इन द एअर	हवाई किला
क्रोकोडाइल टिअर्स	घड़ियाली आँसू, नक्राश्रु
इन्टरनेशनल	अन्तर्राष्ट्रीय
पब्लिक कैरिअर	लोकवाहक
टेलीफ़ोन	दूरभाष
टेलीविज़न	दूरदर्शन
ज़ीरो आवर	शून्य काल

३ : १ : २. अंग्रेज़ी वाक्यांशों के गृहीत अनुवाद—कुछ अंग्रेजी वाक्यांश भी अनूदित होकर हिन्दी में व्यवहृत हो रहे हैं। इनमें न केवल शब्दों की रूपग्रामिक संरचना एवं इनका क्रम अंग्रेजी के समान रहता है, वरन् अर्थ के लिए भी ये अंग्रेजी वाक्यांश के मुखापेक्षी होते हैं। कुछ बहुप्रयुक्त वाक्यांशों के गृहीत अनुवाद प्रस्तुत तालिका में दर्शाए गए हैं—

तालिका संख्या ४ : अंग्रेज़ी वाक्यांशों के गृहीत अनुवाद

अंग्रेज़ी वाक्यांश	हिन्दी में गृहीत अनुवाद
टु बि कौट रेड हैंडिड	रंगे हाथों पकड़े जाना
टु गेट ब्लड थर्स्टी	खून का प्यासा होना
टु कीप इन द डार्क	अँधेरे में रखना
टु थ्रो मड	कीचड़ उछालना
आर्ट ऑव रीडिंग	वाचन-कला
कैट्ल-शेड	ढोरशाला



पॉवर ऑफ रेजिस्टेन्स	प्रतिकार-शक्ति
सिल्वर जुबली	रजत-जयन्ती
सोलर ट्रीटमेन्ट	सौरोपचार
पैसिन्जर ट्रेन	सवारी गाड़ी

२ : १ : ३. अंग्रेजी लोकोक्तियों के गृहीत अनुवाद—अंग्रेजी की कुछ लोकोक्तियाँ भी अनूदित होकर हिन्दी में खूब चल निकली हैं। इस सम्बन्ध में दो बातें द्रष्टव्य हैं—

(i) मानव-जीवन-सम्बन्धी कतिपय आधारभूत परिकल्पनाएँ संसार की लगभग सभी भाषाओं में एकसमान शब्दावली में अभिव्यक्त हुई हैं। ऐसी अवस्था में यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि पहली बार वे किस भाषा में प्रयुक्त हुईं और वहाँ से अन्य भाषाओं ने उन्हें ग्रहण किया। गहन शोध द्वारा यह सिद्ध किया जाना भी संभव है कि गृहीत अनुवाद प्रतीत होनेवाली लोकोक्ति मूलतः ग्राहक भाषा में विकसित हुई थी। बहुप्रचलित मान्यताएँ बहुधा एक से ही शब्दों में व्यक्त की जाती हैं।

(ii) भारत की सभी भाषाओं पर अंग्रेजी का अत्यधिक प्रभाव पड़ने के कारण उन सब में मिलते-जुलते अथवा पूर्णतया एकसमान पद एवं लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रत्यक्ष समानता के लिए ऐतिहासिक कारण एवं द्विभाषिकता उत्तरदायी हैं। प्रस्तुत तालिका में कुछ अंग्रेजी लोकोक्तियों के गृहीत अनुवाद दर्शाये गए हैं—

तालिका संख्या 5 : अंग्रेजी लोकोक्तियों के गृहीत अनुवाद

अंग्रेजी लोकोक्तियाँ	उनके गृहीत हिन्दी अनुवाद
ऑल इज़ वैल दैट एण्ड्स वैल	अंत भला सो भला
ऐन एंग्री मैन इज़ सैल्डम ऐट ईज़	क्रोधी को चैन कहाँ
ऐज़ यू सो, सो शैल यू रीप	जैसा बोओगे, वैसा काटोगे
डू ईविल एण्ड लुक फ़ॉर लाइक	कर बुरा, पा बुरा
लव इज़ ब्लाइंड	प्रेम अंधा होता है
टु टर्न ए न्यू लीफ़ इन हिस्ट्री	नया पन्ना उलटे इतिहास
सिम्पल लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग	साधारण (सादा) जीवन, उच्च विचार

उपर्युक्त गृहीत अनुवाद हिन्दी की प्रकृति के इतने अनुकूल हैं कि सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि वे अंग्रेजी के माध्यम से हिन्दी में आए हैं।

२ : २. अर्थ-परिवर्तन—नवीन संकल्पनाओं का विकास होने पर उन्हें नामांकित करने के लिए नवीन शब्दों की योजना करनी पड़ती है। भाषा में परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, अतः पुराने शब्दों को ही नवीन अर्थों में प्रयोग करके काम चला लिया जाता है। इस प्रकार शब्दों का अर्थ-विस्तार होता जाता है। इस नियम के अनुरूप अंग्रेजी के साथ आई नवीन उद्भावनाओं को नामांकित करने के लिए हिन्दी शब्दों के अर्थ में आवश्यक परिवर्तन कर लिया गया है। अंग्रेजी शब्दों एवं विचारों के आगमन के कारण होने वाले अर्थ-परिवर्तन पर ही यहाँ विचार किया गया है। शब्दों में होने वाले ध्वन्यात्मक एवं वैयाकरणिक परिवर्तनों के अतिरिक्त अन्य सभी परिवर्तन अर्थ-परिवर्तन के अन्तर्गत आते हैं। अर्थ-परिवर्तन के दो उपभेद किए जा सकते हैं—(१) नवीन

स्कृतिक उद्भावनाओं को उनसे मिलती-जुलती पुरानी उद्भावनाओं के ही नाम देकर पुराने शब्दों का अर्थ-विस्तार करना; तथा (ii) शब्दावली में आंतरिक परिवर्तन, अर्थात् नई आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नवीन शब्दों का निर्माण करना। व्यवहार में आकर जब ये नवीन शब्द अपनी नवीनता खो देते हैं तो आगे चलकर इनके अनुकरण पर अन्य शब्दों का सृजन होने लगता है।

३ : २ : १. अर्थ-विस्तार—नवीन विचारों एवं उद्भावनाओं को व्यक्त करने के लिए हिन्दी के अपने शब्दों का ही नवीन अर्थों में प्रयोग होने लगा है। इस प्रकार गृहीत शब्दों के प्रभाव से उनका अर्थ-विस्तार हो गया है। अब अर्थ-विस्तार के कुछ उदाहरणों पर विचार करें—

अंक—का पुराना अर्थ है 'संख्यासूचक चिह्न'। शून्य से नौ तक के संकेत अंक कहलाते हैं। पर आज पत्र-पत्रिकाओं के विशेष 'अंक' प्रकाशित होते हैं और 'अंक' अंग्रेजी के 'ईशू' या 'नम्बर' का समानार्थी बन गया है। आँकड़े और अंक समानार्थी हैं; पर आज 'आँकड़े' शब्द अंग्रेजी के 'स्टेटिस्टिक्स' का पर्याय बन गया है।

अनुशासन—का पुराना अर्थ है 'निर्देश देना'। प्रशासन और शासन का अर्थ भी इसमें समाहित है। पर आजकल अंग्रेजी के 'डिसिप्लिन' के स्थान पर प्रयुक्त होने के कारण इसका अर्थ-विस्तार हो गया है।

गाड़ी—का पुराना अर्थ बैलगाड़ी ही था, पर आज गाड़ी द्वारा कार, मोटर, लॉरी, बस आदि सभी प्रकार के वाहनों का बोध होता है।

न्यास—का अर्थ है 'सावधानीपूर्वक रखना', 'स्थापित करना', पर आज यह अंग्रेजी 'ट्रस्ट' का पर्याय बन गया है।

प्रतिरूप—'नकल' के अर्थ में प्रयुक्त होता था, पर आज यह 'मॉडल' के अर्थ में व्यवहृत हो रहा है। इसमें अर्थ-विस्तार के साथ-साथ अर्थोत्कर्ष भी हो गया है।

शोध—का पुराना अर्थ है 'शुद्ध करना', 'पूर्ण करना', पर आज यह 'रिसर्च' के अर्थ में ही सर्वत्र प्रयुक्त हो रहा है।

संहिता—का सीधा-सादा अर्थ है 'एकत्र करना', 'संग्रह', 'निर्धारित स्वरूप' आदि, पर अंग्रेजी के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण अब यह 'कोड' का पर्याय बन गया है। (देखिये 'कोड ऑव कॉन्डक्ट'=आचरण-संहिता)।

अंग्रेजी के प्रभाव से होने वाले अर्थ-विस्तार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करने के लिए उपर्युक्त कुछ शब्द पर्याप्त जान पड़ते हैं।

३ : २ : २. आंतरिक परिवर्तन अथवा नवीन शब्दों का निर्माण—नए विचारों के उदय तथा नई वस्तुओं एवं संस्थाओं के आयात के साथ-साथ उनका बोध कराने वाले नवीन शब्दों का निर्माण करना भी अनिवार्य हो जाता है। वर्तमान काल में हिन्दी की मूल धातुओं को लेकर अंग्रेजी पदों के अनुरूप अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया गया है। उदाहरणार्थ—'पेन्शन' के लिए 'अनुवृत्ति', किसी सभा आदि को सम्बोधित करने के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'अड्रेस' के लिए 'अभिभाषण', 'कॉरेस्पॉन्डेन्स' के लिए 'पत्राचार', 'रिपोर्ट' के लिए 'प्रतिवेदन', 'डिविडेन्ड' के लिए 'लाभांश', 'एडीटोरियल' के लिए 'सम्पादकीय', 'एडीशन' के लिए 'संस्करण', 'म्यूनिसिपैलिटी' के लिए 'नगरपालिका', 'कॉन्फेडेरेशन' के लिए 'परिसंघ', 'कॉमनवैल्थ' के लिए 'राष्ट्रमण्डल', 'हाउस ऑव कॉमन्स' के लिए 'लोकसभा' तथा 'स्टैण्डिंग कमिटी' के लिए 'स्थायी समिति' का निर्माण किया गया है।

उपर्युक्त विचार एवं संस्थाएँ आज हमारे सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन गए हैं और इन्हें अभिहित करने के लिए नवीन शब्दों की योजना करना आवश्यक हो गया है।

कालान्तर में जब नवनिर्मित पारिभाषिक शब्द चल निकलते हैं तो उनके अनुकरण पर अन्य पारिभाषिक शब्द गढ़ लिए जाते हैं। इस प्रकार 'दान' और 'प्रदान' की अनुकृति पर 'कन्ट्रीब्यूट' के लिए 'अंशदान', 'बाउन्टी' के लिए 'अधिदान', 'ग्रान्ट' के लिए 'अनुदान' तथा 'सबसिडी' के लिए 'परिदान' शब्द निर्मित किए गए; 'निरीक्षण' की अनुकृति पर 'सुपरिन्टेन्डेन्स' के लिए 'अधीक्षण', 'सुपरविज़न' के लिए 'पर्यवेक्षण', 'रिव्यू' के लिए 'पुनरीक्षण', 'ऑब्ज़र्वेशन' के लिए 'सम्प्रेक्षण' तथा 'सर्वे' के लिए 'सर्वेक्षण' की रचना की गई; 'अध्यादेश' के अनुकरण पर 'मैन्डेट' के लिए 'परादेश' तथा 'रिट' के लिए 'समादेश' की व्यवस्था की गई है।

कुछ गृहीत अनुवादों में अर्थ-परिवर्तन के भी दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'सफ़ेद हाथी' का प्रयोग 'उच्च वेतन-प्राप्त, परन्तु अनावश्यक अधिकारी' के लिए होता है, जबकि अंग्रेजी में इसका सीधा-सादा अर्थ है 'अलाभकर सम्पत्ति'; इसी प्रकार हिन्दी में 'सफ़ेद झूठ' का अर्थ 'निराधार' प्रत्यक्ष एवं पूर्ण 'असत्य' होता है।

पश्चिमी सभ्यता, विशेषकर विज्ञान एवं प्राविधि के प्रभाव के फलस्वरूप, नित-नवीन गृहीत अनुवाद हिन्दी द्वारा आत्मसात् किए जा रहे हैं। इस लेख में प्रस्तुत उदाहरणों का उद्देश्य केवल इस प्रवृत्ति और ऐसे अनुवादों की बढ़ती हुई संख्या की ओर संकेत करना मात्र है।

४. उपसंहार

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गृहीत अनुवाद की प्रक्रिया के माध्यम से हिन्दी के अर्थतत्त्व पर अंग्रेजी का गहन प्रभाव पड़ा है। अर्थ-विस्तार द्वारा नित-नवीन शब्दों का निर्माण किया जा रहा है। हिन्दी की रूपात्मक संरचना एवं अर्थतत्त्व पर पड़ने वाले अंग्रेजी के गृहीत शब्दों के प्रभाव से हिन्दी मे नवीन मिश्र समस्त पदों एवं नए-नए मुहाविरों का विकास हो रहा है। इन सबके परिणामस्वरूप हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति मे पर्याप्त वृद्धि हुई है और यह आधुनिक विचारों को व्यक्त करने मे अत्यधिक सक्षम हो सकी है।



प्रवक्ता, अंग्रेजी विभाग,
एम० आर० इंजीनियरिंग कॉलेज,
उदयपुर।

तात्पर्यवृत्ति : एक विश्लेषण



श्री विमलकिशोर खन्ना

तात्पर्यवृत्ति का सम्यक् विवेचन करने से पूर्व, साहित्यशास्त्र में शब्द-शक्ति के विकास की जो परम्परा है, उसका परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा। इसके साथ ही साथ साहित्य-शास्त्रियों—विशेषतः ध्वनिकार—के पश्चाद्वर्ती साहित्यालोचकों के मत में तात्पर्यावृत्ति का क्या स्थान है तथा तात्पर्य को लेकर अन्य शास्त्रकारों—विशेषकर मीमांसकों तथा साहित्यविदों—में जो पारस्परिक सम्बन्ध है और उनके मध्य जो वाद-प्रतिवाद हुए, वह सब विचारणीय है।

अभिधाशक्ति, तात्पर्याशक्ति और लक्षणाशक्ति की मान्यताएँ व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्र की प्राचीन मान्यताएँ हैं। काव्यशास्त्र के गवेषण से ज्ञात होता है कि प्रथमाचार्य भरत मुनि ने शक्ति, लक्षणा आदि वृत्तियों की, और उनसे प्राप्त होने वाले अर्थों की तथा तदुत्थापक रूप से शब्दों की कोई चर्चा नहीं की है। उन्होंने 'वृत्ति' शब्द के अन्तर्गत जिन वृत्तियों को अपनाया है, वे भारती[1] आदि वृत्तियाँ इस प्रसङ्ग में विवेच्य नहीं हैं। भामह ने शब्द[2] की और अर्थ से उसके सम्बन्ध[3] की चर्चा तो की है, पर उक्त अर्थ और वृत्तियों की तथा उनके आधार पर शब्द-भेदों की कोई चर्चा नहीं की, अपितु एक स्थान पर यहाँ तक कह दिया कि—शब्द[4] कौन हैं और उनके वाच्य कौन हैं—यह निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है।

प्राचीन आलंकारिकों में आचार्य उद्भट से ही शब्दशक्ति का विचार प्रारम्भ हुआ है। आचार्य उद्भट ने 'अभिधा' और 'गुणवृत्ति' शब्दशक्तियों का विवेक इस उद्देश्य से किया था जिसमें अनेकानेक अर्थालंकारों में अलंकारान्तर की प्रतिभा का रहस्य समझाया जा सके। वामनाचार्य ने स्पष्टतः शब्दशक्ति के प्रसंग में कोई चर्चा नहीं की है, परन्तु पदार्थ-दोषों के निरूपण[5] तथा वक्रोक्ति अलंकार के लक्षण[6] से ज्ञात होता है कि वे अभिधा और लक्षणा से तथा वाच्य, लक्ष्य रूपी अर्थों एवं तन्मूलक शब्दों से परिचित थे। 'वक्रोक्ति' नामक अलंकार के लक्षण की अवतरणिकावृत्ति[7] से यह भी ज्ञात होता है कि वे गौणी लक्षणा को लक्षणा से भिन्न वृत्ति के रूप में मानने वालों में से थे। फलतः उनके अनुसार वृत्ति, शब्द और अर्थ के भेद इस प्रकार होंगे—

वृत्ति—अभिधा, गौणी (लक्षणा), लक्षणा।
शब्द—वाचक, गौणोत्थापक, लक्षक।
अर्थ—अभिधेय, गौण, लक्ष्य।

रुद्रट ने भी वृत्तियों[8] की चर्चा की है। उनके अनुसार, संख्याओं का निर्धारण होना अत्यन्त कठिन है। उनके द्वारा वृत्ति-चर्चा-स्थल में बहुवचन (वृत्तीनाम्) के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वे कम से कम तीन वृत्तियों को अवश्य स्वीकार करते थे। फलतः यह कहा जा सकता है कि वे भी वामन की तरह वृत्ति, शब्द और अर्थ के भेदों को स्वीकार करते थे।

किन्तु, अलंकारशास्त्र में ध्वनिवाद के उद्भव में ही उस शक्ति का विचार-विमर्श प्रारम्भ होता है जिसे 'काव्य' की शक्ति, रस-वर्णना और रस भावना की शक्ति 'व्यञ्जना' शक्ति कहा

जाता है और जिसकी विशेषता से 'काव्य' अन्य समस्त वाङ्मय-भेदों में अपना विशिष्ट अस्तित्व रखता दिखायी दिया करता है। साहित्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा करके प्राचीनतर काव्यालोचन के सिद्धान्त को संशोधित कर एक नयी काव्यशास्त्रीय धारा का सूत्रपात किया। उनके ग्रन्थ में शब्द-विभाग तो दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु ऐसे वचन[6] उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है—

वृत्ति—अभिधा (शक्ति), लक्षणा, व्यञ्जना ;

अर्थ—वाच्य (अभिधेय), लक्ष्य, व्यंग्य (प्रतीयमान)।

शब्द—वाचक, लक्षक, व्यञ्जक।

ध्वन्यालोक के प्रामाणिक व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक स्थलों पर उक्त तीन प्रकार के शब्दों तथा अर्थों का होना स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने संसर्ग या अभेदावबोधिनी शक्ति के रूप में 'तात्पर्यावृत्ति' को अवस्थित किया। आनन्दवर्द्धन के पश्चाद्वर्ती साहित्यशास्त्रियों—अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि—ने ध्वनिकार की शास्त्रीय मान्यताओं को स्वीकार करके उनके मत का पोषण किया। परन्तु, वहीं दूसरी ओर साहित्यशास्त्रियों का एक ऐसा सम्प्रदाय भी सामने आया जिसने इस ध्वनि-सिद्धान्त को चुनौती के रूप में लिया और भिन्न-भिन्न तर्कों को प्रस्तुत करके व्यञ्जना-ध्वंस का उपक्रम किया। विरोध की इस शृंखला मे भट्टनायक, महिम भट्ट, आचार्य कुन्तक, धनञ्जय-धनिक आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने ध्वनि के आधारभूत व्यंग्य-व्यञ्जक भाव का ही निषेध किया।

इस प्रश्न पर यद्यपि आज भी विवाद है कि 'तात्पर्यावृत्ति' की सर्वप्रथम उद्भावना किसने की है, तथापि अधिकांश विद्वानों में यह मान्यता दृढ़ हो चुकी है कि भट्टमतोपजीवी मीमांसकों द्वारा 'तात्पर्यावृत्ति' सर्वप्रथम प्रतिपादित हुई।

इस प्रसङ्ग मे सर्वप्रथम विचारणीय यह है कि साहित्यशास्त्र में तात्पर्यावृत्ति का अवतरण कैसे हुआ ? बहुत सम्भव है—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिवादियों ने व्यञ्जना-खण्डन के उद्देश्य से और अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्त को मण्डित करने की बुद्धि से अन्य सशक्त विकल्पों की उद्भावना की हो जो ध्वनि का स्थान ग्रहण करने में समर्थ हो सकें। ध्वनि-विरोधियों की इस परम्परा में यदि 'धनिक' ने दशरूपक की अवलोक-टीका मे "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो अभिधा व्यापारः" (वह यह अभिधा नामक शब्द-व्यापार मर्मच्छेदन, कवचभेदन, उरोविदारण तीनों कार्यों को सद्यः कर सकने मे समर्थ निःक्षिप्त बाण की तरह दीर्घ-दीर्घतर अर्थों तक प्रसृत एवं परिव्याप्त होने में समर्थ है।) एवं "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" (जिस अभिप्राय से शब्द प्रयुक्त होता है, वह तदभीष्ट अर्थ का निगदित करता है।)—इन मीमांसा के सुप्रशस्त न्यायों के आधार पर तात्पर्यावृत्ति को सर्वश्रेष्ठ ठहराया और व्यञ्जना की निरर्थकता को उपपादित किया। दूसरी तरफ प्रतिपक्षियों की इसी शृंखला मे महिमाचार्य ने अनुमिति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव कर लिया तथा कुन्तक ने सभी प्रकार की ध्वनियों का वक्रोक्ति के अन्तर्गत प्रतिपादित किया और साथ ही यह उपपादित किया कि 'ध्वनि' एक स्वतन्त्र काव्य न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेद है।

प्राप्त सूचनाओं से कुछ ऐसा लगता है कि "यत्परः शब्दः" का दृष्टिकोण और तज्जन्य तात्पर्य की अनुल्लंघनीय मान्यता सर्वप्रथम साहित्यिक क्षेत्र में 'धनिक' ने स्थापित की। श्री अभिनवगुप्त तक वह शुद्ध मीमांसा का विषय था। ध्वन्यालोक पर उनकी टीका 'लोचन' में उद्धृत

श्रोत्रिय[10] तथा मीमांसक[11] शब्दों के आधार पर यह स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिए। धनिक ने 'दशरूपक' की अवलोक-टीका में इसी दृष्टिकोण को सिद्धान्त-रूप से स्वीकार किया है।

इस तथ्य को हम उनके समकालिक एवं परवर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख करके और विवृत कर सकते हैं। 'व्यक्तिविवेक' के प्रणेता महिमभट्ट ने "यदप्यन्ये मन्यन्ते......किंच यत्परः शब्दः स शब्दार्थः[12]......।" इस कथन द्वारा प्रतिपक्षी (धनिक) द्वारा उपपादित न्याय को उपस्थापित करके, स्वाभिप्रेत सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया। वे धनिक के मन्तव्य को इस प्रकार विवृत करते हैं—"तात्पर्यावृत्ति कार्य को पर्यवसित करने वाले वाच्यार्थ से लेकर प्रतीयमान अर्थ के निश्चय तक होने वाले दीर्घ-दीर्घतर एक ही शब्द-व्यापार की ओर इंगित करती है—अपरार्थ-प्रतीति के लिए तात्पर्य-रूप शब्द-व्यापार भिन्न व्यापार नहीं दिखायी देता।" इस पक्ष को महिमभट्ट ने तात्पर्यावृत्ति की निरर्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से वर्णित किया—आगे वे इसे निरस्त करके 'अनुमिति' की सर्वातिशयिता को उद्घोषित करते हैं।

धनिक के मत को उपस्थापित करते हुए उनके द्वारा 'अन्ये' पद का प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है। डॉ० रे० प्र० द्विवेदी के अनुसार, यहाँ पर महिमभट्ट का 'अन्ये' में संकेत "धनिकादयः" से है। अतः "अन्ये" का "धनिकादयः" से समीकरण इस धारणा को और भी पुष्ट करता है कि "यत्परः शब्दः" की मीमांसाशास्त्र द्वारा प्रवर्तित मान्यता को सर्वप्रथम धनिक ने ही साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रतिपादित किया।

डॉ० वामन काणे ने अपनी कृति "हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स" में वाक्पतिराज के १०२० वि० सं० के शिलालेख में 'धनिक पण्डित' नामक व्यक्ति के उल्लेख को आधार मानकर धनिक को 1020 से पहले का स्वीकार किया है। विभिन्न तथ्यों के आधार पर महिमभट्ट का समय ई० १०२० से ११०० के मध्य स्थिर किया जाता है। इस मान्यता के अनुसार, लोचनकार के समकालिक धनिक भी महिमभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्य प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो अभिधा-व्यापारः" यह न्याय सम्भवतः धनिक की तात्पर्यावृत्ति की दीर्घ-दीर्घतर कल्पना के आधार पर सर्वप्रथम महिमभट्ट ने ही प्रयुक्त किया हो। काव्यप्रकाशकार, विश्वनाथ और गोविन्द ठक्कुर ने इस वाक्य को इसी रूप में उद्धृत किया है।

साहित्यशास्त्र में तात्पर्यावृत्ति के स्वरूप व विकास की समीक्षा संक्षेपतः इस प्रकार है—

अभिनवगुप्त तक वह प्रायः शुद्ध मीमांसा का विषय था जिसका संकेत 'लोचन' में कतिपय स्थलों से मिलता है (उल्लेख पहले किया जा चुका है)। आचार्य अभिनवगुप्त के विचार में तात्पर्यावृत्ति का अभिप्राय उस वृत्ति से है जिसके अभाव में वाक्यार्थ-बोध नहीं हो सकता और यदि वाक्यार्थ-बोध हुआ करता है तो तात्पर्यावृत्ति द्वारा ही होता है। वाक्यार्थ-बोध वस्तुतः परस्पर अन्वित अर्थ का बोध है और इसी के अवबोधन की शक्ति है—"तदन्यथानुपपत्ति-सहायार्थावबोधन-शक्तिस्तात्पर्यं शक्तिः" (लोचन, प्रथम उद्योत)।

इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने उक्त तात्पर्यावृत्ति को अभेद या संसर्गबोधिनी माना है—"तात्पर्यशक्तिः भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्।" (लोचन, चौ० सं०, पृ० ६४)। उनके अनुसार 'व्यंग्यार्थ' तात्पर्यावृत्ति का विषय नहीं हो सकता।

धनिक-धनञ्जय ने काव्य और रसादि में भाव्य-भावक सम्बन्ध की कल्पना करके तात्पर्यावृत्ति की जोरदार शब्दों में वकालत की है।[13] उन्होंने ध्वनिकार द्वारा सुप्रतिष्ठित ध्वनिभूत

अर्थ को तात्पर्यावृत्ति द्वारा ही गतार्थ किया। धनिक ने अपने ग्रन्थ "काव्य-निर्णय" में अपने समकालीन अभिनवगुप्त द्वारा प्रकल्पित 'अर्थप्रतीति' में पूर्वापर भाव के क्रम-निर्धारण की ओर सम्भवतया इङ्गित किया है, परन्तु अभिनवगुप्त की ओर संकेत नहीं है।

अभिनवगुप्त ने अभिधा, तात्पर्यावृत्ति और लक्षणावृत्ति के पश्चात् चतुर्थ कक्षा में ध्वनन-व्यापार (व्यञ्जना वृत्ति) को सर्वथा पृथक् माना है।[१४] सम्भवतः धनिक ने ध्वनिकार के ही विश्लेषण को आधार मानकर उपर्युक्त निष्कर्ष प्राप्त किया हो और उक्त रूप में उसे प्रतिपक्षी का मत सम्भावित कर, उसे अयुक्त बतलाकर ऐसे दूरस्थ अर्थों की प्रतीति में भी तात्पर्यावृत्ति को ही कारण मानकर व्यञ्जना को तात्पर्यावृत्ति में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया हो।[१५]

इस प्रकार "यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्"—यह तात्पर्यवादी धनिक की मान्यता है। अर्थात्, तात्पर्यावृत्ति को किसी स्थान तक सीमित नहीं किया जा सकता, उसकी गति तब तक अक्षुण्ण रहती है जब तक वाक्य-प्रयोग का पूरा प्रयोजन सिद्ध न हो जाय। इस प्रकार धनिकाचार्य ने 'काव्य-निर्णय' की उद्धृत सात[१६] कारिकाओं द्वारा दशरूपक की 'अवलोक' टीका मे व्यञ्जना का खण्डन और तात्पर्यावृत्ति की स्थापना की। इस मान्यता के अनुसार "विषं भक्षय" वाक्य यदि उसका प्रयोग अपने प्रियजन के लिए हितैषी व्यक्ति ने किया हो, तो 'विष खा ले' इतने ही अर्थ तक सीमित नहीं रहेगा, अपितु 'मत खा' इस वक्तृ-अभिप्रेतार्थ की प्रतीति तक (व्यापार) काम करता रहेगा।

इसके विपरीत, महिमभट्ट की मान्यता है कि शब्द मे केवल एक ही शक्ति है।[१७] अनेक शक्तियाँ मानने पर अनेक प्रश्न उपस्थित होगे। मुख्यतः उनकी समकालिकता भी कभी न कभी होनी चाहिए; किन्तु सदा ही इतर अर्थ अग्रिम क्षण में प्राप्त होता है, अतः उस अर्थ को वे शब्द से प्राप्त न मानकर अनुमिति की सहायता से अर्थ से प्राप्त मानते हैं। "विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः"[१८] इस वाक्य का वक्ता कोई ऐसा व्यक्ति है जो, जिसके प्रति कहा जा रहा है, उसका हितैषी है। उसने इस प्रकार विष-भक्षण की सम्मति व्यक्ति-विशेष के यहाँ भोजन न करने के लिए दी है। जो व्यक्ति इस वाक्य मे निहित गुह्य प्रकरण को जानता है—विष-भक्षण-विधान करने वाले "विषं भक्षय"—इस वाक्य के द्वारा व्यक्ति-विशेष के यहाँ किये जाने वाले भोजन में विष से भी अधिक हानिप्रदता का अनुमान कर लेगा।[१९]

इस प्रकार अनुमान द्वारा भोजन-विशेष में विष से भी अधिक अभक्षणीयता की प्रतीति हो जाने पर विष-भक्षण और भोजन-विशेष, दोनो ही अपने-आप मे शून्य सिद्ध हो जाते है और तब शब्द में 'तात्पर्यावृत्ति' नामक शक्ति मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

इस प्रकार धनिक-धनञ्जय ने जहाँ व्यञ्जावृत्ति को तात्पर्यावृत्ति में गतार्थ दिखलाकर अपने मन्तव्य को निगदित किया है, वहीं महिमभट्ट ने इस व्यञ्जना-रूप ध्वनन-व्यापार को हेतु-हेतुमद्भाव समाश्रय से अनुमति मे अन्तर्भाव किया है। भोजराज इन दोनो पक्षों मे समन्वय का प्रयत्न करते हुए स्वीकार करते हैं कि जो शब्द जिस अभिप्राय से कहा गया है, उसका वही अर्थ होता—यही तात्पर्य है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'शृंगार-प्रकाश' मे तात्पर्य के त्रैविध्य को प्रदर्शित किया—"अभिधीयमान, प्रतीयमान और ध्वनि।"[२०] वह 'तात्पर्य' वाक्य मे ही उपपन्न होता है, क्योंकि पदमात्र अभिप्राय को प्रकाशित कर सकने में असमर्थ है। वह तात्पर्य—वाक्य-प्रतिपाद्य वस्तु—तीन प्रकार का होता है, जैसा कि ऊपर विवृत है। इस प्रसंग में भोजदेव अपनी युक्ति के समर्थन में ध्वनिकार की ही उक्तियों का उल्लेख करते हैं और उनका कहना है कि ध्वनिवादियों ने

भी तो ध्वनन-व्यापार के विषयीभूत अर्थ को 'तात्पर्य' पद के द्वारा बार-बार घोषित किया है जो ध्वन्यालोक की कारिकाओं से स्फुट है।[२१] यथा—

रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनाम् सर्वासामलंकारत्व-साधनम्॥[२२]

(ध्वन्यालोक, उद्योत २, पृ० १३८)

(तात्पर्य का निदर्शन करने वाली अन्य कारिकाएँ भी उदाहरणीय हैं जिनका संकेत पाद-टिप्पणी में किया गया है।)[२३]

वस्तुतः ध्वनि व तात्पर्यावृत्ति मे पारमार्थिक भेद नहीं है, तात्पर्य शास्त्रान्तर को लेकर शब्दार्थ-दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है[२४] और ध्वनि काव्यशास्त्र को लेकर काव्यत्व-दृष्टि से इस प्रकार प्रतिपादित है—

"तात्पर्य मेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये सौभाग्य गुणसम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः शृंगार एव हृदि मानवतो जनस्य॥"

मम्मट ने तात्पर्यार्थ' नामक चतुर्थ अर्थ की भी चर्चा की है।[२५] इस चतुर्थ अर्थ के सम्बन्ध मे चर्चा करने की आवश्यकता मम्मट को इसलिए हुई कि आगे उन्हें व्यञ्जना-साधन के प्रसंग में यह सिद्ध करना है कि व्यंग्यार्थोपलब्धि के लिए जिस प्रकार शक्ति और लक्षणा असमर्थ है, उसी प्रकार किन्ही शास्त्रकारों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यावृत्ति भी असमर्थ है। 'तात्पर्यार्थ' नामक चतुर्थार्थ और उसकी उत्थापिका तात्पर्यावृत्ति का परिचय देने मे मम्मट का एक और उद्देश्य यह भी है कि व्यञ्जना-विरोधी धनञ्जय ने तात्पर्य की सीमा को बढ़ाकर जो व्यञ्जना-ध्वंस का प्रयास किया है, उसका भी रहस्य-भेदन तत्त्व-रूप मे हो जाय। इस प्रसंग में इस प्रश्न का उत्तर खोजना भी उचित होगा कि तात्पर्यार्थ है क्या ?—क्या पदार्थ-भिन्न अर्थ—वाक्यार्थ-रूप अर्थ तात्पर्यार्थ है ? वाक्यार्थ-बोध की दृष्टि से यही मानना आवश्यक है कि वाक्यगत प्रत्येक पद अपने-अपने अर्थ का अभिधान किया करते है और पदो क द्वारा प्रतिपन्न अर्थ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण परस्पर संसृष्ट हुआ करते हैं—यह अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों का मत है।[२६] पदार्थ अभिधावृत्ति-बोध्य है, किन्तु 'विशेषवपुः विशेषाकार' (संसर्गता रूप शरीर वाला वाक्यार्थ) तात्पर्यावृत्ति से ही प्रतिपाद्य है।

इसके विपरीत, अन्विताभिधानवादी प्राभाकर-मीमांसकों का कहना है कि जिसे वाक्यार्थ कहा जाया करता है, वह वस्तुतः अभिधावृत्ति-विषयभूत अर्थ है, क्योंकि "आकांक्षादिवशात् परस्परानुषक्त स्वतः परस्पर संसृष्ट" पदार्थ ही तो वाक्यार्थ है,[२७] जबकि पदवृत्ति-विषयभूत अर्थ स्वभावतः परस्परानुषक्त रूप अर्थ है, तब संसर्गबोध मे भी तो 'अभिधा' ही समर्थ है। सहजतया अन्वयविशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ है। पदार्थ से पदार्थ-संसर्ग को पृथक् करना और असंसृष्ट पदार्थ को अभिधावृत्ति विषय और संसर्ग को—अन्वय को तात्पर्यवृत्ति विषय मानना एक अनावश्यक कल्पना है और कुछ नहीं। ऐसी अनुश्रुति है कि भट्ट-मीमांसकों के अनुसार, उक्त वृत्ति (तात्पर्या) वाक्य में रहती है और वाक्यार्थ उससे उपलब्धार्थ है।[२८] न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट भी उक्त मत का उल्लेख करते हैं।

यह प्रश्न अत्यन्त जटिल एवं विवादास्पद है कि तात्पर्यावृत्ति के प्रतिपादक आचार्य आखिर कौन थे ? साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ही तात्पर्यावृत्ति के प्रतिपादकत्व के विषय में जो विभिन्न उल्लेख प्राप्त होते हैं- उनमें आपस में ही विरोध उठ पड़ता है

'लोचन' में "योऽन्विताभिधानवादी शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घमिच्छति" इस प्रकार से तात्पर्य-वाचोयुक्ति के प्रतिपादक को अन्विताभिधानवादी से संकेत करते हैं और मम्मट भी अन्विताभिधान-वाद के खण्डन के प्रसंग में ही "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस तात्पर्य-वाचोयुक्ति का संकेत करते हैं। इससे "शब्दवृद्धाभिधेयांश प्रत्यक्षेणात्र पश्यति" की जो कारिका कुमारिल भट्ट के 'श्लोकवार्तिक' में प्राप्त होती है, अन्विताभिधानवादियों के समर्थन में पूर्वपक्ष के रूप में 'काव्य-प्रकाश' के पञ्चम उल्लास में मम्मट ने उपस्थापित किया है। यह तो निश्चित है कि संसर्गता-रूप विशेषवपु तात्पर्यावृत्ति अभिहितान्वयवादियों की ही प्रतिपाद्य वस्तु हो सकती है, क्योंकि उनके अनुसार पदार्थ पदवृत्ति-विषयभूत तथा वाक्यार्थ तात्पर्यावृत्ति-विषयभूत है—अन्विताभिधान-वादियों के लिए तो यह वृत्ति निरर्थक है, क्योंकि उनके अनुसार अन्वयविशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ है।

इस उभयसम्भव स्थिति में मति दिग्भ्रमित होने लगती है कि तात्पर्यावृत्ति भट्ट-मीमांसकों (अभिहितान्वयवादियों) की उद्भावना है जो कि विद्वानों में रूढ़मूल हो चुकी है, अथवा अन्य शास्त्रकारों की प्रतिपादित वस्तु है—यह तथ्य शोध्य है। साहित्यशास्त्रियों, यथा अभिनवगुप्त, धनिक एवं मम्मट की पर्यालोचनाओं से यह तथ्य तो निश्चिततया प्रतीत होता है कि तात्पर्या-वृत्ति के आद्याचार्य मीमांसक ही रहे होंगे। अभिनवगुप्त ने इस मत का खण्डन करते हुए, इसके मानने वाले को मीमांसक कहा है—

"नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिहितम्।"
"पश्यत, श्रोत्रियस्योक्ति कौशलम्[२८]॥" (लोचन १-४)

मीमांसा दर्शन स्वतः इस न्याय की पुष्टि करता है। मीमांसा दर्शन में जहाँ "विधितत्त्व के उत्पत्ति, प्रयोग, निमित्त और अधिकार"* में चार भेद किये गये हैं, वहाँ उनकी मिश्रितावस्था में कोई एक संज्ञा निश्चित करने के लिए "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" न्याय स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार, यदि एक ही स्थल में एकाधिक विधियों की प्राप्ति हो तो उनमें से एक विधि के नाम से उस विधि-वाक्य को पुकारा जाता है जिसमें उस वाक्य का तात्पर्य रहता है।

इस सिद्धान्त को मानने में शबरस्वामी ने एक और न्याय प्रवर्तित किया है—"भूत-भव्य समुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते"। एकसाथ कही गयी पुरानी और नयी बातों में पुरानी बातें नयी बातों के लिए दुहरायी जाती हैं। काव्यप्रकाशकार ने इन दोनों न्यायों को एकसाथ उपस्थित किया और मीमांसा दर्शन के "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-मर्थविप्रकर्षात्" (शा० भा० ३/३/१४) इस सूत्र पर आपत्ति आती हुई बतलाकर "सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो अभिधा व्यापारः" तथा "यत्परः शब्दः" को अमान्य ठहराया है। इससे भी संकेत मिलता है कि काव्यप्रकाशकार भी दोनों मतों को मीमांसकों का मत मानते हैं। किन्तु यह तब भी सिद्ध नहीं होता कि इसका मूल प्रवर्तक मीमांसा ही है, क्योंकि उसमें भी यह उद्धरण-रूप में उपस्थित किया गया है। परवर्ती टीकाकारों से अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है, किन्तु वह भी अनुश्रुति मात्र पर आधारित दिखायी देता है। 'काव्यप्रकाश' की सर्वोत्कृष्ट टीका "प्रदीप" के लेखक नैयायिक गोविन्द ठक्कुर (१६वीं शती) ने "यत्परः शब्दः······" "सोऽयमिषोरिव······" को (भट्ट-मतोपजीवी) भट्ट-मतानुयायियों का मत स्वीकार किया है।

प्रदीप के 'भट्ट-मतोपजीवी' शब्द का अर्थ वामन झलकीकर ने 'भट्ट लोल्लट आदि' किया है। 'ध्वन्यालोक' के हिन्दी व्याख्याकार विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि ने भी "यत्परः शब्दः······"

जो भट्ट लोल्लट का मत माना है। साहित्यदर्पण (निर्णयसागर षष्ठ संस्करण) के टीकाकार दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने इसमें "अत्र केचिदाहु—सोऽयमिषोरिव···इति" (सा० दर्पण, पंचम परिच्छेद, पृ० २५३) के 'केचित्' का अर्थ 'भट्ट-मतोपजीवी भट्ट लोल्लटादि' किया है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर के परवर्ती व्याख्याकारों की परम्परा ने उनके व्याख्यान का ही अनुसरण किया है जो अभिनवगुप्त के उद्धृत लोचनांश "योऽप्यन्विताभिधानवादी······" से संगत नहीं बैठता। इस प्रकार जब 'काव्यप्रदीप' और 'लोचन' के विरोध से अनुश्रुति भी असंगत ठहरती है और भट्ट लोल्लट का कोई स्वलिखित ग्रन्थ नहीं मिलता, तब "यत्परः शब्दः······" का प्रवर्त्तक उन्हें ही मानना बुद्धिसंगत नहीं। वस्तुतः मीमांसकों की ओर से पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए इतर दार्शनिकों से भट्ट-मत और प्रभाकर-मत में भ्रम होता रहा है। इसीलिए "भट्ट-मतोपजीवी" कथन भ्रममूलक ही है। भट्ट लोल्लट भट्ट-मतोपजीवी माने जाते हैं, जैसा कि उनकी (अभिनवभारती) रस-व्याख्या से स्पष्ट है, किन्तु भट्ट का माना हुआ अभिहितान्वयवाद युक्तियुक्त नहीं लगता। प्रस्तुत प्रसंग में 'लोचन', 'काव्यप्रकाश' और 'उपसंहार-वाक्य' के अनुसार 'काव्यप्रदीप' में भी अन्विताभिधानवाद का खण्डन किया गया है। अन्विताभिधानवाद के प्रवर्तक प्रभाकर हैं।

मम्मटाभिमत—मम्मट ने अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा तात्पर्यावृत्ति की चर्चा व्यंजना-साधन की भूमिका के रूप में ही की है। यों वे तात्पर्यावृत्ति और उससे प्राप्तार्थ के विरोधी नहीं हैं, पर वे व्यंजना की आवश्यकता को तात्पर्यावृत्ति के रहते हुए भी दिखाना चाहते हैं। काव्यप्राण रस की उपलब्धि जिस प्रकार अभिधा या लक्षणा से नहीं हो सकती, उसी प्रकार तात्पर्या से भी नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के पोषण के लिए उन्होंने तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करने वाले अभिहितान्वयवाद के प्रसंग को उपस्थापित किया है।

तात्पर्यावृत्ति और विभिन्न शास्त्रकार—व्याकरणशास्त्र के आचार्य पुण्यराज ने भी संसर्ग-रूप विशेष रूप में वाक्यार्थ की उपस्थिति अभिहितान्वयवादी के रूप में स्वीकार करते हुए तात्पर्या-वृत्ति का स्मरण किया है।[३०] न्यायकोशकार ने भी प्राच्य नैयायिकों के मत को उद्धृत करते हुए अभिधा से पृथक्-पृथक् पदार्थोपस्थिति के पश्चात् संयुक्तार्थ के लिए तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता को स्वीकार किया है।[३१] नव्य-नैयायिकों के अनुसार, अन्वयांश में स्वरूपसती स्वीकार कर संसर्ग (अन्वयांश) की उपस्थिति के लिए पृथक् वृत्ति 'कल्पना' को अनावश्यक बतलाया गया है।[३२]

तात्पर्या-विरोधी मत—मीमांसकों के अनुसार, लक्षणा नाम से या तात्पर्या नाम से तात्पर्या-वृत्ति की सत्ता ज्ञात होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त मार्ग के सभी मीमांसक अनुयायी हैं। प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर उक्त वृत्ति के दृढ़ विरोधी हैं। वे अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। उनके मतानुसार अभिधा से परस्परान्वित संकेतितार्थ की उपस्थिति होती है। "भूतले घटोऽस्ति" वाक्य से जो घटानुयोगिक और भूतलास्तित्व प्रतियोगिक संसर्ग का बोध होता है, वह अभिधा से ही इसके मतानुसार होता है। उसे ही वाच्य भी कहते हैं। प्रभाकर-मत से 'शक्य-ज्ञान' विषय को 'वाच्य' कहा जाता है। उक्त ज्ञान के विषय में शक्यता उपचार से प्राप्त होती है। इस प्रकार की विषयिता जिस प्रकार पद के अर्थ में है, उसी तरह पदार्थ-सम्बन्ध में भी है। अतः संसर्ग-ज्ञान के लिए स्वतन्त्र वृत्त्यन्तर तात्पर्या की आवश्यकता प्रभाकर नहीं स्वीकार करते हैं। भट्ट कुमारिल ने भी उक्त मत की रूपरेखा प्रस्तुत की है।[३३] अतः, संभव है, कुमारिल से पूर्व भी उक्त मत विचारणीय रहा हो।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तात्पर्यावृत्ति के पक्ष में कुछ शास्त्रकार हैं तो उसके विपक्ष में भी कतिपय हैं। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मम्मट ने प्रथम मत को आदर की दृष्टि से देखा है। इसलिए उन्होंने अभिहितान्वयवाद के उत्पादकों के लिए (अभिहितान्वयवादिनाम्' बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया है। इसके विपरीत, अन्विताभिधानवादियों के लिए एकवचन (अन्विताभिधानवादिनः) ही प्रयुक्त किया है। मम्मट ने आदरास्पद मत के लिए अन्यत्र भी बहुवचन का ही प्रयोग किया है।[३४] मम्मट द्वारा प्रथम मत को प्रश्रय देना इसलिए भी उचित है कि द्वितीय मत के अनुसार सामान्य रूप से अन्वयांश में शक्ति मानने पर भी विशेष प्रतिपत्ति के लिए वृत्त्यन्तर की आवश्यकता होगी। सामान्य मात्र से कार्य-निर्वाह स्वीकार करने पर सभी वाक्यों की पर्यायता हो जायेगी, अतः विशेष की शरण में आना ही होगा।

कुमारिल पक्ष—शब्दार्थ-ज्ञान के लिए कुमारिल भट्ट ने लोक-व्यवहार को आधार माना है। भट्ट जी ने यह प्रदर्शित किया है कि श्रोता को लोक-व्यवहार द्वारा अर्थज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणों के सहारे होता है। यह ज्ञातव्य है कि निम्नोक्त कारिकाओं में अर्थबोध-प्रक्रिया की ओर भट्ट जी ने संकेत किया है। इनसे किसी वाद की कोई झलक नहीं मिलती है, विशेषकर अन्विताभिधानवाद के बोधन के लिए तो भट्ट जी ने इन कारिकाओं का उपस्थापन नहीं किया होगा, क्योंकि वे अभिहितान्वयवादी थे। ऐसी स्थिति में मम्मट द्वारा अन्विताभिधानवाद के स्पष्टीकरण के लिए इनका उपस्थापन[३५] (काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० १५६) विवेचनीय है।

'श्लोकवार्तिक' से उद्धृत उनके इस वाक्य—"वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थिति"[३६] से निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि वे पदों से पदार्थ (अनन्वितार्थ) की उपस्थिति अभिधा से और अन्वितार्थ यानी वाक्यार्थ की उपस्थिति लक्षणा से स्वीकार करते हैं। कुमारिल के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र ने 'शास्त्रदीपिका' में विस्तारशः अन्विताभिधानवाद का खण्डन कर अभिहितान्वयवाद को प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने 'अन्विताभिधानपक्षे[३७] च विपरीतं बलाबलम् स्यात्"—(अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करने पर मीमांसा-भाष्यकार शबर मुनि द्वारा प्रतिपादित श्रुति आदि की अपेक्षा लिङ्ग आदि का दौर्बल्य—अर्थ-विप्रकृष्टता के कारण—यह प्रशस्त सिद्धान्त निरर्थक हो जायेगा) आदि लिखकर उक्त वाद को महादोषों से ग्रस्त बतलाया है। वाक्यार्थ की उपस्थिति वे लक्षणा से मानते हैं।[३८]

कुछ विद्वज्जन अपने निश्चित तर्कों के आधार पर भट्ट कुमारिल को अभिहितान्वयवादी आचार्य के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं तथा उनके मत में "तात्पर्यावृत्ति के आद्याचार्य भट्ट कुमारिल और उनके अनुयायी हैं"—यह धारणा गतानुगतिक प्रवाह के रूप में पायी जाती है। विद्वानों की यह समीक्षा अग्रलिखित तथ्यों पर आधृत है—

(१) भट्ट कुमारिल वाक्यार्थ को "तात्पर्य" नाम की किसी वृत्ति से उपस्थाप्य न मानकर लक्षणा से उपलभ्य (लक्ष्यमाण)[३९] मानते हैं। ऐसी स्थिति में भट्ट को तात्पर्यवादी कहना कोई अर्थ नहीं रखता। (२) विद्वानों का एक समूह उन्हें अन्विताभिधानवादी ही सिद्ध करने का प्रयास करता है। उसके अनुसार भट्ट कुमारिल द्वारा उल्लिखित अर्थज्ञान-प्रक्रिया इसी ओर संकेत करती है। इसलिए "शब्दवृद्धाभिधेयांश"[४०]......आदि कारिका-द्वय को अन्विताभिधानवाद के स्पष्टीकरणार्थ मम्मट ने अपने ग्रन्थ (काव्यप्रकाश) में प्रस्तुत किया है। उक्त दोनों कारिकाओं के प्रतिपादक कुमारिल थे, यह निर्विवाद है। (३) प्राचीनाचार्यों ने भी उन्हें अभिहितान्वयवादी नहीं

समझा, तभी तो 'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) के व्याख्याकार प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने अभिहितान्वयवाद के विवरण-प्रसंग में "केचिदाचार्या"[४१] का समीकरण भट्ट कुमारिल आदि से न करके वाचस्पति मिश्र आदि से किया है--यह निश्चित है कि भट्ट कुमारिल वाचस्पति से पूर्ववर्ती हैं। (४) 'काव्यप्रकाश' के प्रामाणिक व्याख्याकार भीमसेन दीक्षित ने भी—मीमांसकों के मत से तात्पर्यावृत्ति नहीं है, अपितु कतिपय नैयायिकों के मत से है—ऐसा विवरण मम्मट के "केषुचित्"[४२](किन्हीं आचार्यों के मत में) पद का दिया है।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भट्ट कुमारिल अभिहितान्वयवादी नहीं हैं और तात्पर्यावृत्ति उनकी प्रतिपाद्य विषय-वस्तु नहीं है। 'काव्यप्रकाश' के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार गोविन्द ठक्कुर, भीमसेन दीक्षित एवं वामन झलकीकर किसी ठोस आधार के अभाव में तथा ऊपर विवृत अन्य पुस्तकीय साक्ष्यों को उद्धृत करते हुए भट्ट कुमारिल को तात्पर्यवादी के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं। विद्वानों के उक्त विमर्शों से मेरा विवाद नहीं, परन्तु जहाँ तक मेरा दृष्टिकोण बनता है—वह इनसे कुछ भिन्न है।

हो सकता है कि भट्ट कुमारिल ने अपने ग्रन्थों में तात्पर्यावृत्ति का शब्दतः उल्लेख अथवा उसकी स्वीकृति न की हो तथा अभिहितान्वयवाद को उसी रूप में परिभाषित न किया हो, जैसा कि अर्वाचीन विद्वानों में मान्य है, परन्तु उनके अनुयायियों की परम्परा मे 'तात्पर्यावृत्ति' के स्फुट संकेतों से यह ज्ञान होता है कि भाट्टों की सरणि में 'तात्पर्यावृत्ति' को निश्चितमेव स्थान प्राप्त है और यह कहा जा सकता है—मीमांसकैकदेशी भाट्ट उसे किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। अन्यत्र भीमसेन दीक्षित ने भी यह उपपादित किया है कि भट्ट-मत के अनुसार "अन्वयांश के लिए लक्षणा का स्वीकार करना भट्ट-मत से तात्पर्या को ही नामान्तर से संकेतित करता है।"

भाट्ट-मीमांसकों की तात्पर्या-समर्थक उक्तियों का विवरण मिलता है। मीमांसा-कोशकार ने भी तात्पर्यावृत्ति का संकेत करते हुए भाट्ट-मीमांसकों के तत्सम्बद्ध उद्धरणों का विवरण दिया है—

'तन्त्रवार्तिक' के प्रमुख टीकाकार सुप्रसिद्ध मीमांसक भट्ट सोमेश्वर ने 'न्यायसुधा' में तीन स्थलों पर तात्पर्यावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनमें एक स्थल पर सोमेश्वर ने "सामान्य" प्रतीक पर तन्त्रवार्तिककार का आशय प्रकट करते हुए लिखा है—सभी स्थलों पर क्या करना चाहिए? आदि के उत्तर में 'पचेत्' आदि उत्तर दिये जाते हैं। अतः इस नियम के अनुसार जहाँ क्रिया अवाच्य भी हो, वहाँ भी तात्पर्यावृत्ति से क्रिया का शाब्द ज्ञान मानकर समानाधिकरण्य स्वीकार करना चाहिए।[४४] मीमांसकों में सम्भवतः भट्ट सोमेश्वर ही एक ऐसे मीमांसक हैं कि जिन्होंने तात्पर्यावृत्ति को 'तात्पर्या' नाम से ही संकेतित किया है। एक अन्य स्थल पर वे उल्लेख करते हैं—"तात्पर्या नामक शब्द-व्यापार सर्वत्र भावित होते हुए[४५]" और अन्यत्र इस प्रकार विवृत करते हैं—"तात्पर्या के अवधारण के बिना लाक्षणिक शब्द की प्रवृत्ति का अयोग (योग न होना)।"[४६] 'भास्वदीपिका' टीका 'मयूखमलिका' अपरनामा 'सोन' में भी उल्लिखित है कि तात्पर्या से अर्थ 'वृत्ति' है, न कि वृत्ति का तात्पर्य। गौणत्व के अविशिष्ट होने पर भी[४७] शाबर-भाष्यकार उल्लेख करते हैं—"तात्पर्यातिं लक्षणासिद्धिः"। (शा० १/२/१) (तात्पर्यावृत्ति से लक्षणा की सिद्धि होती है।) 'भाट्टदीपिका' के प्रणेता खण्डदेव मिश्र भी तात्पर्यावृत्ति को शब्दगत धर्म-विशेष के रूप में विवृत करते हैं और उस तात्पर्या के ग्राहक रूप में अध्ययन-विधि, आदि को स्वीकार करते हैं।[४८] 'भाट्टचिन्तामणि' के लेखक ने तात्पर्यावृत्ति-विषयक विद्वानों की

मान्यताओं की मीमांसा करते हुए कुछ विद्वानों के तात्पर्य-सम्बन्धी विचार इस प्रकार उल्लिखित किये हैं—"कुछ मीमांसक तात्पर्य-ज्ञान को लाक्षणिक नानार्थ स्थनीय शाब्दबोध में हेतु मानते हैं, गौरव के कारण शाब्दबोध-मात्र में नहीं। उदाहरणस्वरूप, 'सैन्धव' पदजन्य नानार्थ-उपस्थिति के एकसाथ (एक ही क्षण) होने पर, उस पद से व्युत्पन्न लवणादि के शाब्दबोध में तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना है।"[४६]

इस तरह अनुसंधान करने पर अनेकानेक ऐसे स्थल मीमांसा-ग्रन्थों से प्राप्त हो सकते हैं जिनसे तात्पर्यावृत्ति की ओर सूक्ष्म गवेषण और उसका वास्तविक मूल्याङ्कन सम्भव हो सकेगा। उपर्युक्त उद्धरणों से सुस्पष्ट है कि वस्तुतः तात्पर्यावृत्ति के बीज भट्ट-मीमांसकों की ही परम्परा में परिलक्षित होते हैं और पश्चाद्वर्ती भाष्यकारों, टीकाकारों तथा आलंकारिकों ने तात्पर्यावृत्ति के सम्बन्ध में मतान्तर प्रस्तुत करके और उसे अन्य शास्त्रकारों के प्रतिपाद्य—शाब्दतत्त्व—से किसी प्रसङ्गवश जोड़कर इस प्रश्न को और जटिल और विवादास्पद बना दिया।

संदर्भ-संकेत

१. भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी यथा।—नाट्यशास्त्र, पृ० ७०। २. प्रतीतिरर्थेषु मतस्तं शब्दं ब्रुवते परे।—काव्यालंकार, भामह, पृ० १४८। ३. सम्बन्धोऽर्थेन वा सता।—उपर्युक्त, भामह, पृ० १५०। ४. के शब्दाः किञ्च तद्वाच्यमित्यहो वर्मबुत्तरम्।—उपर्युक्त, भामह, पृ० १५२। ५. लाक्षणिकासभ्यान्वितं लक्षितम् (अश्लीलपरिहारक वचन)—काव्यलंकार सूत्रवृत्ति, पृ० ७६। ६. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः (का० सू० वृत्ति, पृ० २३५)। ७. द्रष्टव्य—उपर्युक्त, पृ० २३५। ८. वाक्यं तत्राभिमतं परस्परसव्यपेक्षवृत्तीनाम्। ९. (क) वाचक शक्ति-निबन्धनम्; (ख) उपरचित शब्दवृत्त्याः; (ग) प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यंजकत्वम्। १०. नूनं मीमांसकस्य प्रवादं प्रति नैमित्तिकत्वमभिहितम्—(लोचन, चौं० सं०, पृ० ६६)। ११. पश्य श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। उपर्युक्त, पृ० ६६। १२. व्यक्तिविवेक, डॉ० रे० प्र० द्विवेदी—चौखम्बा, वाराणसी, पृ० १३७-१४०। १३. काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः......, डॉ० भोला-शंकर व्यास, दशरूपक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ० २५१। १४. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक "लोचन" टीका संवलित (लोचन, १.४) चौ० विद्याभवन, वाराणसी। १५. व्यक्तिविवेक-"विमर्श"—डॉ० रे० प्र० द्विवेदी, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, पृ० १३४-१३५। १६. तात्पर्या-नतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः।.........तात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते॥—, दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, डॉ० भोलाशंकर व्यास)। १७. "शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः अर्थस्यैकैव लिंगता। न व्यंज-कत्वमनयोः समस्ति"........॥—(व्यक्तिविवेक—हिन्दी अनुवाद—डॉ० रे०प्र० द्विवेदी, चौखम्बा, वाराणसी, पृ० ११-१२)। १८. व्यक्तिविवेक, पृ० १२३। १९. व्यक्तिविवेक, पृ० १३३। २०. "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति तात्पर्यम्।—शृंगार प्रकाश, सप्तम प्रकाश—ज्योशेर संस्करण, पृ० २४६। २१. साहित्य-सन्दर्भ—"सागरिका" (पत्रिका), वर्ष ६, अंक १, डॉ० रे० प्र० द्विवेदी, पृ० ४। २२. ध्वन्यालोक—कृष्णकुमार, साहित्य भंडार, मेरठ, पृ० १३८। २३. उपर्युक्त पृ० ३८१, ३९८, पृ० ४११, पृ० ४१६। २४. शृंगारप्रकाश—मंगलपद्यम्, ज्योशेर संस्करण, पृ० २२१। २५. काव्यप्रकाश—मम्मट—डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ० १६। २६. आकांक्षायोग्यता सन्निधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थो समुल्लसति—इति अभिहितान्वयवादिनां मतम्॥—(काव्यप्रकाश—डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौ० विद्याभवन, बनारस, पृ० १६)। २७. वाच्य एव वाक्यार्थ इति

(उपर्युक्त, पृ०२१)। २८. पदानि हि स्व स्वमथमभिधायनिवृत्त व्यापाराणि अथदानीमर्थां अवगता वाक्यार्थं सम्पादयन्ति।—'तन्त्रवार्त्तिक'—शा० भा०, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पुणे, पृ० ६६; न्याय-मञ्जरी, पृ० २६५। २९. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, 'लोचन' टीकासहित, चौ० विद्याभवन, वाराणसी। ३०. वाक्यपदीय, पृ० १२। ३१. न्यायकोश, पृ० ३९८। ३२. वेदान्त परिभाषा, पृ० १९३। ३३. वार्त्तिक, पृ० ८१०-९१—"तत्रयोऽन्वेति यं शब्दम्……"। ३४. अभिनवगुप्तपादाः (काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास)—चौ० विद्याभवन, बनारस, पृ० ७८। ३५. सन्दर्भ—पूर्वोक्त (ग्रन्थ-संकेत)। ३६. वार्त्तिक, पृ० ९४३—कुमारिल भट्ट—चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, बनारस। ३७. शास्त्रदीपिका—पार्थसारथि मिश्र—निर्णय-सागर, बम्बई, पृ० ६०२। ३८. "तस्मात् पदाभिहितैः पदार्थं लक्षणया वाक्यार्थं"—उपर्युक्त (शा० दी०, पृ० ६०४)। ३९. वार्त्तिक, पृ० ६७६। ४०. काव्यप्रकाश, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, पृ० १५६। ४१. तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी), पृ० २६६। ४२. काव्यप्रकाश, पृ० १९। ४३. "अन्वये लक्षणेति भट्टमतमपि तात्पर्यस्यैव नामान्तर." —काव्यप्रकाश, सुधा सागर-टीका संवलित, पृ० ४४। ४४. "……अवाच्यत्वे भावनायास्तात्पर्यवृत्त्या न आशाब्दत्वात् समानाधिकरण्योपपत्तौ कर्त्रधिकरण सिद्धान्तदृष्टान्ताभिधानं तथाभूतस्य अपेक्षमाणत्वेन शाब्दीभूतया इत्यर्थः।"—चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, "न्यायसुधा"—५७२-५७३ (पृष्ठ २/१/१)। ४५. "तात्पर्याख्य शब्द व्यापारस्य सर्वत्र भावात्"—उपर्युक्त, १४४५ पृ० (३/४/३)। ४६. "तात्पर्यविधारण विना लाक्षणिक शब्द प्रवृत्ति-अयोग:।"—उपर्युक्त, पृ० ७३७। ४७. तात्पर्यात् इतिकर्मन्ते गौणत्वं सम्भवति।—'मयूखमालिका" (७/३/४), निर्णय सागर, बम्बई। ४८. "भाट्टदीपिका" (१/१/७)— निर्णय सागर, बम्बई। ४९. "भाट्टचिन्तामणि—चौखम्बा, संस्कृत ग्रन्थमाला, बनारस, पृ० ६९।

१५७-ए, अतरसुइया
इलाहाबाद-३



मिथ : मनोवैज्ञानिक व्याख्या

डॉ० वीरेन्द्र सिंह

आधुनिक वैचारिक इतिहास में मनोवैज्ञानिक प्रत्ययों और विचारों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसने मानवीय क्रियाओं और शक्तियों का एक नया विवेचन प्रस्तुत किया है। मानसिक क्रियाओं का एक तार्किक विश्लेषण और मानव-विकास से उसके सम्बन्ध को रेखांकित कर मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने मानव-मन की अतल गहराई का साक्षात्कार किया है। इस अध्ययन तथा खोज ने मानवीय क्रियाओं को समझने का एक नया आयाम उद्घाटित किया और साथ ही 'मानस' और 'परिवेश' के आपसी सम्बन्ध और प्रतिक्रियाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि उनके द्वारा मानसिक और परा-मानसिक शक्तियों का एक 'आश्चर्यजनक' और रहस्यपरक (रहस्यवाद नहीं) लोक का क्रमिक उद्घाटन हुआ। यह उद्घाटन मानव-मन के क्रमिक विकास मे परिलक्षित होता है जिसके द्वारा आदिमानव से लेकर आज तक के मानव के विकास को समझा जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप से मानव के वैचारिक इतिहास को क्रमिक रूप से रेखांकित करता है। आदिम मानव (या प्राचीन मानव) ने मन की इस वैचारिक शक्ति का प्रदर्शन (जिसे केसिरर तथा लीवी-ब्रूहल ने प्राग्तार्किक विचारों की संज्ञा दी है) अनेक क्रियाओं तथा सृजनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया। मिथ, प्रतीक, यातु और धर्म के अनेक प्रारम्भिक विचारों की पृष्ठभूमि में मन की इसी सृजनात्मक क्रिया का परिचय प्राप्त होता है। इस मानसिक क्रिया का महत्त्व इसी सृजनात्मक शक्ति में निहित है जिसने मानव के वैचारिक इतिहास को अनेक 'रूपों' मे विकसित किया। ये 'रूप' ही वे प्रारम्भिक विचार और अवधारणाएँ है जिसने अनेक ज्ञान-क्षेत्रों (जैसे धर्म, मिथ, गणित, इतिहास आदि) को जन्म दिया और साथ ही मानसिक प्रक्रियाओं की अनेक आयामी 'गतिशीलता' को रेखांकित किया। मिथ और धर्म भी इस गतिशीलता के एक आयाम की ओर संकेत करते हैं जिसके स्वरूप और सृजन-प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से विवेचित एवं समझा जा सकता है। मिथिक चेतना का विवेचन और उसके विकास को एक मानसिक क्रिया के रूप में देखना जिसमें बाह्य जगत् के प्रति एक संवेदनात्मक 'उत्तेजना' का रूप भी प्राप्त होता है, सत्य में मानव-मन की उस 'शक्ति' की ओर संकेत करता है जिसे मैंने 'सृजनात्मक' या 'प्राग्तार्किक' शक्ति की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मिथ, धर्म तथा अन्य मानवीय क्रियाओं का सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है जिसका संबंध 'चेतना' से है। मनस् (साइकी) के दो अंग हैं— एक 'चेतन' और दूसरा 'अचेतन', जिसके बारे में फ्रायड और युंग ने अपने तरीके से विचार किया है। फ्रायड ने 'मनस्' (व्यक्तित्व) के तत्त्वों का विभाजन 'ईड, इगो और सुपर इगो' में किया है, जबकि युंग ने मनस् का विभाजन चेतन, व्यक्तिगत अचेतन और सामूहिक अचेतन के रूप में किया है। मनस् का इन तीन उपभागों में विभाजन युंग की विचारधारा का एक अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसने मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में और मिथ-सृजन के क्षेत्र में समान रूप से योगदान दिया है ।[1]

व्यक्तिगत अचेतन के बारे में यह मान्यता है कि वह अचेतन की ऊपरी सतह है । सामान्य रूप से यह माना जाता है कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ होती हैं जो अचेतन में एकत्र होती जाती हैं, जैसे ऐसी स्मृतियाँ जो विस्मृत हो गयी हैं, ऐसी प्रवृत्तियाँ तथा इच्छाएँ जो दमित हो गई हैं तथा ऐसी वासनाएँ जो समाज में (किसी कारणवश) पूरी नहीं हो सकी हैं । ये सभी तत्त्व मिलकर अचेतन की 'जटिलताओं' का निर्माण करते हैं । ये 'दमित' तत्त्व कभी भी 'चेतन' नहीं होते हैं, वरन् इनका प्रयत्न यह होता है कि वे चेतन स्तर को सदैव आन्दोलित करने की ओर गतिशील रहते हैं । यह तथ्य कि बहुत-सी वस्तुएँ जो अचेतन की 'गहराई' में आरंभ होती हैं, वे क्रमशः चेतना के ऊर्ध्व स्तर की ओर बढ़ती हैं जो यह स्पष्ट करती है कि चेतना के नीचे न जाने कितने समय से एक निरन्तर विकास होता जा रहा है और वासनाएँ तथा इच्छाएँ अचेतन में दीर्घकाल से एकत्र होती रहती है और तब कहीं इसके बाद वे अपना 'प्रभाव' चेतन स्तर पर दिखाने में समर्थ होती है । इस प्रकार, अचेतन का यह ऊपरी स्तर किसी व्यक्ति के उस रूप की ओर संकेत करता है जो वह एक (चेतन) रूप में है । दूसरे शब्दों में अचेतन की यह ऊपरी सतह किसी मानव के व्यक्तिगत गुणों से संयुक्त होती है और इसी से युंग इसे 'व्यक्तिगत अचेतन' की संज्ञा देता है जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है ।[2]

हम यह देख आए हैं कि मनस्-शक्ति, अचेतन के द्वारा ऊर्ध्वगामी (या आरोहणशील) होती है जब तक कि वह अन्ततः चेतना में प्रविष्ट नहीं हो जाती है । अब प्रश्न यह उठता है कि ये मनस्-तत्त्व कहाँ से आते है, तो यह माना जा सकता है कि वे अचेतन के किसी गहरे स्तर से आते हैं । अचेतन के इस गहरे स्तर को 'सामूहिक अचेतन' की संज्ञा दी गयी है । हमारे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटित होती हैं जो सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियाँ हैं । यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सामूहिक अचेतन के तत्त्व उसी प्रकार प्रकट होते है जिस प्रकार अचेतन के अन्य तत्त्व, अर्थात् विचार, अभिवृत्ति और व्यवहार । इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत और सामूहिक अचेतन के प्रकटीकरण में एक अन्तर भी है और वह यह कि सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियाँ अन्य अचेतन तत्त्वों के विपरीत अधिक विचित्र और विषम होती हैं । उनकी यह विषमता इसलिए भी अधिक होती है कि उन्हें मनस्-चेतन में कहीं अधिक प्रतिरोध सहन करना पड़ता है और इसी कारण ये तत्त्व स्वप्न, दिवा-स्वप्न और अनेक प्रकार की मानसिक विकृतियों और हलचलों में रूपान्तरित होते रहते हैं ।

सामूहिक अचेतन का प्रकटीकरण एक प्रकार से जीवन से भी विस्तृत है और स्वप्न तथा फैन्टेसी, जो सभाव्य की अपेक्षा असभावित से अधिक जुड़े रहते हैं, सामान्यतः मानव-जीवन में एक आम घटना है । दूसरी ओर ऐसे दिवा-स्वप्न जो सर्वशक्तिमान् (विश्व में) की भावना से अनुप्रेरित रहते हैं और जीवन तथा मृत्यु की शक्ति से अन्य व्यक्तियों की सापेक्षता में गतिशील रहते है—ऐसे उदाहरण नैसर्गिक क्रम, उन्माद तथा विक्षिप्तता की दशा के अधिक निकट होते है । रावण का अपने को सर्वशक्तिमान् मानना, हिरण्याकश्यप का अपने को इस कदर महान् शक्तिशाली मानना कि उसके आगे 'परमदेव' भी नतशिर है और 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में जोसफ का वह स्वप्न जहाँ वह यह कल्पना करता है कि उसके सामने सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र नमन कर रहे हैं—ऐसे अनेक उदाहरण अचेतन की क्रिया से सम्बन्धित हैं जो यथार्थ जीवन से कहीं विस्तृत है ।

'जीवन से भी बड़े' इन गुणों की अपेक्षा सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि वे बार-बार मानवीय इतिहास में घटित होती रहती हैं। यह युंग के ही प्रयत्नों का फल है कि अनेक मनोचिकित्सक अपने परामर्श-कक्षों में उन तथ्यों और रहस्यों को प्राप्त कर सके जिनकी समानान्तर समानता प्राचीन ग्रंथों और प्राचीन धार्मिक पद्धतियों में प्राप्त होती है। इन कक्षों में अनेक रोगियों के स्वप्न और फैन्टेसी जो जीवन से भी बड़े गुणों के दस्तावेज हैं और जिनका जीवन से गहरा महत्त्व है—इनकी समानता ऐसे बिम्बों और विचारों से है जो हमें मिथ और धर्म में भी प्राप्त होते हैं। सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियाँ अधिकतर स्वप्न और फैन्टेसी में ही होती हैं इसका कारण यह है कि यथार्थ जीवन की चेतन-प्रक्रिया से ये तत्त्व बहुत कम नियन्त्रित होते हैं। सामूहिक अचेतन के प्रकटीकरण में एक अन्य तत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध मिथ और धर्म से माना गया है और यह तत्त्व है—इन अभिव्यक्तियों की अर्थवत्ता 'व्यक्तिगत' न होकर 'सामान्य' या 'सामूहिक' महत्त्व की होती है। दूसरे शब्दों में, इनका सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति से है, जैसे माता का अस्तित्व, जन्म लेना, सूर्य का ताप और उसकी अपार शक्ति, मृत्यु आदि की घटनाएँ, जो अनेक बिम्बों और भावों के द्वारा संसार भर में प्राप्त होती हैं, उन्हें ही युङ्ग ने सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्ति कहा है।[3] सामूहिक अचेतन की अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ ऐसी भी हैं जो मानव-संस्कृति में इतनी महत्त्व की हैं कि उन्हें सांस्कृतिक प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण नायक या 'हीरो' की भावना है जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है, सृष्टि की भावना है, निरपेक्ष पाप और पुण्य की भावना, तथा सभी व्यक्तियों की 'परमात्मा' की भावना—ये सभी तत्त्व प्रतीक और मिथ के सृजन में अपना योगदान देते रहे हैं। ये सभी भाव या विचार तर्कना-शक्ति से अधिक अनुशासित नहीं रहते है और इसी से ये स्वप्न में रूपान्तरित होते हैं और चेतन फैन्टेसी में वाष्पीकृत हो जाते हैं।[4] यह सारी प्रक्रिया मानव-मन की वह अद्भुत और आधारभूत प्रक्रिया है जिसने धर्म और मिथ को जन्म दिया। मानव की अनेक क्रियाएँ अनुभव के इसी प्रतीकात्मक रूपान्तरण पर विकसित हुई हैं।

सामूहिक अचेतन को मनस् का गहरा स्तर माना गया है और युङ्ग ने इसे 'विषयगत' या वस्तुपरक (ऑब्जेक्टिव) माना है। इससे उसका तात्पर्य यह है कि यह स्तर व्यक्ति के विषयिगत (सब्जेक्टिव) जीवन पर आश्रित नहीं है और साथ ही, व्यक्ति के चेतन मन के द्वारा यह 'स्तर' नियंत्रित नहीं रहता है, वरन् यह हमारे जीवन को अपने तरीके से प्रभावित करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर के आंतरिक अंग (गुर्दे और जिगर) बिना चेतना के निर्देश और ज्ञान के अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामूहिक अचेतन की क्रिया के फलस्वरूप जो बिम्ब और भाव उत्पन्न होते हैं, उनके लिए हम उत्तरदायी नहीं है। एक अन्य कारण से भी हम सामूहिक अचेतन को 'वस्तुपरक' कह सकते हैं कि यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान है और इस आधार पर इसकी तुलना बाह्य जगत् से भी की जा सकती है जिसमें हमारा जीवन क्रियाशील रहता है। इस प्रकार सामूहिक अचेतन एक मानसिक (या आत्मिक) पृष्ठभूमि अथवा वातावरण प्रस्तुत करता है जिसके अन्दर हम अपने चेतन जीवन को व्यतीत करते हैं और जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान है, चाहे उन व्यक्तियों में व्यक्तिगत विभिन्नताएँ क्यों न हों?

सामूहिक अचेतन और बाह्य भौतिक जगत् के सम्बन्ध को लेकर आगे भी विचार किया जा सकता है। सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियाँ जहाँ एक ओर विभिन्न व्यक्तियों के जीवन में घटित होती हैं, वहीं वे समूह के जीवन में भी प्राप्त होती हैं। इसका एक उदाहरण दो महायुद्धों के बीच

हिटलर का उदय है। यह कहना कि हिटलर ने जर्मन जाति पर अपने अतिवादी विचारों को आरोपित किया, यह पूर्ण सत्य नहीं है, पर यह भी सत्य है कि हिटलर ने जर्मन जाति की आंतरिक इच्छाओं और कामनाओं को एक ठोस अभिव्यक्ति प्रदान की जो अभिव्यक्ति के लिए एक सामूहिक रूप में प्रयत्नशील थीं। यही कार्य राम ने जनवाहिनी के संगठन के द्वारा सम्पन्न किया[४] और गांधी ने जन-मानस की इच्छाओं को एक संगठित आधार प्रदान किया। इससे यह स्पष्ट है कि एक ही प्रकार के अचेतन तत्त्व एक ही समूह या जाति के व्यक्तियों को प्रभावित कर सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मनस् की उपसंरचना में व्यक्ति की सत्ता समाविष्ट रहती है जिसकी अभिव्यक्ति उसके द्वारा होती है। युङ्ग ने सामूहिक अचेतन को 'पर्वत की शृङ्खला' कहा है जिसकी चोटियाँ व्यक्ति का चेतन मन है।[५] एक विश्वजनीन सामूहिक अचेतन का भाव इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके द्वारा ऐसी प्रक्रियाओं और घटनाओं को समझा जा सकता है जिनका सम्बन्ध एक से अधिक व्यक्तियों से होता है। मिथ और प्रतीक (धर्म) का सम्बन्ध इसी प्रक्रिया से है जो सामूहिक अचेतन और चेतन व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध को रेखांकित करती है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि सामूहिक अचेतन सदैव ही अचेतन रहा है और रहना चाहिए। मानवीय विकास के दौरान जो वस्तुएँ कभी सामूहिक अचेतन में थीं, वे क्रमशः चेतना की अंग हो गयीं। पर, यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल और दीर्घकालीन है और यह सम्भव नहीं है कि सामूहिक अचेतन के तत्त्व कम समय में चेतना के स्तर तक आ सकें, इसके लिए एक लम्बे समय की आवश्यकता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो सामूहिक अचेतन अचेतन की वह पृष्ठभूमि है जो चेतना को गहनता और शक्ति प्रदान करती है। यह गहराई और शक्ति मिथ-सृजन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जो काल के दीर्घ आयाम के अन्दर ही घटित होती है। उदाहरणस्वरूप "महामाता" के मिथ (धारणा) को लिया जा सकता है। 'महामाता' के भाव के चारों ओर जो तत्त्व एकत्र हुए हैं, उनका सम्बन्ध मानव-अनुभव से है, विशेषकर 'मानव मातृत्व' से है और दूसरी ओर पृथ्वी पर आश्रित हमारे जीवन की अनेक दशाएँ, जिन्होंने 'पृथ्वी माता' और 'प्रकृति माता' को अभिव्यक्ति प्रदान की। मातृदेवियों की कल्पना के पीछे भी इसी प्रक्रिया का स्वरूप प्राप्त होता है और धीरे-धीरे महान् माता का मिथ एक पवित्र और दिव्य रूप में विकसित हुआ। धरती माता का एक अन्य रूप भी है जो प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर समेट लेती है जो उसके भयानक रूप को समक्ष रखती है। ऐसी भयानक देवियों की कल्पना अनेक संस्कृतियों में प्राप्त होती है, जैसे—काली, दुर्गा, आदि। माता के इस रूप को भयानक निगलने वाला रूप भी कहा गया है जो अनेक भयावह प्रक्षेपणाओं की सृष्टि करता है और जो माता के अन्दर पूर्ण रूप से आश्रित होने की भावना को व्यक्त करता है। सामूहिक अचेतन में अनेक ऐसे भावों के मध्य यह भाव भी उसी समय तक रहता है जब अन्य भावों से उसका संतुलन और व्यवधान रहता है, परन्तु यदि यह भाव (माता) चेतन स्तर तक एक वास्तविक अभिवृत्ति के रूप में आ गया तो यह निश्चित है कि वह मानव-जीवन अनेक अनैच्छिक विकरणों तथा विकृतियों से ग्रस्त हो जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामूहिक अचेतन का प्रभाव व्यक्ति और समूह पर सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों रूपों में पड़ता है। युंग का तो यहाँ तक मत है कि सामूहिक अचेतन के तत्त्वों के प्रति जब व्यक्ति सचेतन हो जाता है, तब उनमें वह अनेक लाभ और शक्तियाँ प्राप्त करता है। यह भी संभव है कि जब सामूहिक अचेतन के तत्त्व चेतन स्तर तक गतिशील होते हैं, तब महान् कलात्मक कृतियों का, वैज्ञानिक अनुसंधानों का तथा अन्य मानवीय सर्जनाओं का उदय

होता है। चेतन और सामूहिक अचेतन के मध्य यह गतिशील 'संवाद' अनेक महान् सर्जनाओं को जन्म देता है और यह तभी सम्भव है जब 'अहं' इस स्थिति पर अधिकार कर सके; और, यदि 'अहं' ऐसा नहीं कर सका, तो वह सामूहिक अचेतन के तत्त्वों से स्वयं अधिकृत हो जाएगा अथवा यह भी हो सकता है कि वह नष्ट हो जाए।* 'अहं' का इस प्रकार अधिकृत या नष्ट हो जाना व्यक्तित्व को खण्डित कर देता है और वह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि फ्रायड ने मिथ और प्रतीक को काम-केन्द्रित ही माना, पर व्यापक रूप में और उसे इच्छाजनित विचार-प्रक्रिया से जोड़कर आदिम मानवता से सम्बन्धित किया। इसके विपरीत, युंग ने मिथ और प्रतीक-सृजन को एक व्यापक आधार दिया और उसे केवल यौन-केन्द्रित न मानकर मनस्-शक्ति के रूप में स्वीकार किया। युंग के लिए मिथ एक मानसिक सृजन है जिसका महत्त्व मनोविश्लेषणात्मक है। ये मिथ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहते हैं और यह प्रक्रिया एक प्रकार से मानसिक संरचना के द्वारा ही घटित होती है।

अचेतन से एक गहरा सम्बन्ध 'आदिरूपों' का भी है जो मिथिक चेतन के अंग भी माने जा सकते हैं। इन 'आदिरूपों' का सम्बन्ध मिथ से जोड़ा गया और इस प्रकार मनस्-शक्ति के एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर संकेत किया गया। व्यक्तिगत अचेतन उन अनेक तत्त्वों को अपने अन्दर समाविष्ट किए रहता है जो चेतना के द्वारा अग्राह्य और बहिष्कृत किए जाते हैं। ये अग्राह्य और दमित तत्त्व अन्य मनस्-तत्त्वों से संगुफित हो शक्ति और ऊर्जा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और अन्ततः अचेतन में 'जटिलताओं' को उत्पन्न करते हैं। ये जटिलताएँ एक प्रकार से नाभिकीय केन्द्र के चारों ओर एकत्र हो जाती हैं जो जटिलताओं को एक सूत्र में बाँधे रखती हैं और इस प्रकार इन जटिलताओं को एक ऊर्जा प्राप्त होती है जो व्यक्तियों और समूह के मानसिक जीवन को अनेक रूपों से प्रभावित करती है। युंग इन्हीं नाभिकीय केन्द्र को 'आदिरूपों' की संज्ञा देता है जो सामूहिक अचेतन के प्रमुख मनस्-तत्त्व हैं। ये प्रारूप या 'आदिरूप' मानव-प्रकृति के मूल तत्त्व हैं और इनका अस्तित्व प्रत्येक व्यक्ति में प्राप्त होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये 'आदिरूप' किस प्रकार अपना विस्तार करते हैं और अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं? मनस्-ऊर्जा की यह एक सामान्य प्रवृत्ति होती है कि उसकी अभिव्यक्ति अनेक 'रूपों' में होती है, पर यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि ये 'आदिरूप' नितान्त विशुद्ध रूप में प्रकट नहीं होते हैं, पर उनके चारों ओर जो 'जटिलताएँ' एकत्र हो जाती हैं, ये 'जटिलताएँ' ही अनेक कल्पनात्मक बिम्बों और प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ये जटिलताएँ मनुष्य के चेतन जीवन में व्यवधान उत्पन्न करके अनेक रूपों में प्रकट होती हैं।

उपर्युक्त प्रक्रिया को एक व्यक्ति कुछ इस प्रकार भी समझ सकता है। मान लीजिए कि अनेक लेखकों को एक कथानक के मूल तत्त्व या एक चरित्र के तत्त्व दिए जाते हैं और उनसे यह कहा जाता है कि इन दिए गए तत्त्वों के आधार पर अपने तरीके से कथा का सृजन करें, तो हम पायेंगे कि प्रत्येक लेखक की कथा और उसके विवरणों में विभिन्नता होगी, पर इन सारी कथाओं में एक ही मूल 'थीम' की समानता होगी। यही बात आदिरूपों के बारे में भी सत्य है। प्राचीन और आधुनिक मानव के स्वप्नों में और अनेक कल्पनाओं में ये 'थीम' बार-बार प्रकट होते हैं, पर

प्रत्येक बार, व्यक्ति, समय और दिक् की सापेक्षता में उनके रूप 'परिवर्तित' होते रहते हैं। इसी से मिथकों को गतिशील कहा जा सकता है, उन्हें किसी भी जाति का 'जीवित स्वप्न' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वे जाति के अचेतन में गहरे पैठे रहते हैं। मानव-मनस् के गहन तल में आदिम काल से प्राप्त अनुभवों का संघात रहता है और यही संघात उस अनुभव को एकत्र करता है जो मानव-जीवन के सामान्य तथा पुनः-पुनः घटित होने वाले तत्त्वों की गाथा कहता है।

इन आदिरूपों का एक अन्य कार्य भी है। ये उन मार्गों को प्रकट करते हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने बाह्य परिवेश से सम्बन्ध स्थापित करता है जिसमें वह अपनी ज़िन्दगी व्यतीत करता है। उदाहरणस्वरूप, मानव अपने परिवेश में नारी से साक्षात् करता है और उससे समानता और असमानता के धरातल पर अपनी 'संवादिता' को बनाता है और इस प्रकार स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वह एक प्रकार के आन्तरिक झुकाव या अभिवृत्ति से प्रेरित हो उससे (नारी से) संबंध स्थापित करता है। मानव की इस आदिम इच्छा की पूर्ति एक 'आदिरूप' करता है। ये आदिरूप ऐसे बिम्बों और प्रतीकों को जन्म देते हैं जिनको हम बाह्य संसार में प्रक्षेपित करते हैं और यह तुलना करते है कि हम आंतरिक बिम्ब के द्वारा बाह्य जगत् से किस सीमा तक सम्बन्धित हैं और साथ ही बाह्य जगत् के प्रति कितने सजग हैं? अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आदिरूप केवल हमारी मनस्-शक्ति के स्रोत ही नहीं हैं, पर बाह्य जगत् के परिज्ञान एवं बोध के स्रोत है जिस जगत् में हम रहते हैं। एक बात और, यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आदिरूपों का प्रक्षेपण एक ऐसी क्रिया है जो व्यक्ति निर्वाचित नहीं करता है, वह तो स्वयं ही घटित होती है। यह स्वयंचालित प्रक्रिया मानव-इतिहास में आदिकाल से घटित हो रही है—अन्तर केवल इतना है कि आदि या प्राचीन काल में इसका आधिक्य था और आधुनिक काल मे अपेक्षाकृत इसकी न्यूनता। इसका कारण युंग ने यह बताया कि मानव-मनस् में एक परिवर्तन और विकास का लक्षित होना जो उसकी विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचायक है और यह वैज्ञानिक दृष्टि आदिम मानव में उतनी विकसित नही थी जितनी कि वह आज विकसित है। आदिम मानव प्राकृतिक घटनाओं (वर्षा, गर्जन आदि) को किसी देवता की क्रिया समझता था जिसे हम आज वैज्ञानिक विधि से समझने का प्रयत्न करते हैं और यह 'समझ' आदिरूपों के प्रक्षेपण को रोकती है। मेरा यह विचार है कि आधुनिक मिथकों का स्वरूप प्राचीन मिथकों से इस दृष्टि से भी भिन्न है और यहाँ पर आकर यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि मिथक की एक अपनी सार्वभौम सत्ता है, चाहे उसके 'स्वरूप' और 'अर्थ' में कालक्रम के अनुसार भेद क्यों न आ गया हो? इसका यह अर्थ नहीं है कि आदिरूपों से मानव का आज साक्षात्कार नहीं होता है, पर सच तो यह है कि यदि उनका बाह्य जगत् में प्रक्षेपित रूप मे (बिम्ब व प्रतीक रूप में) सामना नहीं होता है, तो आतंरिक रूप में (मन में) उनका साक्षात् होता है। यह आदिरूपो का आन्तरिक साक्षात्कार अन्ततोगत्वा चेतना के स्तर पर अनेक आदि बिम्बों, मिथकों और प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होता है।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण समस्या सामने आती है। किसी भी आदिरूप के साक्षात्कार के स्वरूप को विवेचित करने में कठिनाई इसलिए आती है कि व्यक्ति पहले से कुछ पूर्वगृहीत विचारों पर आश्रित रहता है जो उसके लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक धार्मिक या रहस्यवादी व्यक्ति यह कहेगा कि यह उसका 'ईश्वर' से साक्षात्कार है। एक आध्यात्मवादी यह कहेगा कि यह उसका 'आत्मा' से साक्षात्कार है तथा एक तर्कवादी उसका एक 'गणितज्ञ मन' के रूप में साक्षात्कार

करेगा। इस प्रकार के 'अनुभव' सामान्यतः हमारी पहुँच के बाहर हैं, पर उनके लिए इन 'अनुभवों' का दूरगामी प्रभाव पड़ता है जो इन पर आस्था रखते हैं। इन 'अनुभवों' का एक अपना अस्तित्व है क्योंकि मानव-इतिहास में इन अनुभवों का एक अपना स्थान रहा है जिससे मानव-मन 'गहराइयों' का स्पर्श कर सका है। अतः इन्हें अतार्किक, अनुभव से परे, समझ से परे और दृश्यमान जगत् से परे कहकर बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। अचेतन मनोविज्ञान के द्वारा हम इन अनुभवों को व्यर्थ नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वे भौतिकता के अन्दर नहीं आते हैं, पर तर्क के द्वारा उनके 'स्वरूप' का विवेचन अवश्य किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कुछ महत्त्वपूर्ण 'आदिरूपों' की विवेचना आवश्यक है। ऐसा ही एक आदिरूप है 'छाया' (शैडो)। यह हमारे अन्दर एक गहरा 'काला' रूप है, एक प्रकार से एक अन्य 'स्व' जो हममें से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान है जो भयंकर और 'पापी व्यक्ति' का प्रतिरूप है। इस 'छाया' का सम्बन्ध व्यक्तिगत अचेतन से है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मनुष्य की 'छाया' पूर्णतः पापमयी नहीं है, पर यह कहना अधिक न्यायसंगत होगा कि यह 'छाया' उन तत्त्वों से निर्मित हुई है जिसे व्यक्ति अशुभ या बुरा समझता है। स्वप्न में यह 'छाया' एक काले पुरुष या स्त्री के रूप में दिखाई देती है और चित्रपट तथा दूरदर्शन पर एक बुरे मनुष्य के रूप में सामने आती है जो नायक या 'हीरो' के द्वारा पराजित होती है। अतः यह 'छाया' हमारे चरित्र का एक अभिन्न अंग है जो सदा हमारे साथ रहती है और मनस्-प्रकृति का एक अनिच्छित और काला भाग है। केवल वे ही वस्तुएँ छाया प्रतिक्षेपित करती हैं जो तीन-आयामिक होती हैं। यहाँ पर युंग का यह कथन विचार-योग्य है कि 'यदि हमारे पास ये छायाएँ नहीं हैं, तो हम पूर्णरूपेण 'मानवीय' नहीं हैं।' असल में, छाया का यह आदिरूप उन तत्त्वों से गठित होता है जो हमारे द्वारा बहिष्कृत होकर क्रमशः दमित हो जाते हैं और इस प्रकार इनका दूषित प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ने लगता है। अतः यह आवश्यक है कि हम इन 'बुरे तत्त्वों' के प्रति पूर्ण सचेत रहें और चेतन स्तर पर उनकी आलोचना कर सकें। इस प्रकार हम जो भी बुरे या मूर्खतापूर्ण आचरण करते हैं, उनके प्रति हम स्वयं उत्तरदायी और सचेत हो सकें। ये छायाएँ विभिन्न तत्त्वों से निर्मित होती हैं जो चेतन मन के द्वारा स्वीकृत नहीं होती हैं, अतः यहाँ यह प्रकल्पना करना आवश्यक है कि एक गहरा आदिरूपगत केन्द्रक होता है जिसके चारों ओर ये छायाएँ एकत्र होती हैं। इस 'केन्द्रक' को राक्षस (शैतान) का आदिरूप भी कहा जा सकता है। यह शैतान पाप या बुरे का एक समष्टि रूप है जो सामान्य रूप से बहुसंख्यक लोगों में प्राप्त होता है। इस संसार में हमारा जीवन अधूरा माना जाएगा यदि हम जगत् और मानव-स्वभाव के दोनों क्षेत्रों में इस पाप या बुरे (शैतान) के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेंगे। सत्य में यह शैतान अच्छे और पुण्य का अनंत विरोधी है, वह एक प्रकार से पाप या बुरे कर्मों का अन्तर्भूत सिद्धान्त है—एक ऐसा पाप जो घृणायोग्य है, पर पापी स्नेहयोग्य है। यह शैतान किसी न किसी रूप में समस्त धर्मों और मिथकों में प्राप्त होता है।

मानव-इतिहास के क्रमिक विकास को दृष्टिपथ में रखकर एक अन्य महत्त्वपूर्ण आदिरूप का विवेचन आवश्यक है जो स्त्री और पुरुष के काम-आकर्षण और सम्बन्ध पर आधारित है। बुरे स्व' (छाया) के साथ ही प्रत्येक मनुष्य में एक स्त्री-पक्ष है और प्रत्येक स्त्री में एक पुरुष-पक्ष है। अनेक स्त्री-पुरुष इस 'अन्य' पक्ष के प्रति नकारात्मक रहते हैं, अथवा उसे स्वीकार नहीं करते हैं। सामान्य रूप से ऐसा पाया गया है कि पुरुष की कल्पना और फैन्टेसी में नारी का बिम्ब छाया के

साथ आया है और युङ्ग ने इस बिम्ब को 'अमीना' की संज्ञा दी है।[८] 'अमीना' का गठन पुरुष के स्त्री-पक्ष पर आधारित है जो पुरुष के उस अनुभव से सम्बन्धित है जो वह वास्तविक नारी के सम्बन्ध से प्राप्त करता है। 'अमीना' का आदिरूप यह भी स्पष्ट करता है कि पुरुष अनादिकाल से नारी के प्रति जिज्ञासाजनित मनोभाव से आकर्षित होता रहा है और वह अपने में कभी भी 'पूर्ण' नहीं रहा है। यह आदिरूप पुरुष को नारी के संसर्ग की ओर प्रेरित करता है और विसंगति उस समय उत्पन्न होती है जब मनुष्य के इस दूसरे नारी-पक्ष को अस्वाभाविक रूप से दमित किया जाता है। नारी ही वह एक और 'अन्य' है जो उसकी आवश्यकता है जिसके बगैर वह अधूरा है। यह 'पक्ष' प्रत्येक चेतन व्यक्ति का एक अभिन्न अंग है।

मनुष्य में 'अमीना' एक नारी-व्यक्तित्व के रूप में प्रकट होती है, परन्तु नारी में अपेक्षाकृत ऐसे व्यक्तित्व-प्रधान एक बिम्ब का अभाव रहता है। नारी के स्वप्नों और कल्पनाओं में पुरुष के अनेक बिम्बों का समूह प्राप्त होता है अथवा व्यक्तिवादी पुरुषों के अनेक बिम्ब समक्ष आते हैं। असल में स्त्री और पुरुष की अभिवृत्तियों में यह विरोध अचेतन स्तर पर ही क्रियाशील रहता है और चेतन स्तर पर आकर उसका स्वरूप विपरीत हो जाता है। सामान्य रूप से नारी अपनी इच्छा से पूर्ण समर्थन एक प्रभावशाली व्यक्ति या वस्तु के प्रति करती है, जबकि पुरुष अपेक्षाकृत अनेक वस्तुओं के प्रति प्रेरित होता है। यह परिस्थिति अचेतन में नितान्त उल्टी या विपरीत हो जाती है। यही कारण है कि पुरुष की अपेक्षा नारी में अधिक स्थायित्व होता है जहाँ तक यौन या काम सम्बन्धों का प्रश्न है। पुरुष में जिसे 'अमीना' की संज्ञा दी गयी है, नारी में उसे 'अमानस' कहा गया है। यदि मानव-जीवन में इन्हें एक स्वस्थ और प्रेरणादायक स्थान दिया जाए, तो यह निश्चित है कि नारी और पुरुष के यौन सम्बन्धों में एक सृजनात्मक अभिवृत्ति का स्थान हो सकता है जो केवल 'वासना' पर आधारित नहीं होगा। इस तथ्य को दूसरे शब्दों में रखा जाए तो कहा जा सकता है कि पुरुष 'अमीना' को नारी पर प्रतिक्षेपित करता है जिसके द्वारा वह उसकी ओर आकर्षित होता है और इस प्रकार दोनों के मध्य एक 'सम्बन्ध' का सूत्रपात होता है। दूसरी ओर यही प्रक्रिया स्त्री-पक्ष में भी होती है और वह अपने 'अमीनस' को पुरुष के प्रति प्रतिक्षेपित करता है।

'अमानस' आदिरूप के संदर्भ में 'महामाता' का आदिरूप एक महत्त्वपूर्ण मिथक के रूप में विकसित हुआ। माता का आदिरूप व्यक्ति के जन्म से सम्बन्धित है जो माता के वास्तविक रूप को प्रकट करता है जिस पर व्यक्ति का जीवन निर्भर करता है। माता का एक अन्य रूप पृथ्वी माता का है जिससे समस्त जीवन का उद्गम होता है। अतः इस आदिरूप के दो पक्ष हैं—एक, दयामय व प्रेममय रूप; तथा दूसरा, खतरनाक और भयंकर रूप। धरती का दूसरा रूप इसलिए खतरनाक और भयंकर है कि वह अपने उदर में सभी कुछ को निगल जाती है तथा अपने अन्दर सबको पर्यवसित कर लेती है। यह भी कहा जा सकता है कि धरती से जीवन प्राप्त कर हम अन्ततः मृत्यु के समय उसी में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार महामाता का आदिरूप मूलतः प्रेम के मनोभावों से सम्बन्धित है।

महामाता के आदिरूप के साथ यातुधान का आदिरूप भी सम्बन्धित है। यातुधान का आदिरूप पुरुष के सिद्धान्तों को जो नारी के सिद्धान्तों के तद्रूप होते हैं और जिनका सम्बन्ध महामाता के आदिरूप से होता है, उन्हें यातुधान एक सूत्र में एकत्र करता है। यह आदिरूप सत्य में, एक प्रकार से यौनगत यातुक क्रिया से सम्बन्धित है जिसके द्वारा वह अपने परिवेश या अन्य को

सिंचन करता है और इस प्रकार एक नये जीवन को उत्पन्न करता है। चीनी तथा भारतीय विचारधारा में ये दोनों महान् आदिरूप 'स्वर्ग' और 'धरती' के द्वारा प्रकट किए गए हैं। स्वर्ग का रूप क्रियात्मक है, जबकि धरती का स्वरूप निष्क्रिय और ग्रहणशील है। इस प्रकार यातुधान का आदिरूप अपने चारों ओर उन तत्वों को एकत्र करता है जिनका सम्बन्ध उन विचारों से है जो सत्य के स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आदिरूपों का सम्बन्ध अचेतन से होता है। अचेतन से ये आदिरूप मनस् को प्रभावित करते हैं और मनुष्य को विपरीत स्थितियों में महत्त्वपूर्ण निर्देश देते हैं। यदि इन आदिरूपों की शक्ति को चेतन स्तर पर क्रियाशील होने का अवसर प्राप्त नहीं होता है, तब इन आदिरूपों की शक्ति एक व्यक्ति को या अन्य व्यक्तियों को खतरे में डाल सकती है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति आदिरूप के द्वारा अधिकृत रहता है और यह सम्भव है कि वह या तो बहुत अधिक या कम मानवीय हो सकता है। युङ्ग का मनोविज्ञान हमें यह निर्देश देता है कि अचेतन में प्राप्त आदिरूपों के प्रति हम सचेतन रहें। आदिम मानव में उपर्युक्त दोनों प्रकार के आदिरूप स्वर्ग और धरती, देवता और दानव के रूप में प्रतिक्षेपित होते रहे हैं। इस प्रकार, मानव ने यातु और अनुष्ठान के द्वारा देवताओं की सृष्टि अपने लिए की और वह यह तथ्य भी भली प्रकार जानता था कि देवता और दानव मानव-मन के दो अंग हैं जिनसे वह प्रभावित रहता है। देवता और दानव के आदिरूपों का प्रतिक्षेपण सही या सार्थक ही नहीं, एक प्रकार से आवश्यक भी था क्योंकि इनके द्वारा जो घटनाएँ घटित होती थीं, उनको समझने के लिए एक वैचारिक मॉडल की आवश्यकता आदिमानव को महसूस हुई थी।

संदर्भ-संकेत

१. मॉडर्न साइकॉलोजी, डेविड फॉक्स, पृ० ७७। २. साइकॉलोजी आफ द अनकान्सस, युङ्ग, पृ० १५। ३. मॉडर्न साइकॉलोजी, डेविड फॉक्स, पृ० ८४। ४. फिलासफी इन ए न्यू की, सूसेन के० लेंगर, पृ० ३३। ५. इस पक्ष का एक सुन्दर विवेचन डॉ० नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर लिखे गए उपन्यास 'संघर्ष की ओर' (तृतीय खण्ड) में प्राप्त होता है। ६. मॉडर्न साइकॉलोजी, पृ० ८७। ७. साइकॉलोजी ऑफ दि अनकान्सस, युंग, पृ० ४६। ८. मॉडर्न साइकॉलोजी, डेविड फॉक्स, पृ० १३६। ६. मॉडर्न साइकॉलोजी, पृ १४४।

५, झ, १५, जवाहरनगर,
जयपुर-४

राजनीति और मनोविज्ञान

श्रीमती किरन सिंह

राजनीति और मनोविज्ञान की मैत्री घनिष्ठ एवं अत्यन्त पुरानी है। विश्व के महान् राजनीतिज्ञ, विस्तृत अर्थों में, मनोवैज्ञानिक रहे हैं। समय-समय पर राजनीतिज्ञों ने मनोविज्ञान की सहायता से राजनीतिक क्षेत्रों में बड़े-बड़े लाभ उठाए है। हिटलर ने जर्मनों के मनोभाव को भलीभाँति समझ कर और उनकी मनोवृत्ति से लाभ उठाकर ही द्वितीय विश्वयुद्ध का बीज बोया था। महात्मा गांधी ने भारतीय जनता और अंग्रेजों की मनोवृत्ति का गहन अध्ययन करके ही ग्रामीण भारतीय जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और उपवास को चुना, क्योंकि वे समझते थे कि अंग्रेजों के साम्राज्यवादी तथा सैनिक प्रवृत्ति के विरुद्ध सफलता रक्तपात, क्रान्ति एवं सीधे टक्कर से नहीं मिल सकती।

राज्य एवं शासनतन्त्र के जिज्ञासुओं के लिए जिस सीमा तक समाजशास्त्री होना आवश्यक है, उसी सीमा तक उसे मनोवैज्ञानिक भी होना चाहिए। राजनेताओं को मानव के राजनीतिक व्यवहार को समझने में उस समय तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि उन्हें यह न मालूम हो कि मनुष्य का मन व्यक्तिगत रूप से किस प्रकार कार्य करता है तथा किसी विशिष्ट परिस्थिति मे उसका आचरण क्या होगा। यदि हम मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार को समझना चाहते है तो हमें सर्वप्रथम 'मनुष्य' को समझना पड़ेगा। एक राजनीतिक नेता तथा प्रशासक को मनोविज्ञान का ज्ञान समुचित रूप से होना चाहिए जिसके अनुसार काम करने से ही उन्हें अभीप्सित परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्य की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं तथा उसके आचरण पर, मनोविज्ञान के माध्यम से ही, प्रकाश पड़ता है। जैसा कि वुडवर्थ ने कहा है—"मनोविज्ञान व्यक्ति की परिस्थितियों से सम्बद्ध क्रियाओं का विज्ञान है।" मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनुष्य के ज्ञान एवं विवेक का ही नहीं, बल्कि भावनाओ, संवेग, अहं प्रवृत्तियों एवं आदत का भी अध्ययन किया जाता है। इतना ही नहीं, मनोविज्ञान इस बात का भी अन्वेषण करता है कि बाह्य उत्तेजनाओं को पाकर मानव-मन किस प्रकार से क्रिया-प्रतिक्रिया करता है और विचारधाराएँ कैसे बनती है। राजनीतिविज्ञान मनुष्य के राजनीतिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है, साथ ही राज्य के प्रकृत कार्य, उद्देश्य, विकास, संगठन, कानून-निर्माण-विधि, जनमत, राजनीतिक दल, दबाव एवं हित-समूह, लोक-कल्याण, आदि अनेक विषयों पर भी विचार करता है। चूंकि राज्य और राजनीतिक विचारधाराएँ मानव-मस्तिष्क की उपज हैं, अतः 'मानव' के अध्ययन के द्वारा ही उसकी राजनीतिक समस्याओं को समझा जा सकता है। देश की जनता की मनोदशा को समझने के बाद ही शासन से सम्बन्धित सफल नीति निर्धारित हो सकती है। अतः मानव-मस्तिष्क को समझने के लिए राजनीतियों द्वारा मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाना उचित होगा। गार्नर ने भी स्वीकार किया है कि "शासन को स्थिर एवं लोकप्रिय बनाने के लिए प्रजा की मनोवृत्ति और आचरण को ध्यान मे रखकर विमर्श करना तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत करना आवश्यक है।" यह सच भी है कि सरकार के स्थायित्व एवं उसकी लोकप्रियता के लिए सत्ता के अधीन रहने वाले व्यक्तियों के

मानसिक विचारों तथा उनकी भावनाओं की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि जनता की मनोदशा के समानान्तर ही शासन-सत्ता तथा शासन-प्रणाली में परिवर्तन उपस्थित होते रहते हैं। वस्तुत: राजनीतिक विचारधाराओं, योजनाओं, कानूनों, संस्थाओं तथा समूहों के निर्माण में जनता की मनोदशा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वर्तमान समय में हो रहे दिन-प्रतिदिन के राजनीतिक उथल-पुथल की घटनाओं से यह तथ्य स्पष्ट है। राजनीतिविज्ञान तथा मनोविज्ञान की पारस्परिक घनिष्ठता को लेकर प्राचीन एवं आधुनिक विचारकों में एक-जैसी धारणा मिलती है।

आदिकाल से जिन लोगों ने राजनीतिक नियन्त्रण की कला का प्रयोग किया, उन्होंने मनोविज्ञान की रीतियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनाया है। सेनानायकों ने सेना के नेतृत्व मे, राजा तथा शासक वर्ग ने प्रजा से अपने सम्बन्धों में, राजनीतिक नेताओं ने मतदाता को अपने पक्ष में करने में मानव-मनोविज्ञान का सहारा लिया है। यह दूसरी बात है कि वह इसे क्रमश: शक्ति या अनुशासन, वंशगत श्रेष्ठता या रक्त-श्रेष्ठता, विचारों की समानता तथा सेवाभाव जैसे शब्दों से पुकारते रहे हों। अब यह माना जाने लगा है कि राजनीतिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जाँचा-परखा जाना चाहिए। बार्कर का यह कथन उचित ही है कि "मानवीय क्रिया-कलापों की पहेली सुलझाने के लिए मनोवैनिक कुंजी का प्रयोग आज के युग में एक रिवाज (फैशन) बन गया है। यदि हमारे पूर्वजों ने प्राणीविज्ञान की दृष्टि से सोचा था तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचते हैं।"

प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था में सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। जन-सहयोग पर ही उसके शासन की सफलता निर्भर करती है। अत: एक सफल राजनीतिज्ञ को जनमत का पक्षधर तथा जनता को प्रभावित करने के लिए कुशल मनोवैज्ञानिक होना आवश्यक है, क्योंकि जब-जब शासक और शासित, शक्ति-सम्पन्न और शक्तिहीन तथा धनिकों और निर्धनों की मनोभावनाओं के बीच सामञ्जस्य नहीं होता, तब-तब क्रान्ति, सत्ता-परिवर्तन एवं गृहयुद्धों का जन्म होता है। यदि हम विगत इतिहास को देखें तो मनोवैज्ञानिक मतभेदों के कारण शासन-सत्ता मे हिंसात्मक परिवर्तनों के ऐसे कई उदाहरण आसानी से मिल जाएँगे। हमारी अनेक राजनीतिक समस्याओं, जैसे—लोकतंत्रात्मक शासन-पद्धति कुछ ही जातियों में क्यों सफल हुई, कुछ ही जातियों ने क्यों उच्चकोटि की राजनीतिक योग्यताओं का परिचय दिया तथा कुछ ही राष्ट्रों में अधिकतम नागरिक स्वतन्त्रता कामयाब हुई और अन्यों के लिए विनाश का कारण बनी—इसका समाधान जाति-मनोविज्ञान ही प्रस्तुत करता है।

कूटनीतिक क्षेत्र मे भी मनोविज्ञान आजकल बड़ा महत्त्व रखता है। जहाँ किसी राष्ट्र के सर्वोच्च अधिकारियों की मैत्रीपूर्ण सद्भाव-यात्राएँ दो राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का कारण बन सकती हैं, वहीं उनका एक अविवेकपूर्ण कथन इसके विपरीत युद्ध के लिए हथियार भी उठवा सकता है। विगत में हुए रूस, चीन तथा अमेरिका के परस्पर सम्बन्धों से यह बात स्पष्ट है।

आधुनिक सरकारों द्वारा मनोविज्ञान की नयी प्रविधियों को प्रशासन के विविध क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार अपनाया गया है। लोक-प्रशासन के क्षेत्र में विभिन्न स्तरों पर भर्ती, योग्यताओं के क्रम-निर्धारण तथा पदोन्नति के लिए की गयी केन्द्रीय अथवा राजकीय सेवा-परीक्षाओं में अनेक मनोवैज्ञानिक पद्धतियों एवं परीक्षणों का प्रयोग समय-समय पर हुआ है। यद्यपि इस क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक तथ्य ही एकमात्र निर्णायक नहीं रहे, पर निष्पक्ष निर्णय लेने में एक सीमा तक सहायक अवश्य हुए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान अपने प्रयोगों तथा पद्धतियों के माध्यम से छात्रों के मस्तिष्क एवं व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास में काफी हद तक सफल रहा है। फलस्वरूप शिक्षित, योग्य, जागरूक तथा आदर्श नागरिक समाज के उन्नयन के लिए एवं प्रशासन की समस्याओं के समाधान में सहयोगात्मक, रचनात्मक तथा स्वस्थ आलोचनाओं के माध्यम का विकास हुआ है। छात्रों को उनकी रुचि एवं प्रतिभा के अनुकूल शिक्षा तथा अन्यों को कार्य-व्यापार दिलवाकर मनोविज्ञान समाज में 'जन-सन्तोष' की भावना को जन्म दे सकता है।

आजकल न्यायालयों में मनोविज्ञान की एक उपशाखा, 'मनोविकार-मनोविज्ञान' का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप से होने लगा है। आज बड़ी संख्या में विश्व के न्यायालय मनोरोग-सम्बन्धी प्रयोगशालाओं से सज्जित हैं जहाँ उचित, मानवीय एवं निष्पक्ष निर्णय के निमित्त विविध प्रकार के परीक्षण अपराधियों के ऊपर किए जाते हैं। इस क्षेत्र में मनोचिकित्सक बड़े सहयोगी सिद्ध हुए हैं और सरकारों द्वारा 'दण्ड, अपराध की गुरुता के अनुकूल हो', 'अपराधी व्यक्ति सदैव अपराधी नहीं होता' तथा 'अपराधी का मानसिक उपचारों के माध्यम से सुधार', जैसे मनोवैज्ञानिक दण्ड के नए आयाम निश्चित किए गए हैं।

समय-समय पर राजनीतिज्ञों द्वारा 'राजनीतिक मनोविज्ञान' को विकसित करने की आवश्यकता पर जोर डाला जाता रहा है। जेम्स ब्राइस ने अपनी रचना 'मॉडर्न डेमोक्रेसी' में यह घोषित किया कि 'मनोविज्ञान शासन का आधार है। ग्राहम वैलास ने अपनी कृति 'ह्यूमन नेचर एण्ड पॉलिटिक्स' में राजनीति के क्षेत्र में मनोविज्ञान के महत्त्व को स्थापित करने का सराहनीय प्रारम्भिक प्रयास किया है। यदि हम प्राचीन राजनीतिक विचारों के इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि राजनीतिक चिन्तन में मनोविज्ञान के कुछ अपरिमार्जित पूर्वप्रत्यय अवश्य विद्यमान थे। प्लेटो के चिन्तन का आधार ही 'शरीर-क्रियात्मक मनोविज्ञान' था। उन्होंने मस्तिष्क, हृदय एवं उदर के साथ क्रमशः विवेक, संयम और साहस का सम्बन्ध स्थापित किया और इसी के अनुरूप समाज में संरक्षकों, सैनिकों और सेवकों के तीन वर्गों का निर्माण किया। व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर इन तीनों मनःस्थितियों के बीच उचित एवं सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग न्यायपूर्ण शासन की आधारशिला है। प्लेटो का यह प्रयास भले ही 'शरीर-क्रिया-मनोविज्ञान' का द्योतक हो, फिर भी प्रत्येक दशा में यह एक प्रणाली निर्मित करता है।

अरस्तू ने व्यवस्थित एवं व्यापक पैमाने पर मनोविज्ञान को राजनीति से जोड़कर "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" सिद्ध किया। अरस्तू के इस कथन से स्पष्ट है कि राज्य और राजनीतिक समस्याओं की व्याख्या के लिए 'मानव-स्वभाव' तथा उसके व्यवहार के अतिरिक्त किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है।

इसी तरह हॉब्स, लॉक, रूसो ने अपने राजनीतिक विचारों के निरूपण के लिए पहले "मानव-स्वभाव" का वर्णन किया, फिर उसके अनुरूप ही राज्य की प्रकृति, शासनतंत्र का स्वरूप तथा व्यक्ति का व्यक्ति एवं राज्य के साथ सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। उन्होंने मानव-स्वभाव-सम्बन्धी अपनी मान्यताओं के आधारशिला पर ही भिन्न-भिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का निरूपण किया। हॉब्स का मानव असभ्य, जंगली, स्वार्थी एवं युद्धप्रेमी था, अतः उन्होंने उसके हितार्थ उसे नियन्त्रित करने के लिए 'निरंकुश राजतंत्र' ('लेवियाथन' का जो असीम शक्ति-सम्पन्न था) की स्थापना की। लॉक का मानव सभ्य, सहयोगी तथा उदार था जो दूसरों से अपनी सम्पत्ति, स्वतन्त्रता तथा जीवन की रक्षा करना चाहता था, अतः उन्होंने इसी मानवीय स्वभाव के अनुरूप

सीमित सम्प्रभुता' के विचारों का समर्थन किया। रूसो का मानव न तो निरा असभ्य, जंगली एवं युद्धप्रेमी था, न उच्च मानवीय गुणों से सम्पन्न था—वह सामाजिक दायित्व तथा अपने अधिकारों (जीवन, परिवार, भूमि, सम्पत्ति) के प्रति सजग था, अतः उसने इस मानव-स्वभाव के अनुरूप ही 'लोकसंप्रभुता' के सिद्धान्त को जन्म दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि हॉब्स, लॉक और रूसो के राजनीतिक सिद्धान्त मानव-स्वभाव-सम्बन्धी उनके उक्त विश्वासों के अनुरूप ही थे।

मनुष्य के राजनीतिक आचरणों के मनोवैज्ञानिक स्वरूपों का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन मैकियावेली के चिन्तन में देखने को मिलता है। मैकियावेली ने अपने समय के इटली के शासकों, धर्माधिकारियों, सरकारी कर्मचारियों और साधारण नागरिकों के आचरण तथा व्यवहार का सूक्ष्म एवं गूढ़ अध्ययन करके ही अपनी पुस्तक 'प्रिंस' में ऐसे अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है जो मानव-मनोविज्ञान पर पूर्णतः आधृत हैं। उसने कहा है—"मनुष्य अपने पिता के हत्यारे को माफ कर सकता है, लेकिन अपनी सम्पत्ति तथा परिवार को हानि पहुँचाने वाले को नहीं। अतः शासक को शासन की दृढ़ता के निमित्त उसकी इन दो प्रिय चीजों को कभी नहीं छूना चाहिए" तथा "शासक में भेड़िये की चालाकी तथा सिंह के समान शक्ति होनी चाहिए"।

आगे चलकर उपयोगितावादियों के उद्भव से 'राजनीति और मनोविज्ञान' की घनिष्ठता के क्षेत्र में एक नए मापदण्ड का प्रारम्भ हुआ, अर्थात् 'सुख-दुःख' की मनोवैज्ञानिक आधारशिला पर राजनीतिक आचरण के विश्लेषण को स्थिर करने का प्रयास आरम्भ किया गया। फलस्वरूप 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख की प्राप्ति' समस्त राजनीतिक सिद्धान्तों, संस्थाओं, योजनाओं, निष्कर्षों तथा विधि-निर्माण का आधार बनी।

आधुनिक युग में राजनीतिक क्षेत्र में हुए 'व्यवहारवादी' आन्दोलन ने राजशास्त्र को मनोविज्ञान के बहुत ही करीब ला दिया है। राजनीतिक मनोविज्ञान के नवीन समर्थक व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के हर पहलू में मनोविज्ञान की पद्धतियों को अपनाने की कोशिश कर रहे हैं। टार्डे, लेबन, मैक्डूगल, वैलास, बाल्डविन, आदि ने राजनीतिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक ढग से सुलझाने का प्रयास किया है। वैलास के शब्दों में, "राजनीति बहुत कम अंश में सचेत बौद्धिकता का परिणाम है—अधिकांशतः यह आदत, सुझाव, रुचि, नकल जैसी अर्द्धचेतन प्रवृत्तियों की उपज है।" लासवेल, डेविड ट्रूमैन, हर्बर्ट साइमन, राबर्ट डाल, कैटालिन एवं बेटले जैसे राजनीतिज्ञों के नवीन प्रयास के फलस्वरूप राजनीति और मनोविज्ञान की घनिष्ठता के क्षेत्र में नवीन आशाएँ बँधी है। राजनीति में मनोविज्ञान के प्रयोग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान मे मेशिगन के प्रोफेसर रेनिस लिकर्ट तथा कुर्ट और कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लेजार्सफेल्ड तथा उनके समर्थकों ने किया। व्यवहारवादी विचारकों की मान्यता है—"मनुष्य भावनाओं का पुंज है। उनकी अपनी-अपनी रुचि तथा रुझान होती है। उनका राजनीतिक व्यवहार काफी सीमा तक उनकी मानसिक स्थिति तथा प्रवृत्तियों द्वारा निर्देशित एवं नियन्त्रित होता है।" फलस्वरूप व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के व्यवहार तथा उसको प्रभावित करने वाले सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक तथा मनोवैज्ञानिक कारकों को अधिक महत्त्व देते हैं—संस्थाओं, घटनाओं, संविधान तथा कानून को गौण या कम महत्त्वपूर्ण मानते है।

अभी यह विषय (राजनीतिक मनोविज्ञान) अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे है। अतः अभी इसकी निश्चित रूपरेखा नहीं बन पाई है। इसकी अध्ययन-पद्धति, इसके निष्कर्षों, सिद्धान्तों तथा विषय-क्षेत्र को लेकर विचारकों के मध्य काफी विवाद भी है और यह सच भी है

कि इसके महत्त्व को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर नहीं निरूपित किया जाना चाहिए। बार्कर ने अपनी पुस्तक में राजनीतिक क्षेत्र में मनोविज्ञान के प्रयोग की कमियों की ओर संकेत भी किया है, जैसे—मनोविज्ञान यह बता सकता है कि मनुष्य की मनोवृत्ति क्या है और क्या थी, लेकिन मनुष्य की आदर्श मनोवृत्ति क्या होनी चाहिए—इससे मनोविज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, जबकि राजनीति आदर्शपरक है और आदर्श-निर्धारण में नीतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र से अधिक सहायता मिलती है। दूसरे, राजनीतिक क्षेत्रों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों के संकलन के बाद इन तथ्यों को क्या किया जाएगा, इस पर मनोविज्ञान मौन है। बार्कर ने आगे आलोचनात्मक व्यंग में कहा—"राजनीतिक मनोवैज्ञानिक ऐसी यात्रा की तैयारी जोर-जोर से करते हुए दिखायी देते हैं जिसे वह कभी शुरू नहीं करते।" इसी तरह कैटलिन ने भी राजनीति तथा मनोविज्ञान के सह-सम्बन्धों को नकारते हुए कहा है—"मनोविज्ञान व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में और राजशास्त्र व्यक्ति का राजनीतिक एवं सामाजिक प्राणी के रूप में अधिक अध्ययन करता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है, जबकि राजनीतिशास्त्र संकल्प किये गए कार्यों का अध्ययन है।"

हम मान सकते हैं कि बार्कर और कैटलिन के विचारों में सत्यांश है, परन्तु सामाजिक विज्ञानों के केन्द्रीयकरण के युग में राजनीति तथा मनोविज्ञान (जिसके मूल में मनुष्य है) के मध्य परस्पर घनिष्ठता रही है। निःसन्देह आजकल राजनीति में मनोविज्ञान के प्रयोग पर जो इतना जोर दिया गया, उससे लाभ अवश्य होगा। राजशास्त्र ने, दर्शन के प्रभाव में बहुत दिनों तक रहने के कारण, मानव-मन एवं उसके व्यवहार के प्रति उपेक्षा दिखायी है। अतः अब इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। इस क्षेत्र में हो रहे विविध शोध-प्रयत्नों ने अपने भीतर अनेक 'राजनीतिक मनोविज्ञान' से सम्बन्धित सिद्धान्तों को छिपा रखा है जो कालान्तर में ठोस सिद्धान्तों का रूप धारण कर सकते हैं। इस क्षेत्र में हो रहे शोधकार्यों का अनुशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका परस्पर सम्बन्ध भविष्य में और घनिष्ठ होगा।

●

द्वारा—डॉ० मालती सिंह
१बी/१, मोतीलाल नेहरू मार्ग,
इलाहाबाद

लक्ष्मणसेन-संवत्

●

श्री चन्द्रकान्त बाली

"विद्वानों के मतों के फलस्वरूप ल० सं० के प्रारंभ होने की न्यूनतम सीमा सन् ११०६ ईसवी है तो अन्तिम सीमा ११२२ ई०, अर्थात् दोनों सीमाओं में १३ वर्षों का अन्तर है। यद्यपि १३ वर्षों का यह अन्तर कोई बड़ा अन्तर नहीं है, तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह अन्तर चिन्तनीय है, क्योंकि इतिहास में काल-संबंधी मामूली से मामूली अन्तर भी भयंकर परिस्थिति पैदा कर देता है और सत्य के उद्भाष होने में अन्तरावरण अवरोधक हो जाता है।"

—श्री हरिप्रसाद नायक

लक्ष्मणसेन-संवत् का शंकाशून्य निर्धारण शक-काल के सही-सही चिन्तन पर ही निर्भर करता है। चूंकि भारतीय इतिहासकारों ने परम्परा-पालन के वशीभूत होकर ७८ ईसवी से चल निकले शक-काल से भिन्न किसी अन्य 'शक-संवत्' को विश्वास में ही नहीं लिया; अथवा उसकी कल्पना तक नहीं की; अतः शक-काल के विषय में गलती-पर-गलती होती रही और निरन्तर गल्तियों का अंबार बढ़ता ही रहा। यदि वर्तमान समय में गहन अनुसंधान करके परिस्थितियों का समाधान न किया गया, इतिहासकारों का काल-संबंधी संकट इससे भी अधिक गंभीर हो सकता है। लक्ष्मणसेन-संवत् को किसी-न-किसी काल-बिन्दु पर टिका देने से पहले 'शक-काल' की मार्मिक पहचान कर लेना नितान्त आवश्यक है। एक बात और। १०० ईसवी पूर्व से लेकर ईसवी सन् १०० तक, अर्थात् दो सौ वर्षों में विविध संवत्सरों का घना मायान्धकार उठकर इतिहास-गगन पर छा गया है। परिणाम यह निकला है कि अनुसंधायकों की ज्ञानचक्षु अपनी-अपनी अभीष्ट काल-गणना को पहचानने में सदा ठोकर खाती रही है; और यदा-कदा असफलता के अनन्त अन्तरिक्ष में वह तिरोहित हो गई है। संवत्सरों के मायाजाल को छितराने के लिए आत्मविश्वास एवं मौलिक ज्ञान की झंझा अपेक्षित है। उसके बिना सफलता मिलने वाली नहीं है। 'शक-संवत्' के साथ-साथ कुछ-एक 'उपसंवत्' भी उससे जुड़े हुए हैं जिनकी पहचान नितान्त साम्प्रत और उपयोगी है। लक्ष्मणसेन-संवत् को घेरे हुए नाना संवत्सरों का परिवेश निम्न संदर्भों से पहचाना जा सकता है।

शककाल : ६५ अथवा ६६ ईसवी

मालवी विक्रमादित्य से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में लोहा लेने वाले महाराजा शालिवाहन-विक्रमादित्य की पहचान शनैः-शनैः उजागर होने लगी है। शालिवाहन के साथ जुड़ी हुई किंवदन्तियाँ अब ऐतिहासिक सत्य में परिणत होने लगी हैं। उसके दो पुत्र हुए—(१) प्रतापादित्य और (२) महेन्द्रादित्य। प्रतापादित्य कश्मीर का राजा बनकर चला गया।[1] महेन्द्रादित्य पिता के पश्चात् 'उज्जयिनीश्वर' प्रतिष्ठित हुआ। महेन्द्रादित्य के तीन पुत्र हुए—(१ भर्तृहरि, (२) विक्रमादित्य, और (३) अग्निमित्र। अग्निमित्र का दूसरा नाम 'शूद्रक'[2] भी है। महेन्द्रादित्य के बाद ज्येष्ठ होने के नाते भर्तृहरि 'उज्जयिनीश्वर' बन सके। परन्तु बहुत जल्दी वे विरक्त हो

गए। भर्तृहरि के पदत्याग के पश्चात् महेन्द्रादित्य के विशाल साम्राज्य को विक्रमादित्य और शूद्रक ने परस्पर बाँट लिया। आपसी सद्भाव के वशीभूत भाइयों ने रेवा नदी को मध्यवर्तिनी, अतएव विभाजक रेखा मान लिया। रेवा नदी को नर्मदा भी कहते है। बाद में आगे चलकर उनकी यही विभाजक रेखा (अर्थात् नर्मदा नदी) भौगोलिक क्षेत्रों के साथ-साथ सांस्कृतिक स्तर पर विभाजन का काम भी देने लगी।[3] विक्रमादित्य ने अपना एक 'संवत्' चलाया जो रेवा नदी के उत्तरवर्ती क्षेत्रों के लिए मान लिया गया। शूद्रक ने उससे पृथक् एक नए संवत् की स्थापना की जो रेवा नदी के दक्षिणवर्ती क्षेत्रों के लिए मान लिया गया। चूँकि विक्रमादित्य और शूद्रक शक-वंशीय थे, अत: इनके द्वारा प्रतिष्ठापित संवत् 'शक-काल' अथवा 'शक-संवत्' कहलाए। इनके स्थापना-वर्ष भी अलग-अलग थे। विक्रमादित्य का स्थापित 'शक-काल' ६५ ईसवी से तथा ६६ ईसवी से गिना जाता है। यह द्वि-विधिता या द्वि-वर्षीय काल-गणना भ्रान्तिजन्य नहीं है, बल्कि ये काल-गणनाएँ विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर टिकी हुई हैं। ६५ ईसवी से प्रचलित संवत्-गणना प्रायश: जैन-शास्त्रों में देखी गई है; इसे 'शकनृपकालातीत संवत्सर' नाम से पहचाना जाता है और इसकी उपज लोकमानस से मानना तर्कसंगत है। इसके विपरीत ६६ ईसवी से प्रचलित संवत्-गणना जैनेतर जगत् में अधिक प्राख्यात है; इसे 'शकनृपति अभिषेक संवत्सर' नाम से पहचाना जाता है। यह संवत् राजसत्ता द्वारा हठात् आरोपित हुआ है। विक्रमादित्य द्वारा चलाए 'शक-संवत्' पर अबूरिहाँ अलबैरूनी की टिप्पणी बड़ी सशक्त और सटीक है।[4] शूद्रक अर्थात् अग्निमित्र द्वारा स्थापित शक-संवत् ७८ ईसवी से गिना जाता है: विस्मय की बात यह है कि इस काल-गणना पर आज भी 'दक्षिण' का ठप्पा लगा हुआ है।

> "अब निर्विकल्प और नि:शंक भाव से यह तथ्य मंजूरीकृत है कि ६५ ईसवी से परिगणित 'शक-संवत्' को संदर्भ में रखकर ही लक्ष्मणसेन-संवत् पर विचार करना समीचीन है। ७८ ईसवी के शक-काल को संदर्भ में रखकर लक्ष्मणसेन-संवत् पर ऊहापोह करना भटकाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

प्रश्न होना स्वाभाविक है— लक्ष्मणसेन-संवत् के निमित्त ६५ ईसवीय शक-काल के प्रति इतनी अभीप्सा क्यों? और ७८ ईसवीय शक-काल के प्रति इतनी अनीप्सा क्यों? इसका समाधान बड़ा सरल है। जब इन संवत्सरों के प्रतिष्ठापकों ने अपनी-अपनी काल-गणनाओं के लिए स्वयं प्रादेशिक अथवा दैशिक सीमाएँ स्थिर कर दी, तब उनका सहज पालन होना ही चाहिए। चूँकि बिहार रेवा नदी के उत्तर में पड़ता है, अत: बिहारवासियों के मन में दैशिक प्रतिबद्धता का होना नैसर्गिक है और यह किसी सीमा तक अनिवार्य भी है। हम पूर्णतया आश्वस्त एवं संतुष्ट हैं कि 'लक्ष्मण-सेन-संवत्' का भव्य भवन ६५ ईसवीय शक-संवत् के आलोक में ही ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है। श्री हरिप्रसाद नायक की यह स्वीकृति—

> "अबुलफ़ज़ल ने 'अकबरनामा' में कुछ दृष्टान्त देकर लक्ष्मणसेन-संवत् और शक-संवत् में १०४१ वर्षों का अन्तर बतलाया है। यही अन्तर नेपाल से प्राप्त 'नरपति-जयचर्या टीका' में मिलता है। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने भी १०४१ वर्षों के अन्तर को प्रामाणिक माना है। पण्डित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी इसी अन्तर की पुष्टि की है।"

यहाँ-तक तो स्वस्थ है;[5] परन्तु गड़बड़ तो इसके आगे आरम्भ होती है। शक-संवत् १०४१ में ६५ जमा करने से ही ११०६ ईसवी सन् होता है जिसका अनुसंधान डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने

किया है। हम अपने मन में दृढ़ निश्चय किये हुए है : डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का अनुसंधान न केवल सर्वाधिक प्राचीन है, बल्कि किसी सीमा तक मौलिक भी है। डॉ० दिनेशचन्द्र सेन के मतानुसार इस संवत् का प्रारंभ सन् ११०७ ई० से है[६] जो हमारी पूर्वनिर्धारित मान्यता की परिधि से बाहर नहीं है; यथा—१०४१+६६=११०७ ईसवी सन्। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र तथा डॉ० दिनेशचन्द्र सेन ने जिन तर्कों को पृष्ठभूमि में रखकर जो सुनहरी निष्कर्ष निकाला है, हम उसकी दाद देते है।

प्रासंगिक उप-संवत्

६५ ईसवी तथा ७८ ईसवी से शक-संवतों पर जैन-समाज का अपना ठप्पा लगा हुआ है। यहाँ दोनों पक्षों की एकसमान स्थिति है। शक-संवतों की सबल मुख्य धारा की उपादेयता देखने मे आती है; पुनरपि उन पर जैन दृष्टि की अलग मान्यता के कारण उनकी सूक्ष्मतर पहचान भी जरूरी है। हमने इस प्रकार की सांवत्सरिक उपलब्धि को उपधारा या 'उप-संवत्' माना है। 'प्रभावक-चरित्' में लिखा है—

> "श्री विक्रमादित्य ने अवन्ती पर शासन करते हुए अपनी प्रजा को ऋणमुक्त करके संवत्सर की स्थापना की। इस अवसर पर राजा [श्री विक्रमादित्य] ने अपना विशेष दूत 'लिम्बा' को बाटपनगर भेजा, ताकि समस्त प्रजा को ऋणमुक्ति का समान अवसर मिल सके। मंत्री ने बाटपनगर में जीर्ण जैन-मन्दिर का उद्धार किया। उस समय 'संवत्सर' स्थापित हुए छह वर्ष बीत चुके थे, अथवा संवत्सर-प्रवृत्ति से ७ वर्ष पूर्व [पूर्वतः] श्री जयदेव सूरि ने ध्वजदण्ड की प्रतिष्ठा की।"[७]

इस पाठ में विस्मयजनक संकेत १३ वर्षों का वैज्ञानिक विभाजन है—६+७...१३ वर्ष। एक शक-संवत् ६५ ईसवी से चल निकला, दूसरा शक-संवत् ७८ ईसवी से चलता है। दोनों को लक्ष्य करके गणना की जाय तो परिणाम एकसमान मिलते हैं—

[१] शक-संवत् :	[२] शक-संवत् :
[क] ६५+६=७१ ई०,	[ग] ७८—७=७१ ई० तथा
[ख] ६५+७=७२ ई०,	[घ] ७८—६=७२ ईसवी।

जो हो, ७१-७२ ईसवी सन् से संचालित एवं जैन-मुद्रित शक-संवत् की परिकल्पना क्वचित् उपादेय सिद्ध हो सकती है।

काल-गणना एक वैज्ञानिक विषय है। इसमें 'पैण्डुलम' की तरह इतस्ततः भ्रमणशीलता रुग्ण काल-गणना का परिचय देती है। यह बड़ा भारी दोष है। यह विषम परिस्थिति म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी के सामने भी रही होगी। वे इसका उल्लेख मात्र करके पीछे हट गए। श्री ओझा जी इसका समाधान खोजने में तत्पर नहीं हुए; लक्ष्मणसेन-संवत् के संदर्भ में ईसवी सन् का निर्धारण करते समय १०२६-२७, १०२७-२८, १०२६-३०, १०३०-१०३१ का उल्लेख[८] मात्र करके संतोष-वशंवद हो गए—यह बड़े परिताप की बात है। यह उदासीनता निष्करण नहीं है। हम जानते हैं—प्रायशः अनुसंधायक जन 'शक-संवत्' को माध्यम ठहराकर शेष समवर्ती काल-गणनाओं को तदनुरूप ढालने का प्रयत्न करते रहे हैं। उदाहरणार्थ 'राजतरंगिणी' की काल-गणना को समक्ष रखकर समग्र स्थिति पर विमर्श कर सकते हैं। कल्हण पण्डित ने अपनी रचना में शक-काल का उल्लेख[९] किया है। प्रो० स्टाइन से लेकर सभी छोटे-बड़े विचारक शक-संवत् अर्थात्

७८ ईसवी की काल-गणना के नपैने से 'राजतरंगिणी' की काल-व्यवस्था खोज-खोज कर बताते रहे; यहाँ तक कि 'सप्तर्षि-संवत्' को भी उसी संदर्भ में देखते और परखते रहे। म०म० श्री ओझा जी ने भी यही किया है। लक्ष्मणसेन-संवत् को शक मंत्रतीय नपैने से परख कर श्री ओझा जी लिखते हैं—

"इस हिसाब से लक्ष्मणसेन-संवत् में १०४०-४१ जोड़ने से गत शक-संवत्, ११७५-७६ जोड़ने से गत चैत्रादि विक्रम-संवत् और १११८-१९ जोड़ने से ईसवी सन् होगा।"[१०]

हम अनुभव कर रहे हैं—श्री ओझा जी के मन में ७८ ईसवी का शक-संवत् है, उसी के परिवेश में की गई काल-गणना नितरां अशुद्ध है : चाहिए यह—

"लक्ष्मणसेन-संवत् में १०४०-४१ जोड़ने से गत शक-संवत् [९५-९६ ईसवी], ११६४-६५ जोड़ने से गत विक्रम-संवत् तथा ११०६-०७ जोड़ने से ईसवी सन् होगा।"

शककाल : ५६ ईसवी पूर्व

हम एक ऐसे शक-संवत् से भी परिचित हैं जो ५६ ईसवी पूर्व से चला। कभी कनिंघम ने विक्रम-संवत् [५७ ई० पू०] के विकल्प में शक-संवत् की स्थापना का मुद्दा उठाया था।[११] प्रो० फ्लीट तथा कीलहार्न ने उसका पूरा साथ दिया था। परन्तु भारतीय मनीषियों ने उसे मंजूर नहीं किया। भारतीय मनीषीजन विक्रम-संवत् के तिरोधान होने की शंका से घिरे हुए थे। परन्तु सत्य को कभी आँच नहीं लगती। हम भली भाँति जानते हैं—५८ ई० पू० का विक्रम संवत् भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है और ५६ ई० पू० का शक-संवत् भी जीवित है। यथा—"कार्तिक सित पंचम्यां अग्रटनाम्नासु सूत्रधारेण प्रारब्धं देवगृहं काले वसु शून्य दिक् संख्ये वर्षा.क् विक्रम काले वैशाखे शुद्ध सप्तमी दिवसे"[१२] इत्यादि। इस संदर्भ में पहली संख्या ५६ ईसवी पूर्व की है, यथा—१००८—५६=९५२ ईसवी; दूसरी संख्या विक्रम-संवत् ५८ ई० पू० की है, यथा—१०१०—५८=९५२ ईसवी सन्; आदि। यह सब लिखने का प्रयोजन यह है कि ५६ ईसवी पूर्व के शक-संवत् के संदर्भ में भी लक्ष्मणसेन-संवत् पर ऊहापोह करने की जरूरत है; यही काल-गणना उक्त संवत् के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकेगी निश्चयपूर्वक।

सन्, हिजरी सन् और यज्द बिर्द

ये तीनों मुस्लिम काल-गणनाएँ हैं। जहाँ-जहाँ 'सन्' लिखा हुआ दृग्गोचर होता है, वहाँ-वहाँ तत्काल हिजरी सन् की तरफ ध्यान जाना स्वाभाविक है। यह सर्वविदित है कि भारत में राज्य-स्तर पर हिजरी सन् का प्रयोग सम्राट् अकबर के आदेश से हुआ था। इससे पूर्व कौन-सी मुस्लिम काल-गणना प्रचलित थी—इस पर गंभीर अनुसंधान की अपेक्षा है। हिजरी सन् चान्द्र काल-गणना है। चूँकि चान्द्र काल-गणना में प्रतिवर्ष १०-११ दिन का क्षरण होता जा रहा है, अतः मुस्लिम-समाज में सौर काल-गणना का आधार जरूर रहा होगा—यहाँ पहुँच कर हमें अनुमान प्रेरणा देता है। मुस्लिम पैगम्बर मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ईसवी सन् में हुआ था; वे २२ वर्ष की वय में अपने कबीले के सरदार बने थे; तभी से उनकी राजसी जिन्दगी आरंभ होती है; १६ जुलाई, ६२२ ईसवी सन् में पैगम्बर साहब मदीना के लिए हिजरत कर गए थे; उस दिन श्रावण शुक्ला द्वितीया गुरुवार [जुमेरात] का दिन था; पैगम्बर साहब ६३२ ईसवी में भूगर्भ में चिर-निद्रा में सो गए।

इन तीन प्रमुख घटनाओं के स्मारक तीन काल-गणनाएँ प्रचलित हैं

(क) सन् : ५९२ ईसवी से चली सौर काल-गणना;

(ख) हिजरी : ६२२ ईसवी से चली चान्द्र काल-गणना; तथा

(ग) यज्द जिर्द : ६३१ ईसवी से गणित सौर काल-गणना।

इनमें से प्रथम काल-गणना केवल अनुमानाधीन है। यह सन् पैगम्बर साहब के राजसी जीवन से आरंभ हुआ माना जा सकता है। अनुमान का दूसरा कारण भी है। हिजरत करने से पहले, अर्थात् ६२२ ईसवी से पूर्ववर्ती वर्षों में कोई-न-कोई काल-गणना अवश्य रही होगी। पैगम्बर साहब फर्मान जारी करते समय किसी-न-किसी तारीख का उल्लेख जरूर करते होंगे—यह बात तो जल्दी समझ में आनेवाली है। संभव है, तब यही काल-गणना प्रचलित हो।

हिजरी सन् को ईसवी सन् में तथा विक्रम-संवत् में पलटने के कतिपय नियम बन गए हैं जिनके सहारे पर हिजरी सन् को बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है।[13]

यज्द जिर्द काल-गणना सौर है। इसका व्याख्याता गवाह अबूरिहाँ अलबैरूनी है जो लिखता है[14]—

"यज्द जिर्द ४००=विक्रम संवत् १०८८=शक ९५३ (ईसवी सन् १०३१)

१०३१—४००=६३१ ईसवी से यज्द जिर्द की सौर काल-गणना की तुलना में विक्रम-संवत् शक-संवत् को लाकर अलबैरूनी ने सावतारिक लोगों पर बड़ी कृपा की है।

जब तक किसी अधिकारी मुसल्मान कालविद् द्वारा हमारे अनुमान का संशोधन या समाधान प्रकाश में नहीं आता, तब तक इसी अनुमान को कामचलाऊ समझते हैं।

लक्ष्मणसेन-संवत्

हमारा प्रासंगिक विषय 'लक्ष्मणसेन-संवत्' है। उसका सम्बन्ध शक-संवत् से है। शक-संवत् माननेवालों के नाना सम्प्रदाय हैं। अतः एतद्विषयक निर्णय लेने से पूर्व 'शक-संवत्' की बहुविध शाखाओं और उपशाखाओं का परिचय बोध अनिवार्य था जो अब तक की प्रकाशित पंक्तियों से अवगत हो रहा है।

मैथिलकोकिल विद्यापति लक्ष्मणसेन-संवत् का 'वशदीप' है। यद्यपि 'गीतगोविन्द' के अमर गायक जयदेव की जीवन-गाथा से लक्ष्मणसेन-संवत् का सूत्र जुड़ा हुआ है, विषयाधिक्य के भय से उस पर लिखने के लिए हम उत्साहित नहीं हैं। इसी से हम संतुष्ट हैं: "एकै साधे सब सधै, सब साधै सब जाय।" विद्यापति ने लिखा है—

"अणल रंध्र कर लक्खण णखए सक समुद्द कर अगिनि ससी"

(अर्थात् लक्ष्मणसेन-संवत् २९३ तदनुसार १३२४ शाके, इत्यादि)

इस मौलिक पाठ पर शंका करते हुए अनेक पण्डितों ने बौद्धिक व्यायाम किया है। सबसे अधिक छानबीन करनेवाले हैं—श्री मनमोहन चक्रवर्ती। उन्होंने ज्योतिष के आधार पर बताया है: "चैत्र वदि षष्ठी १३३४ शक में बृहस्पतिवार हुआ था, १३२४ शक में नहीं।" "समुद्द-कर-अगिनि ससी" के पाठान्तर की प्रतिष्ठा करते हुए श्री चक्रवर्ती "समुद्द-पुर-अगिनि-ससी" को उपयुक्त मानते हैं। उनका अनुमान है—'कर' के स्थान पर 'पुर' पाठ ही ठीक होगा और 'पुर' संख्या तीन का द्योतक होता है। इस स्थापना की पुष्टि करते हुए श्री हरिप्रसाद नायक[15] लिखते हैं

"इस प्रकार शक-संवत् १३३४ होगा और १० का अन्तर, जो १३२४ के कारण उत्पन्न होता है, लुप्त हो जाता है। अब लक्ष्मणसेन-संवत् २९३ में १११९ जोड़ने से १४१२ ई० सन् हुआ और शक-संवत् १३३४ में ७८ जोड़ने से १४१२ ई० सन् होता है। पुनः ल० सं० २९३ तथा शक संवत् १३३४ में १०४१ वर्षों के अन्तर की पुष्टि भी हो जाती है।"

सरसरी तौर पर यह गणना-पद्धति निर्दोष भासती है; इसके परिणाम भी साधु निकले हैं, अतः इस पर शंका उठाना अथवा आलोचना करना अर्थहीन समझा जाएगा। परन्तु हम इस कार्य-प्रणाली की प्रशंसा हरगिज़ नहीं कर सकते। यह अनुसंधान नहीं है, अटकलबाज़ी है। अनुसंधायक समाज को किसी मूलपाठ के परिवर्तन का अधिकार प्राप्त नहीं है। पाठान्तर की बात अलग है। मान लो किसी हस्तलेख में 'पुर' पाठ है, तद्भिन्न हस्तलेख में 'कर' पाठ है; अनुसंधित्सुजन को स्वेच्छया पाठान्तरों में से किसी पाठ के वरण का तथा इतर पाठ के निवारण का अधिकार प्राप्त है, वैकल्पिक चुनाव में अपने ज्ञान का लाभ भी वह उठा सकता है, परन्तु नूतन पाठान्तर की सृष्टि उसके अधिकार से बाहर है। कोई मनीषी अनुसंधायक इसका समर्थन नहीं करेगा। श्री हरिप्रसाद नायक द्वारा श्री मनोमोहन चक्रवर्ती का समर्थन करना हमारी समझ में ठीक नहीं बैठा। मान लिया—शक संवत् १३३४ साधु है, परन्तु अशोभन साधनों से लब्ध साधु परिणति भी प्रायः 'श्रीहीन' हो जाती है।

प्रकृत लेखक की प्रतिक्रिया इससे भिन्न है। विद्यापति की मूल रचना—

३ ९ २ ७ २ ३ १

"अनल-रंध्र कर लक्खण णरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी" का अंक-विधान पाठ-परिवर्तन के बिना भी सुधारा जा सकता है। यहाँ शक-संवत् १३२४ आदेय नहीं है, बल्कि १३२७ शक-संवत् अपेक्षित है। 'समुद्र' शब्द जहाँ चार का द्योतक है, वहाँ वह सात अंक का उद्योतक भी है। मुहावरे के तौर पर हम कहते भी हैं—'सात समुन्दर पार'। अनुसंधायक को नाना अर्थवान् शब्द के वांछित किसी अर्थ के संदोहन का अधिकार प्राप्त है; पाठ-परिवर्तन का हरगिज़ नहीं। हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे—शक-संवत् १३२७ ही लक्ष्मणसेन-संवत् २९३ के अनुरूप है। विस्मय तो इस बात का है कि शक-संवत् १३२७=शक-संवत् १३३४=लक्ष्मणसेन-संवत् २९३ में अद्भुत और पूर्ण सामंजस्य है। गलत पद्धति से समागत शोभन परिणाम कभी साम्प्रत नहीं होते; परन्तु इस प्रसंग में विषवृक्ष का मधुर फल उतरा है।

हम पूर्व की पंक्तियों में लिख गए है: 'मैथिलकोकिल विद्यापति लक्ष्मणसेन-संवत् का 'वंशदीप' है।' तिरहुत के महाराजा की तरफ से विद्यापति को विसपी ग्राम 'दान' में मिला और दानपत्र भी लिखा गया। सौभाग्य से उस 'दानपत्र' पर चार-चार संवत्-गणनाएँ अंकित थी। यथा—"लक्ष्मणसेन-संवत् २९३=सन् ८०७=सं० १४५५=शाके १३२९ शुभमस्तु।" श्री हरिप्रसाद नायक को 'दानपत्र' में "चार विभिन्न वर्षकालों का उल्लेख होना सर्वथा विलक्षण" लगा। इसके "अलावे कालक्रम में भी अन्तर है।"—यह सब विचित्र लगा।[१६] सर जार्ज ग्रियर्सन ने इन्हीं सब विलक्षणताओं से आहत होकर इस दानपत्र को जाली बतलाया है। हम सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन की भारतीय संस्कृति के प्रति उद्भूत ग्लानि या अवज्ञा को आसानी से समझ सकते हैं, परन्तु म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भी इस 'दानपत्र' के बारे में अवांछनीय राय रखते हैं, अर्थात् इसे जाली मानते हैं[१७]—इससे बढ़कर परिताप की बात और क्या होगी ?

हम बड़े विश्वस्त भाव से लिख रहे हैं—एक संवत्सर-गणना में भूल हो सकती है; दो या तीन या इससे अधिक संवत्सरों के उल्लेख में भूल का चंतु-प्रवेश संभव ही नहीं है। हम विद्यापति को दानार्थ लिखे राजपत्र को लक्ष्मणसेन-संवत् की प्रामाणिक कसौटी मानते हैं; यथा—

† लक्ष्मणसेन-संवत्	* सन्	** संवत्	§ शाके [क]	⊙ शाके [ख]	†† संशोधन	
२९३	८०७	१४५५	१३२९	१३२७	१३३४	
+११ ६	+५९२	−५६	+७१	+७२	+६५	
१३९९	१३९९	१३९९	१४००	१३९९	१३९९	ईसवी सन्

इन अंकों की व्याख्या इस प्रकार है—

[†] लक्ष्मणसेन-संवत् २९३ का उल्लेख दानपत्र में है और विद्यापति की रचना में भी है। अतः इसके जाली होने का सवाल ही पैदा नहीं होता। यही संवत्-गणना हमारी साध्य एवं इष्ट गणना है। ११०६ ईसवी सन् में लक्ष्मणसेन-संवत् की स्थापना हुई। अतः लक्ष्मणसेन-संवत् मे ११०६ जोड़ने से ईसवी सन् प्रकट होता है।

[*] दानपत्र मे सन् ८०७ का संबंध हिजरी सन् से बिलकुल नहीं है। परन्तु इसे मुस्लिम काल-गणना से भिन्न किसी अन्य गणना से नहीं जोड़ा जा सकता है। ईसवी सन् ५९२ में पैगम्बर साहब को सरदारी हासिल हुई थी। उसी का आश्रय लेकर हमने अनुमान लगाया है।

[**] हमने ५६ ईसवी पूर्व मे किसी शक-संवत् को मान्यता दी है। इसे विक्रम-संवत् नहीं माना जा सकता। यद्यपि म० म० ओझा जी ने ५६ ईसवी पूर्व से विक्रम-संवत् गिनने की छूट[11] दे रखी है, परन्तु हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करके पहचान चुके हैं कि विक्रम-संवत् ५८-५७ ईसवी पूर्व से तो मान्य है, परन्तु ५७-५६ ईसवी पूर्व से विक्रम-गणना अमान्य है। ५६ ईसवी पूर्व का सतुलित परिणाम अन्य संवत्-गणनाओं के समकक्ष है, अतः इसे वैज्ञानिक स्वीकृति देने के सिवाय और चारा नहीं। जो अनुसंधायक 'संवत्' शब्द को देखकर ही 'विक्रम-संवत्' की ओर भागते हैं, उन्हें अगली सारिणी से सबक सीखना चाहिए।

[§] शक-संवत् वही है—६५ ईसवी से परिगणित, परन्तु इस पर जैन-समाज का ठप्पा लगा होने से इसे मूल शक-संवत् का उपसंवत् माना है।

[⊙] बात वही है, परन्तु जो विचारक अद्यावधि १३२४ पाठ का संस्मरण करते आ रहे हैं, वे ज़रा १३२७ शक का ध्यान करें। इस गणना में एक विशेष बात है। यहाँ शक-संवत् का उपसंवत् ७२ ईसवी की सीमा को मंजूर करता है, जबकि दूसरा उपसंवत् [§] ७१ ईसवी पूर्व होने पर भी सीमातिक्रमण [१३९९ से बढ़कर १४००] कर गया है। हमने इसे बिना किसी कल्पना, संभावना, अनुमान तथा संशोधन के ज्यों-का-त्यों रहने दिया है। मूल दानपत्र देखने पर ठीक-ठीक निर्णय लिया जा सकता है।

[††] श्री मनोमोहन चक्रवर्ती के संशोधन को हमने अमान्य करार दिया है। पुनरपि मूल शक-गणना के समावेश से उस संशोधित कालबोध ने अपनी समकक्ष संवत्-गणना का तिलमात्र भी अतिक्रमण नहीं किया।

दानपत्र सही है। सहायक संवत्-गणनाओं के आलवाल में विराजमान 'लक्ष्मणसेन-संवत्' अपरिवर्तनीय है। इस संवत् को पृष्ठभूमि देनेवाला वही शक-संवत् है जो रेवा [नर्मदा] नदी के उत्तरवर्ती लोगों के लिए दैशिक अथवा प्रादेशिक [illegible] मान्य है और ६५ ईसवी से परिगणित है

लक्ष्मणसेन-संवत् से आबद्ध काल-सारिणी इस प्रकार है —

ईसवी सन्	शक-संवत् [६५]	लक्ष्मणसेन-संवत्	विवरण
६५	००	--	श्री विक्रमादित्य द्वारा शक-स्थापना।
११०६	१०४१	००	लक्ष्मणसेन-संवत् की स्थापना।
११५५	१०९० §	४९	बल्लालसेन द्वारा अद्भुतसागर की रचना।
११५६	१०९१ §	५०	दानसागर का रचना-काल।
११५७	१०९२	५१ *	गया-स्तंभ : प्रथम अभिलेख।
११८२	१११७	७६ *	गया-स्तंभ : दूसरा अभिलेख।
११८७	११२२	८१	नदिया पर आक्रमण : लक्ष्मणसेन का ८२ वर्ष की वय में निधन [अनुमानतः]।
१३४७	१२८२	२४१	विद्यापति का जन्म [अनुमानतः]।
१३५३	१२८८	२४७	जौनपुर की स्थापना।
१३५८	१२९३	२५२	गणेश्वर महाराज का वध।
१३९९	१३३४	२९३ **	बिसपी ग्राम का दानपत्र।
१४०२	१३३७	२९६	इब्राहीम का गद्दी पर बैठना।
१४०२	१३३७	२९६ †	शिवसिंह का पलायन (निधन ?)
१४१३	१३४८	३०७ ††	शिवसिंह की पत्नी का सती होना।
१४४५	१३८०	३३९ △	विद्यापति को स्वप्न आना।
१४४७	१३८२	३४१ ⊙	९९ वर्ष की वय में विद्यापति का निधन।

काल-सारिणी की व्याख्या :

(§) यह किंवदन्ती है कि लक्ष्मणसेन को पितृमरणोपरान्त जन्मी संतान माना जाता है। यह कहाँ तक सत्य है ? इस पर अनुसंधान होना चाहिए। परन्तु इस किंवदन्ती के विपक्ष मे बल्लालसेन का स्वरचित साक्ष्य विद्यमान है : "निखिलचक्रतिलक श्रीमद् बल्लालसेनेन। पूर्णे शशि-नव-दश मिते शक वर्षे दानसागरो रचितः।" १०९१ शक वही है जिसे हम ६५ ईसवी सन् से गिन रहे हैं। इससे भी पूर्ववर्ती 'अद्भुतसागर' का रचना-काल भी "शाके ख-नव-खेन्द्वब्दे" अर्थात् १०९० शक, अर्थात् ११५५ ईसवी का उल्लेख भी है। दो-दो उल्लेख जाली नहीं हो सकते।

[*] लक्ष्मणसेन का गया में स्थापित स्तंभ-लेख है जिसमें ल० सं० ५१ का अंकन है जो ११५७ ईसवी के समकक्ष है। यह हिन्दू-परम्परा रही है—पितृ-निधन के पश्चात् हम सब तीर्थस्थान पर जाकर पिंडदान करें। यदि अनुमान-प्रेरक यह 'सत्य' यहाँ पर चरितार्थ है तो बल्लालसेन का ११५७ ई० मे निधन तथा ११५७ ई० में तन्निमित्त उसके पुत्र द्वारा पिंडदान करने मे विप्रतिपत्ति क्या है ? उत्तरोत्तर काल-श्रृंखला हमारी स्थापना को पुष्टि देती है।

[**] बिसपी ग्राम के लिए लिखा दानपत्र जाली नहीं है। यही 'दानपत्र' हमारा प्रमुख साक्ष्य है।

[†] रणक्षेत्र से महाराजा शिवसिंह का पलायन अथवा निधन—किसी की भी संभावना हो सकती है।

[††] १२ वर्ष तक प्रतीक्षा अथवा तत्पलायन के पश्चात् नियमानुसार १२वें वर्ष में शिवसिंह की पत्नी का सती होना इतिहास-सम्मत है। इस काल-श्रृंखला में एक वर्ष का संशोधन भी संभाव्य है : १४१४ ई०=१३४९ शाके=३०८ ल० सवत्; इत्यादि।

[△] शिवसिंह के पलायन के पश्चात् अथवा विद्यापति को स्वप्न आना,

वह भी ३२ वर्ष पश्चात्, ऐतिहासिक घटना के रूप में ग्राह्य तो नहीं हो सकता, परन्तु केवल इसमें ३२ वर्षों की गिनती ही विचारणीय सत्य हो सकती है। हमने यह गणना महारानी के सती होने पर, अर्थात् ल० संवत् ३०७+३२=३३६ [१४४५ ई०] की मानी है।

[२] लक्ष्मणसेन-संवत् ३४१ का हस्तलेख विद्यमान है। उसमें विद्यापति की वर्तमानता का उल्लेख है। हमारा अनुमान है २४१+९९=३४० ल० सं० तथा कतिपय महीने जीकर विद्यापति का निधन मानना युक्तिसंगत है।

संदर्भ-संकेत

१. अथ प्रतापादित्याख्यः तैरानीय दिगन्तरात्। विक्रमादित्य भूभर्तुः ज्ञातिरत्नाभिषिच्यत् ॥—राज० २।५। २. शूद्रकस्तु अग्निमित्राख्यः।—क्षीरस्वामी। ३. रेवायास्त्तरे तीरे 'संवत्' नाम्नाति विश्रुतः।—ज्योतिसार। ४. अलबेरूनी का भारत : संतराम कृत हिन्दी अनुवाद, तीसरा भाग, पृष्ठ ८। ५. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक)—इलाहाबाद : ४०-१. सन् १९७९; पृष्ठ १०। ६. उपरिवत्, पृष्ठ ५।

७. इतः श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवन्तीं नराधिपः। अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥
बापटे प्रेषितोऽमात्यो लिम्बाख्यस्तेन भूभुजा। जनाऽनृण्याय जीर्णं चापश्यच्छ्री वीरधाम तत् ॥
उद्धार स्ववंशेन निजेन सह मंदिरम्। अर्हतस्तत्र सौवर्ण-कुंभ-दंड-ध्वजालि भृत् ॥
संवत्सरे प्रवृत्ते स षट्सु वर्षेसु पूर्वतः। गतेषु सप्तमस्यान्तः प्रतिष्ठां ध्वज-कुंभयोः ॥
श्रीजीवदेव सूरिभ्यः तेभ्यस्तत्र व्यधापयत्। अद्यापिभंगं तत्तीर्थं मसूदुभिः प्रतिष्ठितम् ।
—प्रभावक चरित : ७१७५ [वीरनिर्वाण संवत् और जैन-काल-गणना, पृष्ठ १४५]।

८. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १८६। ९. लौकिकेऽब्दे चतुर्विंशे शब्दकालस्य साम्प्रतम् सप्तत्याप्यधिकं यातं सहस्रं परिवत्सराः—।२।५। १०. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १८६। ११. विक्रमादित्य : डॉ० राजबली पाण्डेय, पृष्ठ ४९। १२. विक्रमस्मृतिग्रंथ : हरिहरनिवास द्विवेदी—सम्पादक, पृष्ठ ५७। १३. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास : परिशिष्ट ९ (पृष्ठ ४१२)। १४. अलबेरूनी का भारत : संतराम कृत हिन्दी अनुवाद, भाग तीसरा, पृष्ठ ६। १५. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) पत्रिका : भाग ४०, अंक १, पृष्ठ १२। १६. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक), भाग ४०, अंक १, पृष्ठ १०। १६. भारतीय प्राचीन लिपिमाला; पृष्ठ १८२।

ए-१०, अमर कालोनी,
लाजपतनगर-४
नई दिल्ली-११००१४

प्राचीन भारतीय नाट्यधारा में अवरोध



डॉ॰ भगवतीलाल राजपुरोहित

मध्ययुग भारत में नाट्य-रचना ही नहीं, नाट्य-प्रदर्शन के लिए भी अन्धकार-युग था। भाषा की दृष्टि से यह संक्रान्ति-युग था। प्राचीन परम्परा का ह्रास हो रहा था तथा नवीन सम्मिलित सभ्यता का उदय। ऐसी स्थिति में संस्कृत भाषा में परम्परागत रूपक तो रचे जाते रहे, परन्तु १३वीं सदी के बाद, मुस्लिम साम्राज्य के उदय के साथ ही, उनके प्रदर्शन की व्यवस्था लुप्तप्राय हो गयी। १३वीं सदी के प्रारम्भ में मदन कवि की 'पारिजात मंजरी' नाटिका का धारा के शारदा सदन में प्रदर्शन हुआ था इसके नायक अर्जुन वर्मा की अध्यक्षता में। यह प्रदर्शन देखने के लिए धारा की जनता उमड़ पड़ी थी। परन्तु इसके पश्चात् के ऐसे उदाहरण विरल ही है।

हाँ, इस घटना से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व धारा में राजा भोज ने साहित्य एवं संस्कृति का साम्राज्य उपस्थित कर दिया था। वह विद्यारसिक तथा स्वयं कई ग्रंथों का प्रणेता था। उसने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'शृंगार-प्रकाश' में रूपक प्रकरण पर भी विचार किया है। परन्तु 'शृंगार-प्रकाश' के प्रारम्भ में वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि विदग्ध अभिनेताओं के सम्यक् अभिनय प्रदर्शित होने पर सामाजिक (दर्शक) रसास्वाद कर लेते हैं, अथवा महाकवियों द्वारा प्रबन्ध में यथावत् व्यक्त होने पर सहृदय विद्वान् रसास्वाद कर लेते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष प्रतीयमान पदार्थ वैसा स्वाद नहीं देते, जैसा वाग्मियों के द्वारा व्यक्त होने पर देते हैं। अतः भोज अभिनेता से कवि को विशेष आदर देते हैं एवं अभिनय से काव्य को।

स्पष्ट ही भोज नाट्य-प्रदर्शन की अपेक्षा उनके पाठ में अधिक आस्वाद पाता है। कारण सम्भवतः यह है कि विदग्ध अभिनेताओं का तब तक अभाव हो चुका था और अधकच्चरे अभिनेता कृति के प्राण हरण कर लेते हैं। इसीलिए भोज नाट्य-प्रदर्शन पर जोर नहीं देता। तब तक रूपक प्रायः अमंचीय होने लगे थे। न मंच के योग्य रूपक रचे जाते थे और न श्रेष्ठ प्रदर्शन में सक्षम अभिनेता थे। सम्भवतः यही कारण है कि भोज-विरचित कोई रूपक उपलब्ध नहीं होता। नाट्य-प्रदर्शन के प्रति भोज को वही असंतोष था जो आज के पण्डितों को है।

स्पष्ट ही ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक मंच के प्रति उपेक्षा के संकेत प्राप्त होने लग गए थे। परन्तु उस युग में जब जो भी रूपक रचा जाता, उसे मंच पर प्रदर्शित करने योग्य अभिनेता सुलभ थे; रूपक भी सामाजिकों की समझ के बाहर नहीं लिखे जाते थे; नाट्य-प्रदर्शन के प्रति उत्साह भी था। क्या यह कल्पना की जा सकती है कि शासन की ओर से उन पर प्रतिबन्ध लग जाए? ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी सदी में यह भी हुआ था।

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में विवाद, मद्यपान, समाज तथा द्यूत पर प्रतिबन्ध लगाने की की अनुशंसा करता है[1]—

"विवाद-सौरिक-समाज-द्यूतवारणं च कारयेत्।"

और इसी क्रम में सम्राट अशोक अपने प्रथम शिलालेख में व्यापक एवं स्पष्ट आदेश जारी कर देता है—

"न च समाजो कत्तंव्यो । बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानंपियो पियदसि राजा । अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं पियस पियदसिनो राञो ।"

(और समाज नहीं करना चाहिए क्योंकि देवताओं का प्रियदर्शी राजा समाज में अनेक दोष देखता है । कुछ समाज ऐसे भी हैं जो देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को साधु लगते हैं, भले लगते हैं ।)

यह समाज क्या है जिस पर कौटिल्य प्रतिबन्ध लगाने की अनुशंसा करता है तथा अशोक प्रतिबन्ध लगा देता है । रस-प्रकरण में समस्त शास्त्रकार नाट्यप्रेक्षकों को "सामाजिक" संज्ञा देते हैं । सामाजिक, अर्थात् नाट्य-प्रदर्शन के प्रेक्षक । स्वभावतः समाज का अर्थ होगा नाट्य-प्रदर्शन ।

कणवेर जातक में गणिका नटों से कहती है—

"तुम्हाकं अगमनट्ठानं नमरत्यि तुम्हे गामनिगमराजधानिय गन्ता समजं कत्वा समज्जमंडले पठममेव इमं गीतं गायेय्रा था—ते बाराणसितो निक्खमित्वा तत्थ तत्थ समज्जं करोन्ता एकं पच्चन्तगामकं गमिम्सी । से तत्थ समज्जं करोन्ता पठममेव गीतकं गायिस ।"

(तुम्हारे लिए अगम्य कुछ भी नहीं है । तुम ग्राम, नगर तथा राजधानियों में जाकर समज करते हुए समज्जमंडल में सर्वप्रथम यह गीत गाया करो—वे वाराणसी से रवाना होकर जहाँ-तहाँ समज्ज करते हुए एक निकटवर्ती गाँव पहुँचे । वहाँ उन्होंने समज्ज करते हुए सर्वप्रथम यह गीत गाया ।)

डॉ० एच० एन० दासगुप्त[*] के अनुसार यहाँ नट का अभिप्राय अभिनेता है, समज अथवा समज्ज का अर्थ प्रेक्षागृह में नाट्य-प्रदर्शन तथा समज्जमंडल से तात्पर्य है रंगमंच ।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में विधान किया गया है कि पक्ष या मास के किसी निश्चित दिन सरस्वती के भवन में नटों को सदा समाज करते रहना चाहिए तथा (बाहर से) आगन्तुक कुशीलव (अभिनेता) भी इनके लिए प्रेक्षणक (नाट्य-प्रदर्शन) करें[३]—

"पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः । कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दधुः ।"

(सरस्वती-भवन में नाट्य तथा काव्यगोष्ठियाँ भोज तथा परवर्ती परमार-काल में पर्याप्त लोकप्रिय हुईं । स्वयं भोज ने इस हेतु शारदासद्म बनवाया था ।)

यहाँ कुशीलव तथा प्रेक्षणक के साथ 'समाज' शब्द का प्रयोग स्पष्ट ही उसके 'नाट्य-प्रदर्शन' अर्थ की ओर संकेत कर रहा है । पालिग्रंथ मनोरथ-पूरणी (१।१५६) से ज्ञात होता है कि राजगृह में प्रतिवर्ष समाज होता था । वहाँ 'शालपुट' नामक अभिनेता पाँच सौ नर्तकियों के साथ नृत्य तथा नाट्यकला से नागरिकों को मुग्ध कर लेता था (अट्ठकथा, पृष्ठ ३६) । रामायण (२।५७।१२) से भी प्रतीत होता है कि एक समाज विशाल पैमाने पर होते थे (समजेषुमहत्सु) । ग्रामिण संयुत (४, पृ० ३०४) में नटगामणि (नट-प्रधान) कहता है कि नट रंगमंच पर नाट्य-प्रदर्शन में झूठी-सच्ची बातों से लोगों को हँसाता एवं उनका मनोरंजन करता है—

"योऽसो नटो रंगमज्झे समज्जमज्झे सच्चालिकेन जनं हासेति रमेति ।"

पर्वत-शिखरों पर होने वाले समाज को "गिरिग्ग समज्ज" कहते थे (चुल्लवग्ग ५।२।६, ६।२।७ तथा मनोरथपूरणी १।१५६) ।

इस समाज के साथ विशाल पैमाने पर उत्सव भी मनाये जाते थे । समाज तथा उत्सव एक साथ आयोजित करने के कुछ-कुछ अनेक उदाहरण होते हैं (२ ५१।२३ में

अयोध्या को "समाजोत्सवशालिनी" कहा गया है। यहाँ समाज का उत्सव अर्थ नहीं है, बल्कि "समाज तथा उत्सव" अर्थ है। यह तथ्य रामायण (२।६७।१५) के ही इस उद्धरण से स्पष्ट होता है—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः॥

(अराजक जनपद में न तो उत्सव होते हैं और न समाज जो राष्ट्रवर्धक है तथा जिनसे नटनर्तक प्रसन्न रहते हैं।)

राक्षस-वर्ग भी "समाजोत्सव" करते थे (३।३८।२४)।

अश्वघोष भी समाज तथा उत्सव मनाने का उल्लेख करता है—

"समाजैरुत्सवैर्दायैः क्रिया विधिभिरेव च।
अलंचक्रुरलंवीर्यास्ते जगद्धाम तत्पुरम् ॥" सौन्दरनन्द (१।५५)

ईसवी पूर्व पहली-दूसरी सदी में उड़ीसा के प्रसिद्ध राजा खारवेल ने भी अपने राज्याभिषेक के तीसरे वर्ष उत्सव तथा समाज करवा कर अपनी राजधानी का मनोरंजन किया था—

"ततिये पुन वसे गंधव वेद-बुधो दप-नत-गीत-वादित—
संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं।"

नासिक गुहालेख (१४९ ई०) के अनुसार, गौतमीपुत्र सातकर्णि भी अहिंसात्मक उत्सव, समाज आदि का विपुल मात्रा में आयोजन करता रहता था—

"छण-घनसव-समाज-कारकस।" (पंक्ति ८)

पाण्डवों के अज्ञातवास के समय मत्स्य देश में ब्रह्मोत्सव मनाने के उपलक्ष्य में समाजोत्सव मनाया गया था जिसमें भीम तथा जीमूत का मल्लयुद्ध भी हुआ था (महाभारत ४।१३।१४)। उत्सव तथा समाज साथ-साथ मनाये जाते थे। फलतः उत्सव में समाज का समाहार हो जाने लगा तथा समाज में उत्सव का। एक का नाम लेने से दूसरे का बोध भी होने लगा। फलतः उत्सव में सभी वर्ग के स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध एकत्र होकर जो खेल-तमाशे, नृत्य-संगीत, हस्ति-मेष-अजा-दण्ड-मल्लयुद्ध इत्यादि करते थे, उन सबका "समाज" शब्द से भी समाहार होने लगा। और 'समाज' शब्द कभी-कभी इन रंगारंग उत्सवों का बोधक भी होने लगा। कृष्ण तथा बलराम के वधार्थ कंस ने जो मथुरा में आयोजन किया था, उसे विष्णु पुराण (५।२०।१३-३८), ब्रह्मपुराण (२६३।२४) तथा हरिवंश (२।२६।१-१६) में समाज ही कहा गया है। महाभारत में पांडवों की अस्त्रविद्या की खुली परीक्षा को समाज कहा है (१।१३४) तथा द्रौपदी के स्वयंवर के आयोजन को समाजवाट (१।१८५)। श्रीकृष्ण ने भी समाज का आयोजन किया था (२।८५।७१) जिसमें मद्य-मांस का भी उपयोग हुआ था। दीघनिकाय (१।६) के अनुसार इनमें पशु-पक्षियुद्ध होते थे (जातक, ३।६१)। नृत्य, नाट्य, अभिनय, गीत, वाद्य का आयोजन होता था एवं मल्लयुद्ध भी होता था (६।७७)। जातकों (१।६८,६।३८३) से ज्ञात होता है कि राजा तथा धनाढ्य लोग इनका आयोजन करते थे। इसमें मद्य, मांस, रासरंग के साथ ही अश्लील वातावरण भी उपस्थित हो जाता था। इसीलिए बुद्ध ने (दीघनिकाय, ३।१८३ तथा मिलिन्दपञ्हो २।१२१) "समज्जदान" की निन्दा की तथा विनयपिटक (२।५।२।६) के अनुसार राजगृह के भिक्षुओं की इसलिए निन्दा हुई कि उन्होंने समाज में भाग लिया था।[४]

जैनागम में समाज के स्थान पर "थूरवण्ड" तथा "महुस्सव" (महोत्सव) का उल्लेख है जिनमें नृत्य-गीत होते थे तथा सुरा, मांस इत्यादि का खुलकर उपयोग होता था तथा मनचली स्त्रियाँ ऐसे उत्सवों में सीधे-सादे लोगों एवं जैन साधुओं को बहका लेती थीं। (आचारांग सूत्र, २।१।४।१)। अतः जैन साधुओं के लिए नियम बना दिया गया कि वे उत्सवों में सम्मिलित न हों (आचारांग, २।१।२।५-६)।

पाणिनि की अष्टाध्यायी (३।३।६९) के सन्दर्भ में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार जिसमें जन-समुदाय एकत्र हो, वह उत्सव 'समज्या' कहलाता था (समजंति तस्यां समज्या)। जातकों में 'समज्या' के लिए ही 'समज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्हें समाज भी कहते थे। विधुर पंडित जातक (६।२७७) के अनुसार समज्या में नर-नारी पंक्ति बनाकर अपनी-अपनी जगह बोले थे। समज्या या समाज महाजनपद-युग के नागरिकों की बहुत बड़ी विशेषता थी। पाणिनि ने ऐसे जनसमूह को 'समवाय' कहा है। टीकाओं में इसे 'समाज' कहा गया है। समाज में सम्मिलित होने वाले सामवायिक अथवा सामाजिक कहलाते थे। इस अर्थ में समवाय का प्रयोग कामसूत्र (१।४।३।१—आगन्तूनां कुशीलवानाम्) तथा महाभारत (समवाये ततो राज्ञाम्-आदि पर्व १।८२) में भी हुआ है। अष्टाध्यायी (२।२।१८) में प्रयुक्त 'सन्निवेश' का अर्थ भी समाज से मिलता-जुलता है। नगर से बाहर खेल या उत्सवों के लिए विहारभूमि का नाम 'सन्निवेश' था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाज गुण-दोष-मय होता था। वह उत्सव के साथ मनाया जाता था तथा कभी-कभी समाजोत्सव का अर्थ भी देता था। प्रेक्षण तथा रास-रंग, खान-पान, हिंसा तथा अश्लीलता का इसमें समाहार हो जाता था। इसमें सम्मिलित होना साधुजनों के लिए अविहित था। यही कारण है कि जैन एवं बौद्ध साधुओं को इसमें सम्मिलित होने के लिए निषेध किया गया है। रामायण में समाज नाट्य या नाट्य-प्रदर्शन के अर्थ में ही प्रस्तुत किया गया। परन्तु महाभारत तथा पुराणों में उसमें अन्य खान-पान, हिंसामूलकता इत्यादि उत्सव के गुण भी सम्मिलित हो गये जो महाजनपद-युग एवं कौटिल्य तक चलते रहे। समाज में दूषित वातावरण बनने एवं विलासिता बढ़ने तथा हिंसापरकता एवं क्रूरता होने से ही कौटिल्य ने इनका निषेध किया है। इन्हीं दोषों से सम्पन्न होने से तथा साधुजनों के लिए अगम्य होने से अशोक ने भी समाज न करने की अनुशंसा की थी। वह अनुशंसा नहीं, आदेश था। यद्यपि वह जानता था कि इन समाजों में कुछ समाज हानिकारक नहीं हैं, अच्छे हैं। लेकिन अधिकांश भले न होने से समस्त समाजों के आयोजनों पर उसने प्रतिबन्ध लगा दिया था। यह भी सम्भव है कि उसने 'समाज' बन्द करवा दिए, परन्तु कुछ मंडलियों को समाज करने की अनुमति दे दी जो विश्वसनीय थे तथा केवल राजा के इच्छानुरूप— धार्मिक तथा सदाचार-सम्पन्न— प्रदर्शन करते हों। ये प्रेक्षणक तथा नाटक इतने आकर्षक तथा उच्च कोटि के होते थे कि जातक (२।१३) के अनुसार उन्हें देखने मानव के अतिरिक्त देव, नाग, गरुड़ अर्थात् सुसभ्य जन भी उपस्थित होते थे।

प्राचीन समाज तथा उत्सव का परवर्ती काल में जो समाहार हो गया था, प्रतीत होता है कि अशोक ने उसे पुनः भिन्न कर दिया। प्रतीत होता है कि अशोक के द्वारा निन्द्य समाज "उत्सवयुक्त समाज" है तथा अनुशंसित कुछ समाज नाट्य-प्रदर्शन-परक समाज है। अशोक के प्रतिबंध से इनमें सुधार हुआ होगा एवं अशोक के पश्चात् ईसवी पूर्व की द्वितीय सदी से परवर्ती काल तक यह अनुशंसित एवं लोकप्रिय होता रहा।

सम्राट् अशोक ने कुछ समाजों की अनुशंसा की है। वह नाट्य-प्रदर्शन ही हो सकता है जिसकी 'कामसूत्र' में भी सरस्वती-भवन में महीने-पन्द्रह दिन में बराबर प्रस्तुत करने की अनुशंसा की गयी है। 'कामसूत्र' निःशंक रूप से समाज का नाट्य-प्रदर्शन के अर्थ में ही प्रयोग करता है। उडीसा के राजा महामेघवाहन ने अपनी राजधानी में न केवल समाज का आयोजन किया, अपितु रानीगुम्फा को नाट्यशाला के रूप में ही निर्मित भी करवाया। इस काल अथवा इससे भी पूर्व सीताबंगा की गुहा भी रंगमंच एवं प्रेक्षागृह के लिए ही निर्मित हुई थी। गुहाओं में निर्मित नाट्यगृह तथा उनमें प्रदर्शित सफल नाट्य-प्रदर्शनों को देखकर ही सम्भवतः भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र (२।९१) में विधान किया है कि नाट्यमण्डप 'शैलगुहाकार' दुमंजिला बनाया जाए तथा जैसे रानीगुम्फा की भित्तियों पर अनेक रोमांचक कथाएँ उत्कीर्ण हैं, उसी प्रकार भरत भी वहाँ भित्तिकर्म-विधि की अनुशंसा करते हैं (२।८३)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अशोक के लेख में समाज का अर्थ "नाट्य-प्रदर्शन" ही लिया जाना उचित है क्योंकि यह अर्थ इस समय तक प्रचलित था। अशोक ने उन समाजों को स्वीकृति प्रदान की जो साधु थे तथा उन्हें अस्वीकार किया जो असाधु किंवा बहुत दोषमय थे। वह साधुता तथा असाधुता क्या थी?

साधुता तो वहाँ होगी जहाँ हिंसा न दिखाई जाए, अश्लीलता न हो, राजविप्लव न हो, जनक्रान्ति की बात न हो—ऐसे जनसाधारण के चरित्र के उन्नायक समाज साधु थे। इनका प्रदर्शन हो सकता था, परन्तु जिसमें ये तत्त्व न होते, वे असाधु थे। प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार के प्रदर्शन अल्प मात्रा में होते थे तथा द्वितीय प्रकार के ही अधिक होते थे। यही कारण है कि उसे कहना पड़ा—'कुछ समाज अच्छे होते हैं।'

नाट्यशास्त्र तथा प्राचीन नाट्य-संकेतों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय तक भारतीय नाट्य-साहित्य पर्याप्त पल्लवित हो चुका था तथा उसकी प्रदर्शन-क्षमता में भी पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी, जनता को अपनी प्रस्तुति एवं अभिनय-पटुता के बल पर आकृष्ट करने की क्षमता नाट्य-मण्डलियाँ अर्जित कर चुकी थीं। इतनी कि जनता का न केवल वे जमकर मनोरंजन कर सकें, अपितु अपनी बात भी उसके हृदय में बैठा सकें। ईसवी पूर्व छठी सदी से चौथी सदी तक, अर्थात् बुद्धकाल से मौर्यों के उत्थान तक का समय साम्राज्यों, विशेषतः मगध साम्राज्य के अनवरत उत्थान-पतन का युग रहा है। तब बराबर राजनैतिक अस्थिरता बनी रही। और मौर्यों के पश्चात् पुनः यही क्रम प्रारम्भ हो गया जो गुप्तों के उत्थान तक अनवरत चलता रहा। जब भी कोई वंश शास्ता बना, परवर्ती राजा कामुक, विलासी तथा निष्क्रिय हो गए एवं राजा के ही किसी पुर्जे ने, सेवक ने उसे समाप्त कर स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया। यह तब होता था जब राजा के रहते भी प्रजा में अव्यवस्था हो जाती थी, अराजकता छा जाती थी, प्रजा दबी जबान से विद्रोह करने लगती, साहित्यकार कलम उठा लेता और जनभावना को साहित्य में उतार देता। मौर्यकाल तक असम्भव नहीं यदि ऐसा साहित्य किसी मात्रा में रचा गया होगा और बाद में भी रचा जाता रहा होगा। असम्भव नहीं यदि 'मृच्छकटिक' ऐसी ही कृतियों में से एक हो। ऐसी समाज-विप्लवकारिणी कृतियाँ यदि कुशल अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत हों तो, स्वभावतः जन-मानस पर राजा की दृष्टि से कुप्रभाव पड़ेगा। क्योंकि प्रजा की राजा के प्रति आस्था डिग जाने की सम्भावना बन जाती है और अधिकाधिक प्रदर्शन होने पर राजा के विरोध में प्रजा के भड़क जाने की भी सम्भावना हो सकती है और एक बार प्रजा भड़क उठती है तो उसे वश में करना खेल नहीं होता

है। कौटिल्य में प्रजा-शक्ति की परख की क्षमता थी। तभी राजतंत्र का प्रबल समर्थक होने पर भी कह सका—

"प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो महीयान्।"
(समस्त क्रोधों में प्रजा का कोप महान् है।)

कालिदास भी अपनी 'विक्रमोर्वशीयम्' के चौथे अंक में प्रकृति-असूया की चर्चा करता है। सम्राट् अशोक का साम्राज्य विशाल था। उसमें यदि राजविरोधी अथवा जनभावना का प्रतिनिधित्व कर प्रजा में अशांति भड़काने वाले इन प्रदर्शनों के परिणाम में अशांति फैल जाती तो उसके लिए राज्य-व्यवस्था को संतुलित कर पाना कठिन हो जाता। अपने पितामह के राज्य-व्यवस्थापक कौटिल्य की एक-एक बात अशोक के गले उतर रही थी। प्रकृतिकोप और समाज, दोनों का कौटिल्य ने उल्लेख किया है। प्रकृतिकोप भड़काने वाले समाज खतरनाक होते है, उन्हे बन्द कर दिया जाए। वे भी बन्द कर दिए जाएँ जिनमें राज्य, देश आदि का विप्लव अथवा दुर्ग का घेरा डालने का दृश्य हो तथा नायक अथवा राजा के वध के दृश्य हों। पूर्वोक्त समाजों के अनुरूप वध, युद्ध, भोजन स्नान अनुलेप, सुरत, वस्त्र-ग्रहण इत्यादि हिंसापरक तथा अश्लील दृश्य भी नाटकों में न दिखाए जाएँ। इस प्रकार सम्राट् अशोक ने रूपक-प्रदर्शन का सेंसर कर दिया और उसके आदेश के अनुरूप नाटक रचे जाने लगे। नाट्यशास्त्र तथा उसके अनुकरण पर परवर्ती शास्त्रों में भी उसी राजभावना का विधान कर दिया गया—

"दूराध्यानो वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत।
नाधिकारिवधं क्वापि······।।"—दशरूपक (३।३४-३५)

सम्राट् अशोक को अपने सिंहासन की भी चिन्ता थी। उसे खतरे में डालने में सर्वाधिक आशंका नाट्य-प्रदर्शनों, समाजों की थी जिन पर प्रतिबन्ध आवश्यक था। अशोक ने वह कर दिया। अपनी यह कमजोरी प्रकट न हो, अतः उसने लोकोपयोगी कतिपय सुधार भी उनमें करने की अनुशंसा की।

निस्संदेह नाट्य-प्रदर्शनों में नटों का सर्वाधिक हाथ रहता था। इस वर्ग के लोग प्रायः सच्चरित नहीं होते थे। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, नटी सच्चरितों को भी अपने हावभावों से बहका लेती थीं। ये गाँव-गाँव प्रदर्शन करते फिरते थे। इनकी अधिकांश मंडलियाँ हल्के लोक-नाट्य कर जनता का मनोरंजन करती थीं। अर्थशास्त्र, महाभाष्य, कामसूत्र इत्यादि प्राचीन प्रामाणिक कृतियों से स्पष्ट है कि इनकी नारियाँ, नटियाँ चतुर परन्तु चरित्रहीन होती थीं। फलतः जिस रात किसी गाँव में यह मण्डली ठहर जाती, वहाँ के रसिकों एवं मनचलों के चरित्र तथा चित्त को ये शंका में डाल देती थीं। इनके प्रदर्शनों में भी अश्लीलता की बहुलता रहती थी और सामाजिकों को आकृष्ट करने का रंगमंच भी माध्यम बन जाता था। इस लोकव्यापी बुराई पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए भी सम्भवतः अशोक ने समाज बन्द करने का आदेश दिया हो। लोकचरित के उत्थान के लिए अशोक ने कई जनोपयोगी आदेश जारी किए थे, उन्हीं में से एक यह भी था जिससे जनता की हिंसावृत्ति पर प्रतिबन्ध लगे एवं उसके चरित्र का अबाध उत्थान हो।

स्पष्ट ही सम्राट् अशोक के समाज पर प्रतिबन्ध लगाने के दो लक्ष्य थे। भोंड़े तथा राज-विरोधी प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध लगाकर राज्य एवं जन के हित में चाहे उसने ये कदम उठाए हों, परन्तु जन-जन की भावधारा पर प्रतिबन्ध लगाकर उसकी स्वाभाविक गति को उसने रोक दिया था। परिणामत: असम्भव नहीं यदि 'मृच्छकटिक' जैसे कितने ही रूपक रचे जाने से रह गए हों। 'मृच्छकटिक' जन का प्रतिनिधित्व करता है। नाट्य की सार्थकता उसके प्रदर्शन में है। जब उसके प्रदर्शन पर ही प्रतिबंध लग जाए तो वैसी रचना के लिए कौन प्रवृत्त होगा? एवं जिसके प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध हो, उस रचना या वैसी रचना पर प्रतिबन्ध नहीं है, यह भी कैसे मान लिया जाए? फलत. कहीं से किसी तरह 'मृच्छकटिक' बचा रहा जिसमें जन-भावधारा का उद्दाम प्रवाह है। पर अधिकांश ऐसी कृतियों के प्रदर्शनीय न होने से अगली पीढ़ी ने नकल ही नहीं की। फलत: उन मूल प्रतियों के नष्ट होने के साथ ही वह साहित्य भी वहीं समाप्त हो गया अथवा राजभय से आगे रचा ही नहीं गया। स्वभावत: अशोक के इस राज्यादेश ने देश की सृजनधारा को जो मोड़ दिया उसके परिणाम में हम न जाने कितने मृच्छकटिकों से वंचित रह गए।

संदर्भ संकेत :

(१) बड़ौदा से प्रकाशित, १०११, १२६वाँ अध्याय, तृतीय खण्ड, पृ० १८५।

(२) नटराज हिअर आर ऐक्टरसँ, समजमिन्स थिएट्रीकल शोज एण्ड समज मण्डल द स्टेज। डॉ० एच० एन० दासगुप्त, द इण्डियन स्टेज, भाग १, पृ० ३५-३७।

(३) चौखम्बा से सटिप्पण प्रकाशित कामसूत्र।

(४) फरिश्ता के अनुसार, राजा भोज भी वर्ष में दो बार ४०-४० दिन के महोत्सव मनाता था जिसमें आयोजित नृत्य-संगीत में देश भर के सुप्रसिद्ध कलाकार भाग लेते थे। वहाँ मदिरा तथा भोजन उपलब्ध रहता तथा अंत में प्रत्येक को नयी पोशाक और १० मिस्कल दिए जाते थे।

(५) पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १६०-६१।



१२ वीर दुर्गादास मार्ग,
उज्जैन

अवधी लोकगीतों में रामचरित

डॉ० किरन मराली

इक्ष्वाकु-वंशी राम का उदात्त जीवन-चरित जितना प्राणवान्, प्रेरक तथा महिमा-मंडित है, उतना ही करुण, संघर्षशील और हृदयग्राही। आदिकवि वाल्मीकि ने क्रौञ्च वध से क्षुब्ध होकर जो श्लोकबद्ध हृदयोद्गार व्यक्त किया था, इससे उन्हें एक महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। परन्तु उनके सम्मुख प्रश्न यह था कि ऐसे महाकाव्य का चरित-नायक कौन हो सकता है जिसमें धीरोदत्त नायक के समस्त गुण समाविष्ट हों। ऐसी ही उद्वेगमूलक मनःस्थिति में उन्हें ब्रह्माजी ने नारद द्वारा वर्णित उस राम-रूप का स्मरण दिलाया जिसके नायक इक्ष्वाकु-वंशी श्रीराम रहे। इस संदर्भ में उन्होंने धीरोदात्त नायक राम के प्रायः उन समस्त गुणों का वर्णन किया है जिसकी एक सफल चरित-नायक के लिए अपेक्षा है।

परन्तु अवधी लोकगीतों मे धीरोदात्त नायक राम का चरित स्फुट रचना होने के कारण किंचित् भिन्न रूप तथा स्तर का है। इन गीतों मे राम-सीता को सहज मानव के रूप में तथा कृषिजीवी राज-परिवार के सदस्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि लोक-गीतों के राम अपने सगे-स्वजन जैसे लगते हैं। उनका सहज व्यवहार मानव जैसा ही है। वह साधारण व्यक्ति की भाँति हँसते, रोते, बोलते, झगड़ा करते तथा कुछ क्रुद्ध होते हैं। इतने पर भी मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की मर्यादा को कहीं भी ठेस नही लगती। वे जन-जीवन के दैनंदिन व्यवहार में इतने घुल-मिल गये हैं कि अब उन्हें भान ही नहीं होता है कि यह किसी दिव्य या दैवी पुरुष का चरित है। लिपिबद्ध साहित्य की अपेक्षा अवधी लोकगीतों में राम का सहज मानवीय रूप अधिक उजागर हुआ है। लोकजीवन के आलोक में राम लोकप्रिय शिशु, लोकप्रेमी तथा लोकनायक आदि रूपों में ही प्रस्तुत होते हैं।

राम भारतीय संस्कृति के आलोक-स्तंभ हैं। ये हमारे समस्त संस्कारों, रीति-रिवाजों एवं व्रत-त्योहारों में घुल-मिलकर एकरूप हो गये है। हम मांगलिक अवसरों पर उन्ही की जीवन-ज्योति से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उनका चरित लोक-जीवन में प्रतीकवत् व्यवहृत होने लगा है और वे जन-मानस की अनुभूति के अंग बन गये है। लोकमानस अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद एवं राग-विराग को रामचरित के माध्यम से व्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि राम का लोक के साथ ऐसा तादात्म्य स्थापित हो गया है कि वे सबके अपने ही बालक हो गये। भावना के इसी स्तर पर लोक की अपनी गृहस्थी राजा दशरथ की गृहस्थी से एकरूप होकर प्रस्तुत हुई है। लोकगीतों में राम अपने देवत्व और अलौकिकता की प्रतिमा को त्याग कर धरती के सामान्य मनुष्य की तरह प्रकट हुए है। जहाँ शास्त्रीय साहित्य-रचनाकार राम के सहज मानवीय पक्ष की अतिरंजना करते पाये जाते हैं, वहाँ अवधी लोकगीतकार उनके मानवीय पक्ष को अधिक उजागर करता है।

उपलब्ध अवधी लोकगीतों में राम के चरित में कहीं भी माया, इन्द्रजाल अथवा अतिमान-वीय लीला का स्वरूप नहीं दिखाई देता है इसमें राम का चरित [illegible] हित है। इसी कारण

अहिल्योद्धार-जैसी पौराणिक कथा का यहाँ कोई उल्लेख नहीं पाया जाता है। सत्य, तेज, प्रेम, त्याग, तप, दया, क्षमा, संयम, सौहार्द्र, मृदुता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, बाणविद्या में पटुता, विनयशीलता, शान्ति, नीतिज्ञता, एक-पत्नीव्रत, प्रजावात्सल्य, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृप्रेम, शरणागत-वत्सलता, व्यवहार-कुशलता, प्रतिज्ञा-पालन, दुष्ट-दलन, कला-प्रियता तथा हास्य-परिहास-व्यंग्य-विनोद-प्रियता जैसे गुणों का राम के चरित्र में पूर्ण विकास हुआ है। केवल कुछ अवधी लोकगीतों में राम-जन्म-वर्णन पर पौराणिकता का आवरण चढ़ा हुआ है, इस कारण उनके चरित का विकास वहाँ अधिक स्पष्ट नहीं है।

राम की गुरुभक्ति भी आदर्श स्वरूप है। गुरु के प्रति कितनी श्रद्धा-भावना, कितना विश्वास, उनकी सेवा में कैसी तन्मयता एवं तल्लीनता और उनके साथ बोलचाल में कैसी विनयशीलता होनी चाहिये, इन समस्त बातों का आदर्श राम की गुरुभक्ति में दिखाई देता है। मुनि विश्वामित्र उनके शिक्षागुरु हैं। वे गुरु के लिए पुष्प-चयन कर पूजा की सामग्री जुटाते हैं

आए हंय राजकुमार फूल फुलवरिया माँ फूलइ।
राजा दसरथ कय बारे दुलारे राम हमारे नाथ, फूल फुलवरिया माँ फूलइ॥
हमरे गुरु जी पुजवा करत हंय फुलवा तोड़ब अपने हाथ, फूल फुलवरिया माँ फूलइ॥

इतना ही नहीं, वे गुरु-आज्ञा के बिना कोई काम नहीं करते हैं। उन्होंने गुरु-आज्ञा से ही ताड़का तथा मारीच जैसे असुरों का दलन किया—

मुनि साथ चलई रघुराई।
पहिल जाइ ताड़का मारेव असुर समूह भगाई॥
मुनिवर जग करना तब लागय धावा मारीच रिसाई।
मारय बान राम तोहि क्य उर सत जोजन उड़ि जाई।
बिसवामित्र देखि हरखनि अति आनन्द उर न समाई॥

मुनि के साथ राम-लक्ष्मण दोनों भाई जनकपुर में पधारते हैं। वहाँ धनुष-यज्ञ के समय बड़े-बड़े वीर योद्धा उपस्थित थे, परन्तु उनसे शिव-धनुष-भंग तो दूर रहा, वे उसे तिल भर भी न डिगा सके। राजा जनक ने निराश होकर कहा कि आज समस्त वसुंधरा वीरों से रहित हो गई। अब लगता है कि सीता आजीवन कुमारी ही रहेगी। उनके नैराश्य विगलित वचनों को सुनकर लक्ष्मण उत्तेजित हो उठे। परन्तु समुद्र की तरह गम्भीर राम उन्हें शान्त बैठे रहने का संकेत करते हैं। तब गुरु विश्वामित्र राम को आदेश देते हैं कि उठो, धनुष भंग करके राजा जनक के दुःख का निवारण करो—

देश-देश कय राजन बटोरउ अरु तिल भर धनुहाँ न छोड़ावइं, हाँ सीता राम सय बने॥
अरे राजा जनक केरा भवा पितकोपवा अरे अब सीता रहइ कुँवारी, हाँ सीता राम सय बने॥
एतना बचनिया सुननि गुरु मुनि अरे रामा कइहन दीहिन आज्ञा, हाँ सीता राम सय बने॥
उठतेउ रामा तू धनुखा तुरतेउ अरे जनका कय मिटउतेउ पितकोपवा, हाँ सीता राम सय बने॥

तब गुरु-आज्ञा पाकर वे मंद-मंद मुस्कराते हुए उठे और बड़ी सरलता से उन्होंने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर उसके खण्ड-खण्ड कर दिये—

धनुहा तुरिन रामचन्दर जी अरे जय-जयकार मनावइं, हाँ सीता राम सय बने॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम शिष्य की भाँति ही पितृभक्त भी थे पिता की आज्ञा के पालन करने की तो बात ही क्या उनका संकेत पाकर उन्होंने चौदह वर्ष के लिए अयोध्या का

याग कर दिया। राजा दशरथ ने वन-गमन के लिये उन्हें स्पष्ट शब्दों में आज्ञा नहीं दी थी। बेमाता कैकेयी के द्वारा ही उन्हें पिता की मौन सम्मति का ज्ञान हुआ था, उसी को उन्होंने स्वीकार किया। माता कैकेयी के कठोर वचनों को सुनकर राम ने बड़े हर्ष के साथ विनयपूर्ण शब्दों में कहा कि चाहे इन्द्र और ब्रह्मा अपने सिंहासन का त्याग कर दें, परन्तु हम अपने माता-पिता के वचन की रक्षा करेंगे—

इंदर छोड़ब इंदरासन बरमा छोड़ब आसन हो
माता-बाप क बचन न छूटइ बचन हम राखब हो ॥

इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में भी राम बिमाता से कहते हैं कि हे माता ! मैं पिता की आज्ञा से आग में भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्र में भी कूद सकता हूँ—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥—वा० रा० अयो० (१८।२८-२९)

जब राम माता कौशल्या से विदा माँगने के लिए जाते हैं, उसी समय वे पुत्र-विछोह की कल्पना से दुःखी होकर उन्हें रोकना चाहती हैं। इस पर राम माता को समझाते हुए कहते हैं कि पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझ में नहीं है। तुम प्रसन्न हो जाओ, मैं स्वयं वन जाना चाहता हूँ—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥—वा०रा०अयो० (२१।३०)

लगता है महर्षि वाल्मीकि ने लोक से ही इस तथ्य का प्रभाव ग्रहण किया था।

पितृभक्ति की भाँति राम का भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय है। मेघनाथ के शक्ति-बाण से लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर राम विकल हो उठते हैं और वे विलाप करते हुए कहने लगते हैं कि मैं कौन-सा मुँह लेकर अयोध्या लौटूँगा, मैंने एक नारी के लिए अपने प्रिय भाई की बलि चढ़ा दी, अब मैं दैत्यों से युद्ध न कर सकूँगा—

अरि हो कवन मुँहा लइकय जावइ अवध मुँह देखइबइ रे ।
एक हो बाटय जननी कुमार हमही हाथ पकरावइ रे ॥
अरि हो एक नारी करतिन भाई तउ भाई का गवायन रे ।
एतना विलाप करइँ रामजी, रामजी करइँ रे ।
अरि हो अब नाहीं करबय जुधि तउ लछिमन नाहीं बाटय रे ।
नारी करतिन भइया गवायन तउ बहवा टूटा रे ॥

अवधी लोकगीतों में राम के कलाप्रिय होने का भी संकेत मिलता है। उनकी रुचि वास्तु-कला तथा भितिचित्रकला दोनों में ही जान पड़ती है। उनकी कलाप्रियता का परिचय उस समय मिलता है जब वह राजा जनक के द्वार पर पहुँच कर राजभवन में बने झँझरी तथा भितिचित्र को देखकर उसकी सराहना करते हुए यहाँ तक कह जाते हैं कि झँझरी तथा भितिचित्र उरेहने वाली कन्या से ही मैं विवाह करूँगा, मुझे दान-दहेज कुछ भी नहीं चाहिये—

दान दहेज सासु कुछ नाहीं लइबों हो, न लइबों चढ़ने क घोड़ हो ।
जउन तिवइया यहि झँझरी उरेहले तिन्हका मय संग लइ जाब हो ॥

× × ×

जवनी सीतल देई का बियाहन आयउ तिन यह चित्र उरेहु।
जउन सीतल देई यहि चित्र उरेहले तिन्हका मय व्याह लइ जाब ॥

संगृहीत अवधी लोकगीतों के अनुसार राम सदैव गम्भीर ही नहीं रहते, अपितु वे प्रसगानुसार व्यंग्य-विनोद करने से भी नही चूकते थे। उनकी वाक्पटुता तथा विनोदप्रियता का पुट उस स्थल पर मिलता है जब राम पूजा-कक्ष मे प्रवेश करते हैं। सीता की सखियाँ उन्हीं के जूतो को चुनरी में लपेट कर द्वार के सामने रख देती हैं और पूजागृह से निकलते समय वे राम से विनोद करती हुई कहती हैं कि ये चुनरी मे लिपटी हुई तुम्हारी कुल देवी है। इनका चरण स्पर्श करो। राम भला पीछे कब हटने वाले थे। उन्होने तुरन्त उत्तर दिया कि मुख पर आवरण डालने से यह ज्ञात नहीं होता है कि यह देवी मुझ पर रुष्ट या प्रसन्न है, परन्तु यह सत्य है कि इस देवी ने चुनरी के छोर में मेरी पनही छिपा ली है—

रुष्ट प्रसन्न जानि कइसे पावउं बिना सरूप दिखाई।

× × ×

इन देवी चुनरी की छोरी रामजी पकडेव, तुम मेरी पनही चुराई ॥

इसी प्रकार कोहबर में बाती टारते समय जनकपुर की स्त्रियाँ व्यंग्य करती हुई राम से कहती हैं कि नेग लेकर बाती टारो। इस पर राम परिहास करते हुए कहते हैं कि बाती टारना उन्ही को शोभा देता है जो हमारे साथ जायेगी—

यह बात उनही का सोहाती जो हमरे संघ जाती।

इससे भी अधिक चुटीला व्यंग्य वे उस समय जनकपुर की स्त्रियों के साथ करते है जब वे सब पूछती हैं कि अकेले राजा दशरथ तीन सौ साठ रानियों को कैसे सन्तुष्ट रखते होंगे ? राम की हाजिरजवाबी का तो कहना ही क्या। वे तुरन्त कहते है कि हाथ कंगन को आरसी क्या ? एक दिन तुम सब लोग उन्हें अपनी अटारी पर रखकर उनकी परीक्षा क्यों न कर लो—

तीन सव साठ रानी राजा दसरथ कय एक पुरुख कय नारी।
उनकय नेम धरम कइसय निबहत, जेडकय बरिखय-बरिखय दिन पारी, सुनउ सुत चारी ॥
एतना सुनि रघुनायक बोलेउ, सुनउ जनकपुर कय नारी।
राजा दशरथ कय लेऊ परीछा, एक दिन राखि कय अपनी अटारी ॥ सुनउ सुत चारी ॥

कुछ लोग शूर्पणखा के प्रति किये गये राम के हास्य-परिहास को उनकी चारित्रिक दुर्बलता बतलाते हैं, पर वह भी उनका युवकोचित परिहास ही था जिससे प्रेरित होकर उन्होने लक्ष्मण को कुँवारा बताया था।

अरि हो तुहँय अस पुरुख-नाहीं देखेउ रे।
हमय अस नारी नाही देखेउ रे।
ओ रामा हमरा तोहरा जोड़ी बाटय, अबही तउ बिआह नाहीं भा रे।
हमरा तउ बिआह होइगा लछिमन सय जाइ पूछउँ रे ॥

हास्य-विनोदप्रिय राम विशालहृदय भी थे। उनका स्नेह सभ्य मनुष्य मात्र तक ही सीमित न था, अपितु वे पशु-पक्षी, वानरो, ऋक्षों, आदिवासियों, वनवासियों तक के प्रति स्नेह-सौहार्द का भाव रखते थे। बरात-प्रस्थान के समय दूल्हा राम के ऊपर तोता मँडराता हुआ हठ करता है कि मैं भी बरात के साथ चलूँगा। राम के बिना उसे अवध एक पल के लिये भी नही भाता

उपरा सुगन म डराय हमहु चलब बियाहन ।।

इसके अतिरिक्त जटायु, शबरी तथा सुग्रीव मिलन आदि बहुचर्चित प्रसंग भी इसके उदाहरणस्वरूप हैं। वे जीव-मात्र से स्नेह करते थे। उनकी दृष्टि मे धनी-निर्धन, छोटा-बड़ा, उच्च-वर्ग या निम्नवर्ग का भेद न था। उन्होंने समाज द्वारा बहिष्कृत, तिरस्कृत या उपेक्षित लोगों को भी अपना मित्र बनाने में संकोच नहीं किया।

यद्यपि आदर्श जीवन के समस्त पक्ष राम की आदर्श चर्या मे व्याप्त है, तथापि वे आदर्श-पति थे, यह कहने में कुछ संकोच होता है। राम द्वारा सीता-त्याग का प्रसंग स्मरण आते ही उस सती-साध्वी सीता का दुःखपूर्ण जीवन आँखों के सामने साकार हो उठता है और मस्तिष्क मे एक प्रश्न कौंध उठता है कि क्या राम वास्तव में एक आदर्श पति रहे? राम के सम्पूर्ण चरित का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि राम का सीता के साथ प्रगाढ़ प्रेम था। प्रेम के वशीभूत होकर ही राम सीता के आग्रह पर स्वर्ण-मृगचर्म लेने के लिए जाते हैं और सीता-हरण पर वह भाँति-भाँति से विलाप करते हुए मार्ग में आये सभी लोगों तथा विभिन्न प्राकृतिक उपादानों से सीता का पता पूछते हैं। विरहातिरेक मे राम जड़ और चेतन का भेद भुला कर उन सब से पूछ-पूछ कर सीता का पता लगाते है—

राम-लखन मिल बैठे सीता बचन सुनाई ।।
मिरगा का छाल मोरे मन ही मा भायी।
एतना बचन सुने राम जी धनुख बान उठाई।
मिरगा मार राम घर लउटे सूनी मड़इया पाई ।।
× × ×
सूनी कुटिया पाइ तउ जियरा सनक गवा रे।
अरि दूनउ भाई बिरछा सय पूछइं रे।
रे मोरी बिरछा कवनी ओर देखेउ सीता रानी।
कवन डगर गई हयं सीता रानी रे।
आरे राम अउ लछिमन पूछयं जंगल कय हिरिनिया से।
अरि मोरी हिरिनी कवनी राही देखेउ सीता रानी, कवनी डगर गइ हय रे।

प्रजारंजक राम लोकापवाद के भय से गर्भवती सीता का त्याग तो कर देते हैं, पर वह एक पल के लिए भी उन्हें नही भूल पाते। भावना और कर्त्तव्य के झंझावात मे फँसे राम कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व देते हैं। यह उनका अनुपमेय त्याग उन्हे आदर्शीय पति की श्रेणी मे लाकर खड़ाकर देता हैं। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह प्रजा के, लोक के हित के लिए ही किया। अश्वमेध-यज्ञ के आयोजन पर राम सीता को वापस बुलाने के लिए लक्ष्मण, भरत तथा गुरु वशिष्ठ को भेजते हैं, पर वह मानिनी अयोध्या लौटने से इंकार कर देती है—

अगवा कय घोड़वा बसिठ मुनि पछवा भरत लाल हो राम।
रामा अलहेड़ बछेड़वा लखन लाल सीता का मनावइ चले हो राम ।।
× × × ×
तोहरा कहल गुरु अजोधिया का जाबइ हो राम
गुरु अइसन पुरुख की सनेहिया त बिधि न मिलावइ हो राम

इस पर राम स्वयं सीता को मनाने के लिए आते हैं। मार्ग में उनकी भेंट गुल्ली-डंडा खेलते हुए दो बालकों से होती है। वे उन बालकों से उनका परिचय पूछते हैं। वे बालक अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि हम पिता का नाम नहीं जानते हैं, सीता हमारी माँ है --

चलो भइया लछिमन वही बन जवने बन भउजी तोहार जी।
गुल्ली डंडा खेलय दुइ लरिकय दूनो बार कुआरि जी।।
केकर होव भइया दुइ रे लरिकवय केकर दोहाई तू हु खाव जी।
आजा तव हमरा अजोधिया राजा, काका ओ लछिमन होय जी।।
बाप ददुजिया कय नउवा न जानव मइया सीतल रानी होय जी।

इसके आगे जब वह सीता के पास पहुँचते हैं और कहते हैं कि देवि, तुम्हारे बिना मेरा जीवन सूना है, तुम अयोध्या चलकर मेरे नैराश्यपूर्ण जीवन में आशा का संचार करो। परन्तु उस हतभागे राम को स्वाभिमानी सीता ने कभी क्षमा न की। उसने बच्चों को उसके अभागे पिता का नाम तक नहीं बताया और राम को अकेला छोड़ कर स्वयं धरती में समा गई—

रामा छापक पेड़ कदम कर लागल सुहावन।
तेहि तर बइठी सीतल रानी केसियन झुरवई।।
पछवाँ पलटि जब चितवइं राम जी ठाढ़े।
रानी छोड़ि देहु जियरा बिरोग अजोधिया बसावउ।।
सीता तोरे बिन जग अँधियार त जीवन अकारथ।
सीता अँखिया मा भरकय बिराग त एकटक देखिन।।
सीता धरती मा भई समाइ कुछौ नाही बोलिन।

अपने विशिष्ट चारित्रिक गुणों के कारण दाशरथि राम न केवल देव-तुल्य पूजित हुए, अपितु भगवान के पद पर प्रतिष्ठित हो गये।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
मदनमोहन मालवीय डिग्री कॉलेज,
भाटपाररानी, देवरिया



निर्मल वर्मा की कालातीत सांस्कृतिक संचेतना



श्री सवाई सिंह शेखावत

"मैं अक्सर सोचता हूँ कि वे शहर कितने दुर्भागे हैं जिनके अपने कोई खण्डहर नहीं। उनमें रहना उतना ही भयानक अनुभव हो सकता है, जैसे किसी ऐसे व्यक्ति से मिलना जो अपनी स्मृति खो चुका है, जिसका कोई अतीत नहीं। अगर कोई मुझसे नरक की परिभाषा पूछे तो वह है, हमेशा वर्तमान में रहना, जहाँ कोई छाया नहीं, जहाँ आदमी हमेशा आँखें खोले रहता है—नींद, स्वप्न और अँधेरे को भूलकर।"

निर्मल वर्मा : शब्द और स्मृति

आज जबकि प्रखर रोशनी के अंतहीन सिलसिले में नींद, स्वप्न और अँधेरे को पूरी तरह झुठलाते हुए, सतत वर्तमान में बने रहने की चाह में, अतीत को पूरी तरह काट फेंकने में ही लेखकीय आधुनिकता की सार्थकता प्रमाणित की जा रही है, उस समय निर्मल का अतीत के प्रति अतिरिक्त सम्मोहन एवं समर्पण काफी आश्चर्यजनक है और दिलचस्प भी। निर्मल की लेखकीय संचेतना की संवेद्य परतों का विश्लेषण करते हुए अक्सर यह अहसास और अधिक घनीभूत हो उठता है कि निर्मल के यहाँ अतीत, मात्र अतीत, उसकी स्मृति, या अनुभूति भर नहीं, बल्कि "एक संपूर्ण जिंदा अहसास" है जो अपने रूप, रंग, रस, स्पर्श और गन्ध से एक ओर जहाँ हमारे वर्तमान एवं सुखद संकल्पनीय भविष्य को रूपाकार प्रदान करता है तो दूसरी ओर उन्हें विवेचित और विश्लेषित करने की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह भी करता है।

अतीत के प्रति अतिरिक्त सम्मोहन और समर्पण भरा आग्रह प्रायः लेखकीय संचेतना को तरल लिजलिजी भावुकता से सराबोर कर देता है। लेकिन इससे इतर निर्मल के लेखन में हमें एक प्रखर मर्मस्पर्शी संवेदनशील दृष्टि के दर्शन होते हैं। जो हमें केवल छूती-भिगोती ही नहीं, बल्कि हमारी सांस्कारिक संचेतना का परिष्कार भी करती है। और, इस सब का कारण है अतीत और परम्परा से जुड़ाव के पीछे निर्मल का अपना सुविचारित दर्शन-क्रम, जो उनकी लेखकीय सोच को विवेचित और विश्लेषित करने के साथ ही व्यक्ति और उसकी सांस्कृतिक मनीषा का भी तार-तार विश्लेषण करता है।

निर्मल का मानना है कि हम प्रायः अतीत के फैसलों को अपने वर्तमान में निपटाते हैं, क्योंकि हमारा वर्तमान ही एक जमाने में हमारे पूर्वजों का भविष्य रहा होगा। उन्होंने अपने भविष्य के बारे में जो स्वप्न देखे थे, हम आज उन स्वप्नों के भोक्ता हैं, शिकार हैं, उन्हें स्वीकारते हैं या उनसे जूझते हैं। ऐसी स्थिति में आज के समूचे संकट के हल के क्रम में हमें अपने अतीत, अपनी जड़ों को ही टटोलना होगा। क्योंकि उन्हीं के बीच कहीं हमारी नियति की धड़कन व्याप्त है। साथ ही निर्मल का यह भी मानना है कि अतीत की अनुभवी आँखों से वर्तमान को देखना किसी भी स्तर पर सपाट और बेलौस नहीं हो सकता, क्योंकि देखने की क्रिया अपने

ाप में एक स्वस्थ एवं सम्पूर्ण क्रिया है जिसमें अनुकरण के साथ चुनने और झाँकने का विवेक भी जुड़ा रहता है।

इसी स्थल पर निर्मल के लिये अतीत और परम्परा अपने प्रचलित परम्परित अर्थों से भिन्न, एक विशिष्ट जीवनानुभव में बदल जाते हैं। एक ऐसा जीवनानुभव जो विशद विवेच्य सिलसिले के बाद अतीत की विरल सौगात के रूप में हमें मिला है और जिसमें सृजन और संस्कार की विपुल संभावनाएँ निहित है।

निर्मल का मानना है कि जिस तरह एक आदमी अपनी स्मृति में दुनियाँ को परखता है, उसी तरह एक जाति अपनी परम्परा की आँखों से यथार्थ को छानती है। परम्परा से भी निर्मल का अभिप्राय उतना विश्वासों और अन्धविश्वासों से नहीं, जितना उस अदृश्य लय से है जो एक जाति के बहाव, उसकी धारा, उसकी गति को निर्धारित करती है। निर्मल की मान्यता है कि जिस तरह बहती हुई धारा अपने भीतर एक तरफ आदिस्रोत की मौलिक पवित्रता और दूसरी तरफ अपने लक्ष्य की अन्तिम परिणति दोनों को समाहित करती है, ठीक उसी तरह एक जातीय परम्परा अतीत और भविष्य, दोनों को अपनी धड़कन में पिरोती है।

निर्मल के यहाँ परम्परा अपने भीतर सतत प्रवाहित इसी सांस्कृतिक धारा की निरन्तरता का बोध है जो हमने अपनी स्थिरता में रहकर भी नये-नये अनुभव-रूपाकार ग्रहण करती चलती है। जो माँजती है और मँजती भी है। इसीलिए वह अपनी सम्पूर्ण तात्कालिकता में भी शाश्वत है।

निर्मल के यहाँ परम्परा को महसूसना वस्तुतः अपने होने को महसूसना है, क्योंकि परम्परा ही हमारी निजता, हमारी अपनी निजी विरल पहचान को अलग और अलहदा आकार प्रदान करती है। उसकी संपूर्णता में ही हम संपूर्ण है, उससे बाहर और कटकर कुछ भी नहीं।

निर्मल की इस मान्यता से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि टी० एस०इलियट ने अपने को किन अर्थों में परम्परावादी कहकर पुकारा था। निर्मल स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि परम्परा हमारी सांस्कृतिक संचेतना का वह नैसर्गिक अंश है जिसमे संपूर्ण सृजन, संयोजन एवं संकलन-क्षमता के साथ चुनने और झाँकने का अनिवार्य विवेक भी जुड़ा रहता है। और यह भी कि परम्परा और संस्कृति हमारी आत्म-चेतना का प्रदर्शन नहीं, बल्कि उस सामूहिक मनीषा का निष्फलन है जो व्यक्ति को एक स्तर पर व्यक्ति से और दूसरे स्तर पर विश्व से जोड़ती है।

अतीत के प्रति निर्मल की यह विशुद्ध विवेच्य एवं सापेक्ष दृष्टि उस समकालीन दृष्टि से कितनी भिन्न है जो मात्र आधुनिक बनने और होने की झोंक में लगातार अपने उर्वर सांस्कृतिक अतीत से कटती जा रही है। एक ऐसा कटाव जो व्यक्ति को उसकी अपनी जड़ों से ही जुदा कर देता है। वे जड़ें जिनसे प्राप्त जीवन-रस से व्यक्ति के अपने निजी मौलिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अपनी जड़ों से कटने की अविवेकपूर्ण संघातक प्रक्रिया के अनिवार्य दुष्परिणामों को हमें आज भुगतना पड़ रहा है और हम लगातार अपनी निजी मौलिक पहचान खोते चले जा रहे हैं।

समकालीन आधुनिकता की बुनियादी अवधारणाएँ भी इस दृष्टि की गहनता और विशदता के आगे पूरी तरह खोखली जाती हैं। और, समकालीन बुद्धिजीवियों का यह दावा, कि परंपरा मात्र अतीत की चीज है जिसे हम जैसे-तैसे वर्तमान में ढोकर लाते है, पूरी तरह झुठला जाता है। निर्मल स्पष्ट शब्दों में कहते है कि ढोने की यह विवशता हमारी अपनी नहीं हो सकती। जो चीज हम में है और अपनी संपूर्ण महसास-क्षमता के साथ है, वह भला अतीत क्यों कर हो सकती है?

क्या एक देह अपने अंगों को ढोती है या अंग खुद देह को ढोते है ? आज हमें जो यह गलतफहमी हुई है और हम परंपरा तथा व्यक्ति में भेद मान बैठे हैं, वह वस्तुतः हमारी अपनी सोच का परिणाम नहीं, अपितु पश्चिम का आयातित दर्शन-भ्रम है। पश्चिम और हमारी जीवन-दृष्टि में मूलभूत असमानताएँ हैं, अतः आवश्यक नहीं कि जो बातें पश्चिमी परिप्रेक्ष्य में सोची या कही गयी हों, वे भारतीय संदर्भ में भी फिट बैठती हों या खरी उतरती हों।

निर्मल उन संपूर्ण अंधविश्वासों, रूढ़िगत फैशनों एवं फार्मूलों का पर्दाफाश करते हैं जिन्हें हमने आधुनिकता के नाम पर आज अपना और ओढ़ लिया है और पश्चिम के अंधानुकरण के अत्याधुनिकता-उपक्रम में अपने समृद्ध सांस्कृतिक अतीत से पूरी तरह कट, सिमट गये हैं। निर्मल इस क्रम में यूरोपीय एवं भारतीय सांस्कृतिक संचेतना की बुनियादी अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। साथ ही एक-एक कर उन गल्तियों का जिक्र करते हैं जिन्हें आधुनिक बनने एवं होने के नाम पर हमने की हैं।

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि निर्मल एक लम्बे अर्से तक विदेश में रहे हैं और इसी सुदीर्घ प्रवास ने उन्हें वह दृष्टि प्रदान की है जिससे वे अपनी जातीय अस्मिता एवं संस्कृति को बिना किसी भ्रम एवं भुलावे के जाँच-परख सकें। निर्मल लिखते है कि पश्चिम से मुझे एक तार्किक अन्तर्दृष्टि मिली है जिसके सहारे मैंने अपनी संस्कृति के मिथक-बोध, बिम्बों और प्रतीकों की गैर-तार्किक अन्तर्चेतना को परखने की चेष्टा की है। साथ ही दूसरी तरफ मैं इस अन्तर्चेतना का अंश हूँ जिसके आधार पर मुझे आधुनिक तर्कशील सभ्यता के अंतर्विरोधों का अहसास भी बराबर होता रहा है।

निर्मल के चिन्तनानुसार यूरोपीय संस्कृति का आविर्भाव व्यक्ति की विकसित आत्मचेतना का परिणाम है। यूरोप में व्यक्ति ने अपने निजी अनुभव के आधार पर एक स्वायत्त दर्शन का सृजन किया जो अत्यधिक विकसित होने के उपरांत भी सामूहिक मनीषा के कतराव के कारण खंडित एवं एकांगी व्यक्ति-चेतना का परिणाम था। यूरोप में व्यक्ति अपने को प्रकृति, विश्व तथा दूसरे व्यक्ति से अलग-थलग पाता रहा जिससे वैयक्तिक चेतना एवं परंपरा के बीच एक चौड़ी खाई खुलती चली गयी। अलगाव की इस स्थिति में व्यक्ति पूरी तरह स्वतन्त्र अवश्य था, लेकिन अपनी स्वतन्त्रता में पूरी तरह अकेला भी। यूरोपीय संस्कृति का विकास एक तरह से मनुष्य की आत्मा में पड़ गई इस दरार को पाटने का प्रयास है—एक ऐसा प्रयास जिसके बल पर व्यक्ति अलगाव एवं अकेलेपन का अतिक्रमण कर सके।

दूसरी तरफ भारतीय मनीषा का निर्माण ही उन मिथकों, प्रतीकों, बिम्बों और संस्कारों के संश्लिष्ट प्रभाव द्वारा परिलक्षित हुआ है जो इतिहास को नकारते नहीं, बल्कि उसे अपनी मूल धारा में समाहित कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में भारतीय संस्कृति एक समग्र, अखंडित और सम्पूर्ण चेतना पर आधारित है। हम कभी भी और किसी भी स्तर पर इतिहास द्वारा आतंकित नहीं रहे और न ही हैं। क्योंकि भारतीय संदर्भ में वैयक्तिक चेतना और परम्परा के मध्य कोई लगाव-बिन्दु न था जिसके कारण व्यक्ति की परंपरा एवं वैयक्तिक अनुभवों के त्रासद अलगाव का शिकार होना पड़े। आज इस संदर्भ में यह जो भ्रम पैदा हुआ है, वह पश्चिम की व्यक्तिवादी संस्कृति का अवांछित प्रभाव है।

भारतीय समाज पर पड़े इस अवांछित प्रभाव की जड़ों को टटोलते हुए निर्मल इतिहास की अँधेरी गलियों में पहुँचते हैं और अपने प्रखर विश्लेषण-शक्ति के बल पर इस व्याधि की मूल

तह तक जाते हैं। निर्मल के चिंतनानुसार भारत में अंग्रेजी राज्य मात्र साम्राज्यवादी शक्ति का प्रतीक ही न था, बल्कि एक भिन्न प्रकार की जीवन-दृष्टि, भिन्न प्रकार की मान्यताओं का प्रतिनिधि भी था। ऐसी मान्यताएँ जो विकसित व्यक्ति-चेतना का परिणाम थीं। फलतः भारतीय सामूहिक मनीषा के पूरी तरह खिलाफ भी थी। अतः भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम मात्र राजनीतिक स्तर पर ही नहीं लड़ा गया, बल्कि वह दो भिन्न जीवन-दृष्टियों का भी संघर्ष था।

स्वतंत्रता-संग्राम के समय भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग आत्म-मंथन के लिये विवश हुआ कि क्या प्रगति और विकास का मात्र यही रास्ता हो सकता है जो अंग्रेजी शासकों ने हमारे सम्मुख आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है—पश्चिमी लोकतन्त्र की संस्थायें, अंग्रेजी शिक्षा, आचार-व्यवहार, औद्योगिकरण और महाजनी सभ्यता का प्रसार। जिसमें आधुनिक बनने की शर्त किसी न किसी रूप में अपने को यूरोपीय मनुष्य की इमेज में ढालना था या इस तरह "ऐतिहासिक मनुष्य' बनना था। जबकि दूसरे विकल्प के रूप में यह तय करना था कि किस प्रकार हम अपनी संस्कृति और जीवन-पद्धति के स्रोतों को सचेतन ढंग से संयोजित करें, ताकि पश्चिम की चुनौती का सामना खुद अपने पैरों पर और खुद अपनी ही शर्तों पर कर सकें।

लेकिन चुनने एवं इस्तेमाल करने के इसी ऐतिहासिक क्षण में हम पूरी तरह चूक गये। तत्कालीन उदारपंथी बुद्धिजीवी वर्ग ने यूरोपीय तथा भारतीय समन्वय के नाम पर देश को इतिहास=यूरोप=विकास जैसे अति सरलीकृत एवं भ्रामक फार्मूले प्रदान किये। यह उदारवादी बुद्धिजीवी वर्ग एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति और अतीत के गौरव गीत गा रहा था, वहीं दूसरी ओर यूरोपीय उच्चतर सभ्यता के प्रति भी पूरी तरह आकर्षित था। वास्तविकता यह थी कि यह वर्ग अतीत के गर्व को यूरोपीय मान्यताओं में भुलाकर देश के भविष्य का निर्माण करना चाहता था।

निर्मल की धारणा है कि आज हम जिसे पश्चिम-शिक्षित आधुनिक एलीट कहते हैं, उस वर्ग की जड़ें सीधी इसी उदारपंथी समन्वय से जुड़ी हैं। यह वर्ग एक ओर भारतीय परम्पराओं का गुणगान करता है तो दूसरी ओर अपने आदर्शों एवं सिद्धान्तों में पश्चिम की नकल कर रहा है। इसी स्तर पर हम अपने अतीत को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता महसूसते हैं, गोया वह कोई मृत चीज हो। जबकि एक जाति का अतीत उसकी जीवन-धारा से पूरी तरह जुड़ा रहता है। निर्मल लिखते हैं, "यूरोपीय भारतीय समन्वय के नाम पर तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग ने देश की समूची जीवनधारा को एक ऐसे भविष्य की ओर मोड़ दिया जो आत्मछलना के अतिरिक्त और कुछ न था।"

हमने अपनी मुक्ति का रास्ता बने-बनाये यूरोपीय तावीज में ढूँढ़ा और आत्मलोचन तथा आत्म-साक्षात्कार से पूरी तरह कतराते रहे। उधारी सोच को ओढ़ लेने का अनिवार्य दुष्परिणाम हमें आज तक भुगतना पड़ रहा है। अपवादस्वरूप मात्र गांधीजी एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने हमारे बौद्धिक आलस्य की आलोचना की और बार-बार इस सत्य को दुहराया कि हमारा भविष्य हमारे अतीत से जुड़ा है। अनिवार्य नहीं कि पश्चिम की तकनीकी सभ्यता को जोर-जबर्दस्ती से हम अपने भविष्य पर लागू करें और जानबूझ कर उन अमानवीय अन्तर्विरोधों के शिकार हों जिनमें पश्चिमी जगत् बुरी तरह ग्रस्त है।

'हम जो हैं' उसे नकार कर 'हमें जो होना चाहिये' उसके अनुरूप अपने को तोडने-मरोड़ने की कोशिश (क्रांति) में हम खुद अपनी अस्मिता अपनी सांस्कृतिक मनीषा से कट गये।

इस तरह हम न वे रहे जो हम थे और न वे बन पाये जिसके लिए हमने अपने आपको विकृत किया था। भविष्य की इस मृग-मरीचिका के पीछे भागते हुए हमने अपने उस कस्तूरी सौरभ को भी खो दिया जो हमारे अतीतोन्मुख सांस्कृतिक वर्तमान की नाभि में था लेकिन जिसे हम देख नहीं पाये।

निर्मल अपने लेखन में इसी सांस्कृतिक कस्तूरी-सौरभ की तलाश में जुटे हैं जो अतीत के संवेद्य संस्पर्शों एवं स्पंदनों में बहु-मिथर परम्परा के परिष्कृत स्वरूप में संचित होता चला आ रहा है। लेकिन निर्मल के लेखन की यह खासियत है कि अतीत-विषयक स्थूल आग्रहों को उन्होंने कहीं भी हावी होने नहीं दिया। अतीत अपने तरल, संवेद्य एवं अतिसूक्ष्म स्वरूप में उनकी रचनाओं के प्रतीकों, मिथकों एवं बिम्बों में इस तरह रच-पच गया है कि अनुभूति के स्तर पर उसका विश्लेषण एक बहुत पैनी और गहरी दृष्टि की माँग करता है।

महाकवि प्रसाद की अतीतोन्मुख सांस्कृतिक दृष्टि जिस तरह कामायनी में आकर अपने अतिसूक्ष्म, सचेतन एवं कलात्मक स्वरूप में परिलक्षित हुई, अतीत और परम्परा की अनुभूति और अनुभाव के स्तर पर कुछ ऐसी ही विरल और समरस परिणति हमें निर्मल के यहाँ होती दिखाई देती है।

संवेद्य, सूक्ष्म और कलात्मक परम्परा की यही विरल और विशिष्ट परिणति हमें निर्मल की रचनाओं मे निहित नियति' तत्त्व में मिलती है। उनके पात्र और घटनाएँ किसी सुनिश्चित और पूर्व-निर्धारित केन्द्रक के इर्द-गिर्द नहीं घूमते, जैसा कि आज के औसत लेखन में रहा है। निर्मल के यहाँ 'एपिक-कालीन नियति' है जो घटनाओं के निश्चित-अनिश्चित क्रम को एक अद्भुत अर्थवत्ता एवं रहस्यमयता प्रदान करती है। उनकी रचनाओं मे निहित यह 'नियति' तत्त्व भारतीय मनीषा की अपनी विरल पहचान है और यहीं आकर निर्मल की विदेशी परिवेशयुक्त रचनाएँ भी हमें अपनी ओर नितान्त निजी-सी लगती हैं।

निर्मल के रचना-प्रतीकों, यथा—धूप, चाँदनी, बर्फ, पत्ते, हवा आदि के पीछे भी वही प्रखर अहसास है जो अतीत और अनुभव की विमुग्धकारी स्मृति-दृश्यों वाली समृद्ध और संवेद्य दुनियाँ से जुड़ा है और हर पल हमें अपने होने का अहसास कराता रहता है।

यह भी अकारण नहीं है कि निर्मल का गद्य काव्यात्मक संस्पर्शों में युक्त है—वही वाक्यात्मक तन्मयता, तारतम्यता, समरसता और आन्तरिक लयता, जो हमें सहज ही अतीत के उस दिव्य आलोक का आत्म-साक्षात्कार कराती है जहाँ हमारी अनुभूतियाँ और अनुभाव अपना रूपाकार ग्रहण करते हैं और जहाँ उनमें प्राण-तत्त्व का संचार होता है। निर्मल के अपने शब्दों में ईश्वर-तत्त्व की पृष्टि। निर्मल के यहाँ अतीत कितने गहन और विशद अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, यह उसकी एक मिशाल है।

वरिष्ठ अध्यापक
राज० उच्च माध्यमिक विद्यालय
उदयपुर वाटी, जि० झुंझनूं (राज०)

काज़ी अनवर 'ज्ञानी' की कविता

श्री ऊजम पटेल

रखोगे कब तलक महजूर हमको, करो खिज्मत में अब मंजूर हमको।
गुलामी में रखो अनवर को अपनी, महोब्बत में रखो मामूर हमको॥

इन पंक्तियों में प्रयुक्त सूफ़ी शब्दावली के पढ़ते ही, जीव और ब्रह्म के आशिक-माशूक सम्बन्ध का स्मरण होता है। गमेहिज्र (वियोग) की तपन से परेशां आशिक, बेकुस होकर उसे अपने साये में गुलाम मुकर्रर करने को माशूक से आजिज़ी करता है। माशूक के प्रति इतने समर्पण और तादात्म्य भाव को इस प्रकार गाने वाले संत काज़ी अनवर, आम आदमी की नज़र से, आम आदमी ही थे। किन्तु हकीकत यह थी कि वे 'आम' होते हुए भी 'खास' थे। बचपन से ही आपकी खुदा के प्रति आसक्ति, अपने आप में एक संत-औलिया का-सा सरल सौजन्यशील व्यवहार तथा भक्ति-साधना की गहनता एवं ऊँचे खयालात से पूर्ण आपका व्यक्तित्व उतना ही असाधारण था। अतः आपके इस प्रकार के व्यक्तित्व के आलोक से प्रभावित होने वाले मुमुक्षु-भक्त धीरे-धीरे आपको 'ज्ञानी अनवर' कहने लगे। गुजरात के उत्तर-मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में 'संत ज्ञानी अनवर' के नाम से आपकी कविता का ज़िक्र किया गया है।

यह औलिया फ़कीर काज़ी अनवर, उत्तर गुजरात के विसनगर गाँव में वि० सं० १८६६ की वैशाख बदी सप्तमी, शुक्रवार के दिन (१८४३ ई०) पैदा हुए। इनके पूर्वज मूल अरबिस्तान के निवासी थे। वहाँ से इनका परिवार दिल्ली और बाद में गुजरात में आकर विसनगर में स्थायी हुआ। गुजरात में मुसलमान शासन के समय इस परिवार को विसनगर में जागीर बख्श दी गई और काज़ी (न्यायाधीश) का काम सौंपा गया। साथ ही साथ पैगम्बर हज़रत मुहम्मद के वंशज (कुरेशी) होने के कारण भी इस परिवार का उन दिनों बड़ा सम्मान था। अनवर मियाँ के वालिद आजा मियाँ, काज़ी होने के साथ ही साथ बड़े ही नेकदिल तथा इन्साफ़-पसन्द इन्सान थे। और इस प्रकार ऐसे नेक एवं धर्मनिष्ठ परिवार में पैदा होने वाले काज़ी अनवर भी बचपन से ही धर्म, भक्ति-साधना तथा अध्यात्म के प्रति अनुरक्त थे। अतः हमेशा एकान्त-चिंतन एवं सत्संग में लीन रहते। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गई, अनवर की ईश्वर के प्रति प्रीति बढ़ती गयी और संसार सारहीन प्रतीत होने लगा। क्रमशः साधु-संत, संन्यासी, पीर-फ़कीर, यति-वैरागी आदि से उनका संपर्क बढ़ता गया। अब आप ईश्वर-प्राप्ति की उत्कटता एवं हृदय के शुद्ध प्रेम के आवेश में एकान्त-साधना हेतु जंगलों तथा कब्रिस्तानों में ही निजानन्द में अधिक समय बिताते थे।

गुजरात में काज़ी अनवर पहुँचे हुए ऊँची कोटि के सूफ़ी संत माने जाते हैं। एक ओर जहाँ आप पहुँचे हुए सूफ़ी संत थे, वहाँ दूसरी ओर भारतीय धर्म-संस्कृति तथा दर्शन परम्परा के भी गहन अध्येता थे। अतः उन्होंने अपनी कविता में इन दोनों विभिन्न विचारधाराओं का अति ही सहज एवं सरल, लोकबोध्य तथा अपूर्व ढंग से समन्वय किया है।

काज़ी अनवर ने अपनी ७३ वर्ष की आयु में भक्ति की ऊँची एवं अति ही कठोर साधना की। अतः अपने इस प्रकार के साधक, ज्ञानी एवं दरवेशी व्यक्तित्व के कारण भक्तिप्रेमी अनेक

हिन्दू तथा मुसलमान धर्मावलम्बियों के आदर-सम्मान के भाजन बने। विसनगर के सेठ हठीसिंगजी, पालनपुर के नवाब शेर मुहम्मद खाँ तथा तालेबु महम्मद खाँ आदि उनके प्रमुख शिष्यों में से थे। अनवर ने 'कवि' या 'शायर' कहलाने के लिए कतई कविता नहीं की; किन्तु भक्ति-प्रेमी मुमुक्षुओं की तुष्टि तथा निजानन्द में अनुभव-सम्पन्न एवं बोधप्रद अनेक पद, भजन, साखी, गज़ल, गरबी, नसीहत आदि की रचना की है। इनकी रचनाओं में फारसी-उर्दू शब्दावली से युक्त खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है, तथापि कई स्थानों पर स्थानीय बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग भी स्पष्ट रूप से झलकता है। अपने आपको 'शायर' या 'कवि' के नामाभिधान से दूर रखने के सम्बन्ध में अनवर कहते हैं—

मैं शायर नहीं, और कवि मैं नहीं हूँ।

नहीं काफ़िया और रदीफ़ इसमें देखा। नहीं राग और ताल के मैंने पेखा॥

तगण और नगण को मैं मन में लाया; मैं तो मेरे प्यारे का है गुण गाया॥

अपने बारे में ऐसा कहने पर भी अनवर की कविता में वह सभी काव्योचित लाक्षणिकताएँ विद्यमान हैं जिनसे संत होने के साथ-साथ उनको शायर या कवि होने का गौरव भी प्राप्त है। काज़ी अनवर स्वभाव से बहुत ही सरल एवं विनम्र थे। "मैं महान हूँ, बड़ा हूँ, त्यागी हूँ, संत-ज्ञानी या शायर हूँ या समाधि तथा षड्दर्शन का ज्ञाता हूँ, आदि"—ऐसा अहंपोषी व्यवहार या कथन आप कभी नहीं करते थे। बल्कि इन सम्मान आदि बातों से हमेशा दूर रहते थे। निरक्षर, सरल तथा श्रमजीवियों के बीच जाना उनको अधिक अच्छा लगता और वे अपने आपको बड़े गौरवपूर्वक उन्हीं लोगों में से मानते थे। आप इतनी हद तक परोपकारी स्वभाव के थे कि उनके पास जब कभी, जितना भी द्रव्य आता, तुरन्त आप साधु-संतों और फ़कीरों तथा गरीबों को बाँट दिया करते।

काज़ी अनवर द्वारा रचित ३०० से भी अधिक भजन, पद, गज़ल, साखी, गरबी तथा नसीहत आदि रचनाओं को, उनके शिष्य सेठ हठीसिंग ने 'अनवर काव्य' याने 'गुलशन-ए-खुशी' नाम से संकलित-संपादित करके प्रकाशित किया है (वि० सं० १९५४)। अनवर-रचित अनुभव एवं विद्वत्तापूर्ण साहित्य का, चुनी हुई रचनाओं के आधार पर, अनुशीलन प्रस्तुत है—

भजन—'अनवर काव्य' में कुल मिलाकर ६८ भजन संकलित हैं—

संतों सत बतलाता रे के मैंने मुझे न जाना जी।

सब लोकों से मैं हूँ मिलता, सबसे रहूँ अकेला; नहीं मैं आदम, नहीं देवता, तिन लोक से न्यारा रे।
किसी ने मेरा अंत न पाया, मेरा रूप अपारा; नहीं मैं माटी, नहीं मैं अग्नि, नहीं पवन, नहीं पानी रे।

उसी का परछाया सब जग है, उसी बिना नहीं दुजा। संतो············

प्रस्तुत पंक्तियों में अनवर ने जीव में, आत्मा के रूप में बसने वाले परमात्मा के व्यापक अस्तित्व के प्रति निर्देश किया है। जीव के आत्मज्ञान और तत्पश्चात् उसको जिस अद्भुत ज्ञान-आनन्द का बोध होता है, उस ब्रह्म तथा अंश (आत्मा-परमात्मा) के अभेदत्व को निरूपित किया है। सृष्टि के इन सारे अस्तित्व में होते हुए भी वह नहीं है और व्यक्त-प्रत्यक्ष रूप से नहीं होते हुए भी वह है। जो दैहिक अस्तित्व के हर प्रकार के लक्षणों से ऊपर है, वह ब्रह्म है, परम तत्त्व है। जिसका प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओं से कोई बोध नहीं होता, उसका भीतर के (ज्ञान) चक्षुओं से उतनी ही सरलता एवं आत्मीयतापूर्वक अनुभव किया जा सकता है। इस स्थिति में मिलन होता है अंश का उस परम तत्त्व से। इस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए आत्मसिद्धि की अनिवार्यता बतलाते हुए अनवर ने लिखा है—

साधु आत्मसिद्धि करो, सभी सिद्धि को तुम बिसरो;
अग्नि खावे, अग्नि में नहावे, अग्नि में करे पथारी रे;
अग्नि होकर अग्नि में मिल जावे, फिर निकले सिद्ध भारी रे......

यहाँ पर आत्मसिद्धि को ही मोक्ष का एकमात्र द्वार बतलाते हुए, आत्मसिद्धि वाले जीव के लक्षणों को अनवर ने उद्घाटित किया है। किन्तु ऐसी ऊँची आत्मसिद्धि पाना सरल नहीं है। इसके लिए कठिन साधना करनी पड़ती है। यह भक्ति-साधना की अन्तर्यात्रा या कहें कि समाधि की प्रक्रिया, साधना मार्ग में गुरु-महिमा तथा आत्मा की उस अन्तःयात्रा के दौरान अलौकिक अद्भुत अनुभूति का वर्णन करते हुए काफी अनवर कहते हैं—

हम तो गुरु वचन के संग, गगन में चढ़कर हो गये दंग।
पहली सीढ़ी अनहद बाजा तरेह तरेह का बाजा रे;
ये बाजा फिर बढ़ते बढ़ते, जैसे बादल गाता रे भाई।
और हमने कुछ ऐसा देखा, बड़ा नूर का दरिया रे;
कोटि भानु वहाँ शरमा जावें, ऐसा नूर से भरिया रे भाई।
आकाशवाणी इसी में होवे, इसी में मुक्ति जाने रे,
सभी देवता पाऊँ पड़े आ, इसी में निश्चे मानो रे भाई।
जो कोई आप में आप समाये वही ए रस्ता पावे रे,
बिना गुरु ये भेद कठिन है, मुफ्त नहीं मिल जावे रे भाई।

साधना-मार्ग की अंतःप्रक्रिया को इस प्रकार स्पष्ट किया है अनवर ने। अनहद नाद: गगनमंडल, परम तत्त्व की प्राप्ति तक के विभिन्न पड़ावों-दशाओं तथा अन्त में यह सारी प्रक्रिया पूरी करने पर उस अपार नूर परम प्रकाश से आलोकित ब्रह्म तत्त्व से साक्षात्कार तथा अन्त में उसमें विराटत्व में अपने आपको विलीन कर देने का अनहद अलौकिक आनन्द। इसके साथ-साथ अनवर ने ज़िक्र किया है कि इस प्रकार की ऊँची सिद्धि के लिए अपने आप—अहं—को विगलित कर, ज्ञानी गुरु से श्रद्धापूर्वक कृपापूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त करना इसकी एकमात्र कुंजी है। इस हकीकत को निर्देश करके भक्ति तथा साधना पथ में गुरुकृपा की अनिवार्यता तथा उसके माहात्म्य को स्थापित किया है।

गज़ल—अनवर की गज़लों में सूफ़ी विचारधारा स्पष्ट रूप से झलकती है। इन सारी गज़लों में भाषा, उर्दू-फ़ारसी के प्रचुर शब्द-प्रयोगों से युक्त है। इन गज़लों में उर्दू शायरों की-सी मस्ती तथा वर्णन-निरूपण की एकरूपता तथा प्रस्तुतिकरण के निराले ढंग की विशेषता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। जैसे कि—

एक शोख करके अशवा नयन से निकल गया; गोया कि रूह मेरे बदन से निकल गया।
उस दर्द बेकसी में जो एक मैंने आह की; दुद उसका मुकठे चरखे कोहन से निकल गया।

गज़ल की इन पंक्तियों में शायर ने साधना के अन्दरूनी सफ़र के दौरान चंद लमहों के लिए बिजली की तरह दीदार होनेवाले उस परमतत्त्व के ओझल हो जाने पर, अपनी आहत हालत का बड़ा ही बेकस तथा तड़पन का बोध कराने वाला यथानुभूत आलेखन किया है जो माशूक के किसी भी आशिक के दिल को झकझोर देता है।

शब्द शायरी की नज़ाकत ग़ज़ल की आगे दी हुई पंक्तियों में किस हद तक निखरी है, यह देखिये

हमें भी मौसमे सरमामे गस्त होता है, सनम के कूँचे में हर बार हमने खाई ठण्ड।
जो देखा मस्त हमें ठण्ड ने सरेबाज़ार, शराबे इश्क की मस्ती से खुद लजाई ठण्ड।

अब माशूक के इश्क के कारण दुनिया से संत्रस्त तथा गमेहिज्र. से परशाँ आशिक कहता है—

तेरे इश्क में मुझे अय सनम लगे दिल पे दाग़ नये-नये,
तपे हिज्र. में मेरे जिगर पर हुए गुल के बाग़ नये-नये।
तेरे चश्म नरगीस देखकर लगे दाग़ अब मुझे दाग़ पर,
क्या खुले हैं अनवर बर जिगर तेरे यह चराग़ नये-नये।

इसी सिलसिले में आगे की एक स्थिति को इस प्रकार बयाँ किया है—

ग़मे हिज्र से मैं न जिया न मरा, यह भी न हुआ वोह भी न हुआ।
न तो जान गई न तो पायी शिफ़ा, यह भी न हुआ वोह भी न हुआ।

और—

इश्क के सदमों से हम रो रो के चिल्लाते रहे, ले गया दिलबर तो दिल, हम हाथ फैलाते रहे।
मार ही डाला है हमको तुमने बतला के अदा, ज़ख्म हम खाते रहे, तुम नाज़ दिखलाते रहे।
वाह रे किस्मत हमें होता नहीं है वस्ल यार, उम्र भर हम हाथ को मलमल के पस्ताते रहे।

काज़ी अनवर ने कुल ६९ गज़लें लिखी हैं।

पद—ज्ञानी अनवर के पद गुजरात के साधारण जनसमाज में अधिक प्रचलित हैं। इसमें भी विशेष करके होरी तथा बिहाग के पद अधिक आकर्षणयुक्त तथा ग्राह्य हैं। प्रेमभक्ति-प्रचुर इन पदों में सूर, नरसी, मीराँ आदि से प्रभावित होते हुए भी अनवर ने प्रेम-शृङ्गार के संयोग तथा वियोग पक्ष की सहज अनुभूति का स्वाभाविक बोध कराया है। 'अनवर काव्य' में उनके पदों को संकलित किया गया है।

नायिका को, नायक की सारी हरकतें—अठखेलियाँ पसंद हैं, मन को भाने एवं लुभाने-वाली हैं। तथापि 'ना में हाँ' के नारी-स्वभाव-सत्य के अनुसार, नायक को वह इस प्रकार मना करती है—

बालम मोको अब न छुओ, मोरी सुरख चुनर मुस्काय;
सीने पे मोरे न मारो पीचकारी, अंगिया को दाग़ लग जाय।
गोरे से गाल पर मारे थापर, जुल्फ़ दियो उलझाय,
सन्मुख मेरे रहो मत ठाड़े, लिपट जिया ललचाय।

और आगे वही 'ना में हाँ' के सत्य की पुष्टि हेतु मानो वह यह भी कह देती है—

सखी री मोको पिया बिन कल ना परे।
मंदर अंधेरा, मोरी सेज़ भी सूनी, बिन पिया जियरा डरे।
बिरह अगन मेरे तन में उठत है, अंखियूँ नीर झरे।...

तो दूसरी ओर अनवर ने भक्ति-साधना की अंतःयात्रा के मार्गदर्शक लक्षणों को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत पद में इस प्रकार निरूपित किया है—

बाँसुरिया रे अब मत बान चला।
सुनत सबद तेरा, सुध मोरी बिसरी, झटपट पिया सें मिला।
ओहंग बाँसुरिया मैं तोरे वारी प्रेमरस पिया तें दिला।
सोहंग सबद में मोको सुना के 'ज्ञानी' सुरत कर पिया संग मिल जा।

न पंक्तियों में हम पाते हैं कि ओहम सोहम सबद सुरत आदि शब्द प्रयोगों से स्पष्ट है कि अनवर ा भक्ति-साधना के सुरत शब्द-प्रयोग के प्रति निर्देश है—

तैं होरी खेल के मोरी अंगिया भीगो दीदी श्याम।
अजब तरह की ए अंगिया बनी है, कुदरत का है वापे काम।
सुरत-निरत की बनी पीचकारी, प्रेम का रंग है तमाम।

वेद-उपनिषद् के "एकोऽहम् बहुस्यामि, द्वितीयो नास्ति" के ब्रह्मसत्य को ज्ञानी अनवर ने अपने निम्नांकित पद में इस प्रकार समझाया है—

एक बात मैं कहूँ गुणिजन सुनकर दिल में समझो एक;
एक निरंजन निराकार का ध्यान धरो दिल में अनेक।
एकसे हमने अनेक देखे, आखर को फिर देखा एक;
एक से गिनती शुरू हुई है उस दिन आगे नहिं कुछ एक।
एक रंग जो बना शायरा, वही मरद दुनिया में एक;
एक ब्रह्म और द्वितीय नास्ति, एहि वचन अशक का एक।

इसके साथ ही साथ, आत्मा-परमात्मा के अभिन्नत्व तथा ब्रह्मसागर में लहर बनकर एकरूप हो जाने की संत काज़ी अनवर की मार्मिक अनुभूति इस प्रकार है —

साहेब समुंदर जाणिये रे, मै समुंदर की मौज;
मौज समुंदर मे मिल गई, वाको कोई न पाया खोज !

साखी—सृष्टि के जड़-चेतन सभी पदार्थों—जीवों में व्यापी परमात्मा के निर्गुण, निराकार एवं एकमेव ब्रह्मस्वरूप को ज्ञानी अनवर ने अपनी साखियों में गाया है। यह परमतत्त्व नाम, रंग, रूप आदि गुणों-लक्षणों तथा बंधनों से परे है। वह एक परमसत्ता होने के कारण, उसमें सभी क्षमताएँ निहित होते हुए भी वह इन सारी क्षमताओं के प्रकट रूप में नहीं पाया जाता। इसी ब्रह्म-परमतत्त्व से पाँच तत्त्व (पंचमहाभूत) पैदा हुए। तत्पश्चात् सभी लीलाएँ, माया तथा शेष सभी अस्तित्वों का निर्माण हुआ, अर्थात् समष्टि-जगत्, उसी परमतत्त्व का अंशरूप निर्माण है। साखियों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

'ज्ञानी' तुझमें देख ले तू तेरा दीदार। तन तेरा ए म्यान है, तू मन में तलवार॥
'ज्ञानी' खलक तुल खलक को दिल से अपने पेख। इल्लत सारी छोड़ दे, असल अपनी को देख॥
'ज्ञानी' हद के पार है, बेहद का मैदान। वहाँ हुँ और तू रहे, वहाँ न अ द इन्सान॥
'ज्ञानी' हकीकत महंमदी, शरू है सबकी जान। वही हकीकत जानकर, तू तुझको पेछान॥
'ज्ञानी' मखफी गंज था, वहाँ न था कोई और। फिर उसमें कसरत हुई, दोई कहे किस तौर॥

नसीहत—अनवर की सभी कविता-रचनाओं के संकलन "गुलशन-ए-खुशी" यानि "अनवर काव्य" के प्रकाशन से पूर्व, यह बोधप्रद रचनाएँ नसीहतें, स्वतंत्र रूप से 'नसीहतनामा' के नाम से प्रकाशित की गई थीं। नसीहत, उर्दू नज्म का-सा ही एक काव्य-प्रकार है। यह 'नसीहतनामा' हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मावलम्बियों के बीच ऐक्य एवं आत्मीय भावना जागृत करने हेतु काज़ी अनवर ने लिखा। साथ ही साथ इसमें ज़माने की बुराइयों को कोसते हुए अनवर ने महत्व-पूर्ण एवं आचरणयोग्य उपदेश दिया है।

इन रचनाओं में अनवर ने, तत्कालीन युग—मानव-व्यवहार की लाक्षणिकताओं—दुर्बलताओं

का अपनी आँखोंदेखा अनुभवपूर्ण निरूपण किया है । कई स्थानों पर इन्होंने संप्रदायवादी मुसलमानों को खूब फटकारा भी है । कुछ चुने हुए उदाहरण इस प्रकार हैं—

जो के सच बोले उसे तो कहते हैं नादान है, और झूठे और फ़रेबी का जहाँ में मान है ।
कहते है वो आपको हम हैं मुसलमाँ न ज़रा, और दिल ऐसे हैं उनके, देखुदा उनसे न ज़रा ।
इल्म को है अकल का अब गुलशुबा हेरा खराब, हर किसी का आसमाँ पर अब तो पहुँचा है दिमाग़ ।
औरतें दोज़ख की आतिश, औरतें हैं दुःख की खान, औरतों के मकर में अल्लाह दे सबको अमान ।
अब अज़ीता क्या कहूँ मैं, हाल अपना सर ब सर ? अब मुसलमानों में हो गई है, जहालत दर ब दर।
ना ही रहा इल्मो अदब, और ना हीं रहा अक्लों हुनर । अब किसी को दीन मज़हब की भी अपने नहीं खबर ।।

इस प्रकार, प्रमुख रूप से भजन, गज़ल, पद, साखी तथा नसीहत आदि कविता-प्रकारों के उपरांत भी अनवर 'ज्ञानी' ने थोड़ी बहुत संख्या में मातम (१४), जोगीनामा (५), फ़ारसी-गज़लें (३), सिंधी काफ़ी (७), अलबदा (५) तथा गुजराती गरबियाँ (१६) की भी रचना की है ।

काज़ी अनवर के काव्य के इस प्रकार के संपूर्ण अध्ययन के पश्चात् यह पाया जाता है कि उनकी कविता में ज्ञान-वैराग्य, आत्म-प्रतीति, उपदेश तथा भक्ति-साधना आदि प्रमुख है । उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वधर्म-समभाव का उपदेश देते हुए, संत शब्दावली तथा रूपकों के द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभूतिजन्य निरूपण किया है । साथ ही साथ, अत्यन्त ही सरल शब्दों में अव्यक्त ब्रह्मानुभूति को व्यक्त किया है । गुजराती कवि सुन्दरम् के अनुसार—"उनकी वाणी में चमत्कृति अपने आप आ जाती है । कबीर इत्यादि संतों का लाघव, सुन्दर उक्तियाँ एवं बल उनकी वाणी में हैं ।" पदों में संगीतात्मकता भी झलकती है । भजनों में अनवर ने आत्मा की अमरता, आत्म-ज्ञान, गुरु-महिमा, नाम-स्मरण, और उसका माहात्म्य तथा अजपाजाप आदि का बोध कराते हुए आत्मानन्द एवं प्रेमरस में सराबोर होने की बात कही है । इस प्रकार गुजरात के थोड़े संत कवियों में काज़ी अनवर 'ज्ञानी' को मानाई एवं अग्रिम स्थान मिलता है ।

बिसनगर में काज़ीवाड़ा-स्थित एक मस्जिद में अनवर रहते थे और भोले-भाले सरलहृदयी मुमुक्षुओं के साथ अति स्नेहपूर्वक भक्ति एवं अध्यात्म का सत्संग किया करते थे । वि० सं० १९३७ में आपने मक्का-मदीना की हज भी की । सामान्यतः आपको सेहत सम्बन्धी कोई शिकायत नहीं रहती थी, किन्तु पिछली आयु में आप गुर्दे की बीमारी से कुछ परेशान रहते थे । वि० सं० १९७२ में आप अपनी मर्ज़ी से विसनगर से पालनपुर चले आये । तत्कालीन नवाब शेरमहुमदखान, ज्ञानी अनवर के परमभक्त थे । अतः उन्होंने ज्ञानी का अच्छे वैद हकीमों से उपचार करवाया । स्वास्थ्य सुधारने का भरसक प्रयत्न किया गया, तथापि बहुत ही थोड़ी बीमारी के पश्चात् वि० सं० १९७२ के पौष वदी द्वितीया, दिनांक २२ जनवरी, १९१६ ई० सं० शनिवार; हिज़री सन् १३३४ माहे रबीउल अव्वल की १६ तारीख के दिन मध्याह्न के २-३० बजे ७५ वर्ष की आयु में काज़ी अनवर 'ज्ञानी' अन्ततर्धान हुए । इस पहुँचे हुए संत की स्मृति में नामदार नवाब शेरमहंमदखान जी ने पालनपुर में मोरा दरवाज़ा के बाहर 'मुर्शद का रोज़ा' के बगल में अनवर मियाँ का रोज़ा बनवाया जो आज भी है और मुर्शद के उरुस (मेला) के दिन हज़ारों यात्री आकर के मर्हूम काज़ी अनवर की इस पाक दरगाह के दर्शन से लाभान्वित होते हैं ।

शोधार्थी, भाषा साहित्य भवन,
गुजरात विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद ३८०००९

नये प्रकाशन

१. प्रसाद-काव्य : प्रतिभा और संरचना : ले० डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद : मू० २५/-रु० : पृष्ठ १६०

यद्यपि प्रसाद के काव्य पर अनेक आलोचनात्मक कृतियाँ पहले से ही मौजूद है, लेकिन प्रस्तुत कृति अधिक संतोष दे सकी, कारण कि अपनी अग्रजा अनेक कृतियों से यह सर्वथा अलग है। प्रस्तुत पुस्तक में विषय को प्रस्तुत करने की शैली डॉ० गुप्त की अपनी है जो एक कुशल आलोचक की अन्तर्दर्शी एवं पैनी दृष्टि का प्रमाण है। पुस्तक २ परिच्छेदों में विभाजित है जो इस प्रकार हैं—१. कामायनी : चेतनता की अनुभूति, २. आँसू : आस्था-आशा-आलोक का काव्य, ३. अर्थवैविध्य और लहर, ४. प्रसाद की प्रतिभा : शब्द-छाया एवं संरचना-सौष्ठव, ५. प्रसाद का दर्शन : भुनती वसुधा का आँसू, ६. लहर : करुणा की 'अँगराई', ७. लहर-कामायनी : मिलन का मधुमय संगीत, ८. कामायनी : सत्यं-शिवं-सुन्दरम्, ९. कामायनी : आशा-आत्मबल का काव्य, १०. कामायनी : जीवन के अर्थ की खोज, ११. कामायनी की प्रतिबद्धता, १२. कामायनी की सफलता : नैतिक और मनोवैज्ञानिक, १३. कामायनी में जीवन और सौन्दर्य का संगम, १४. सर्जन-प्रक्रिया, प्रतिभा और प्रसाद, १५. कामायनी : प्रेम-अन्त प्रेरणा की निर्झरिणी, १६. प्रसाद-काव्य : रूप-लावण्य की ललित छवि, १७. कामायनी : 'आशा' में अनुभूति-अभिव्यक्ति का अद्वयत्व, १८. श्रद्धा का ओजस्वी स्वर : जियो, और भरपूर जियो, १९. कामायनी : समरसता आनन्द का रसमय समाराधन, २०. कामायनी : प्रकृति का उल्लास-हास-आनन्द, २१. कामायनी : प्रगतिशील विचारों की मणिराजी, २२. कामायनी : कवित्व-कला-संस्कृति की समंत समन्विति, २३. प्रसाद-काव्य : प्रकृति-परम्परा और परिकल्पना, २४. प्रसाद-काव्य : प्राकृतिक सौन्दर्य और रहस्यवाद, २५. कामायनी : अखंड-अभेद मानववाद की रचना, २६. कामायनी : संग्रह नहीं वितरण, अधिकार नहीं स्नेह, विग्रह नहीं मेल, २७. कामायनी : सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति की नवज्योति। परिच्छेदों से यह सहज ही ज्ञात होता है कि 'लहर' और 'आँसू' की चर्चा होते हुए भी आलोचक की विशेष दृष्टि कामायनी पर ही है। नये रूप में गंभीरतापूर्वक मनन-अनुशीलन कर कामायनी के बोध को नये आयामों में बाँधकर परखने का प्रयत्न निहित है।

साहित्य का आनन्द जीवन के आनन्द से पावन और उच्च कोटि का होता है और चिर सत्य एवं चिर सुन्दर की भावभूमि पर आरूढ़ होकर मधुरता एवं सरसता का दिव्य स्पर्श देने लगता है। साहित्यकार जीवन के शत-शत विरोधों और संघर्षों के बीच में भी समन्वय और सहयोग का सूत्र खोज निकालता है। प्रस्तुत मान्यताओं की पीठिका पर अभिनव दृष्टिबोध के साथ डॉ० गुप्त ने प्रसाद-काव्य का आलोड़न कर काव्य की अधिक गर्भित और सरस व्याख्या की है।

विद्वान् आलोचक ने प्रसाद-काव्य में पिरोये विविध भाव-संघर्षों के बीच रसमय समाराधन का ओजस्वी स्वर बड़े मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है जिसे प्रसाद-काव्य का मूल स्वर कहा जा सकता है। आलोचक ने अनेक सामाजिक बिन्दुओं, यथा—नर-नारी, व्यक्ति-समाज, बुद्धि-भावना, पदार्थ-चेतना, यथार्थ-आदर्श, अतीत-वर्तमान, भौतिक-आध्यात्मिक, काम-मोक्ष—के बीच शाश्वत सामंजस्य निर्दिष्ट करते हुए सम्पूर्ण मानव-जीवन के सत्य-प्रेम का प्रतिपादन किया है।

साथ ही वर्तमान सामाजिक समस्याओं, यथा—व्यक्तिवाद, समाजवाद, बुद्धिवाद, आत्मवाद, अहिंसा-वाद, नारी-स्वातंत्र्य, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रगति की, प्रसाद की दृष्टि से, सार्थक व्याख्या प्रस्तुत की है।

लेखक ने लिखा है—"कामायनी मानवता का महासागर है। इसकी एक-एक लहर मानवता को विजयिनी बनाने के लिए समर्पित है। मानवता की विजय अभेद-भाव में है, मानवता का सौंदर्य सत्य और शुभ में है। सत्य से विलग होकर हम हिंसा-क्रूरता-अनाचार-अपराध-अन्याय करते हैं। कामायनी इन विनाशकारी भावों के उन्मूलन के निमित्त दृढ़ता से सक्रिय है। वह मानवीय अर्थ-वत्ता के सारतत्त्व की अभिव्यक्ति करती है। वह प्रतिपादित करती है कि श्रद्धा-विहीन तर्क-विज्ञान की चकाचौंध से हमने जीवन-मूल्यों की बलि चढ़ा दी है। हम अध्यात्म से विमुख होकर भौतिक समृद्धि की ओर बढ़ते जा रहे हैं। कोरा भौतिकवाद हमें धर्म से, कर्त्तव्य से, आत्मीय भाव से अलग कर रहा है—श्रद्धा दया, माया, ममता की जीवन्त देवी है—वह त्रिपुरसुन्दरी क्रान्ति अथवा संसृति-सेवा का संदेश देती है, वह करुणा की, दयादान की सर्वमंगला है। वह अपने तपमय आचरण से सबको अखंड आनंद, समरसता, अखंड शान्ति का पाठ पढ़ाती है। वह जीवन के मूल्यों की रक्षा पर बल देती है, वह मनु को कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ से निकल कर कर्म-यज्ञ की ओर प्रस्तुत करती है।"

प्रसाद के काव्य की परख विद्वान् आलोचक ने इस प्रकार की है—" 'आँसू' पीड़ित अनुभा का काव्य है, 'लहर' भुनती धरती के लिए अनुलेप है, 'कामायनी' मानवता का महासागर है।"

भाषा संस्कृतनिष्ठ होने से सामान्य पाठक के लिए सहज रूप से बोधगम्य नहीं कही जा सकती।

—रामजी

२. दरख्त का दर्द : ले० प्रदीप सौरभ

प्रकाशक—निधि प्रकाशन, कानपुर : मू० १० रु०

प्रदीप सौरभ का यह पहला कविता-संग्रह है जिसमें इनके कवि मानस का बीज रूप दिखाई देता है। कविता आज जिस राजनीतिक दलदल में फँसी है और उसके शिल्प तथा स्वरूप में जो गिरावट आ गयी है, उससे सभी परिचित हैं। यद्यपि पिछले दशक में सबसे अधिक कविताएँ ही प्रकाशित हुई हैं जिसके आधार पर डॉ० नेमीचन्द्र जैन ने अपने कविता सर्वेक्षण में इसे कविता दशक कहा है। सर्वेक्षण में आगे कहा गया है कि संख्या में अधिक होने के बावजूद भी इन कविताओं में कलात्मक स्तर बहुत संतोषप्रद नहीं है। ऐसा नहीं है कि इस महौल का असर प्रदीप सौरभ पर नहीं पड़ा है, किन्तु इन प्रभावों के बावजूद इन्होंने अपनी कविताओं में तत्कालीन जीवन संदर्भों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह इनकी काव्यात्मक संभावनाओं के प्रति लोगों को निश्चय ही आशान्वित बनाता है।

प्रदीप में आज की जिन्दगी की समझ है और उसकी विसंगतियों की पहचान भी है। आज का मनुष्य किस तरह समस्याओं से घिरता गया है और अपने चारों तरफ एक मूक षड्यन्त्र पाता है, इसका एहसास इन कविताओं में है। हमारी आजादी, हमारे आदर्श, हमारे नेता, बड़े-बड़े प्रतिष्ठित प्रतिष्ठान तथा पूँजी वर्ग आज किस तरह मनुष्य का शोषण कर रहे हैं, इसकी तीव्र अनुभूति इन कविताओं में पूरी तरह से मौजूद है। और इन सबके बीच हमारी जिन्दगी किस तरह व्यर्थ और अवाक बन गई है, इसका चित्र भी इन कविताओं में है

अनगिनत समस्याओं की तरह / दूर-दूर तक फैला हुआ
कुहासों का सैलाब / इन्हीं कुहासों के बीच
कहीं खोई मेरी जिन्दगी / हद से भी ज्यादा
अचानक मालूम होती है / जब हम बतौर जिन्दगी को
जिन्दगी कहने की हिम्मत ही नहीं होती।

जिन्दगी में यह ऊब और अकेलापन आज की कविता का एक खास मूड बन गया है जिसके कारण आज की जिन्दगी का अर्थ भी खो गया है जिसकी तलाश में कवि अनवरत प्रयास करता है—

अर्थ की खोज में/मेरे शब्द ही खो गये
मैं इस विषय में/बर्षों से शोध कर रहा हूँ
मेरी न जाने कितनी पीढ़ियाँ/इस विषय पर शोध कर चुकीं
और न जाने कितनी आने वाली/इस पर शोध करने को बाकी हैं
मैं भी अपने पूर्वजों की तरह/इसके रहस्यमयी तिलस्म को
नहीं तोड़ पा रहा हूँ/फिर भी रहस्य की खोज में
निरन्तर लगा रहता हूँ।

स्पष्ट है कि यह अर्थ की खोज भी निरर्थक है और कवि को यहाँ भी निराशा ही हाथ लगती है। प्रदीप की कविताओं में इस तरह के और भी कई स्वर हैं। कहीं आज की गरीबी तथा बेरोजगारी का चित्रण है तो कहीं सामाजिक अराजकता तथा न्याय की विडम्बना का, कहीं युद्ध की विसंगतियों का चित्रण है तो कहीं समाज के थके-हारे तथा पिसते हुए लोगों का। इस प्रकार इन कविताओं में आज की जिन्दगी के विविध पक्ष प्रस्तुत किए गये हैं। "सेवकराम" तो आज के राजनीतिक जीवन का अत्यन्त सधा हुआ व्यंग्य प्रस्तुत करता है—

सेवकराम—/कितना आवश्यक है
समाज के हर वर्ग के लिए
साहित्यकार हो/चित्रकार हो/व्यंग्यकार हो,
या फिर....../अफसर या नेता हो।

किन्तु प्रदीप सौरभ की इन कविताओं में सामाजिक जीवन की जैसी अनुभूति है, वैसा उनका शिल्प-विधान नहीं है। इन कविताओं की प्रमुख कमजोरी शिल्पगत ही है। कई जगह कविताएँ अनावश्यक रूप से बढ़ाई गयी लगती हैं। भाषा और वाक्यों का गठन ठीक-ठाक है, पर एक आध कविता में इसका अभाव है। फिर भी इन कविताओं में एक अच्छे कवि का संकेत है, एक प्रतिभा की गंध है और इस प्रकार प्रदीप सौरभ में पूरी संभावनाएँ हैं, बशर्ते वे उनका सही-सही पता मालूम कर सकें और उनका उचित परिवेश में विकास कर सकें।

डॉ० रमेश तिवारी,
प्रवक्ता, इलाहाबाद डिग्री कालेज,
इलाहाबाद

मुद्रक—नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद

हमारे महत्त्वपूर्ण नए प्रकाशन

१. **माधवराव सप्रे की कहानियाँ**—संपा० श्री देवीप्रसाद वर्मा
हिन्दी के अनेक विद्वानों ने स्व० माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी माना है। इसी दृष्टि से उनकी कहानियों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है, ताकि उनका वास्तविक मूल्यांकन हो सके। मू० १०·०० रु०

२. **आर्य और द्रविड़ भाषा-परिवारों का संबंध**—डॉ० रामविलास शर्मा
अध्ययन-अनुसंधान के क्षेत्र में अँग्रेजी के प्रसिद्ध प्राध्यापक एवं हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक, साहित्यकार तथा भाषाविद् ने विषय को एक नए परिवेश में प्रस्तुत करके अपनी स्वतंत्र मान्यताओं-स्थापनाओं का प्रतिपादन किया है। आर्य और द्रविड़ भाषा-परिवारों के तुलनात्मक अध्ययन, अनुशीलन एवं पुनर्विचार करने के लिए पुस्तक में प्रचुर सामग्री है। मू० १५·०० रु०

३. **हिन्दी भाषा के विकास की दिशाएँ**—श्री सुधाकर पाण्डेय
स्वतंत्रता के उपरान्त राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रगति और उसके विकास की यथातथ्य माप-तोल इसमें की गई है। विगत वर्षों में हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार, केन्द्र-सरकार की नीतियाँ तथा कार्य-प्रणाली, लब्धप्रतिष्ठ हिन्दी के कर्णधारों का साहित्यिक दानयोग और अहिन्दीभाषी प्रदेशों की अभिवृत्तियाँ—सभी का तथ्यों और आँकड़ों के साथ समुचित मूल्यांकन किया गया है। जिज्ञासु पाठकों के लिए पुस्तक निस्संदेह उपयोगी है। मू० १०·०० रु०

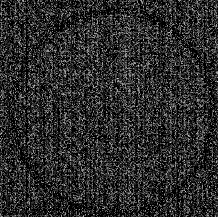
४. **रामकथा और तुलसीदास**—फादर डॉ० कामिल बुल्के
शोध-क्षेत्र में रामकथा पर जितना भी कार्य हुआ है, उसमें फादर कामिल बुल्के का स्थान प्रमुख है और वे रामकथा के अधिकारी विद्वान् हैं। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर रामचरितमानस तक रामकथा का मूल स्रोत, विकास, प्रचार और मूल्यांकन से सम्बन्धित विवेचन मौलिक एवं अनूठा है। पुस्तक रामकथा-विषयक साहित्य में अद्वितीय है। मू० १२·०० रु०

५. **हिन्दी की नखशिख-परम्परा एवं बलभद्र-कृत 'सिखनख'**—
संपा० डॉ० सज्जनराम केणी
मध्ययुगीन रीतिकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत 'शिखनख' की परम्परा का पल्लवन एवं बलभद्र मिश्र विरचित 'सिखनख' रचना उस परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण और अतिशय लोकप्रिय कड़ी है। एक अहिन्दीभाषी विद्वान् डॉ० सज्जनराम केणी ने अतिशय श्रम और वैदुष्यपूर्वक, इस ग्रंथ का एक वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत करके विशेष सराहनीय कार्य किया है। रीतिकालीन शोधकर्त्ताओं तथा रीतिकाव्य के रसज्ञ पाठकों में यह ग्रंथ विशेष रूप से समादृत होगा। मू० १८·०० रु०

६. **नौतर्ज़ मुरस्सा (नया संस्करण)**—संपा० मीर मोहम्मद साहब तहसीन तथा डॉ० नूरुल हसन हाशमी मू० २५·०० रु०

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक



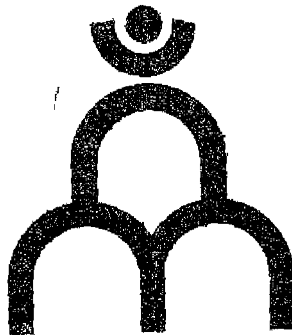
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

ाग ४२ — जुलाई-अगस्त

ङ्क ३ — सन् १९८१ ई०



मूल्य ५ रुपये

[वार्षिक : २० रुपये

अनुक्रम

भट्ट लोल्लट का रसनिरूपण

डॉ० रमाशंकर तिवारी

(क)

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रसविषयक यह सूत्र निबद्ध किया है—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" इसमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस का निष्पादन बताया गया है। आपाततः यह सूत्र स्वयमेव अपूर्ण है। अतएव, भरत ने इसकी व्याख्या के रूप में यह दृष्टान्त दिया है—"जैसे नानाविध व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, वैसे ही नाना भावों के उपगम से (नाट्य) रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों तथा ओषधियों से छह (भोज्य) रस बनते हैं, वैसे नाना भावों से संयुक्त स्थायीभाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं।" यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि नाना भावों, अर्थात् विभावादि के संयोग से स्थायीभाव ही रस में परिणत हो जाता है।

भरत के निरूपण से यह तथ्य उभरता है कि रस एक "पदार्थ" है जो "आस्वाद्य" होता है—"रसकः पदार्थः? अत्रोच्यते, आस्वाद्यत्वात्।"[1] अर्थात्, रस विषयगत है जिसकी आस्वादक व्यक्ति, नाट्य-प्रेक्षक अथवा काव्य-पाठक, से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता होती है जो उसके द्वारा चर्व्यमाण बनता है। इस प्रश्न का प्रत्यक्ष, सीधा उत्तर भरत ने नहीं दिया है कि वह स्थायीभाव किसका होता है। परन्तु, प्रेक्षक के लक्षणों का जो व्याख्यान 'नाट्यशास्त्र' में अन्यत्र हुआ है, उसमें अन्य लक्षणों के साथ एक लक्षण यह भी दिया गया है कि प्रेक्षक को नायक की तुष्टि में तुष्टि तथा शोक में शोक प्राप्त करना चाहिए और उसके दैन्य में दीनत्व का बोध करना चाहिए। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य में नायक का, काव्यनिबद्ध नायक का, स्थायीभाव ही रसत्व ग्रहण करता है। इसी से संलग्न प्रश्न यह उपपन्न होता है कि यह रस कहाँ बनता है? अभिनवगुप्त के निरूपण में दीक्षित आधुनिक पाठक यह तत्काल उत्तर देगा कि सहृदय का स्थायीभाव ही उसी के अन्तःकरण में रस बनेगा। किन्तु, भरत ने ऐसा नहीं कहा।

वास्तविकता यह है कि भरत व्यावहारिक धरातल पर नाट्य-निरूपण कर रहे थे, श्रव्य-काव्य की ओर उनका ध्यान मुख्यतः नहीं था। इस दृष्टि से रस की सम्पूर्ण सामग्री रंगमंच पर थी और अभिनय-कौशल से वही रस बनता था जिसका आस्वादन दर्शक करते थे। अतः भरत की रस-दृष्टि वस्तुनिष्ठ थी, विषयगत नहीं। इसका प्रमाण रससूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत निबद्ध दूसरे दृष्टान्त से उपलब्ध होता है। "कथमास्वाद्यते रसः?"—इस प्रश्न के उत्तर में भरत कहते हैं—"जैसे नाना व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग प्रसन्नचित्त व्यक्ति करते हैं और हर्षादि प्राप्त करते हैं, वैसे ही नाना भावों तथा अभिनयों द्वारा व्यंजित और वाचिक आंगिक तथा सात्त्विक लक्षणों से उपेत स्थायिभावों का स्वस्थचित्त व्यक्ति आस्वादन करते हैं (और हर्षादि प्राप्त करते हैं)।"[2] इस दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि प्रसन्नचित्त व्यक्ति पूड़ि-पकाये सिद्ध अन्न का जैसे उपभोग करते हैं वैसे ही नाना

भावो से सयुक्त स्थायीभाव का स्वस्थचित्त पुरुष उपभोग करते हैं—अर्थात्, उपभोग की सामग्री अन्यत्र, रगमंच पर, तैयार होती है और वह सहृदय प्रेक्षकों द्वारा आस्वादित की जाती है। अतएव, भरत-मत मे असगतिपूर्ण स्थिति उपलब्ध है, यह कि स्थायिभाव तो काव्यनिबद्ध पात्र का होता है, किन्तु वह रसत्व प्राप्त करता है रंगमच पर, और वही बना-बनाया रस दर्शको किंवा सामाजिको के आस्वादन का विषय बनता है। हमें भीतर से यह अवस्था रुचिकर न लगे, यह भिन्न बात है, किन्तु भरत का प्रकृत निरूपण इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमे बाध्य करता है।

यह नितरां स्पष्ट है कि रसनिरूपण मे भरतमुनि का कोई दार्शनिक आग्रह नहीं था, उनका दृष्टिकोण पूर्णतः व्यावहारिक तथा वस्तुगत था। रससूत्र में उन्होंने दो शब्दो, 'संयोग' एवम् 'निष्पत्ति', का प्रयोग किया है जिनकी व्याख्या उन्होंने नहीं की। इन्हीं दोनों पदों को पकड़ कर मूल सूत्र की व्याख्या का उपक्रम परवर्ती युगों मे चल पडा और व्याख्याता आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं मे दार्शनिक रग चढ़ा दिये। भरत ने स्वयं, ऐसा प्रतीत होता है, इन पदों का किसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया था। इनमे भी मूल अर्थवत्ता 'निष्पत्ति' की है। भरत ने रस-प्रकरण में 'उपजायते', 'उत्पद्यते' इत्यादि क्रियापदों का व्यवहार किया है जिससे प्रतीत होता है कि 'निष्पत्ति' से उनका अर्थ 'उत्पत्ति' ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से भट्ट लोल्लट भरत-सूत्र की व्याख्या करने वाले प्रथम आचार्य है।

(ख)

लोल्लट का मूल ग्रन्थ उपलब्ध नही है। केवल अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' मे और मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में उनके सिद्धान्त का उद्धरण दिया है और आधुनिक विद्वानों की इन्ही उद्धरणो के आधार पर लोल्लटीय मत का परीक्षण करने की बाध्यता है।

'अभिनवभारती' में लोल्लट का निरूपण यों उद्धृत हुआ है—"विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायिभाव के साथ (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का संयोग), उससे रस की निष्पत्ति(अर्थात् उत्पत्ति) होती है। इन (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों) में से विभाव स्थायिभाव-रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते है। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य (कटाक्षादि-रूप) अनुभाव विवक्षित नहीं है क्योकि उन (रसजन्य अनुभावों) की गणना रस के कारणों मे नही की जा सकती है (वे तो रस के कार्यभूत होते है), अपितु (यहाँ रस के कारणभूत अवयवों मे रत्यादि स्थायी) भावों के ही जो (पीछे उत्पन्न होने के कारण) अनुभाव है (उनका ग्रहण विवक्षित है)। और (निर्वेद आदि) व्यभिचारिभाव चित्तवृत्तिस्वरूप होने से ('युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्', इस नियम के अनुसार रतिरूप तथा निर्वेदादिरूप में दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ एक समय में नहीं हो सकती हैं, इसलिए) यद्यपि स्थायिभाव के साथ नहीं रह सकते है, किन्तु यहाँ उस स्थायिभाव के संस्कार रूप मे विवक्षित हैं। (इसलिए रसरूप से स्थित रत्यादि स्थायीभाव के साथ संस्कार रूप मे रह सकते है। (रस के उत्पादन के लिए आगे दिये जाने वाले व्यञ्जनादि-रूप) दृष्टान्त में भी व्यञ्जनादि के बीच में किसी (रस) की स्थायिभाव के समान अनुद्भूत (वासनात्मक) रूप में स्थिति होती है और दूसरे की व्यभिचारिभाव के समान उद्भूत रूप में। इसलिए विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है। और अपरिपुष्ट (स्थायिभाव, रस से भिन्न) स्थायिभाव (कहलाता) है। (यह रस तथा स्थायिभाव का भेद है।) वह (रस अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट) दोनो में रहता है मुख्य रूप से जिसका अनुकरण नट करता है, उस अनुकार्य रामादि मे रहता है तथा

रामादिरूपता की प्रतीति होने के कारण (गौण रूप से) नट में भी (रस की प्रतीति होती है। रस-सूत्र की यह व्याख्या भट्ट लोल्लट आदि करते हैं।)"[४]

'ध्वन्यालोकलोचन' में, बिना नाम दिये, यह छोटा उद्धरण प्राप्त है—"तथाहि पूर्वावस्थायां य स्थायी स एवं व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्।" अर्थात्, पूर्वावस्था में जो स्थायी है, वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्य मे रस हो जाता है, नाट्य में प्रयुक्त होने से यह नाट्यरस कहलाता है। 'लोचन' के टीकाकारों ने इस उद्धरण को लोल्लट से सम्बद्ध बताया है जो उचित प्रतीत होता है।

सरल रीति से, अभिनव के प्रस्तुत उद्धरणों से लोल्लट की मान्यता के निम्न बिन्दु उपपन्न होते हैं—

(१) विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के स्थायीभाव के साथ संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। (२) स्थायी तथा व्यभिचारी दोनों चित्तवृत्तियाँ हैं जो सामान्यतः एकसाथ स्थित नही रह सकती। किन्तु, रसनिष्पत्ति में दोनों इस कारण साथ रहती हैं कि स्थायी मुख्य रूप में और व्यभिचारी उसके संस्कार-रूप में होते हैं। (३) स्थायिभाव अनुद्भूत (वासनारूप में) और व्यभिचारिभाव उद्भूत (व्यक्तरूप में) रहते हैं। (४) 'अनुभाव' शब्द से वे अनुभाव अभिप्रेत है जो स्थायी भाव के बोधक हैं और रस में कारणभूत होते है। (५) विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी से 'उपचित' अर्थात् पुष्ट किया हुआ स्थायीभाव रस है और अपरिपुष्ट स्थायी स्थायीभाव है। (६) वह रस अनुकार्य रामादि और अनुकर्ता नट दोनों मे रहता है—अनुकार्य में मुख्यरूप से और अनुकर्ता मे गौणरूप से। (७) रामादिरूपता के अनुसंधान से नट में भी रस की प्रतीति होती है—"मुख्यया-वृत्त्या रामादावनुकार्ये अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसंधानबलात्।"

'काव्यप्रकाश' का उद्धरण संक्षिप्त है—

"विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः; अनुभावैः कटाक्ष-भुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यःकृतः; व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो; मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये; तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।" (चतुर्थ उल्लास)

—'विभावो', ललनादि आलंबने तथा उद्यानादि उद्दीपन कारणों, से रत्यादि भाव उत्पन्न होता है; कटाक्ष, भुजाक्षेप इत्यादि कार्यरूप अनुभवों से प्रतीतियोग्य बनता है; सहकारी-रूप निर्वेदादि व्यभिचारियों से उपचित या पुष्ट होता है; मुख्य रूप से रामादि अनुकार्य में और उनके स्वरूप के अनुसंधान से नट में भी प्रतीयमान स्थायी रस हो जाता है। ऐसा लोल्लटादि का मत है।

मम्मट के प्रस्तुत उद्धरण में संक्षिप्त रूप से वे ही बिन्दु उपपन्न हुए हैं जो अभिनव के उद्धरणो मे। दोनों में प्रमुख समानता यह है कि लोल्लट रस की स्थिति अनुकार्य तथा अनुकर्ता दोनों मे मानते हैं—अनुकार्य में मुख्य रूप से और अनुकर्ता नट या नर्तक में 'अनुसंधान' के फलस्वरूप गौण रूप में। 'काव्यप्रकाश' की 'प्रदीप' टीका में यह काव्य मिलता है—"नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः।" यहाँ ध्यातव्य है कि यह रस सामाजिकों को चमत्कृत करने में समर्थ बताया गया है।

उपरिगत उद्धरणों से लोल्लट-मत के विषय में निम्न बिन्दु उपपन्न होते है :—

(१) विभावों (आलंबन-उद्दीपन) से रत्यादि स्थायी उत्पन्न होते हैं। (२) अनुभावों से वे (प्रकाश्य या ज्ञाप्य बनते हैं। (३ से वे पुष्ट (उपचित) होते हैं यहाँ

स्मरणीय है कि 'अभिनव-भारती' वाले उद्धरण में विभाव, अनुभावादि से, संयुक्तरूप से, स्थायिभाव के उपचित होने का कथन हुआ है। यही उपचित स्थायी रस है। वस्तुतः इस 'उपचिति' में स्थायी की उत्पत्ति, उसकी प्रतीतियोग्यता एवम् परिपुष्टि, तीनों क्रियाओं या तत्त्वों का अभिप्राय अनुस्यूत हुआ है। मम्मट और 'प्रदीप'-कार ने विभावादिकों में से प्रत्येक की पृथक्-पृथक् कारणता का उल्लेख कर स्थिति साफ कर दी है। भरत ने भाव-प्रकरण में विभावादि की लगभग ऐसी ही व्याख्या अन्य प्रकारेण की है।[६] लोल्लट ने रसनिष्पत्ति में विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारियों के अलग-अलग योग का कथन कर, रस को समझने-समझाने का स्तुत्य उपक्रम किया है।

'अभिनवभारती' वाले उद्धरण में स्थायी के विभावादि से उपचित होने का जो कथन किया है—"तेन स्थाय्येव विभावानुभावादीभिरुपचितो रसः"—उसकी प्रेरणा भरत के इस कथन से मिली है—"तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।"[७] वर्तमान प्रसंग में 'परिवृतः' और 'उपचितः' लगभग समानार्थक माने जायेंगे।

(४) चौथा बिन्दु यह उभरता है कि रस अनुकार्य में मुख्यरूप से और अनुकर्ता (नट) में गौणरूप से, 'अनुसंधान के बल' से, प्रतीत होता है। यह रस सामाजिकों में 'चमत्कार' उत्पन्न करता है।

पञ्चपगेश शास्त्री ने लोल्लट-मत का जो व्याख्यान किया है, उससे उनकी मान्यता स्पष्टतः निखर आती है—

"रज्जु में द्रष्टा को सर्प की प्रतीति होती है जिससे डर कर वह काँपने लगता है। अपने को बचाने के लिए वह रज्जु से दूर भाग जाता है। यहाँ सर्प की प्रतीति तो मिथ्या होती है, किन्तु इससे जो प्रभाव उस व्यक्ति में उत्पन्न होते हैं, वे सर्वांशतः सत्य होते हैं। सर्प वास्तव में था नहीं, तो भी उसने रज्जु में सर्प का आरोप कर लिया जिससे उक्त प्रतिक्रियाएँ आविर्भूत हुईं। इसी प्रकार, वह प्रेम जो मूलपात्र से था, नट में नहीं रहता। लेकिन, प्रेक्षक पहले-ही नट को गलती से मूल पात्र समझ लेता है और बाद को, मूल पात्र के प्रेम को नट में अवस्थित मान लेता है। इससे उसे मानसिक आनन्द की उपलब्धि होती है जिसका वह वास्तव में आस्वादन करता है।"[८]

अर्थात्, लोल्लट के मतानुसार, सामाजिक को मिलने वाला रसास्वाद भ्रमजन्य अथवा भ्रान्ति-मूलक होता है।

भरत के प्रसंग में हमने कहा है कि उन्होंने रससूत्र में आये 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों का किन्हीं स्थिर पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग नहीं किया था। यद्यपि 'निष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' का सामान्य बोध अवश्य होता है। लोल्लट के निरूपण में इन पदों का विशिष्ट अर्थ खुलता है। 'संयोग' का अर्थ होता है विभावों की दृष्टि से 'उत्पादक-उत्पाद्य' सम्बन्ध; अनुभावों की दृष्टि से 'ज्ञापक-ज्ञाप्य' सम्बन्ध और व्यभिचारियों की दृष्टि से 'उपचायक-उपचेय' अथवा 'पोषक-पोष्य' सम्बन्ध। इसी प्रकार 'निष्पत्ति' का अर्थ होगा—इन त्रिविध सम्बन्धों से निकलने वाली फलप्राप्ति का योग, अर्थात्, उत्पत्ति + प्रतीति + उपचिति। एक शब्द में कहना चाहें तो उसे 'उत्पत्ति' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि रस के मूल द्रव्य स्थायी की 'उत्पत्ति'—ही, अन्य दो क्रियाओं से, रस में परिणत होकर सामाजिकों में चमत्कार अथवा आनन्द का कारण बनती है।

लोल्लट की मान्यताओं की उनके समकालीन कनिष्ठ सहयोगी श्रीशंकुक ने तीव्र आलोचना की है। उनकी आलोचना के बिन्दुओं में एक प्रमुख बिन्दु है लोल्लट की यह मान्यता कि स्थायी भाव ही उपचित होकर रस बन जाते हैं। 'अभिनवभारती' में शंकुक के आक्षेप उल्लिखित हुए हैं (दे० 'हिन्दी अभिनवभारती', आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४४५)। हमने अन्यत्र शंकुक की आपत्तियों की

———

परीक्षा की है। यहाँ डा० नगेन्द्र का एक कथन विचारणीय बन जाता है। यह मानते हुए कि स्थायिभाव ही रस बनते हैं, उन्होंने कहा है कि "भरत को जहाँ अव्यक्तिगत स्थायीभाव अभिप्रेत था, वहाँ अभिनवादि का अभिप्राय सहृदय के स्थायीभाव से था। लोल्लट ने इन दोनों से भिन्न तीसरा अर्थ किया—अनुकार्य का स्थायीभाव और अनुकार्य के विषय में मूल पात्र और कविनिबद्ध पात्र का भेद स्पष्ट नहीं कर पाये।" (रससिद्धान्त, पृ० १४७)

नगेन्द्रजी की प्रस्तुत टिप्पणी युक्तिसंगत नहीं है। पहली बात तो यही है कि लोल्लट के सामने लौकिक वा मूल पात्र का सवाल ही नहीं था जैसा हमने आगे दिखाया है। रह गयी स्थायीभाव की बात। तब, क्या भरत का स्थायीभाव सचमुच 'अव्यक्तिगत' और अभिनव का स्थायीभाव सहृदय का 'निजी' है? क्या 'अव्यक्तिगत' और "सहृदयगत" भावों का भेद कृत्रिम नहीं है? 'और, क्या अनुकार्य का स्थायीभाव इन दोनो भावों से पृथक् कोई अन्य सत्ता है? भरत के स्थायी 'अव्यक्तिगत" हैं, इस तथ्य का संकेत नगेन्द्रजी को कहाँ मिला?'

हमारा अनुमान है कि उनसे मानस-क्षेत्र (कॉग्नीटिव फ़ील्ड) में 'नाट्यशास्त्र' के भाव प्रकरण का वह स्थल रहा है जहाँ उनचास भावों को काव्य-रस की अभिव्यक्ति के हेतु बताया गया है और उनके 'सामान्यगुणयोग' का उल्लेख हुआ है—"एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशत् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेनरसाः निष्पद्यन्ते।"[८] यहाँ ध्यातव्य यह है कि भरत ने इन भावों की सामान्यता अथवा साधारण्य, अर्थात् सार्वभौमता (यूनिवर्सैलिटी) का कथन किया है। यदि भाव सर्वसामान्य नहीं होंगे, तो काव्य-चित्रित भावों की 'अपील' सार्वभौम एवम् सार्वकालीन नही होगी। पुनः जहाँ यह 'अपील' खंडित हुई, वहाँ रसतत्त्व ही, भारतीय आचार्यों का रसतत्त्व, महत्त्वहीन बन गया। अभिनव ने जब सहृदयगत स्थायिभाव की बात कही, तब भी उनका अभिप्राय सार्वभौम अपील वाले भावों का ही था। यह साधारण तथ्य है कि 'सामान्यगुणयोग' वाले, अर्थात् सार्वजनीन भाव जब काव्य में चित्रित होते हैं, तब वे किसी पात्र-विशेष से सम्बन्धित होकर एक अर्थ में 'व्यक्तिगत' बन जाते हैं। अतएव, अभिनवादि के सहृदयगत स्थायी अथवा लोल्लट के अनुकार्यगत स्थायी, दोनों रस दृष्टि से नगेन्द्रजी के शब्दों में "अव्यक्तिगत" हैं। हमने पहले कहा है कि भरत का स्थायिभाव काव्यगत नायक का ही और सहृदयगत स्थायीभाव वही है जो काव्यगत पात्र का नायक का है। अतएव, काव्य में व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत भावों का भेदनिर्देश एक 'फ़ैलेसी' है, हेत्वाभास है।

(ग)

अब लोल्लट के रससिद्धान्त का पर्यालोचन किया जा सकता है। उनकी व्याख्या में आया शब्द "अनुसंधान" महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैसा पहले कहा गया है, भरत के अनुसार स्थायिभाव तो नायक का होता है, किन्तु रस बनता है रंगमंच पर, और सामाजिक उस स्थायिरूप रस का आस्वादन करता है। ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं कि भरत रस की 'अनुभूति' मानते है। उनके मतानुसार रस 'अनुभवगम्य' अवश्य है, किन्तु वह सूक्ष्म अर्थों में 'अनुभूति' नहीं कहला सकता क्योंकि वह "आस्वाद्य" है। 'आस्वाद' और 'आस्वाद्य' दो वस्तुएँ है जिनमे आस्वाद तो 'अनुभूति' हो सकता है अथवा है, किन्तु 'आस्वाद्य' अनुभूति नही है। लोल्लट स्थायिभावों को चित्तवृत्तियाँ बताकर भी, यह निरूपित नही कर पाये कि रस अनुभूति है अथवा विषयिगत है। उनके लिए भी रस विषयगत ही रहा और 'आस्वाद्य' बना रहा। लेकिन, सामाजिक को रस की प्रतीति कैसे होती है, इस प्रश्न को लोल्लट ने समझाने का प्रयास किया है और इस दृष्टि से, वे भरत से रसानुभूति के विश्लेषण में कई कदम आगे बढ़ गये हैं। इसी मानसिक संदर्भ में उन्होंने 'अनुसन्धान' की खोज की है।

'अनुसन्धान' के सामान्यतः दो अर्थ किये गये हैं, 'आरोप' और 'अभिमान'। अभिनव के उद्धरण के अनुसार, "रामादिरूपतानुसन्धान बलात्" का अर्थ होगा—नट का अपने में रामादि का 'आरोप' करना अथवा अपने में रामादि का 'अभिमान' करना, अर्थात् अपने को रामादि समझना, और मम्मट के उद्धरण के अनुसार, "तद्रूपतानुसन्धानात्" का अर्थ होगा—सामाजिक का नट में रामादि का आरोप अथवा नट में रामादि का 'अभिमान' करना। यहाँ पहला प्रश्न यह उठता है कि नट में आरोप अथवा अभिमान का कर्ता कौन है—स्वयं नट अथवा सामाजिक? हमारी समझ में दोनो ही अनुसन्धानकर्ता हैं—कारण कि जब तक नट स्वयं अपने में कामादिरूपता का अनुसन्धान नही करेगा, तब तक अभिनय में वह तल्लीन कैसे हो सकेगा? साथ ही, जब तक सामाजिक नट मे रामादिरूपता का अनुसन्धान नहीं करेगा, तब तक उसे रस की पूर्ण प्रतीति कैसे हो सकेगी? अतएव, अनुसन्धान नट और सामाजिक, दोनों ही अपने-अपने मानसिक धरातल पर करते है। दूसरा प्रश्न है, 'अनुसन्धान' का कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय, 'आरोप' अथवा 'अभिमान'? यद्यपि सामान्यतः 'अनुसन्धान' से 'आरोप' अर्थ ग्रहण किया गया है, तथापि हमारी समझ में, 'अभिमान' अर्थ अधिक ग्राह्य होना चाहिए—क्योंकि नट और सामाजिक दोनों के लिए 'आरोप' से आगे बढ़कर 'अभिमान' की स्थिति तक मनसा पहुँचना आवश्यक है क्योंकि बिना 'अभिमान' के, पूर्ण रसदशा[१०] को न तो अधिगमित किया जा सकता है, न आस्वादित ही।

'अनुसन्धान' का तीसरा अर्थ भी डॉ० कान्तिचन्द्र पांडेय ने लगाया है जो शैवदर्शन से अनुप्राणित है। वहाँ 'अभिमान' "योजना" अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका अभिप्राय है, "जो मैं पहले बालक था, वही मैं अब युवा हूँ"। अर्थात्, 'योजना' के द्वारा नट समझ लेता है कि "जो मैं पहले नट था, वही मैं अब राम हूँ।"[११]

वस्तुतः, इस तीसरे अर्थ में दार्शनिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त, पहले दोनों अर्थों की अपेक्षा, कोई विशेषत्व नहीं है। मूल तथ्य यह है कि लोल्लट के मतानुसार, नट या नर्तक अपने को रामादि पात्र समझ लेता है और तद्वत् आचरण करने लगता है—'रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे संभात्।" लेकिन, मम्मट के अनुसार, "नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" के कथन से यह भी माना जा सकता है कि जब रस प्रतीयमान है, तब उसकी प्रतीति करने वाला भी तो कोई होना चाहिए, और वह प्रतीतिकर्ता सामाजिक ही है। विवक्षा यह है कि 'अनुसन्धान' का कर्ता नट और सामाजिक, दोनों माने जायेंगे, जैसा पहले कहा है।

तब, प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लोल्लट के अनुसार रस का आश्रय किसे माना जाय, अनुकार्य रामादि को अथवा नट या अनुकर्ता को? अभिनव के अनुसार तो रस का आश्रय रामादि के साथ-साथ नट भी है—"स चोभयोरपि। मुख्यावृत्त्या रामादावनुकार्ये अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलात्।" मम्मट का भी लगभग यही मत उभरता है—यद्यपि नट में रस "प्रतीयमान" होता है। 'प्रतीयमान' का अर्थ यह है कि लोल्लट रसनिष्पत्ति की व्याख्या में सामाजिक को भी सामने रखते हैं क्योंकि जैसा अभी कहा है, प्रतीतिकर्ता तो सामाजिक ही है। अर्थात्, रस का मूल आश्रय अनुकार्य है, गौणरूप से अनुकर्ता नट भी है और सामाजिक उसका प्रतीतिकर्ता है। वास्तव में, सामाजिक रस का आश्रय नहीं, आस्वादयिता अवश्य है। कालदृष्ट्या अन्य आचार्यों की तुलना में भरत के समीप होने के कारण, लोल्लट न दर्शक-पक्ष की अवहेलना कर सकते थे और न रस को विषयिगत अथवा सामाजिक-गत ही मान सकते थे।

यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—'अनुकार्य' से लोल्लट का मूल मन्तव्य क्या था—ऐतिहासिक या लौकिक रामादि अथवा काव्यनिबद्ध रामादि? "मुख्यया वृत्त्या

रामादावनुकार्ये · अभिनव और मम्मट दोनों के उद्धरणों में समरूपेण उपलब्ध है। यहाँ "मुख्यया-वृत्या" का स्पष्ट अर्थ है "मुख्य रूप से"। आचार्य विश्वेश्वर ने 'अभिनव भारती' तथा 'काव्य-प्रकाश' के दोनों ही अनुवादों में यही अर्थ किया है। तब, क्या अभिनव या मम्मट, दोनों लोल्लट का वास्तविक अभिप्राय समझते थे? क्या उनके सामने लोल्लट के प्रसंग में ऐतिहासिक व्यक्ति और काव्यगत पात्र में द्वैतभावना का प्रश्न था ही नहीं? तब, क्या यह भेदीकरण आधुनिक विद्वानों अथवा लोल्लट के आलोचकों की बौद्धिक प्रसूति तो नहीं है?

भरत के प्रसंग में हम कह आये हैं कि वे अभिनय अथवा रंगमंच को रस का आश्रय समझते थे। लोल्लट अधिक सूक्ष्मबुद्धि-सम्पन्न 'व्याख्याता' थे। अतः रंगमंच जैसे स्थूल पदार्थ को रस का आश्रय मानने की बजाये, उन्होंने रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने वाले "अनुकार्य" पात्र को "मुख्यरूपेण" रस का आश्रय माना और अनुकरण करने वाले अभिनेता नट को "गौण-रूप" से उसका आश्रय माना। और, यह अभिनीत होने वाला, प्रदर्शित पात्र वही था जो नाट्य अथवा काव्य में चित्रित हुआ था। अतएव, लोल्लट का "अनुकार्य" से अभिप्राय इसी कविनिबद्ध पात्र से है, मूल लौकिक या ऐतिहासिक व्यक्ति से नहीं। इस मान्यता की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अनुकर्ता नट के समक्ष मूल व्यक्ति नहीं, काव्यगत पात्र ही होता है। आखिर, जिसे कभी देखा-सुना नहीं, जिससे भौतिक संबन्ध कभी नहीं रहा, उसका अनुकरण भी कोई क्या करेगा? मम्मट ने, लोल्लट का मत उद्धृत करने के ठीक पूर्व रसस्वरूप पर जो कारिकाएँ निबद्ध की हैं, उनसे भी स्थिति साफ हो जाती है—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः सः तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥"
('काव्यप्रकाश', ४।२७-२८)

—'इत्यादि स्थायी भाव के लोक में जो कारण, कार्य तथा सहकारी हैं, उन्हें ही नाट्य तथा काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव एवम् व्यभिचारी कहा जाता है। उन्हीं विभावादिकों से व्यक्त स्थायीभाव 'रस' कहलाता है।'

इन कारिकाओं से ज्ञात होता है कि मम्मट के सामने रस की निर्भ्रान्त कल्पना यही थी कि लौकिक कारणादि के समानान्तर कहे गये विभावादि से अभिव्यक्त रत्यादि स्थायीभाव ही रस है। अर्थात्, रस नाट्यगत अथवा काव्यगत है। अन्य शब्दों में, रस की स्थिति नाट्य व काव्य में होती है।

इन्हीं कारिकाओं के ठीक बाद, मम्मट ने लोल्लट का मत उद्धृत किया है जिसमें अनुकार्य-अनुकर्ता का उल्लेख हुआ है। यदि मम्मट के मन में लोल्लट के अभिप्राय के विषय में तनिक भी सन्देह होता, तनिक भी यह प्रतीति होती कि 'अनुकार्य' से लोल्लट का आशय मूल लौकिक अथवा ऐतिहासिक रामादि से है, काव्य-निबद्ध रामादि से नहीं, तो मम्मट ने इसका अवश्य उल्लेख किया होता। लोल्लट का अभिप्राय स्पष्टतः काव्यचित्रित नायकादि से है, क्योंकि वे यह भली-भाँति समझते थे कि वे नाट्यरस के ही मुनि द्वारा किये गये पूर्व-निरूपण की व्याख्या कर रहे हैं। अतएव, "मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये" लिखकर उन्होंने नाट्यनिबद्ध रामादि का ही कथन किया है, "मुख्य" "वृत्ति" का विशेषण है, "रामादि" का नहीं। इस कारण, डॉ० नगेन्द्र का यह कथन सही नहीं है कि "वस्तु-परक दृष्टि के कारण लोल्लट मूल पात्र और उसके

कार्यनिबद्ध रूप में भेद नहीं कर पाये।"[१२] "वस्तुतस्तु, लोल्लट के सामने लौकिक रामादि का सवाल ही नहीं था, अतएव भेदादि का विन्दु उनके लिए उपपन्न ही नहीं हुआ। इसी कारण, दुष्यन्त को शकुन्तला-विषयिणी रति के रसरूप में परिणत होने का, लोक-जीवन में तथा काव्य में अलग-अलग, जो मनोयोगपूर्वक निरूपण डॉ० नगेन्द्र ने किया है, वह अर्थहीन बन जाता है।[१३]

लोल्लट की व्याख्या में स्थायी तथा रस, दोनों की युगपत स्थिति अनुकार्य एवम् नट में जो मानी गयी है, उसे भी लेकर विद्वानों ने उनकी आलोचना की है। उनका आरोप है कि लोल्लट "लोकानुभूति" और "काव्यानुभूति" में अन्तर नहीं कर पाये क्योंकि उनकी व्याख्या मे "जन-सामान्य के उद्‌बुद्ध रत्यादि को भी रस कह सकने की पूरी गुंजाइश है। × × × भाव तथा रस की स्थिति एक ही स्थान में मान लेने का अर्थ यह हुआ कि रोहिताश्व की लाश पर रुदन करती हुई शैव्या करुणरस का आस्वादन कर रही थी।"[१४]

ऐसी टिप्पणी लोल्लट का उपहास है। "जनसामान्य के उद्‌बुद्ध रत्यादि" की रस्य-मानता की बात लोल्लट के मन में आ ही नहीं सकती थी। भरत ने भी ऐसा नहीं माना। स्थायी तथा रस की एकत्र स्थिति का निरूपण कर, लोल्लट ने निश्चित ही, जैसा ऊपर कहा है, एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का संकेत किया---यह भिन्न बात है कि स्थायी किंवा रस को उन्होंने अनुकार्य, नाट्यगत पात्र, वा नट में माना, सामाजिक मे नहीं। लोकानुभूति और काव्यानुभूति में भेद के प्रति लोल्लट निश्चिततया सावधान थे, तभी अनुकार्य से उन्हें काव्यनिबद्ध पात्र ही अभिप्रेत था। सूक्ष्म बौद्धिक तर्कना में वे भले आधुनिक विपश्चितों से पीछे हों, किन्तु वे काव्यरस के मर्मज्ञ नहीं थे---ऐसा कथमपि नहीं माना जा सकता। अतः लोल्लट ने "लोक और काव्य की अनुभूतियों को एक ही कोटि में रख दिया है,"[१५] ऐसा समझना भ्रान्तिपूर्ण है। यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं कि विभावादि से परिपुष्ट स्थायीभाव की रसरूप में परिणति मानने से लोल्लट "दैनिक जीवन में भी स्थायी भावों की उद्दीप्ति विभावादि के संयोग" से होने के फलस्वरूप, लौकिक भावों की भी रसात्मक अनुभूति स्वीकार करते हैं।[१६] इस विषय में अवधेय यह है कि लौकिक या दैनिक जीवन में "कारण-कार्य" होते है, "विभावादि" नहीं जिनकी स्थिति केवल नाट्य अथवा काव्य में होती है; और काव्य में निश्चयमेव विभावादि से परिपुष्ट स्थायी रसत्व प्राप्त करते हैं---उसका अनुभव सहृदय पाठक करता है, कैसे करता है, यह भिन्न प्रश्न है। अतएव, "दैनिक जीवन में भी" रसानुभूति मानने की बात लोल्लट में खोज लेना पूर्णतः असंगत एवम् निराधार है। ऐसा प्रयास तो आ० रामचन्द्र शुक्ल जैसे आधुनिक समालोचकों ने किया है, भरत अथवा लोल्लट ने नहीं। यह तमाम गड़बड़ी इस कारण हुई है कि 'अनुकार्य' से तात्पर्य ऐतिहासिक व्यक्ति से मान लिया गया जबकि स्वयं लोल्लट मे इसका कोई आधार नहीं है।

रसनिष्पत्ति की समस्या का समाधान खोजने में रस को प्रतीयमान बताकर, लोल्लट ने सामाजिक को हमारे विचार-केन्द्र में स्थापित किया और उसकी रसप्रतीति का कारण 'अनुसंधान' को बताकर, सामाजिक के मनस्तत्त्व की क्रियाशीलता को रेखांकित किया। इस प्रकार, वे रसास्वादन की प्रक्रिया के अन्वेषण में निश्चिततया आगे बढ़े---यह भिन्न बात है कि स्थायीभाव की रसरूप में परिणति का "वास्तविक कारण" वे नहीं खोज पाये।[१७]

हमने पहले पंचपगेश शास्त्री द्वारा समझाये गये रज्जु में सर्प की प्रतीति के दृष्टान्त का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने इस प्रतीति को इसी "आध्यात्मिक" प्रतीति की समकक्ष बताया है और उससे मानसिक आनन्द की उपलब्धि की बात कही है। इससे लोल्लट 'उत्तरमीमांसा' अथवा 'वेदान्त' के अनुयायी कहे जा सकते हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पांडेय ने "अनुसंधान" को शैव दर्शन से

गृहीत मान कर उन्हें शैव ठहराया है, भट्ट कल्लट की रचना 'स्पन्दकारिका' की उनके टीका लिखने की भी बात कहीं है।[१८] किन्तु, सामान्यतः लोल्लट वेदान्तानुगामी ही माने गये हैं।[१९] "अनुसंधान" का अर्थ प्रायः 'आरोप' लगाया गया है जिससे उनका सिद्धान्त 'उत्पत्तिवाद' के साथ 'आरोपवाद' भी कहा गया है।

लोल्लट के रसनिरूपण में सर्वोपरि तथ्य यह उभरता है कि वहाँ सामाजिक द्वारा किये गये रसास्वादन को मूलतः भ्रमजन्य ही ठहराया गया है। चाहे उस आस्वादन की प्रक्रिया का आधार 'आरोप' हो, 'अभिमान' हो, अथवा 'योजना' हो, वह "चमत्कार" भ्रमजन्य ही है।

संदर्भ-संकेत

१. 'नाट्यशास्त्र' (चौखंबा, वाराणसी), सं० १९८५, पृ० ७१। २. वही, पृ० ३१२ (श्लोक ५५)। ३. वही, पृ० ७१। ४. हिन्दी 'अभिनवभारती' (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४४२-४३। ५. 'काव्यप्रदीप' का पूरा उद्धरण यों है—"ललनादिभिरालम्बनविभावैः स्थायी रत्यादिको जनिता, उद्यानादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपितः, अनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपणादिभिः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिरुत्कण्ठादिभिः परिपोषितो, रामादावनुकार्ये रसः। नटे तु तुल्यरूपतानु संधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः।"—'काव्यप्रदीप'। ६. 'नाट्यशास्त्र' (चौखंबा), पृ० ८०-८१। ७. वही, पृ० ८१। ८. फिलॉसोफी ऑव एस्थेटिक प्लीज़र, पृ० ७५। ९. 'नाट्यशास्त्र' (चौखबा), पृ० ८०। १०. स्मरणीय है कि क्रम 'रसदशा' का प्रयोग लोल्लट के ही अर्थ मे कर रहे हैं। ११. "कादाचित्कः कदाचिद्भवः अज्ञातदेशकालाकारः अवभासा यस्य देहादेः स्वलक्षणरूपस्य, तत्र या पूर्वाभासेन योजना योऽहं बालः स एवाद्य युवा इत्यनुसंधानम्।"—'स्वतंत्र कलाशास्त्र', प्रथम भाग, १९६७, पृ० ६९। १२. 'रससिद्धान्त', पृ० १४४। १३. वही, पृ० १४३-४४। १४. डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त; 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', १९६२, पृ० १२६। १५. डॉ० तारकनाथ बाली : 'रस सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या', १९६४, पृ० ४१-४१। १६. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : 'रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन', १९७१, पृ० २६। १७. वही, पृ० २६। १८. 'स्वतन्त्र कलाशास्त्र', प्रथम भाग, पृ० ६८-६९। १९. आ० विश्वेश्वर : 'काव्यप्रकाश', हिन्दी व्याख्या, पृ० १०२।

७९९, अंगूरीबाग
फैजाबाद

दक्खिनी हिन्दी के प्रेम-गाथाकार

●

डॉ० दशरथराज

प्रमुख गाथाकार

१. मुल्ला नुसरती—अली आदिलशाह द्वितीय के शासनकाल का दरबारी कवि मुल्ला नुसरती अपनी रचनाओं 'गुलशने इश्क' और 'अलीनामा' के कारण दक्खिनी हिन्दी में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नुसरती ने अली आदिलशाह को अपना मार्ग-दर्शक एवं गुरु तक स्वीकार किया है, जो स्वयं एक उच्च कोटि का कवि था और 'शाही' तखल्लुस से कविता करता था। इसी सुल्तान के प्रभाव ने दक्खिनी काव्य के विकास में चार चाँद लगा दिये। नुसरती ने उनके द्वारा प्रोत्साहन पाने के विषय में स्पष्ट उल्लेख किया है—

'बहम्दुल्लाह् किया मुझ बड़े बख़्त आज। न उस्ताद कोई मुझ अली शह के बाज ॥[१]

'गुलशने-इश्क' में कवि ने अपने विषय में और भी जानकारी दी है कि उसका बाप एक बहादुर वफ़ादार सिपाही था जो बादशाह के लिये जान कुरबान करने के लिये कटिबद्ध था और उसने नुसरती की शिक्षा-दीक्षा का पर्याप्त विचार रखा था।[२] नुसरती ने 'गुलशने-इश्क' में ढाई पृष्ठों में 'हस्ब हाल' के अंतर्गत अपने जीवन पर कुछ प्रकाश डाला है।[३] नुसरती ने शाह अली की वंदना में भी अपनी निजी स्थिति पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार अली आदिलशाह के शासक बनते ही उसकी हालत भी सुधरी।[४]

नुसरती हज़रत ख्वाजा बंदा नवाज़ गेसूदराज की शिष्य-परम्परा में स्थान रखता है। उसने अपनी दोनों रचनाओं में उनकी वंदना की है। संभवतः इसीलिये नुसरती पर सूफ़ी मत का विशेष प्रभाव रहा हो। वह अपने को सूफ़ी मानता हुआ अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र सूफ़ी सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करता रहा है। गुलशने-इश्क के आरम्भ में ही कवि कहता है—

मेरे मन का तूती तू बे काम है। कवाना तू बात उसकूँ इलहाम है ॥
निकलता है ज्यूं ने ते आवाज़ बहार। अछे दम में दूजे के तस अख़्त्यार ॥[५]

'अलीनामा' के आरम्भ में भी कवि की यही भावधारा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है—

'मेरे मुख ते काड़ उस असर का कलाम। कि हर्फ़ हावे में परस्तां की जाम ॥
धरनहार असर हाल का क़ाल दे। दिला कूं जम इस क़ाल ते हाल दे ॥
मेरे क़ौल के अगे बहस कर सब की रद। सुखन कर मेरा आरिफ़ां में सनद ॥
स्याही कूं कर मेरी ज़ुलमात धात। क़लम में मेरी ख़िज्र की दे सिफ़ात ॥
गुलस्तां में हर अंजमन के धरा। मेरे खुश सफ़ीने का बस्तां सरा ॥[५-b]

नुसरती शरीयत का सख़्त पाबंद था और अपने गुनाहों से तोबा भी नित्य किया करता। इसका परिचय 'गुलशने-इश्क' के आरम्भिक भाग में भी मिलता है। सूफ़ी मत में विश्वास के कारण नुसरती एक उच्च कोटि का चरित्रवान व्यक्ति बन गया था और बड़े शान-शौकत के साथ उसने

—

पना जीवन व्यतीत किया। उसे काव्य के क्षेत्र में भी बड़ी कीर्ति मिल चुकी थी, फिर भी वह अपने नये फ़क़ीरों की सी जिंदगी का इच्छुक था। वह कविता से अपनी कीर्ति बढ़ाने का इच्छुक न था, 'पितु चाहता था कि उसकी कविता किसी तरह लोगों के लिये, कवियों के लिये उपयोगी सिद्ध ो सके—

मुझे ख़ूब कामां की तौफ़ीक़ दे। अछे हक़ सो कर मुज पे तहक़ीक़ दे।।
मेरे शेर सूँ जिंदा धर हर शऊर। समज मुज वचन ते तू कर जग में पूर।।
ख़यालां कूं मुज बाव की ओज दे। तबीयत कूं दर्यां की नित मौज दे।।[६]

नुसरती ने ईश्वर को ही करन-धरनहार मानकर अपने को निमित्त मात्र माना है—

सुख़न दिल में उपजानहारा तू ही। ज़बां उपर उसे ल्यानहारा तू ही।।
+ + + +
अता अनगिनत तेरी जान्या हूँ मैं। तुजे महरबां कर पिच्छाना हूँ मैं।।
तूं अति मह्र की कर नज़र ताबदार। पत्थर दिल कूं मुज लाल कर आबदार।।

और भी—

मआनी के कहन की मुंजे दे दवात। जो हर बात में कई रतन आये हात।।
दे ऐसा सुखन के जहाँ मे क़लम। जो इलहाम की फ़ौज को होवे इल्म।।
देखाऊँ सो तुज फ़ैज़ ते जे ख़याल। कर उस शेर कूं ऐन सहर हलाल।।
हर यक हर्फ़ तीन कर देखा जाम जम। मानो में तिस भर मसीहा का दम।।[७]

नुसरती को दक्खिनी पर गर्व था और जो दक्खिनी को बदनाम करते थे, मात्र उनके लिये उसने चुनौती स्वरूप अपनी रचना को प्रस्तुत किया, न कि गर्व या अभिमान के कारण। इसका परिचय हम 'अलीनामा' लिखने के कारण बयान करते समय कवि के शब्दों में पाते हैं। कवि के दक्खिन के प्रति प्रेम का परिचय भी इन विचारों से मिलता है। कवि ने 'गुलशने इश्क' में भी दक्खिनी कविता के महत्त्व पर प्रकाश डाला है—

जनम ख़ाम था सो दक्खिन का कलाम। हुवा पुख़ता तुज तरतीब ते तमाम।।
बड़े शायरां शेर नाज़ुक बनाये। कि जिस वस्फ़ क़ालिब में ख़ूबां के मुहाये।।
समझता है बारीक बीना का मन। जो अव्वल अथा क्या सो शेरे दक्खिन।।
अता के जो कहें शेर सो सरसरी। सुने तो कहे मरहबा अनवरी।।
दक्खिन का कहें शेर अंब वे अदद। लिखें कुहना तक़वीम मानिंद रद।।[८]

डॉ० ज़ोर के अनुसार, अली आदिलशाह के दिनों में ही नुसरती का निधन हुआ। उन्होंने कवि का निधन-काल सन् १०८१ हि० (सन् १६७० ई०) बताया है।[९] हाशमी साहब ने उनका निधन-काल सन् १०८५ हि० (सन् १६७४ ई०) बताया है।[१०] डॉ० हक़ साहब ने 'तज़करे रियाज़ हुसनी' के आधार पर कवि का औरंगज़ेब की बीजापुर-विजय के समय जीवित होना बताया है।[११] किन्तु हाशमी साहब ने कुछ नये प्रमाण खोजकर इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि नुसरती का निधन-काल सन् १०८५ हि० (सन् १६७४ ई०) है।[१२]

नुसरती ने प्रसिद्ध प्रेमगाथा मनहर मधुमालती की कथा पर अपनी प्रेमगाथा 'गुलशने-इश्क' की रचना की और उसमें कवि की निजी मौलिकता और काव्य-प्रतिभा का भी परिचय मिलता है। नुसरती ने यह कथानक कहाँ से लिया, इस विषय मे निर्धारित रूप से कहना कठिन है क्योंकि अपने समय में यह कथानक इतना लोकप्रिय था कि इसके रूप अनेक स्थानो पर अनेक कवियों द्वारा कुछ

अन्तर से अपनाये दिखाई देते हैं। मंझन-कृत 'मधुमालती' से तुलनात्मक अध्ययन करने पर यही सिद्ध होता है कि कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर श्रुत कथानक को अनूठे रूप में प्रस्तुत किया है। यह रचना मंझन-कृत 'मधुमालती' से कम स्तर की नहीं लगती। भाव, भाषा, शैली की दृष्टि से यह एक सुन्दर, सफल एवं सशक्त रचना मानी जा सकती है।

२. हाशमी—सैयद मीराँ हाशमी अपने तखल्लुस 'हाशमी' से ही अधिक प्रसिद्ध रहा है। हाशमी अली आदिलशाह द्वितीय (सन् १६५७ ई० से १६७२ ई०) के काल का कवि है। उसके विषय में कहा जाता है कि वह जन्मान्ध था। वह सैयद हाशिम शाह का मुरीद था और अपने मुरशिद के नाम के आधार पर ही उसने अपना तखल्लुस भी रखा था। अली आदिलशाह द्वितीय का उस पर विशेष अनुग्रह था और हाशमी की भी महल तक रसाई थी। कवि की भाषा रेखती है जो उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट पड़ती है। उसने कविसमय भी हिन्दी की भाँति अपनी रचना में अपनाये हैं। उसकी तीन रचनाओं का पता चला है जिनमें एक 'यूसुफ़ जुलैखा' नामक प्रेमगाथा है जिसका रचनाकाल कवि के अनुसार सन् १०८८ हि० (सन् १६८८ ई०) है।[१३] उसका लिखा हुआ एक दीवान भी बताया जाता है जो अभी अप्राप्य है और कुछ समय पूर्व उसके प्रा० आग़ा हैदर हसन दहलवी, साकन हैदराबाद के निजी संग्रहालय में होना बताया जाता है। इसमे स्त्री-पुरुष के प्रेमभाव को स्पष्ट करनेवाले अनेक ग़ज़ल हैं। हाशमी का एक मरसिया अडनबर यूनिवर्सिटी में पाया गया है।[१४]

हाशमी के जन्म-काल का पता नहीं है। उसकी मृत्यु के बारे में हाशमी साहब, डॉ० ज़ोर, मौलवी मुहम्मद मुबीन केफ़ी एकमत है और हाशमी का निधन-काल उन्होंने सन् ११०८ हि० (सन् १६९७ ई०) बताया है।[१५]

यूसुफ़ ज़ुलैखा मे ६ हजार से अधिक पद है। कवि का मूल स्वर तसव्वुफ़ है। रचना का रूपकात्मक पहलू यत्र-तत्र निखर उठा है। काव्य कला की दृष्टि से भी रचना दक्खिनी हिन्दी मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कोई ऐसा पृष्ठ नहीं जिसमें कवि ने अलंकारों की छिभा न दिखायी हो। भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से रचना अत्यन्त सशक्त रचना है। कवि की दृष्टि में प्रेम सर्वोपरि है—

अगर इश्क ने है तो की यू चकोर। नयन में दिया है तो चन्द्र को ठोर।।
अगर इश्क ने है तो की यू पतंग। दीवे पर जो पड़ता है जाकर फिसंग।।

\+ \+ \+ \+

मजाज़ी यक़ीन इश्क सब ठौर है। हक़ीक़ी वले इश्क कुछ और है।।
जो आशिक अहे सोच जीव सार है। जो आशिक अहे सोच अवतार है।।

और भी—

जहाँ देखना वहाँ वही नूर है। वही नूर हर ठार मामूर है।।
वही नूर बादे सुबह के नमन। खिलाता है गुलज़ारां के बन।।
वही नूर यूसुफ़ में दे ज़ुअलजलाल। ज़ुलैखा कूं आशिक किया है कमाल।।

३. सैयद मुहम्मद 'इशरती'—'इशरती' का पूरा नाम सैयद मुहम्मद इशरती था औ पिता का नाम सैयद यूसुफ़ हुसेनी था। वह हैदराबाद का रहनेवाला था। औरंगज़ेब के राज्य-काल में उसका निधन हुआ।[१६] औरंगज़ेब आलमगीर ने उसकी योग्यता के कारण उसे आश्रय दिय और जागीर भी दी आसफ़िया राज्य-काल में भी उसके वंशज बड़े अच्छे पदों पर रहे [१७] उसक

निधन हैदराबाद में ही हुआ और उसको शाह राजू हुसेनी के गुंबद में उत्तर की तरफ़ दफ़नाया गया।[१८] उसका जन्म-काल एवं निधन-काल मालूम नहीं है।

इशरती की प्रेमगाथा 'दीपक-पतंग' का रचना-काल सन् ११०७ हि० (सन् १६६५ ई०) है। 'दीपक-पतंग' में जायसी-कृत पदमावत की कथा ही है जिसे कवि ने दक्खिनी काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। पदमावत की कथा अपने काल में बहुत प्रसिद्धि पा चुकी थी। जायसी की रचनाओं की पांडुलिपियाँ हैदराबाद में भी मिली हैं जिनके आधार पर जायसी की नयी प्रेमगाथा 'चित्ररेखा' प्रकाश में आयी है। अतः लगता है कि जायसी दक्खिन के लिये अपरिचित नहीं था। ओसमानिया यूनिवर्सिटी में 'जायसी ग्रंथावली' की एक पांडुलिपि मिली है जिस पर काम चल रहा है; कहते नहीं बनता कि उसमे जायसी की कौन-कौन-सी रचनाएँ संकलित हैं। वही कथानक अपनाकर भी कवि ने अपनी मौलिकता और योग्यता का परिचय दिया है। सूफ़ी विचारधारा उसमें जायसी की भाँति ही विद्यमान् है।

इसरती की एक दूसरी रचना 'चित लगन' की पांडुलिपि ग्रंथालय में है।[१६] यह भी एक बृहद्काय प्रेमगाथा है। दुर्भाग्यवश यह रचना अपूर्ण है। अगर आगे-पीछे ही वह अपूर्ण होती तो भी उसके मूल कथानक को पहचाना जा सकता, वह तो बीच-बीच से भी अनगिनत स्थानों पर अपूर्ण लगती है कि कथानक का प्रवाह एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ठ पर टूट जाता है। पुस्तक जिल्द में बँधी बहुत अच्छी स्थिति में सुरक्षित है, पर लगता है कि इस स्थिति में आने से पूर्व ही उसके बीच के पन्ने खो गये हैं। इस रचना की खोज करने पर भी इस प्रबंध के लेखक को कोई अन्य पांडुलिपि नहीं मिल पायी। इस रचना की भाषा-शैली तथा भावपक्ष यथेष्ट सशक्त है और उसमे भी कवि की सूफ़ी विचारधारा का परिचय मिलता है।

इशरती की एक और रचना का उल्लेख डॉ० कुमारी विमल वाघ्रे ने अपने शोध-प्रबंध में 'नेह दर्पण' के नाम से किया है।[२०] हाशमी साहब ने दक्खिन मे उर्दू में 'नेह दर्पण' को इशरती के नाम पर ही दिखाया है।[२१] संभवतः डॉ० वाघ्रे ने उसी के आधार पर अपना निर्णय दे दिया है। 'नेह दर्पण' इशरती के सुपुत्र हुनर की रचना है जिसका उल्लेख कवि ने अपनी रचना मे अनेक स्थानों पर किया है[२२] —

'अदब की बाट है अब ऐ हुनर बस। कदम अपना पिछे रख ना अगे धस'॥

इसका रचनाकाल सन् ११४४ हि० (सन् १७३१ ई०) है। हुनर ने इस प्रेमगाथा की रचना इब्न-निशाती-कृत 'फूलबन' के टक्कर में की है।

इशरती की रचनाएँ सशक्त हैं और इन रचनाओं को इब्न-निशाती की सुप्रसिद्ध रचना 'फूलबन' की टक्कर में रखा जा सकता है। भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से ये रचनाएँ दक्खिनी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थाव रखती हैं। इशरती ने ग़ज़लें भी लिखीं जिनका संकलन इंडिया आफ़िस लण्डन के ग्रंथालय में मौजूद है।[२३]

४. अमीन—अमीन गुजराती का उल्लेख हम 'अमीन' बीजापुर के आदिलशाही काल के कवि के अंतर्गत कर आये हैं।[२४] मुगल-कालीन कवि 'अमीन' जिसकी प्रसिद्ध प्रेमगाथा 'यूसुफ़ ज़ुलैख़ा' हमारे सामने है, गुजरात का रहवासी था, किन्तु वह यथेष्ट समय के लिये औरंगाबाद में रहा, इसी से उसने दक्खिनी में अपनी रचना लिखी।[२५] अमीन धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। उसने क़ादिरी संप्रदाय में दीक्षा ली थी। उसने सन् ११०६ हि० (सन् १६६८ ई०) में अपनी प्रेमगाथा 'यूसुफ़-ज़ुलैख़ा की रचना की

गुजरात मे खूब मुहम्मद चिश्ती, जिनकी 'खूब तरंग' (रचनाकाल सन् १५७८ ई०) 'गुजरात मे हिन्दी' में अपना विशेष स्थान रखती है, के जीवन-काल (सन् १५३९ ई० से १६१४ ई०) के उपरान्त गुजरात में करीब एक शताब्दी तक कोई बड़ा कवि नही हुआ। इसके दो कारण हैं, एक तो बीजापुर और गोलकुण्डा का आकर्षण, जिसका मोह कविगण संवरण नही कर पा रहे थे, और दूसरा कारण यह भी है कि मालवा के घरेलू झगड़ों ने भी वातावरण का में तनाव निर्माण कर लिया था। अकबर बादशाह की फ़ौज ने सन् ९८० हि० (सन् १५७२ ई०) मे गुजरात पर विजय पा ली और गुजरात मुग़ल साम्राज्य का एक भाग बन गया। वहाँ के लोगों का भी स्वाभाविकत: फ़ारसी की ओर ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ जो राज्यभाषा के पद पर आसीन थी। संभवत: यह भी कारण रहा हो कि ऐसे वातावरण में कवियो ने अनुकूल वातावरण की इच्छा से गुजरात को छोडना आरम्भ कर दिया हो, जैसा अमीन गुजराती ने किया।

अमीन ने अपनी रचना में कई स्थानों पर अपनी भाषा को गूजरी के नाम से संबोधित किया है—

'सुनो मतलव अहे अब यू अमीन का। लिखी गुजरी मने यूसुफ़ जुलेखा ।।
हरेक जागे किस्सा है फ़ारसी में। अमीन उसको उतारे गूजरी में ।।
के बूजे हर कदाम इसकी हकीक़त। बड़ी है गूजरी जग बीच नैमत ।।'

कवि ने अपनी रचना का आरम्भ भी **गोधरा** में किया था जो गुजरात का ही एक भाग है—

'बेतां चालीस सौ पर चौदह और सौ। है लिखिया गोधरे के बीच सुन लो ।।'

'साक़ीनामे' से स्पष्ट होता है कि कवि ने 'यूसुफ़-ज़ुलैखा' बुढ़ापे में लिखी थी—

'पिला साक़ी शराब अरगवानी। अमीन कूं दे कि फिर पकड़े जवानी ।।
जईफ़ी जात की जावे सो सब टल। आवे हाथों पगों में फेर कर बल ।।
बदन सब हो गया है लाजोर दी। हुवा मुख जाफ़रां मानिंद ज़र्दी ।।'[२६]

अमीन ने किस फ़ारसी रचना को 'यूसुफ़-ज़ुलैखा' का आधार बनाया, कहते नहीं बनता। कवि ने इस दिशा मे कोई उल्लेख नही किया है। 'यूसुफ़-ज़ुलैखा' ईरान की अत्यन्त लोकप्रिय प्रेमगाथा है जिस पर अनेक कवियों और लेखको की फ़ारसी गद्य-पद्य मे रचनाएँ उपलब्ध हैं।[२७] रचना को अगर अनुवाद भी मान लिया जाये, तो भी रचना मे कही शिथिलता या अस्वाभाविकता दृष्टिगत नहीं होती। कवि का मूल स्वर तसव्वुफ ही है। इश्क हकीकी और अलौकिक सौन्दर्य के वर्णन मे कवि की विशेष रुचि का परिचय मिलता है। कवि की रचना में उपदेशात्मकता की झलक भी विद्यमान है—

'अरे बंदे हक़ीक़ी इश्क जानो। मजाज़ी इश्क कूं दिल पर न आनो ।।
मजाज़ी इश्क कूं जिन हावी किया है। दग़ा उन कूं सो शैतान ने दिया है ।।
हक़ीकी इश्क़ बीच जो कोई जज़्बा पैठे। होना वे तो ख़ासे ख़ुदा के होके बैठे ।।
दग़ा उन्हों दिया सैतान कू रे। रखा साबित उन्हों ईमान कूं रे ।।

—यूसुफ़-ज़ुलैखा।

५. क़ाज़ी महमूद बहरी—इनका अस्ल नाम क़ाज़ी महमूद और तख़ल्लुस 'बहरी' था। ये बीजापुर के गोगी नामक स्थान पर रहते थे वहीं के वे काज़ी थे। सन् १०९५ हि० (सन् १६८४ ई०) में बहरी' बीजापुर आये और दो वर्ष सिकन्दर आदिलशाह के दरबार में रहे। किन्तु सन्

१६८६ ई० मे बीजापुरी शासन समाप्त होते ही वे हैदराबाद चले गये। अंत तक वे वहीं अपने मुरशिद के आस्तान पर ही रहे।

बहरी ने बहुधा विविध शैलियों मे लिखा, और सफलतापूर्वक लिखा। बहरी ने मरसिये, गजलें, रुबाइयाँ, कसीदे आदि कुल मिलाकर पच्चास हजार शेर लिखे।[२८] बहरी की सुप्रसिद्ध सूफ़ी विचारधारा का परिचय कराने वाली रचना 'मनलगन' दक्खिनी साहित्य तथा सूफ़ी साहित्य में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मनलगन का रचनाकाल सन् ११११ हि० (सन् १७०० ई०) है।

मुहम्मद सखावत मिर्जा के अनुसार बहरी का जन्मकाल करीबन सन् १०४२ हि०[२९] एवं मृत्युकाल सन् ११३० हि०[३०] (सन् १६३२ ई० से १७१८ ई०) ठहरता है। बहरी के औरंगजेब आलमगीर से भेंट होने की बात भी की जाती है।[३१]

बहरी की आज उपलब्ध रचनाओं में दक्खिनी एवं फ़ारसी की कुछ छोटी-छोटी मसनवी रचनाएँ भी हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं के नाम हैं—'मसनवी मनलगन' (१८३० शेर); 'मसनवी बगाब नामा' (करीबन १४४ शेर); 'कुलियाते बहरी' (करीबन १००० शेर); और संक्षिप्त मसनवी 'अफ़साने इश्क खुद' (५९ शेर)। इस तरह बहरी के लगभग ३०३३ शेर सुरक्षित हैं।[३२]

बहरी की रचना में माधुर्य, सरसता, सरलता एवं भावों की सबलता एवं स्पष्टता के विशेष गुण पाये जाते है। बहरी की भाषा में हिन्दीपन स्पष्ट दृष्टिगत होता है और उनकी रचनाओं मे सूफी विचारधारा का प्राधान्य है। 'मनलगन' का आरम्भ ही कवि की भाषा-शैली एवं भावपक्ष का परिचायक है—

अहे रूप तेरा रती रती है। परबत परबत पती पती है॥
परबत मे अदिक न कम पती में। यकसा रहे रास होर रती में॥[३३]

क़ाजी महमूद बहरी के काव्य को मध्यकालीन किसी भी संत अथवा सूफ़ी कवि के टक्कर में रखा जा सकता है। उनकी रचना में जहाँ एक ओर भाव वैपुल्य है, वहाँ दूसरी ओर अनुभव की गहराई एवं हृदय की पुकार है जिससे उनकी रचना में प्रभावात्मकता का गुण आ गया है। मनलगन निस्संदेह कवि की अनूठी रचना है जो युग-युगों तक कवि के नाम को बनाये रखेगी। अपने में प्रियतम को खोजने की भावना वाली पंक्तियों के उदाहरण से हम इनकी चर्चा समाप्त करेंगे—

क्यों पा सके ऐ सुघड़ सुलछन। तुझ तान कूं ग्यान का गुनी जन॥
ग्वाल हमीं तूं ब्रह्म ग्यानी। सेवाल हमीं तू पाक पानी॥
गर दिल तुजे ढूंढने पर आगा। तो फेर फिर अपने घर आगा॥
याने न तेरा जहूर इस तौर। जो दिल अछे और दिलरुबा और॥
आगे पीछे ऊपर तले तूं। हर हर जानिब में झलझले तूं॥
घर बहार व घर भितर तिरा ताब। सब ताब तिरे सूं सब कू महताब॥[३४]

६. वजीहुद्दीन 'वजदी'—शेख वजीहुद्दीन 'वजदी' करनोल का रहने वाला था। वह सूफ़ी विचारधारा वाला कवि था। अत्तार की भाँति उसका पेशा भी हिकमत था। वजदी के जन्म एवं मृत्यु काल के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। कवि की तीन प्राप्य प्रेमगाथाओं से कवि का रचनाकाल अवश्य ही स्पष्ट है। उसके आधार पर कवि की आयु का अनुमान लगाया जा सकता है। कवि की पहली रचना 'मखजने इश्क' अथवा 'बागे जांफ़िज़ा' सन् १७३१-३२ ई० की रचना है। कवि की दूसरी रचना सुप्रसिद्ध सूफ़ी कवि फ़रीदुद्दीन अत्तार की सुप्रसिद्ध रचना 'मंतिकुत्तैर' का अनुवाद 'पंछी बाछा' है जिसका रचनाकाल सन् १७३३ ई० है।[३५]

कवि की तीसरी रचना भी अत्तार की रचना 'गुल व हुरमुज' का अनुवाद 'तुहफ़ै आशिकां' सन् १७३६-४० ई० की रचना है।

वजदी ने अपने सम्माननीय नवाब इस्माईलखान पानी के लिये 'गुलशने इश्क' की एक प्रति तैयार की थी जिसका लिपिकाल सन् ११३८ हि० (सन् १७२६ ई०) है। कवि की लिखावट बहुत ही सुन्दर थी। फिर भी अनुमान होता है कि यह काम उसे कवि के रूप में प्रसिद्ध होने से पूर्व करना पड़ा होगा। अतः हमारा विचार यही है कि 'पंछी बाछा' का रचनाकाल सन् १७३३ ई० ही होना उचित है।

वजदी की पहली रचना मखजने इश्क भी किसी फ़ारसी रचना का ही कथानक लेकर लिखी गयी है जिसका उल्लेख कवि ने भी किया है। कवि ने रचना के नाम और रचयिता के नाम विस्मृत हो जाने की बात लिखी है। अतः इस रचना में कवि का निजी रूप अत्तार की अनूदित रचनाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रहा है। आरम्भिक रचना होते हुए भी रचना भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से सुन्दर और सफल रचना है। कवि की तीनों रचनाएँ पर्याप्त बड़ी रचनाएँ हैं और एक से एक सुन्दर। कवि की रचनाओं मे सूफ़ी भावधारा की प्रधानता रही है। यह भी माना जा सकता है कि सुप्रसिद्ध सूफ़ी साधक अत्तार की रचनाएं होने के कारण उनमे सूफी विचारधारा का होना स्वाभाविक है, फिर भी कवि की रुचि का परिचय उन वर्णनों से मिल जाता है जिनमें उसने सूफ़ी विचारधारा को प्रस्तुत किया है।

कवि की तीनों रचनाओं में विषय-वर्णन की दृष्टि से उसकी रसिकता का भी परिचय मिलता है और साथ ही भावप्रधान वर्णनों से अनुवाद होते हुए भी रचनाओं की स्वाभाविकता का निर्वाह करने में कवि पूर्णतया सफल हुआ है। कवि ने उन कथानकों में अपने को पूर्णतः विलीन कर दिया है, वे उसके निजानुभूत से लगते हैं। तीनों रचनाएँ रूपकात्मक प्रेमगाथाएँ हैं। 'पन्छी बाछा' का रूप साधारण प्रेमाख्यानों से अलग अवश्य है, पर कवि को उसमें अपनी ओर से परिवर्तन करने का अधिकार भी तो नहीं था। उसमें पंछियों के अपने राजा-प्रियतम सीमुर्ग को पाने के लिये उत्कट प्रेम का एवं यात्रा का वर्णन है। यह यात्रा सूफ़ी साधना पद्धति की सात वादियों से गुजरने से ही समाप्त होती है।

वजदी की तीनो रचनाएँ किसी भी सूफ़ी संत साधक की रचना के समकक्ष रखी जा सकती हैं। कथा-संगठन तथा शिल्प की दृष्टि से रचनाएँ अपने युग की सशक्त-सफल रचनाएँ है।

७. सैयद अहमद 'हुनर'—आसफ़िया काल का दूसरा प्रधान कवि सैयद अहमद 'हुनर' अपने पिता सैयद मुहम्मद इशरती की भाँति एक सफल सूफ़ी विचारधारा वाला कवि था। इसकी रचना अपने काव्य-सौष्ठव के कारण, कई दिनों तक उसके पिता 'इशरती' के नाम पर चढी रही।[३६] 'नेह दर्पण' का रचनाकाल सन् ११४४ हि० (सन् १७३१ ई०) है। इस रचना की उपलब्ध पांडुलिपि का लेखन काल सन् ११८० हि० (सन् १७६७ ई०) है।[३७] रचनाकाल और रचना के लिपिकाल में मात्र ३६ वर्षो का अंतर है अतः रचना में कोई विशेष दोष भी नहीं आ पाया होगा। हुनर ने यह रचना इब्न निशाती के 'फूलबन' से प्रभावित होकर उसके टक्कर मे लिखी है—

'मुझे इब्न निशाती का सुखन खूब। लग्या दिल में बहुत महबूब व मगरूब ॥
किताब उसकी जो है नाम उसका फुलबन। नज़ाकत की है वह गुलशन का गुलशन ॥
मुझे जो धानुं उसका खूब आया। कलाम कू भी उसी गत पर नचाया ॥
वह गुलशन का रख्या नांव फुलबन। रख्या में नांव इसका नेह दर्पण ॥'

यह कथानक प्रसिद्ध लोककथा 'कामरूप और कलाकाम' से प्रभावित जान पड़ती है। कवि ने कथानक का आधार फ़ारसी गद्य रचना बताया है। हो सकता है कि कवि ने इसे अलिफ़लैला के कथानक से लिया हो—

अथा उस जमा में एक शख़्स नादिर। सुखन की रम्ज का था ख़ूब माहिर ॥
लेकर आया किताब यक अपने सात। सरासर उससे थी इश्क की बात ॥
इबारत नसर उसकी फ़ारसी थी। पिरत सुन्दर सदन की आरसी थी ॥
रख्या मजलिस के ल्याकर दरम्याने। कि ज्यूं लुभाने हर कोई आज़माने ॥
कहिया यू काम तुज वाजिब है करना। निशानी अपनी जगत् बीच रखना ॥

हुनर के मन में हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव की भावना नहीं थी। कवि इश्क के सामने इन भावनाओं को तुच्छ समझता है—

रखेंगे कोई मुज पर बोल रानी। कि है इस बीच हिन्दू की कहानी ॥
मुसलमान कूं कहना हिन्दू की कहानी। नहीं किस बात लगती है सुहानी ॥
जवाब इस बात का रखता हूँ मैं यू। जो कोई बदूलत ग्यानी हैं सो समझू ॥
मेरा मतलब है करना इश्क का याद। कुफ़्र होर दीन सू है इश्क आजाद ॥

इस प्रेमगाथा में राजा राजकुँवर और रानी कामलता देवी की प्रेम कहानी है। कवि ने अपनी प्रेमगाथा के खण्डों को शेरों में शीर्षक दिये हैं। कथानक बहुत ही विस्तृत है जिसमें अंतर्कथाएँ भी हैं, फिर भी कवि ने कथा-संगठन की कुशलता से कथा-प्रवाह में दोष आने नहीं दिया। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से 'नेह-दर्पण' एक सुन्दर सफल रूपकात्मक प्रेमगाथा है जिसमें कवि के सूफ़ी विचार यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं।

८. सिराज औरंगाबादी—सैयद सिराज औरंगाबादी, वली औरंगाबादी का समकालीन प्रसिद्ध कवि था। उसका जन्म सम्भवतः सन् ११२७ हि० (सन् १७१५ ई०) में हुआ और पच्चास वर्षों का जीवनकाल पाकर सन् ११७७ हि० (सन् १७६५ ई०) में उनका निधन हुआ।[३८] सिराज बहुत ही सिद्ध-हस्त एवं उच्च कोटि का कवि था जिसका एक दीवान प्रोफेसर अब्दुल क़ादिर सरवरी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है। वह बहुत ही बड़ा ग्रन्थ है जिसका निर्माण कवि ने ४ वर्षों में किया। कवि ने बहुधा सब प्रकार की कविता की। उसकी प्रेमगाथा 'बूसताने ख़याल' भी उसके दीवान में प्रकाशित हो चुकी है जिसका रचनाकाल सन् ११६० हि० (सन् १७४८ ई०) है—

जिबस्त इसमें है सैरे गुलशन मुदाम। रखा बूसताने ख़याल इसका नाम ॥
अदद जब कि इस नाम से आये हाथ। मुलाक़िक हुए सालो अव्यात साथ ॥
ये दो दिन की तसनीफ़ है हम्बे हाल। ज़बां पर निकल आया दिल का उबाल ॥[३९]

सिराज के दीवान का ऐतिहासिक नाम 'मुन्तख़ब दीवानहा' है जिसमें ५ हज़ार शेर हैं। इसी प्रकार ग़ज़लों के अतिरिक्त छोटी-छोटी मसनवियाँ, मुखम्मस, तरजीअबंद और रुबाइयाँ भी उसमें सम्मिलित हैं। हालांकि सिराज, [illegible] के बाद भी २०-२२ वर्ष जीवित रहा, पर अंतिम उम्र में फ़क़ीरी के नशे में शेरोशायरी छोड़ ही दी थी। उसकी भाषा-शैली की सुगमता और सुबोधता देखकर आज भी आश्चर्य होता है कि इतना पहले इतनी सुगठित भाषा किस तरह लिखी गयी है। सिराज की भाषा में फ़ारसीपन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। पूर्व-कालीन कवियों की तुलना में सिराज की भाषा उर्दू अधिक है, हिन्दी कम।

३

बूसताने खयाल' मे कवि के हृदय की मर्मवेदना की पुकार है जिसके कारण रचना में विरह-वेदना का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक जान पडता है—

ये दो दिन की तसनीफ़ है हस्बे हाल । जबां पर निकल आया दिल का उबाल ।।

कवि सिराज ने भी सादी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए अमर्द को अपनी रचना मे प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत किया है और स्वयं को आशिक के रूप में । कवि ने मसनवी की परम्परागत रीति का निर्वाह नही किया है । कवि ने कथा का आरम्भ अपनी मर्म-वेदना से आरम्भ किया है—

अरे हम नशीनो मेरा दुख सुनो । मेरे दिल के गुलशन की कलिया चुनो ।
मेरे पर अजब तरह के दर्द है । कि सब दर्द इस दर्द के गर्द हैं ।
फ़लक होय तो इस चोट ते जाये लोट । जिगर के जिगर के जिगर मे है चोट ।।

युग की विचारधारा के अनुसार ही इस प्रेमगाथा का रूपकात्मक पहलू पर्याप्त स्पष्ट है । भाषा में फ़ारसीपन होते हुए भी प्रवाह है और भावाभिव्यक्ति स्पष्ट एवं प्रभावशाली । हमारे प्रेम-गाथा-काव्य की अंतिम आलोच्य रचना किसी तरह कमजोर रचना नहीं, सबल सशक्त रचना है ।

गौण गाथाकार

१. मुकीमी—मिर्ज़ा मुहम्मद मुक़ीम सलमी 'मुक़ीमी' फारसी का बड़ा विद्वान् और फ़ारसी का अच्छा कवि था । फारसी के साथ ही कवि की दक्खिनी से भी रुचि थी और उसी रुचि का परिणाम उनकी प्रेमगाथा 'चन्द्रबदन व महियार' हमारे सामने है । इस रचना से यह स्पष्ट है कि कवि की मजहबी भावना बड़ी तीव्र थी और वह इस्लाम के सम्मुख अन्य धर्म को कोई मूल्य ही नही देता और अन्य धर्म को विशेषकर हिन्दूधर्म को अत्यन्त निम्न स्तर का साबित करने का प्रयत्न करता है ।

मुकीमी का सम्बन्ध बीजापुर की दरबार से जुडा हुआ था और वह मुहम्मद आदिलशाह (सन् १६२७ ई० से १६५७ ई०) के समय में दरबारी कवि था । बीजापुरी कवि अमीन ने अपनी रचना 'किस्से शाह बहराम व बानू हुस्न' आरम्भ करते समय मुक़ीमी का उल्लेख किया है—

यकायक मेरे दिल पर आया खयाल । किस्सा यह कहूँ मैं मुकीमी मिसाल ।। °

इस प्रेमगाथा को अमीन ने अधूरा छोड़ा था जिसे दौलत ने सन् १०५० हि० (सन् १६४० ई०) में पूरा किया था—

अमीन ने नाकस रखा था उसे । कि दौलत ने पूरा किया अब उसे ।।
सन् यक हज़ार और पंजाह में । जुमा रोज रबी माह में ।।[४१]

अतः प्रमाणित होता है कि मुकीमी की प्रतिष्ठा इस काल तक फैल चुकी थी जिससे प्रभावित होकर कवि अमीन ने अपनी प्रेमगाथा आरम्भ की । अतः 'चन्द्रबदन व महियार' का रचनाकाल सन् १०५० हि० से पूर्व ही पडता है । मुकीमी की रचना में ग़वासी का रचना 'सैफ़ुलमलूक बदीउल्जमाल' का उल्लेख है जिसका रचनाकाल सन् १०३५ हि० (सन् १६२६ ई०) है । अतः यह आसानी से कहा जा सकता है कि 'चन्द्रबदन व महियार' का रचनाकाल सन् १६२६ ई० से सन् १६४० ई० के बीच में ही रहा होगा । बल्कि हमारा तो ख्याल है कि इसकी रचना ग़वासी की रचना से कम से कम चार-पाँच साल बाद में हुई होगी कि कवि ने उसका उल्लेख किया है । उधर 'किस्से शाह बहराम व बानू हुस्न' का समाप्ति-काल सन् १०५० हि० है जिसे कवि अमीन ने न जाने किस कारण अधूरा छोड़ा था । पर निश्चित रूप से वह १०५० हि० से पूर्व ही आरम्भ हुआ होगा अत चन्द्रबदन व महियार' का रचनाकाल सन् १६३१ ई० से १६३५ ई० के बीच में रहना चाहिये

हाशमी साहब ने चन्द्रबदन व महियार का रचनाकाल सन् १०५० हि० दिया है,[४२] जो हमारे विचार से ठीक नहीं पडता कि दौलत ने ही अमीन की अधूरी रचना को सन् १०५० हि० में पूरा कर लिया था जिसे निश्चित ही अमीन ने कुछ समय पहले आरम्भ किया होगा। इतना ही नहीं, तब तक मुक़ीमी की ख्याति उस रचना के लिये हो चुकी थी जिसके लिये भी कुछ समय लगा ही होगा। मुक़ीमी की इस रचना का आधार इतिहास के साथ जोड़ा जाता है।[४३] किन्तु हमारे विचार से, इसके पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। यह कवि-कल्पित रचना है।

कवि की वर्णन-शैली प्रभावहीन है और अरुचिकर भी। व्यावहारिक जीवन की घटनाओं के अंकन मे कवि ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। कथानक मीर की मनसवी शोले इश्क़ से बहुत मिलता-जुलता है।

२. अमीन—बीजापुर एवं गोलकुण्डा के राज्यकाल में 'अमीन' तखल्लुस के कई कवि हो चुके हैं। एक अमीन गुजराती भी प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं और उनकी रचना 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' दक्खिनी की सुन्दर प्रेमगाथा है। ये अमीन हिजरी ग्याहरवीं शताब्दी के अंत और बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे। जिस अमीन का हम वर्णन कर रहे हैं, उसकी रचना 'क़िस्से शाह बहराम व बानू हुस्न' का रचनाकाल सन् १०५० हि० (सन् १६४० ई०) रहा है। अमीन ने यह रचना आरम्भ की थी, पर वह स्वय उसे पूरा नही कर पाया, इसे दूसरे कवि दौलत ने सन् १०५० हि० में पूरा किया—

अमीन ने नाक़स रखा था उसे। कि दौलत ने पूरा किया अब उसे।।
सन् एक हज़ार और पंजाह में। जुमा रोज़ रबी माह में।।[४४]

अतः निश्चित रूप से अमीन का निधन सन् १०५० हि० से पूर्व हो चुका था। रचना के आधे भाग में पंजाबीपन का पुट भी मिलता है जिससे लगता है कि दौलत पर पंजाबी भाषा का प्रभाव रहा होगा। रचनाकाल वाली पंक्ति में 'पंजाह' शब्द द्रष्टव्य है। ऐसे और भी कई प्रयोग मिलते हैं। वापस लौटने को पंजाबी में 'वले' कहते है, इसका भी इसी अर्थ में प्रयोग कवि ने किया है।

मंगनहार दरबार शह कूँ चले। बहुत दान ले अपने घर कूँ वले।।[४५]

हम अमीन के विषय में कहीं कोई जानकारी नहीं पा सके हैं। उसकी रचना में भी उसके जीवन पर कोई प्रकाश नहो पड़ता। इतना अवश्य विदित होता है कि उसका राजदरबार से कोई सम्बन्ध नहीं था। रचना फ़ारसी सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यान का अनुवाद है, यही कारण है कि दोनों कवियों की रचना में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। रचना में सूफ़ी विचारधारा का परिचय यत्र-तत्र विद्यमान है जिससे कई बार मन में यह भी संदेह निर्माण होता है कि संभव है कि कवि स्वयं सूफ़ी संत हो। किन्तु अनुवाद होने के कारण भी संभव है कि पूर्वरचना की विचारधारा के प्रभाव के कारण सूफ़ी विचारधारा की प्रधानता रचना में दिखाई देती हो, अन्यथा दो कवियों की रचना होने के कारण कुछ भावधारा में अन्तर की संभावना होती। रचना की भाषा-शैली एवं भाव स्पष्ट एवं प्रभावशाली हैं।

३. इब्राहीम 'सनती'—मुहम्मद आदिलशाह (सन् १६२७ ई० से १६५७ ई०) के दरबारी कवि का नाम 'इब्राहीम' था, किन्तु वह अपने तख़ल्लुस 'सनती' से ही प्रसिद्ध रहा है। इसकी दो रचनाएँ—'मसनवी गुलदस्ता सनती' और 'मसनवी बेनज़ीर' जिसका दूसरा नाम 'तमीम अन्सारी' है बतायी जाती है।[४६] दोनों का रचनाकाल सन् १०५५ हि० (सन् १६४५ ई०) है—

सुनो कान भर सन अवल हिजरती यू हद्या दिया दिल लिखत सनती [४७]

कथानक में कथोपकथन इतनी अधिक मात्रा में हैं कि कथा का प्रवाह टूट-सा गया है। एक बात अवश्य है कि इस प्रश्नोत्तर द्वारा कवि ने अपनी सूफ़ी विचारधारा को बड़ी कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया है और यह भी प्रमाणित किया है कि महबूब उसे ही मिल सकता है जो ज्ञानी है और उसे ज्ञान से भी वशीभूत कर सकता है। कथानक के स्रोत के विषय में कवि ने कहा है कि एक ग़रीब सिपाही था जो इल्म और फ़ैज में निपुण था और वह मखदूम हुसेनी का शिष्य था। उसने यह किस्सा मुझे लाकर दिया और इसे दक्खिनी करने के लिये कहा—

अथा अस्ल में यक सिपाही गरीब। सिपाहा के सब करद.मने था करीब ॥
कि ऊ पीर कामिल हक़ायक पनाह। मआरफ़ का जिसकूँ अछे दस्तगाह ॥
ऊ मखदूम हुसेनी का नामी खतक। करूँ जग मे शोहरत मेरा चो तरफ़ ॥
मेरे पास ल्या कर दई ऊ किताव। दक्खिनी करो नज़्म कर इस शिताब ॥[४८]

कवि को अपनी कवित्व शक्ति एवं विद्वता का भी बड़ा गर्व रहा है। वह उस सिपाही के माध्यम से अपनी प्रशंसा भी करता है—

नही शेर मे तुज सार कोई। तेरे सार ने जग में मुज यार कोई ॥
ऐसे ते मैं ल्याया हूँ तुज वास्ते। एता तु वचन कर आरास्ते ॥

कवि ने रचना के अंत में अपनी रचना की विशेषता देकर उसके माध्यम से दी हुई सीख को दुहराया भी है। इससे भी कवि को अपने ज्ञानाभिमान का परिचय मिलता है कि उसको दूसरों पर इतना भरोसा नही कि वे उसकी रचना का अर्थ समझ सकें। ज्ञान चर्चा में प्रेयसी को हराकर उसे पाने की भावना भारत के लिये अपरिचित नही है। कालिदास और विद्योत्तमा का प्रसंग इस दृष्टि से प्रसिद्ध है। रचना मे कवि का पंडिताऊपन, रचना के धारा-प्रवाह मे बाधक सिद्ध हुआ है।

४. मलिक खुशनूद—मलिक खुशनूद वास्तव में गोलकुण्डा के सुल्तानों का गुलाम था जो खदीजा सुल्तान शहरबानू के साथ बीजापुर आया जो मिर्ज़ा मुहम्मद अमीन कुतुबशाह की बेटी एवं मुहम्मद आदिलशाह की पत्नी थी। मलिक खुशनूद अपनी योग्यता के बल पर शीघ्र उन्नति कर बड़े पद तक पहुँचा और फिर शाही राजदूत के रूप मे सन् १०४५ हि० (सन् १६३५ ई०) मे गोलकुण्डा भी गया। यहाँ भी उसकी खूब इज्जत हुई और वह अपने काम मे सफलता पाकर वापस लौटा।

मलिक खुशनूद ने अमीर खुसरो की मसनवी "हश्त-बहिश्त" का दक्खिनी में उसी नाम से—'हश्त-बहिश्त' अनुवाद किया। ऐसे कई स्थल है जहाँ पर कवि ने रचना का शब्दशः अनुवाद भी किया है।-पूरी की पूरी पंक्तियाँ और वर्णन मात्र फ़ारसी की जगह दक्खिनी शब्दों में प्रस्तुत किये गये है-। कहीं-कहीं कवि ने अपने कवित्व का परिचय अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा भी दिया है। इस रचना की एक मात्र हस्तलिखित प्रति ब्रिटिश म्यूजियम लण्दन में है,[४९] जिसको देखने का अवसर इस प्रबंध के लेखक को नहीं मिल सका। हाशमी साहब ने इसका रचनाकाल सन् १०५६ हि० (सन् १६४६ ई०) बताया है—

मलिक खुशनूद मोती साफ़ रोल्या। अपस के नांव का तारीख़ बोल्या ॥[५०]

मलिक खुशनूद की दूसरी रचना 'यूसुफ़ जुलैखा' भी बतायी जाती है जो अभी अप्राप्य है। उसके कसीदे भी अप्राप्य है। मलिक खुशनूद को फ़ारसी का अच्छा ज्ञान था और उसने फ़ारसी में भी कसीदे लिखे है। मलिक खुशनूद की रचना 'हश्त-बहिश्त' में बहराम गोर के जीवन का वर्णन है। वर्णन कुछ जटिलता लिये हुए है

५. ज़ईफ़ी—ज़ईफ़ी का पूरा नाम शेख दाऊद था। वह एक विद्वान् सूफ़ी व्यक्ति था। कुतुबशाही राज्यकाल के अन्तिम दिनों में इनकी परवरिश हुई और कुतुबशाही काल की समाप्ति पर ही इनकी रचनाएँ हमारे सामने आयीं। इनकी सबसे बड़ी प्रसिद्ध एवं इनको प्रसिद्धि देने वाली रचना 'हिदायतनामा हिन्दी' है। हाशमी साहब के विचारानुसार 'हिदायतनामा हिन्दी' की अब कोई भी प्रति प्राप्य नही है और मात्र इसका उल्लेख भर मिलता है।[४१] डॉ० फ़ारूकी ने उनकी रचना 'हिदायतनामा हिन्दी' के विषय में परिचय प्रस्तुत किया है। उनके विचारानुसार—'हिदायतनामा हिन्दी' एक बहुत बड़ी रचना है जो ३६३८ शेरों में लिखी गयी है। इसका विषय खास मज़हबी है जिसमे दार्शनिक विचार हैं जो कवि की विद्वता के परिचायक हैं। मसनवी २५ भागों में विभाजित है और अन्तिम खण्ड में कवि ने शहंशाह औरंगजेब की प्रशंसा मे ये शेर लिखे है—

ये दौर जहांदार औरंगज़ेब। कि जिसते हुवा इस ज़माने कूं जेब॥
शहनशाह आदिल अहे दौर अमूद। कि बदअत ज़लालत हुवा जिसते दूर॥
दिया हक़ ताला ने यूं जिसको जस। जो दुश्मन हुवा उस अंगे ख्वार व खस॥
अहे उसमे भी वली के सिफ़ात। कि हो आये जो मू सू काढ़े सो बात॥
बड़ा दीन इस्लाम का कारसाज़। अलही तूं कर उम्र उसकी दराज॥[४२]

ज़ईफ़ी की दूसरी रचना है 'इश्क सादिक'। इसका रचना काल सन् ११०० हि० (सन् १६८८ ई०) के करीब है। इस रचना में कवि ने एक स्त्री के मुहम्मद आंहज़रत के प्रति प्रेमभाव के द्वारा पाठकों व हम-धार्मिक लोगों के मन में मुहम्मद रसूल के प्रति प्रेम-भाव जगाने का प्रयत्न किया है। इस रचना में कवि ने जीवन की सामान्य एवं साधारण छोटी-छोटी बातों को इस तरह भरा है कि वे मुहम्मद रसूल के जीवनकाल की-सी लगती है, किन्तु रचना पूर्णतया कवि-कल्पित है। इस रचना में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भाषा मे हिन्दी शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते है। संभवत: इसी से डॉ० ज़ोर[४३] तथा हाशमी साहब ने[४४] यह निर्णय लगाया हैं कि उस समय स्त्रियों की भाषा हिन्दी के अधिक निकट थी।

६. सैयद मुहम्मद 'आजिज़'—हम कुतुबशाही काल के 'आजिज़' का उल्लेख करते समय दक्खिनी के तीन कवियों जिनका तख़ल्लुस 'आजिज़' था, सैयद मुहम्मद 'आजिज़' पर विचार कर आये है।[४५] हमने इस बात का भी उल्लेख उक्त विवेचन के समय किया है कि सैयद मुहम्मद 'आजिज़' ने अपनी प्रेमगाथा 'किस्से मलिकै मिस्र अथवा किस्सै फ़ीरोज़ शाह' की रचना सन् ११०० हि० (सन् १६८८ ई०) में की।

कवि की रचना पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि कवि धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। उसका कुरान मे बड़ा विश्वास था। इस प्रेमगाथा का अधिक भाग मलिकै मिस्र तथा भारतीय विद्वान् 'अब्दुल अलीम' के प्रश्नोत्तर में घिरा हुआ है जिसमें एक जिज्ञासु एवं एक इस्लाम धर्म के ज्ञानी के संवादों की भावना स्पष्ट झलकती नज़र आती है। लगता है कि कवि ने इस प्रश्नोत्तर द्वारा साधक एवं मुरशिद के प्रश्नोत्तर का रूप प्रस्तुत करते हुए साधक के मन को दृढ़ करने का प्रयत्न किया है।

आजिज़ की इस रचना का आधार फ़ारसी रचना ही है जिसको पढ़कर कवि के मन में अनुवाद करने की भावना जग उठी। हाशमी साहब ने इस आजिज़ के नाम पर दो मसनवी रचनाओं का उल्लेख किया है—एक मसनवी किस्सै मलिकै मिस्र और दूसरी मसनवी किस्से फ़ीरोज़शाह।[४६] किन्तु वास्तव में यह एक ही रचना है जिसे दो लिपिकों ने अलग-अलग नामों से लिपिबद्ध किया है। दोनों पांडुलिपियों का मिलान करने से दोनों रचनाएँ शब्दशः एक ही रचना जान पड़ती हैं, दो नहीं।

७ आरिफ़ुद्दीन आजिज़—आरिफ़ुद्दीन 'आजिज़' के विषय में हम लैला मजनूं के रचयिता कुतुबशाही कालीन कवि आजिज़ का परिचय देते समय चर्चा कर आये हैं।[४७] आरिफ़ुद्दीन आजिज़ का बाप औरङ्गज़ेब के समय में तुर्क से भारत आया था। आरिफ़ुद्दीन आजिज़ का जन्म औरङ्गाबाद में हुआ था। आजिज को आसफ़िया दरबार में आश्रय मिला और मनसबदारी भी। ये फ़ौज के बख्शी बनाये गये थे।[४८]

फ़ारसी तथा उर्दू में आजिज़ ने शेर लिखे हैं। उनकी प्रेमगाथा 'लाल व गोहर' तथा एक दीवान भी मिले हैं। लाल व गोहर निस्संदेह अपने काल में प्रसिद्ध रचना थी कि उसके भारत मे तथा बाहर कई हस्तलिखित प्रतियों का पता लगा है। आजिज़ का निधन सन् ११७८ हि० (सन् १७६७ ई०) में हुआ। कवि ने अपनी रचना में कहीं भी लेखनकाल का कोई उल्लेख नहीं किया। शाहे वक्त की भी वंदना नहीं लिखी। अगर शाहे वक्त की वंदना होती तो भी उसका रचनाकाल आसानी से खोजा जा सकता। हाशमी साहब का विचार है कि उसने 'लाल व गोहर' सन् ११५० हि० (सन् १७३९ ई०) के बाद ही लिखी। अतः यह संभव है कि रचना ११५० हि० से ११७८ हि० (सन् १७३९ ई० से सन् १७६७ ई०) के बीच में ही लिखी गयी होगी।[४९] डॉ० गोपीचन्द नारंग ने इसका रचनाकाल सन् ११२९ हि० (सन् १७१८ ई०) के करीब दिया है।[५०] अगर इस काल को ठीक माना जाय तो कवि को मुग़लकालीन कवियों में ही सम्मिलित किया जायेगा। हमारा विचार है कि आसफ़िया सरकार का सेवक होते हुए भी जब कवि ने शाहे वक्त की प्रशंसा नहीं लिखी, तो निस्संदेह यह रचना, उसने उससे पूर्व लिखी होगी। अतः डॉ० नारंग के विचार को ठीक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

कवि ने रचना के आधार के विषय में भी कुछ नहीं लिखा। कवि पर मनहर मधुमालती की कथा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। कवि ने इस कथा को मित्र से सुनी हुई कहानी के आधार पर लिखा बताया है। यह भी संभव है कि उन दिनों लाल व गोहर की कथा भी लोक-प्रचलित कथा रही हो। छोटी-सी रचना होते हुए भी रचना सुन्दर तथा प्रभावशाली मानी जा सकती है। कवि की चमत्कारप्रियता का भी परिचय मिलता है। कवि की निजानुभूति एवं बिलखती आवाज़ उसमे मिलकर एक हो गयी है।

लाल व गोहर एक रूपात्मक प्रेमगाथा है जिसका रूपकात्मक पहलू भी खूब निखरा हुआ है। कवि का विचार है कि इश्क मजाज़ी, इश्क हकीकी तक पहुँचाने मे सहायक होता है—

कलामे इश्क है पुर शोर सब में। बयाने इश्क है पुर सोज़ सब में॥
खुदाई इश्क से है इश्कारा। दो आलम इश्क का है यक सारा॥
भली है सब तरह से इश्कबाज़ी। हकीकी कर दिखाता है मजाज़ी॥

भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से रचना मध्यम श्रेणी में रखी जा सकती है। चमत्कारों की बहुलता ने रचना के सौंदर्य में क्षति पहुँचायी है और कथा का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है।

संदर्भ-संकेत

१. गुलशने इश्क—भूमिका भाग, पृ० ३; तथा गुलशने इश्क, पृ० २८। २. वही, पृ० ३०। ३. वही, पृ० २८-३२। ४. वही, पृ० २२-२६। ५. वही, पृ० ८। ५-b. उर्दू शैपारे—डॉ० ज़ोर, पृ० ५७। ६. अलीनामा से—उर्दू शैपारे, पृ० ५७ पर से उद्धृत। ७. गुलशने-इश्क, पृ० ८-१०। ८. गुलशने इश्क, पृ० २१८। ९. उर्दू शैपारे, पृ० ६०। १०. दक्खिन में उर्दू—पृ० १७५ ११ नुसरती—डॉ०

मौलवी अब्दुल हक़, पृ० १६। १२. नवाए अदब—अप्रैल १६५४, पृ० ४८-५१ पर श्री नसीरुद्दीन हाशमी साहब का लेख। 'सालारजंग ग्रंथालय' में प्राप्य दो पांडुलिपियों में जिनमें से एक का लेखन काल ११८८ हि० है और दूसरी भी करीब उसके आसपास की है। उनके अंत में से दो अंश नुसरती के निधन के विषय में द्रष्टव्य हैं—

कर्द मजमन तारीख़ फ़ौतो नुसरती

ज़र्ब शमशेर सूं ये दुनिया छोड़, जाके जन्नत के घर में ख़ुश हो रहे।
साल तारीख़ आमलायक ते, यूं कहे नुसरती शहीद रहे ॥

'नुसरती शहीद रहे' से सन् १०८५ हि० निकलता है। हाशमी साहब का कथन है कि जिन पांडुलिपियों से ये पांडुलिपियाँ तैयार की गयी हैं, संभव है कि उनमें नुसरती की मृत्यु का उल्लेख रहा हो। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि नुसरती का निधन सन् १०८५ हि० मे हुआ। १३. 'मुरतब किया मैं ये किस्से को तो। हज़ार इक बरस पर थे नवद पर नौ ॥' १४. यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात—पृ० ३२०। १५. वही, पृ० ३२०। जवाहरे सुखन, पृ० ६४। दक्खिन में उर्दू, पृ० २८८। १६. उर्दू-ए-क़दीम, पृ० ८८। १७. यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात, पृ० ३७४। १८. दक्खिन में उर्दू, पृ० २८८। १६. सालारजंग ग्रंथालय, नं० ११२। २०. दक्खिनी के सूफ़ी लेखक—अप्रकाशित शोध-प्रबंध, पृ० १३४। २१. दक्खिन में उर्दू, पृ० २८८। डॉ० अब्दुलमजीद फ़ारूक़ी ने भी 'नेह दर्पण' को हुनर की नहीं, इशरती की रचना बताया है—नवा-ए-अदब-त्रैमासिक-जनवरी, १६५५, पृ० १४। २२. हस्तलिखित प्रति—सालारजंग ग्रंथालय—मनज़ूम अफ़साने, नं० १६१। २३. नं० ७१ ब्लूमहार्ट—यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात, पृ० ३७४। २४. दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य, अध्याय ३, पृ० १८८-१८६। २५. दक्खिन में उर्दू, पृ० २६०। २६. नवा ए अदब—त्रैमासिक-जनवरी १६५५—'अमीन गुजराती की यूसुफ़ ज़ुलैख़ा—डॉ० अब्दुलमजीद फ़ारूक़ी—पृ० १७ से उद्धृत। २७. वही, पृ० १७। २८. नवा-ए-अदब—त्रैमासिक-जनवरी, १६५५—डॉ० अब्दुलमजीद फ़ारूक़ी का लेख—पृ० १६। 'बहरी के उरूस उरफ़ों से ज़ाहिर होता है कि उसने मरसिये, ग़ज़ल, रुबाई और कसीदे वग़ैरा मिलाकर कुल ५० हज़ार शेर लिखे थे, लेकिन बीजापुर से हैदराबाद जाते वक्त चोरों ने सब लूटकर ग़ारत कर दिया। २६. मन लगन—सं० मुहम्मद सख़ावत मिर्ज़ा, पृ० १८। ३०. वही, पृ० २७। ३१. वही, पृ० २३-२४। ३२. वही, पृ० २६। ३३. मनलगन, पृ० १। ३४. वही, पृ० ३। ३५. 'पंछी बाछा' के रचनाकाल के विषय में अभी तक बड़े-बड़े विद्वान् भी एकमत नहीं हो पाये हैं। इसका कारण यह है कि कवि ने अपनी रचना के अंत में अब्जद के हिसाब से उसका रचनाकाल दिया है और लिपिकारों ने थोड़ा-सा शब्दों का हेर-फेर कर लिया है जिससे अलग-अलग पांडुलिपियों में शेर का रूप बदल जाने से रचनाकाल के बारे में भी संघर्ष खड़ा हो गया है। वह शेर इस प्रकार मिलता है—

(१) जब किया तारीख़ का दिल में हिसाब।
तब हुवा मीज़ान में किया ख़ासी किताब ॥ —इससे रचनाकाल सन् ११३१ हि० (सन् १७१६ ई०) निकलता है।

(२) जब किया तारीख़ का दिल मे हिसाब।
तब हुवा मीज़ान किया ख़ासा किताब ॥ —इससे रचनाकाल सन् ११४६ हि० (सन् १७३३ ई०) निकलता है।

(३) जब किया तारीख़ का दिल में हिसाब।
तब हुए मीज़ान में ख़ासे किताब ॥ —इससे रचनाकाल सन् ११२४ हि० (सन् १७१२ ई०) निकलता है।

काव्य-शैली की दृष्टि से दूसरा पद ही ठीक जान पड़ता है। इतना ही नहीं, रचना-कौशल की दृष्टि से भी यह कवि की आरम्भकालीन रचना जान नहीं पड़ती। 'पंछी बाच्छा' को अत्तार की मसनवी मतिकुवैर की ही भाँति ख्याति भी प्राप्त हुई है। अतः हमने इस रचना का रचनाकाल सन् ११४६ हि० (सन् १७३३ ई०) ही निश्चित किया है। ३६. दक्खिनी के सूफ़ी लेखक—अप्रकाशित शोध-प्रबंध—डॉ० कुमारी वाघ्रे—पृ० १३४-३५ तथा दक्खिन में उर्दू, पृ० २८८। और डॉ० फ़ारूकी—नवा-ए-अदब—त्रैमासिक-जनवरी १९५५, पृ० १४। ३७. सालारजंग ग्रंथालय की हस्तलिखित पांडुलिपि क्रमांक १६१ मनजूम अफ़साने। ३८. दक्खिन में उर्दू, पृ० ३१०। डॉ० हाफ़िज़ जलालुद्दीन जाफरी ने उनका निधन तारीख ४ शवाल दिन शुक्रवार सन् ११७७ हि० और मृत्यु-स्थान औरंगाबाद बताया है। उन्होंने प्रमाण में मीर गुलामअली आजाद के भतीजे और औलाद मुहम्मद खान बिलग्रामी की फ़ारसी काव्य-पंक्तियाँ उद्धृत की हैं--

चिराग़ दूदे आल अबा सिराजुद्दीन। कि बूद रोशन अज़ महफ़िल सुख़नदानी।
गूद चारम शवाल सुब्ह आवीना। ब शमा उम्र दामन अफ़शानी।
कुशीद शोले तारीख सरज तबअ ज़्का। सिराज बज्मे अरम रा नमूद नूरानी।

३९. उपर्युक्त पंक्तियों से जहाँ बूसताने खयाल का रचनाकाल सन् ११६० हि० निकलता है, वहाँ उसमें ११६० पदों का भी परिचय मिलता है। ४०. हस्तलिखित—ब्रिटिश म्यूज़ियम नं० PSI।६८८४ Add. २६५२८, पृ० ४। ४१. वही, पृ० ४८। ४२. दक्खिन में उर्दू—पृ० १५४। ४३. चन्द्रबदन व महियार—भूमिका, पृ० ३३-३४। ४४. ब्रिटिश म्यूजियम की पांडुलिपि, पृ० ४८। ४५. वही, पृ० ४४। ४६. दक्खिन में उर्दू, पृ० १६१। ४७. हस्तलिखित प्रति-नं० ५३८, मसनवियात स्टेट लाइब्रेरी, हैदराबाद तथा दक्खिनी काव्यधारा—महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन—पृ० २३०। ४८. वही। ४९. यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात, पृ० २२३-२३१। ५०. यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात, पृ० २२३-२२४। ५१. यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात, पृ० ३३३। ५२. नवाए अदब—त्रैमासिक-जनवरी १९५५—डॉ० फ़ारूकी, पृ० ८। ५३. उर्दू शैपारे, पृ० १३४। ५४. दक्खिन में उर्दू, पृ० २५७। ५५. दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य—अध्याय ६, पृ० १७५-१७७। ५६. सालारजंग ग्रन्थालय की हस्तलिखित पुस्तकों का बृहद् सूचीपत्र—हाशमी। ५७. दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य—अध्याय ३, पृ० १७५-१७७। ५८. दक्खिन में उर्दू, पृ० ३२३। ५९. यूरोप में दक्खिनी मख़तूतात, पृ० ५२६। ६०. उर्दू मसनवियां, पृ० ७६-७७। ६१. हस्तलिखित प्रति---स्टेट लाइब्रेरी, हैदराबाद—क्रमांक ६४६।

एस० एस० आर० जे० कॉलेज,
खम्माम (आन्ध्र प्रदेश)

कन्हावत : सूफ़ी कवि जायसी की रचना नहीं ?

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

'कन्हावत' अवधी का पहला प्रबंध-काव्य है जिसका विषय कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना है। प्रश्न है कि क्या इसके रचयिता वही जायसी हैं जिन्होंने 'पद्मावत' की रचना की, या कोई दूसरा कवि इस नाम का है। 'कन्हावत' का संपादन वैसे तीन पांडुलिपियों के आधार पर किया गया है, परन्तु मुख्य पांडुलिपि डॉ० स्प्रेंगर की प्रति है जिसका उल्लेख गार्सां द तासी के 'हिन्दी साहित्य' के इतिहास में 'घनावत' नाम से है। गार्सां द तासी का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है कि पहले कोई 'जायसीदास' हिंदू था, बाद में उसने मुसलमानी धर्म स्वीकार कर लिया। उसी ने 'कन्हावत' की रचना की। डॉ० स्प्रेंगर वाली प्रति का लेखन-काल (१६५५-५६ ई०) है। प्रतिलिपिकार ने इसे मलिक मुहम्मद जायसी कृत बताया है। मूल रचना में भी 'कवि मुहम्मद जायसी' का उल्लेख है। 'जायस नगर' के वर्णन मे कवि ने लिखा है कि बहुत कम लोग यह जानते हैं कि वह जायस में निवास करता है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'कन्हावत' और 'पद्मावत' का लेखक एक ही व्यक्ति है।

'कन्हावत' की रचना हिजरी संवत् ६४७ में पूरी हुई। संपादक डॉ० शिवसहाय पाठक का कहना है कि 'पद्मावत' का प्रारंभ हि० सं० ६२७ के बजाय ६४७ में हुआ। डॉ० वासुदेव अग्रवाल के ६२७ हि० सं० वाले मत का खंडन करते हुए उनका तर्क है कि सैंताइस की जगह सैंतालिस या सैंतालिस पाठ ही उपयुक्त है। इस प्रकार हि० सं० ६४७ में 'कन्हावत' समाप्त कर जायसी ने जिस समय 'पद्मावत' की रचना शुरू की, उस समय हुमायूँ की जगह शेरशाह दिल्ली के तख़्त पर बैठ चुका था। इस प्रकार दोनों रचनाएँ जायसी की हैं और इससे 'पद्मावत' की रचना का समय निर्धारित हो जाता है। 'पद्मावत' की रचना का प्रारंभ हि० सं० ६२७ में मानते हुए डॉ० वासुदेव शरण का तर्क है कि जहाँ तक 'पद्मावत' के 'शाहे-वक़्त' में शेरशाह के नाम के उल्लेख का सम्बन्ध है, 'शाहे-वक़्त' में बादशाहों के नाम बदलते रहे हैं। मेरे विचार में यह तर्क निराधार नहीं है। आजकल भी ऐसा होता है कि लेखक सत्ता-परिवर्तन के साथ अपनी रचनाओं का समर्पण बदल देते हैं। सैंताइस की जगह 'सत्ताइस' पाठ उपयुक्त है, उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं। 'पद्मावत' को प्रारंभ करने का समय हि० सं० ६४७ मान लेने पर भी, यह सिद्ध करना कठिन है कि 'कन्हावत' के लेखक भी वही हैं। दूसरे, उसमें शेरशाह की मृत्यु का उल्लेख नहीं है, जबकि २२ मई, १५४५ को वह दुनिया से विदा हो चुके थे। यह असंभव था कि जायसी इतनी बड़ी घटना का उल्लेख करने से चूक जाते। इसका एक ही कारण संभव है, और वह यह कि शेरशाह की मृत्यु के पूर्व ही 'पद्मावत' का पूरा हो जाना। बात इससे भी नहीं बनती क्योंकि इतना बड़ा काव्य 'तीन-साढ़े तीन साल में लिख डालना' संभव नहीं।

जहाँ तक दोनों रचनाओं के अन्त:साक्ष्यों का संबंध है, यह निर्विवाद है कि 'रत्नावत' न केवल 'पद्मावत' के बाद की रचना है, बल्कि वह 'पद्मावत' के अनुकरण पर लिखी गई। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि जायसी ने अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख नहीं किया कि वे इसके पहले किसी दूसरे काव्य की रचना कर चुके हैं। 'पद्मावत' और 'कन्हावत' दो भिन्न मानसिकता वाली रचनाएँ हैं। 'पद्मावत' की कथा प्रतीक और काल्पनिक कथा है, जबकि 'कन्हावत' की कथा श्रीकृष्ण की कथा है जो श्रीमद्भागवत पर आधारित है। 'पद्मावत' के सृजन का उद्देश्य लौकिक प्रेम (इश्क-मजीजी) को अलौकिक प्रेम (इश्क-हकीकी) में संक्रमित करना है। एक की कथा रक्त की लेई से जोड़ी गई है, दूसरे की कथा सपाट और वर्णनात्मक है। उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि निर्गुण-निराकार (खुदा) से अवतारी कृष्ण का 'दर्जा' छोटा है, उन्हें पैगम्बर के समकक्ष रखा जा सकता है। 'कन्हावत' में कृष्ण कहते हैं—"मैं अंतिम (श्रेष्ठ) देवता नहीं हूँ। जो इस दुनिया का सिरजनहार (खुदा) है, वह अवतार ग्रहण नहीं करता। वह राजाओं का राजा है। मैं उसी का एक अंग हूँ। 'कन्हावत' का कवि कहता है कि मैंने भागवतपुराण सुना है और पढ़ा है, और उसी से प्रेमपंथ का संधान पाया है। परन्तु श्रीकृष्ण राधा और चन्द्रा के त्रिकोणात्मक प्रेम का चित्रण मांसल और भोगपरक है, अत्यंत स्थूल और कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा हुआ। 'कन्हावत' के प्रकृति, नगर, राधा-चन्द्रा की सौतिया-डाह आदि के वर्णन पर 'पद्मावत' के वर्णन की स्पष्ट छाप है, कहीं-कहीं नकल है। 'पद्मावत' यदि कन्हावत के बाद की रचना होती, और दोनों एक ही कवि की रचनाएँ होतीं, तो जहाँ जायसी 'पद्मावत' में रत्नसेन के वियोग-वर्णन में, माधवानल-काम कंदला, दुष्यंत-शकुंतला और नल-दमयंती के पौराणिक प्रेम-मिथकों का उल्लेख करते हैं, वहाँ उनके द्वारा राधा-कृष्ण का उल्लेख नहीं किया जाना आश्चर्यजनक है।

यह कहना अप्रासंगिक है कि जायसी सच्चे पृथ्वीपुत्र या जनकवि थे, या संकट के समय वे हिंदुओं और मुसलमानों के सच्चे हमदर्द थे। वे वैसे थे या नहीं, परन्तु यह निश्चित है कि 'कन्हावत' और 'पद्मावत' के लेखक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, पद्मावतकार 'कन्हावत' का कवि नहीं है। 'कन्हावत' की व्युत्पत्ति है—कृष्णवार्ता>कन्हवत्त>कन्हावत। 'कन्हावत' 'पद्मावत' के अनुकरण पर लिखी गई है जिसका लेखक वह जायसी था जिसने बाद में हिन्दू धर्म से इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया था। नवधर्म के अतिरिक्त उत्साह में भागवत में वर्णित कृष्ण के पूर्व-परिचित इतिवृत्त को आधार बनाकर 'कन्हावत' की रचना उसने यह बताने के लिए की कि 'कृष्ण' से खुदा बड़ा है, जबकि भारत की पौराणिक धारणा उन्हें पूर्ण अवतार और परम ब्रह्म मानती है।

शांति निवास
११४, उषा नगर
इंदौर-४५२००६

'मिश्रबन्धु-विनोद' में उपलब्ध कृष्ण-काव्य-संबंधी सामग्री

कु० नेमम देवकी
(त्रिवेन्द्रम, केरल)

हिन्दी साहित्य के इतिहासों की परम्परा में 'मिश्रबन्धु-विनोद' का स्थान विषय-विस्तार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को लिखने की प्रेरणा मिश्रबन्धुओं को वि० सं० १६५८ में हुई। उन्होंने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' की भूमिका में लिखा है—'हिन्दी इतिहास ग्रन्थ बनाने का विचार हमने पहले-पहल दिसम्बर सं० १६५८ की सरस्वती पत्रिका में प्रकट किया।'[1] मिश्रबन्धु (गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र) द्वारा विरचित 'मिश्रबन्धु-विनोद' अथवा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन' के चार भाग हैं। इसका पहला संस्करण तीन भागों में सं० १६७० में प्रकाशित हुआ। दूसरा संस्करण चार भागों में सं० १६८६ में प्रकाशित हुआ।

लेखिका को 'मिश्रबन्धु-विनोद' के प्रथम भाग का पंचम संस्करण उपलब्ध हुआ जो गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ से सं० २०१३ वि० में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत शोध-लेख में हमने विवेचन-काल की समय-सीमा १६वीं विक्रमी सम्वत् तक रखा है। अस्तु हमारे विवेचन-काल के अन्तर्गत 'विनोद' के केवल इसी प्रथम भाग में उपलब्ध कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी सामग्री आती है।

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' के प्रणयन के लिए निम्नलिखित सामग्री को आधार रूप में ग्रहण किया है—

(१) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट। (२) शिवसिंह सरोज। (३) डॉ० ग्रियर्सन कृत—माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दोस्तान एवं लिग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया। (४) जोधपुर-निवासी मुन्शीदेवी प्रसाद के लेख। (५) अन्य ग्रन्थ। (६) अपनी जाँच एवं किवदंतियाँ। (७) सं० १७१८ का कविमाला-संग्रह। (८) सं० १७७६ के लगभग संगृहीत कालिदास-हजारा। (९) सं० १७९२ के दलपतिराय-वंशीधर कृत अलंकार रत्नाकार। (१०) सं० १८०० का प्रवीण कवि द्वारा संगृहीत सार-संग्रह। (११) सं० १८०३ का सत्कविगिरा विलास संग्रह। (१२) सं० १८७४ का विद्वन्मोदतरंगिणी संग्रह। (१३) सं० १९०० का रागसागरोद्भव संग्रह। (१४) सूर्यमल-कृत १८१७ वाला वंशभास्कर।

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' में कवियों का श्रेणी-विभाग उनके काव्य की प्रौढ़ता के आधार पर किया है। इससे पूर्वलिखित इतिहास-ग्रन्थों में श्रेणी-विभाजन का मापदण्ड यह नहीं रहा है। कवियों के पूर्वापर क्रम का निर्धारण मिश्रबन्धुओं ने जन्म संवत् का विचार न करके उनके काल के अनुसार किया है। मिश्रबन्धुओं के मतानुसार साहित्य-सेवा की दृष्टि से किसी

का जन्म उसी समय से माना जा सकता है जबसे वह रचना आरम्भ करे।"[२] उन्होंने ४६ पृष्ठों की भूमिका में काव्यशास्त्र के छन्द, रस, अलंकार आदि अंगों पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

'मिश्रबन्धु-विनोद' के अध्ययन से अनुमान होता है कि मिश्रबन्धुओं पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में विभिन्न कालो का नामकरण प्रसिद्ध साहित्यकारों के नाम से किया गया है। जैसे—'द विक्टोरियन इरा', 'द एलिजाबत्थन इरा', 'द शेक्सपीरियन इरा'। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं ने भी अपने इतिहास में हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के नाम से कालों का नामकरण किया है। यथा—'पूर्व माध्यमिक हिन्दी—विद्यापति', 'प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी—अष्टछाप', 'प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी—सौरकाल', 'प्रौढ माध्यमिक हिन्दी—पूर्व तुलसीकाल, माध्यमिक तुलसी-काल, अंतिम तुलसी काल।'

'मिश्रबन्धु-विनोद' में कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी सामग्री निम्नलिखित अध्यायों में उपलब्ध है। 'पूर्व प्रारम्भिक हिन्दी—चंद पूर्व' शीर्षक दूसरे अध्याय में द्वैताद्वैतवादी सम्प्रदाय के निम्बार्काचार्य का उल्लेख है। 'पूर्व माध्यमिक हिन्दी—विद्यापति ठाकुर' शीर्षक पंचम अध्याय के अन्तर्गत प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति, कृष्णभक्त मुसलमान कवि फ़रीद और शेख मुल्तान, अचिन्त्य भेदाभेदवादी सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु, शुद्धाद्वैतवादी सम्प्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य जी एवं सेन कवि का विवेचन किया गया है। 'प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी—अष्टछाप' शीर्षक षष्ठ अध्याय में अष्टछाप के कवियों, विशेषकर सूरदास का विस्तृत परिचय दिया गया है। 'प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी—सौर काल' शीर्षक सप्तम अध्याय मे राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश, लालचदास, प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवयित्री मीराँबाई, अष्टछाप के संस्थापक गो० विट्ठलनाथ, नरोत्तमदास, सखी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास, महाराजा पृथ्वीराज एवं निम्बार्क संप्रदाय के श्रीभट्ट की चर्चा की गयी है। 'प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी—पूर्व तुलसीकाल—अकबरशाह' शीर्षक नवम अध्याय में रसखान पर प्रकाश डाला गया है।

विनोदकार ने विद्यापति को शृङ्गार-प्रवण वैष्णव भक्तिकाव्य का अग्रदूत माना है। उनके मतानुसार विद्यापति में मध्व, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क सम्प्रदायों के विचार परिलक्षित होते हैं।

इस इतिहास में फरीद और शेख सुल्तान नामक दो अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जिनकी चर्चा अन्य प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थो में नही है। 'विनोद' में महाराष्ट्र प्रान्त-निवासी फरीद और शेख सुल्तान का स्थितिकाल सं० १४५० लिखा है और उनकी स्फुट रचनाएँ प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है। फरीद का परिचय इस इतिहास-ग्रन्थ में इस प्रकार दिया गया है : "यह महाशय शेख सुल्तान के साथी और सेन नाई के समकालीन थे। श्रीकृष्ण-भक्ति पर आपने अधिकांश रचनाएँ कीं।"[३] दूसरे कवि शेख सुल्तान के सम्बन्ध में इस इतिहास में निम्न-लिखित विवरण प्राप्त है—"यह सेन नाई के समकालीन कवि थे। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति पर भावपूर्ण रचनाएँ कीं।"[४]

'विनोद' का यह मत महत्त्वपूर्ण है कि 'महाप्रभु चैतन्य की भक्ति बंगाल के शाक्त सिद्धान्तों से प्रभावित थी और वाममार्ग की ओर उन्मुख हो गई थी।'[५]

मिश्रबन्धुओं ने वल्लभाचार्य के भागवतपुराण पर 'सुबोधिनी भाष्य', 'जैमिनीसूत्र भाष्य', 'अणुभाष्य', 'विष्णुपद' एवं हिन्दी में 'वनयात्रा' नामक पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है। 'सुबोधिनी और 'अणुभाष्य' तो प्रसिद्ध हैं, किन्तु अन्य ग्रन्थ हमारे दृष्टि-पथ में नहीं आए हैं

अष्टछाप के कवियों मे ही नहीं समस्त हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य में सूरदास का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। 'सूरसागर' उनकी प्रामाणिक रचना है। इस इतिहास-ग्रन्थ में उनकी नौ अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया गया है। वे हैं: 'सूरसारावली', 'साहित्यलहरी', 'सूरपचीसी', 'भागवत', 'पदसंग्रह', 'दशम स्कंध टीका', 'नागलीला', 'ब्याहलो' और 'नल-दमयन्ती'। इनमें से 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ या तो 'सूरसागर' के ही भाग हैं या अप्रामाणिक हैं।

इस ग्रन्थ में कृष्णदास-कृत 'जुगल मान चरित्र', 'प्रेमसत्वनिरूप', 'भक्तमाल पर टीका', 'भ्रमरगीत', 'वैष्णववंदन' एवं 'बानी' नामक छह ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने 'प्रेमतत्त्व-निरूपण' के स्थान पर 'प्रेमसत्वनिरूप' लिखा है जो नितान्त भ्रामक है।

कृष्णदास नाम के कई कवि थे। हमारे मतानुसार उपर्युक्त किसी भी ग्रन्थ के प्रणेता अष्टछापी कृष्णदास नहीं हैं। अष्टछाप कवि कृष्णदास का एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ गो० व्रजभूषण शर्मा द्वारा संपादित 'कृष्णदास पदसंग्रह' है जो अष्टछाप स्मारक समिति, कांकरौली से सं० २०१८ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें ११३० पद हैं।

परमानन्ददास के 'परमानन्द सागर', 'ध्रुवचरित', 'परमानन्ददास जी के पद' एवं 'दानलीला' नामक रचनाओं का उल्लेख इस इतिहास में प्राप्त है। इनमें से केवल 'परमानन्द सागर' प्रामाणिक रचना है और सब या तो 'परमानन्द सागर' के ही अंश हैं, अथवा परमानन्द नामधारी किसी अन्य कवि के।

मिश्रबन्धुओं ने कुम्भनदास के केवल ४० पद प्राप्त होने का उल्लेख किया है। किन्तु विद्या विभाग, कांकरौली की अष्टछाप स्मारक समिति से सं० २०१० में प्रकाशित 'कुम्भनदास पदसंग्रह' में ४०१ पद हैं।

चतुर्भुजदास के 'समैया के पद', 'मधु मालती की कथा', 'हितजू को मंगल', 'द्वादशयश', 'भक्ति प्रताप' एवं ४८ पदों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है। अष्टछाप के चतुर्भुजदास एक सगुण साकारोपासक भक्त थे। उनके नाम के साथ 'मधु मालती की कथा' जैसे सूफी प्रेमाख्यानक काव्य के कृतित्व का योग समीचीन नहीं लगता। वह उनकी भक्ति पद्धति का ग्रन्थ ही नहीं है।

मिश्रबन्धुओं ने भ्रमवश अष्टछाप के चतुर्भुजदास को राधावल्लभ सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास के साथ मिलाकर एक कर दिया है। उन्होंने राधावल्लभीय चतुर्भुजदास के 'भक्ति प्रताप', 'द्वादश यश' और 'हितजू को मंगल' जैसी विख्यात रचनाओ को अष्टछापी चतुर्भुजदास के नाम से अपने 'विनोद' में उल्लिखित किया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने सर्वप्रथम अपने शोध-प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' में सप्रमाण इस भ्रान्ति का निराकरण किया है। और यह भी ध्यातव्य है कि राधावल्लभीय चतुर्भुजदास के ग्रन्थों का संग्रह 'द्वादश यश' है। 'भक्तिप्रताप यश' एवं 'हितजू को मंगल' (मंगल सार यश) द्वादश यश के ही अन्तर्गत आते है। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। अष्टछाप के चतुर्भुजदास की प्रामाणिक रचना अष्टछाप स्मारक समिति, कांकरौली से प्रकाशित 'चतुर्भुजदास पदसंग्रह' है।

विनोदकार ने छीतस्वामी के ३४ स्फुट पद प्राप्त होने का उल्लेख किया है। किन्तु विद्या-विभाग, कांकरौली की अष्टछाप स्मारक समिति से वि० १९५५ ई० में प्रकाशित 'छीतस्वामी: जीवनी और पदसंग्रह' में उनके २०१ पदों का संग्रह है।

मिश्रबन्धुओ ने अष्टछाप के नन्ददास को रामभक्त प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास का भाई माना है। यह भी बहुत विवादास्पद विषय है। 'विनोद' में नन्ददास की १७ रचनाओं का उल्लेख है, यथा—अनेकार्थमाला, रासपंचाध्यायी रुक्मिणी मंगल हितोपदेश ——— भागवत, दानलीला

मानलीला, ज्ञानमंजरी, अनेकार्थमंजरी, रूपमंजरी, नाममंजरी, नामचिंतामणिमाला, रसमंजरी, विरहमंजरी, नाममाला, नासकेतुपुराणगद्य और श्याम सगाई। किन्तु हमारे मतानुसार ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित 'नंददास ग्रंथावली' ही प्रामाणिक रचना है जो काशी, नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई है।

'मिश्रबन्धु-विनोद' में अष्टछाप के गोविन्द स्वामी के स्फुट पद प्राप्त होने की बात कही गयी है, किन्तु उनकी कोई निश्चित संख्या का उल्लेख नहीं है। अष्टछाप स्मारक समिति कांकरोली से गोविन्द स्वामी का जो पदसंग्रह सं० २००८ वि० में प्रकाशित हुआ है, उसमें उनके ५७५ पद संगृहीत हैं।

हित हरिवंश के 'राधा सुधानिधि' शीर्षक एक संस्कृत रचना एवं 'प्रेमलता' नामक एक भाषाकाव्य का भी उल्लेख इस ग्रन्थ में है। किन्तु 'प्रेमलता' नामक रचना राधावल्लभ संप्रदाय के एक अन्य कवि ध्रुवदास की रचना है, यह कृति गो० हितहरिवंश की नहीं है।

मिश्रबन्धुओं ने लालचदास की 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा' एवं 'हरिचरित' शीर्षक दो रचनाओं का भी उल्लेख किया है। हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वस्तुतः 'भागवत भाषा' तथा 'हरिचरित' दोनों एक ही ग्रंथ के दो नाम हैं। मायाशंकर याज्ञिक के संग्रहालय में उपलब्ध इस ग्रन्थ की दोनों प्रतियों में 'भागवत भाषा' के साथ कई स्थानों पर अध्याय की समाप्ति में 'हरिचरित' शब्द भी लगा है।[१] नीचे उनकी एक चौपाई उद्धृत की है जिससे कवि के नाम, निवास-स्थान एवं ग्रंथ-रचना-काल का पता लगता है। यथा—

पंद्रह सौ सत्तासी जहियाँ, समै बिलंबित बरनौ तहियाँ।
मास असाढ़ कथा अनुसारी, हरिबासर रजनी उजियारी।
सकल संत कहँ नावइं माथा, बलि-बलि जइहौं जादवनाथा।
रायबरेली बरनि अवासा, लालच राम नाम के आसा।[२]

उक्त इतिहास-ग्रन्थ में मीराँबाई के लिखे 'नरसी जी का मायरा', 'गीतगोविंद की टीका', 'राग सोरठ के पद' और 'रागगोविंद' नामक चार ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने मीराँबाई के अन्य पदसंग्रह 'भजन मीराँबाई' की चर्चा की है जिसमें उन्होंने ३४ पद और ३१ पृष्ठ बताए हैं, यह संग्रह कहाँ है? प्रकाशित है या अप्रकाशित, इदमित्थं कुछ नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के सामने आलोचक प्रश्नचिह्न लगाते हैं। मीराबाई के सभी पदों का संग्रह 'मीराँबाई की पदावली' नाम से श्री परशुराम चतुर्वेदी ने संपादित किया है।

'विनोद' में गोस्वामी विट्ठलनाथ कृत 'शृङ्गार रस मंडन' नामक एक ब्रजभाषा गद्य ग्रन्थ का उल्लेख है जिसमें राधाकृष्ण के विहार का वर्णन है।

इस इतिहास में श्री नरोत्तमदास-कृत अत्यन्त लोकप्रिय खण्डकाव्य 'सुदामाचरित' के अतिरिक्त उनके 'ध्रुवचरित' नामक रचना का भी परिचय दिया गया है।

विनोदकार के अनुसार स्वामी हरिदास की 'बानी', 'साधारण सिद्धान्त', 'रस के पद', 'भरथरी वैराग्य', 'केलिमाल' एवं 'हरिदास जू को ग्रन्थ' नामक छह ग्रंथ उपलब्ध हैं। संभवतः हितहरिवंश के सम्प्रदाय के किसी भक्त ने उनके पदों या रचनाओं का संग्रह 'हरिदास जू को ग्रन्थ' नाम से किया होगा। इनमें से 'साधारण सिद्धान्त के पद' एवं 'केलिमाल' तो प्रसिद्ध हैं, किन्तु उक्त अन्य ग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ में नहीं आए हैं।

[१] उक्त अध्याय में महाराज पृथ्वीराज की तीन रचनाओं—(१) श्रीकृष्णदेव-रुक्मिणी-बेलि-... , (२) श्रीकृष्ण रुक्मिणी चरित्र और (३) ... [illegible]

[२] ... उल्लेख है

'मिश्रबन्धु-विनोद' में कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी जो सामग्री चर्चित हुई है, वह कृष्ण-काव्य-संबंधी तो है, किन्तु न तो उनके रचनाकारों की प्रामाणिकता की ओर उनका ध्यान गया है और न विभिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण ही हुआ है। अनेक ग्रन्थों के सम्बन्ध में भ्रामक सूचनाएँ हैं; जो ग्रंथ किसी अन्य कवि का है उसे किसी दूसरे ही कवि की रचना बताया गया है। इस प्रकार 'मिश्रबन्धु-विनोद' का महत्त्व हिन्दी साहित्य के इतिहासों की शृंखला में ऐतिहासिक ही है। न तो उसमें ऐतिहासिकता और तिथिक्रम की ही पूर्ण प्रामाणिकता है और न उसकी आलोचना-सरणि ही पूर्ण वैज्ञानिक है।

संदर्भ-संकेत

१. मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धु-विनोद की भूमिका, पृ० १०। २. वही, पृ० ११। ३. वही, पृ० १५०। ४. वही। ५. वही। ६. डॉ० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २१। ७. मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धु विनोद, पृ० २२४।

शोध-छात्रा, हिन्दी विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़

हिन्दी-निर्माता राजा लक्ष्मणसिंह और सन् सत्तावन का स्वाधीनता-संग्राम

●

डॉ० मंजु सक्सेना

भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-साहित्यकारों में राजा लक्ष्मणसिंह का नाम उल्लेखनीय है। लक्ष्मणसिंह जैसे महान् साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन-संबंधी बहुत कम सामग्री प्रकाश में आ पाई है। मैंने इस निबन्ध में राजा लक्ष्मणसिंह के वर्तमान वंशजों से प्राप्त अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री को प्रस्तुत किया है।

सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम (गदर) के समय हिन्दी-निर्माता राजा लक्ष्मणसिंह बाँदा जिले में उप-जिलाधीश थे। संग्राम प्रारम्भ होते ही अंग्रेज अधिकारी भारतीय सैनिकों से इतने भयभीत हो गये थे कि अपने स्त्री-बच्चों तक को उनके भाग्य-भरोसे छोड़कर भाग खड़े हुए और छिप गये। अंग्रेज अधिकारियों की कायरता और भीरुता की यह चरम सीमा थी। भारतीय वीरों और वीराङ्गनाओं की शौर्यपूर्ण गाथाओं की इन्हें जानकारी थी, किन्तु इसका इन कायरों पर कोई प्रभाव नहीं था। इटावा-क्षेत्र के ऐसे कायरतापूर्ण पलायनकर्ताओं में रेलवे अधिकारी पारकर, इटावा के संयुक्त मजिस्ट्रेट और डेनियल आदि मुख्य थे। स्वाधीनता-संग्राम में राजा लक्ष्मणसिंह के योगदान और इटावा-क्षेत्र की तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का नवीन प्रामाणिक विवरण मुझे राजा लक्ष्मणसिंह के वर्तमान वंशधर ठाकुर लाखनसिंह जी, आगरा के सौजन्य से प्राप्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है। इन अभिलेखों में मुख्य हैं—

(१) ए० ओ० ह्यूम, दण्डनायक एवं जिलाधीश, इटावा का ८ फरवरी, १८५८ ई० का पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्य सचिव को लिखित विस्तृत पत्र।

(२) ए० ओ० ह्यूम का दिनांक २२ फरवरी, १८५८ ई० का पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्य सचिव को लिखित विस्तृत पत्र, संख्या—२२।

(३) जी० एफ० एडमोन्स्टोन, भारत सरकार के सचिव, इलाहाबाद का दिनांक ३ मार्च, १८५८ का डब्लू० म्योर, पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्य सचिव को लिखित पत्र, संख्या—१८७।

(४) ए० ओ० ह्यूम जिलाधीश, इटावा का जनवरी, १८६१ में कमिश्नर आगरा को लिखित पत्र, संख्या—४।

(५) जी० कूपर, पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्य सचिव द्वारा डब्लू० एच० लो, सदरबोर्ड आफ रेवेन्यू, पश्चिमोत्तर प्रान्त के सचिव को दिनांक २७ फरवरी, १८६१ का लिखित पत्र, संख्या—२२१ ए/१८६१ आदि।

(लेखिका के निजी संग्रह में)

सन् १८५७ के संघर्ष के कुछ समय पूर्व राजा लक्ष्मणसिंह उप-जिलाधीश बनाकर बाँदा भेजे

गये थे। कुछ माह यहाँ कार्य करने के पश्चात् वे अपने सहोदर मोहनलालसिंह के विवाह में सम्मिलित होने के लिए अवकाश लेकर आगरा अपने घर आ रहे थे कि इसी बीच स्वाधीनता-संग्राम प्रारंभ हो गया। इटावा से सात-आठ मील की दूरी पर 'लखना' नामक गाँव में इन्हें पता चला कि इटावा में विद्रोह हो गया है। ऐसे भयंकर समय में घर न पहुँचने पर राजा साहब के घर वाले घबराए हुए थे। घबराहट में राजा साहब के मामा इन्हें लेने के लिये भेजे गये जिनसे इनकी भेंट 'लखना' में ही हुई। ऐसे संघर्षमय समय में राजा साहब जब इटावा पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि भयंकर लूटमार मची हुई है। ऐसे कठिन समय मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिष्ठापक इटावा के जिलाधीश ह्यूम साहब को राजा लक्ष्मणसिंह के सहयोग की आवश्यकता थी। राजा साहब ने अपनी छुट्टी समाप्त करा दी और ह्यूम साहब की सहायता के लिए तत्पर हो गये। जब राजा साहब ह्यूम साहब से जाकर मिले तो ह्यूम साहब ने कहा कि "लक्ष्मणसिंह! यह समय हम लोगों के लिए बड़ी आपदा का है। ऐसे अवसर पर आप घर जाना चाहते हैं या हमारी सहायता करना ?" राजा साहब ने कहा, "घर जाने का विचार मैंने विद्रोह का नाम सुनते ही छोड़ दिया। अब प्राण रहते जो कुछ मैं कर सकता हूँ, करने के लिए खड़ा हूँ, बताइए इस समय मैं क्या करूँ।" ह्यूम बोल, "आप किसी तरह से साहबों की बीबियों और बच्चों को आगरा के किले में पहुँचा सकते हैं?" राजा साहब ने कहा "जो आप १२ घण्टे की मुझे छुट्टी दें तो मैं इस काम को भली-भाँति कर सकूँगा।"

राजा साहब का इटावा के ठाकुरों पर बहुत प्रभाव था। उन्होंने लगभग दो-ढाई सौ आदमियों की रक्षा में अंग्रेज महिलाओं और बच्चों को सुरक्षित रूप से आगरा के किले मे पहुँचाया। आगरा से वे अभी वापिस भी नहीं आ पाये थे कि स्वाधीनता-संग्राम का दूसरा दौर शुरू हो गया। ह्यूम साहब राजा साहब के साथ ही आगरा चले गये थे और वहीं से अपने जिले की देखभाल करते रहे। कुँवर लक्ष्मणसिंह ह्यूम साहब के अनेकानेक आदेशों को स्वयं लिखते थे और ऐसे कठिन समय में, जब कोई कहीं जाने का साहस भी नहीं करता था, अपने प्राणों को हथेली पर रखकर वे आगरा से कानपुर स्वयं पत्र ले जाते थे और वहाँ से सूचना लाते थे।

जब राजा साहब इटावा में तहसीलदार थे तो इन्होंने पं० किशनलाल नामक एक व्यक्ति को ७० रुपया मासिक पर खजाने में नौकरी दिलायी थी। ऐसे अराजकता-काल में अंग्रेज अधिकारी तो शहर छोड़कर इधर-उधर छिप गये थे। पं० किशनलाल ने कोतवाली में अपना डेरा जमाया एवं शहर का समस्त प्रबन्ध चातुर्य से अपने हाथ में ले लिया। इधर राजा साहब ने आगरा आकर राजपूतों को एकत्रित करना प्रारंभ किया तथा ये इटावा पहुँचे ही थे कि ह्यूम भी अपने मित्रों के साथ सुरक्षा हेतु आगरा इनके घर पर आ पहुँचे। राजा साहब ने इन्हें अपने घर पर ही सुरक्षित रखा और ब्रिटिश सेना ने दिल्ली पर विजय प्राप्त की तो इन्होंने अपने दलबल सहित इटावा पर आक्रमण कर दिया। अनेक युद्ध हुए, किन्तु राजा साहब अपनी सेना के विश्वासी अधिकारी व संबंधियों के साथ सदैव उपस्थित थे। शाहजादा फिरोजशाह से भी यहीं पर इनकी लड़ाई हुई एवं उसी लड़ाई में लक्ष्मणसिंह को अपने प्यारे घोड़े से भी हाथ धोना पड़ा। अन्ततः कई महीने लड़ाई के पश्चात् विद्रोहियों को परास्त करने एवं इटावा में पुनः शांतिपूर्ण वातावरण स्थापित करने में वे सफल हुए। ऐसे कठिन समय में राजा साहब की सेवाओं से प्रभावित होकर अंग्रेजी सरकार ने राजा साहब को २००० रु० की खिलअत प्रदान की तथा प्रथम श्रेणी का 'डिप्टी कलक्टर' बनाया। आगरा में राजा साहब के गाँव थे। उनमें एक जमींदार की जमीन थी जिस पर 'कर' (टैक्स) नहीं लगता था। सरकार ने उसका इलाका छीनकर लक्ष्मणसिंह को दे दिया। उनकी सेवाओं से प्रसन्न

होकर मिस्टर ह्यूम साहब सरकार से उन्हें 'रुक्का' का इलाका माफी दिलाना चाहते थे, लेकिन राजा साहब ने स्वीकार नहीं किया।

सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में अधिकांश भारतीय राजाओं ने अपनी सेनाओं सहित संधियों के अनुसार ईस्ट-इण्डिया कम्पनी को सहयोग दिया था। अवश्य ही अनेक जागीरदार विद्रोहियों से मिल गये थे। वस्तुतः इन राजाओं ने अपनी संधियों के अनुकूल कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से ही अंग्रेज सरकार को यत्किंचित सहायता दी थी। राजा लक्ष्मणसिंह तो सरकारी सेवा में भी थे, अतएव इस समय इनका विशेष कर्त्तव्य था। संकटकाल मे स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करना, फिर चाहे ये शत्रुओं के ही क्यों न हों, प्रत्येक राजपूत अथवा धर्मपरायण व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने भी सन् अठारह सौ सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम में स्त्रियों और बच्चों की तथा अपने घर शरण में आये ए० ओ० ह्यूम आदि की सुरक्षा-व्यवस्था कर अपने विशेष कर्त्तव्य का वीरतापूर्वक पालन किया।

गायत्री सदन,
रातानाड़ा,
जोधपुर (राज०)

में प्रेम का स्वरूप

डॉ० मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

'अनामदास का पोथा अथ रैक्वाख्यान' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का चौथा उपन्यास है। प्रेम की विविध अनुभूतियों और नारीविज्ञान की तत्सम्बन्धी विभिन्न स्थितियों के चित्रण में आचार्य जी सिद्धहस्त हैं, यह बात उनके पिछले उपन्यासों से पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है। इस उपन्यास में द्विवेदी जी ने छान्दोग्य-उपनिषद् में प्राप्त रैक्व की कथा को अपनी प्रतिभा के आधार पर विकसित करके उसे एक ऐसी प्रेमकथा का रूप प्रदान किया है जिसमें भौतिक प्रेम को आध्यात्मिक सिद्धि तक ले जाने की साधना है। इस कथा का उद्देश्य शुद्ध आध्यात्मिक है और यह प्रेमकथा उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसे उपन्यास में पर्याप्त विस्तार दिया गया है। यद्यपि उपन्यास में रैक्व और जाबाला दोनों की ही प्रेमानुभूति का चित्रण है, परन्तु लेखक की दृष्टि मूल रूप में रैक्व पर केन्द्रित रही है। उपन्यास का नायक रैक्व है और उसी के आन्तरिक विकास की यह कथा है, अतः स्वाभाविक ही था कि रैक्व के वर्णन को विस्तार मिले।

छान्दोग्य उपनिषद् में राजा जानश्रुति और रैक्व की कथा एक छोटी-सी कथा है। राजा जानश्रुति को हंसों के वार्तालाप से यह सूचना मिलती है कि रैक्व ऋषि उनसे भी अधिक ज्ञानी और साधक हैं। वे अपने सारथि को रैक्व की खोज में भेजते हैं और वह यह पता लगाकर आता है कि रैक्व एक गाड़ी के नीचे बैठे दाद को खुजलाते रहते हैं। राजा जानश्रुति उनका उपदेश प्राप्त करने के लिए छह सौ गायें, एक रत्नमाला और खच्चरों का एक रथ लेकर उनके पास जाता है, परन्तु रैक्व सभी कुछ अस्वीकार कर देते हैं। राजा दूसरी बार एक सहस्त्र गायें, एक रत्नमाला, खच्चरों का रथ तथा अपनी पुत्री जाबाला को लेकर जाते हैं और रैक्व कन्या के मुख की लाज रखने के लिए राजा को उपदेश देते हैं। इस उपदेश के विषय में द्विवेदी जी का मत है कि यह उपदेश निश्चित ही राजकन्या को पुरस्कार रूप में प्राप्त करने योग्य नहीं है। जाबाला और रैक्व की कथा के इसी सूत्र को पकड़कर द्विवेदी जी ने अपनी कल्पना द्वारा कथा की कड़ियों को जोड़कर दोनों की सुन्दर प्रेमकथा की सृष्टि की है।

छान्दोग्य की कथा की कड़ियों को जोड़ने तथा वर्णनों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए लेखक ने कल्पना और मनोविज्ञान का प्रयोग किया है। गाड़ी के नीचे बैठकर पीठ खुजलाने के विषय में लेखक का कथन है—'हालाँकि ऋषियों के बीमार होने की खबर बहुत कम मिलती है, पर दाद जैसे रोग तो उन्हें कभी हो ही नहीं सकते। कहते हैं, दाद की बीमारी सभ्यता की देन है, रैक्व मुनि के दाद नहीं होगा। हो सकता है कि दाद खुजलाने की उनकी आदत हो।' इस प्रकार की आदतों का मूल फ्रायड के मनोविश्लेषणानुसार कहीं न कहीं किसी अभुक्त इच्छा में ढूंढ़ा जा सकता है। लेखक के जाबाला की ननिहाल-यात्रा मार्ग के तूफान गाड़ीवान की मृत्यु, [illegible]

तथा जाबाला और रैक्व के मिलन की कथा की कल्पना करके एक ओर तो गाड़ी के प्रति रैक्व के आकर्षण को स्वाभाविकता प्रदान की है और इस कथा के सभी सूत्रों को आगे कथा-विकास के लिए प्रयुक्त किया है। और दूसरी ओर रैक्व द्वारा जाबाला को पीठ पर बिठाकर पिता के यहाँ छोड़ आने के प्रस्ताव को जाबाला द्वारा अस्वीकृत कर देने पर जाबाला के स्पर्श का आकांक्षी पीठ का विशिष्ट अंग स्पर्शेच्छा के अभुक्त रह जाने के कारण एक कुण्ठा का रूप धारण करता हुआ पीठ की खुजली के रूप में दिखाकर खुजली के प्रसंग को सर्वथा मनोविश्लेषण-शास्त्र का आधार प्रदान कर दिया है।

वस्तुतः योगी रैक्व की अन्तर्चेतना में निरन्तर जाबाला का चिन्तन चलता रहता है, अव्यक्त धारा चलती रहती है। रैक्व को जाबाला का जो स्वप्न आता है, उसमें अभुक्त इच्छा और बाह्य शारीरिक स्थिति दोनों का समन्वय है—'उन्हें झपकी आ गई। थोड़ी देर में वे सो गये। स्वप्न में शुभा दिखाई पड़ी। चिन्ता-कातर मुख की शोभा कुछ और ही थी। उन्हें शुभा के अमृत-वचन सुनाई दिये : 'ऋषिकुमार तुम्हारी पीठ में बड़ी वेदना है। आओ, तुम्हारी पीठ सहला दूँ'।' और सचमुच ही शुभा ने उनकी पीठ पर हाथ फेर दिया। कितना शीतल स्पर्श था। सारी वेदना जाती रही। ऋषिकुमार को अपूर्व तृप्ति मिल रही थी। पर अचानक उनकी निद्रा भंग हुई। बैठे-बैठे जहाँ लेट गये थे, वहाँ एक सुन्दर-सी लता थी। उसी के पल्लव हवा के झोंके से उनकी पीठ पर झूम रहे थे।' (पृ० ४८) पीठ की इसी सनसनाहट का उपयोग लेखक ने रैक्व में एक पाप-भावना जाग्रत करने के लिये भी किया है। शुभा के प्रति उसके मन में बड़े ही आदर-भाव है। वह उसे देवी के रूप में मानता है, वह उसकी गुरु है। बात-बात में शुभा ही उसकी चेतना पर छायी रहती है। शुभा का जादू हर समय उसकी चेतना में बिजली की तरह झंकृत होता रहता है। वह एक प्रकार से उसकी प्रेरणा बन जाती है, उसका निजी सत्य बन जाती है। मन के स्तर पर जो कुछ फ्रायड के अनुसार होता है, उस सभी कुछ को लेखक ने स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि पूरे उपन्यास में रैक्व शुभा का स्मरण सात्त्विक भाव से ही करता है। वासना के स्तर में लेखक ने उसे अस्पर्शित रखा है। इसी मनोविज्ञान का प्रयोग लेखक ने जाबाल की अन्तश्चेतना का चित्रण करने में भी किया है। तेरहवें सर्ग में उसकी जिस मानसिक स्थिति का वर्णन किया गया है; वह फ्रायड के मनोविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र का सुन्दर समन्वय है। गन्धर्व-पूजा और कोहलीय नृत्य के वर्णन द्वारा लेखक ने प्राचीन भारतीय मनश्चिकित्सा की प्रणाली को तो प्रस्तुत किया ही है, भारत में रंगशाला के निर्माण, सूत्रधार के महत्त्व तथा नाटक में पूजा-भाव के प्राधान्य आदि के वर्णन के लिये गुंजायश निकाली ही है, साथ ही अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त का अनुसंधान भी किया है। उसने जिस विरेचन सिद्धान्त की स्थापना की, उसका व्यावहारिक स्वरूप भारत में क्या था, इसका दिग्दर्शन इस नृत्य-प्रसंग द्वारा किया गया है। लेखक के मतानुसार नाट्य द्वारा विरेचन का सिद्धान्त सत्य है, परन्तु थोड़े संशोधन के साथ। अरस्तू ने केवल करुणा और भय के भावों के उद्रेक की बात कही है, परन्तु यहाँ मूल भाव शृङ्गार का है। यद्यपि जाबाला को भी नृत्य के समय रोते हुए ही दिखाया और कहा जा सकता है कि यह रुदन करुणा भाव का ही उद्रेक है। परन्तु मूल रूप में यह नृत्य जाबाला के शृङ्गार भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील है। ऐसा नहीं है कि जाबाला अपने मनोभाव को ठीक-ठीक समझती नहीं है, वरन् समस्या यह है कि उसको वाणी के माध्यम से व्यक्त करके मनोभावों के निष्कासन के लिए अवसर नहीं मिलता और यही उसकी बीमारी का कारण भी है। और इस नृत्य द्वारा जाबाला के मनोभाव पूर्णतः जाग्रत होकर अरुन्धती के सामने व्यंग्य रूप में नहीं, अभिधा रूप में भी व्यक्त हो जाते हैं।

प्रेम के सन्दर्भ में मन के स्तर पर जो कुछ होता है, उसका काफी कुछ रूप इस उपन्यास में स्वीकार किया गया है, परन्तु उसका शारीरिक वासनात्मक रूप एकदम अनुपस्थित है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने फ्रायड को उसी सीमा तक स्वीकार किया है जहाँ तक मन के स्तर पर चलने वाला शुद्ध सात्त्विक मन्थन है। प्रेम को शरीर की ओर ले जाकर उसका पतन उन्हें अभीष्ट नहीं है। सारा उपन्यास प्रेम के इस स्वरूप और उसके विकास-क्रम को अंकित करता है। ऋतंभरा और औषस्तिपाद के वचन तो इस बात को स्थापित करते ही हैं। ऋतंभरा के अनुसार गुरु वह है जिसके सामने जाने पर व्यक्तित्व का सर्वोत्तम पक्ष उजागर हो, भीतर सोये देवत्व को जगा दे और रैक्व के लिए शुभा ऐसी ही गुरु है। औषस्तिपाद के अनुसार विवाह के माध्यम से ही पुरुष और स्त्री पूर्णता प्राप्त करते हैं, संसार के सबसे बड़े लक्ष्य प्रेम को प्राप्त करते हैं। वे प्रेम के विषय में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में रैक्व से कहते हैं—"मैं केवल एक बात तुमसे कह देना चाहता हूँ कि संसार में जहाँ कहीं प्रेम या लगाव का भाव दिखाई देता है, वह उपेक्षणीय नहीं है। यदि उसी को अन्त समझ लो तो यह बात रास्ते में बैठ जाने के समान होगी। वह परम प्रयाण के प्रेम का अंगुलि-निर्देश मात्र है। सारे सौन्दर्य, सारे लगाव उस परम प्रेमिक के प्रेम की ओर अंगुलि-निर्देश समझ कर सार्थक होते हैं। अंगुलि-निर्देश समझ रहे हो न बेटा।" (पृ० १५१) परन्तु प्रेम की जिस साधना को द्विवेदी जी स्थापित करना चाहते हैं, वह रैक्व के आश्वलायन तथा जटिल मुनि के साथ हुए वार्तालाप से विस्तार के साथ स्पष्ट होता है। आश्वलायन की स्थिति रैक्व के मित्र की है। प्रेम के क्षेत्र में खुलकर वार्तालाप करने के लिए एक मित्र की आवश्यकता होती ही है। आश्वलायन न केवल ऐसा मित्र ही है, वरन् रैक्व को सही मार्ग दिखाने वाला पथ-प्रदर्शक भी। जटिल मुनि की स्थिति एक मुनि की है और उनके कथन असंदिग्ध मार्ग-दर्शक के रूप में रैक्व के सामने आते हैं।

इस उपन्यास में रैक्व और आश्वलायन के दो वार्तालाप हैं—एक चौदहवें सर्ग में तथा दूसरा सत्रहवें अध्याय में। प्रथम वार्तालाप में वह रैक्व को प्रेम के उस स्वरूप की ओर ले जाने का प्रयास करता है जो समाधि में बाधक न होकर साधक बनता है। सामगान में प्रजापति ने इन्द्र को सामदव्य साम का जो रहस्य समझाया था, उसी को वह रैक्व को समझाता है—"कोई स्त्री यदि प्रेमपूर्वक निकट आती है, तो उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। विवाह-सूत्र में आबद्ध होकर पवित्र दाम्पत्य व्रत का निर्वाह करना चाहिये। यह मत भूलना कि यह व्रत है।" अतः वैदिक रीति से भी विवाह या स्त्री-सम्बन्ध चरम लक्ष्य का साधक है। परन्तु वह रैक्व को चरम लक्ष्य वैश्वानर की प्राप्ति के लिए अपने प्रिय के ध्यान से ही प्रारम्भ करने को कहता है। इस विषय में उसके निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण हैं—

'मतलब यह है कि तुम्हारे ध्यान में पहले कोई लक्ष्य नहीं था। ध्यान प्रिय वस्तु का किया जाता है। पहले तुम्हारे सामने कोई प्रिय नहीं था। अब तुम किसी को प्रिय समझ रहे हो। सारे चिन्तन मनन को, क्रिया-कर्म को एक ओर ठेलकर वही प्रिय रूप तुम्हारे सामने आ जाता है। यही बात है न मित्र।' (पृ० १३३)

'मैं यह सोच रहा था कि जब ब्रह्म का साक्षात्कार किसी रूप का आधार लिये बिना नहीं हो सकता, तो क्यों न उसी रूप को आधार बनाया जाय जो प्रिय हो।' (पृ० १३०)

'ब्रह्म-साक्षात्कार की पहली सीढ़ी प्रिय का ध्यान होना चाहिए। ठीक से समझ लो, पहली सीढ़ी है यह। यह लक्ष्य नहीं है। इसको आधार बनाकर परम वैश्वानर तक पहुँचना होगा। परम वैश्वानर समझ गये न। रूप—रूप में स्थापित एकमात्र सत्ता पृ० १३५

'हमारे मन में जो प्रेम अकस्मात् उदय हो जाता है और सारे जगत् को मधुमय बना देता है, वह उपेक्षणीय थोड़े ही है। तुम उसमें परमवैश्वानर का इंगित नहीं समझ पाते।' (पृ० १३५)

'इतना ही नहीं मित्र, यह जो मनुष्य-भाव है, प्रेम है, मैत्री है, चाह है, अभिलाषा है, तड़प है, व्याकुलता है—यह मनुष्य-भाव के सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय......तो मित्र जो मनुष्य-भाव सब प्राणियों में सबसे अधिक मधुर है, वहीं से शुरू करने में क्या कठिनाई है। शुभा भी तो परम वैश्वानर के ही तेजोमय, अमृतमय रूप का आश्रय है। निस्सन्देह वह तुम्हारा अपना नितान्त निजी सत्य है, परन्तु उसी रूप को पकड़कर उस परम वैश्वानर को पकड़ो जो सब का सत्य है, सत्य का सत्य है।' (पृ० १३६)

'तुम्हारा व्यक्तिगत प्रेम, परम वैश्वानर के प्रेम को पहली सीढ़ी है। न वह उपेक्षणीय है, न अलक्ष्य है। वह भगवान की भेजी हुई एक ज्योति-किरण है जिससे अनन्त सम्भावनाओं के द्वार तक मार्ग साफ़ दिखाई देता है।' (पृ० १३७)

आश्वलायन के उपर्युक्त वाक्य प्रेम के उस स्वरूप को स्पष्ट करते हैं जो हजारीप्रसाद द्विवेदी को अभीष्ट है। यों ऊपर से देखने पर यह बहुत कुछ सूफ़ी प्रेम का-सा एकान्तिक प्रेम दिखायी पड़ता है, परन्तु यह एकान्तिक नहीं है। इसमें लोक-जीवन और लोक-कल्याण का किसी प्रकार भी तिरस्कार नहीं है क्योंकि तपस्या का कोई भी रूप लोक-सेवा की उपेक्षा नहीं कर सकता। रैक्व-आश्वलायन के वार्तालाप के पूर्व लेखक ने एकदम स्पष्टतः औषस्तिपाद से कहलवाया है—"यह कभी मत भूलना कि ऐसा तप वास्तविक तप नहीं है जिसमें समस्त प्राणियों के दुख-सुख से अलग रहकर केवल अपने आपकी मुक्ति का ही सपना देखा जाता है। सारा चराचर जगत् उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है जिसका एक अन्त तुम्हारे अन्तरतम में प्रकाशित हो रहा है। सत्य से च्युत न होना, धर्म से च्युत न होना, निखिल चराचर रूप परम वैश्वानर को न भूलना।" (पृ० १३२) सत्रहवें सर्ग में आश्वलायन रैक्व को जटिल मुनि के पास ले जाता है जो वेद-विरुद्ध समझे जाते थे। औषस्तिपाद के आश्रम का कोई भी व्यक्ति उन्हें मान्यता नहीं देता था। उनका सभी परिहास करते थे। केवल महर्षि औषस्तिपाद ही उनकी बात समझ पाते थे। आश्वलायन की बात को जटिल मुनि द्वारा पुष्ट कराके लेखक ने उसको और अधिक प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया है और औषस्तिपाद के साथ उसका अविरोध दिखाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मानव-जीवन का प्रत्येक सत्य चिन्तन के उच्चतम स्तर पर समान रूप से स्वीकार है, चाहे उस पर वेदमार्ग से पहुँचा जाये या वेदेतर किसी अन्य मार्ग से। जटिल मुनि रैक्व के स्तर और मानसिक स्थिति को ठीक रूप में समझकर उसे पहले इस बात की ओर से आश्वस्त करता है कि क्योंकि वह माताजी के साथ एकरूप है, अतः उनके द्वारा परीक्षित सत्य मेरे द्वारा परीक्षित भी मानना चाहिए। इसके उपरान्त वह स्त्री-पुरुष के तीन प्रकार के सम्बन्ध रैक्व को बताता है—१. धर्म-विरुद्ध काम-सम्बन्ध, २. धर्मसंगत विवाह-संबंध, और ३. आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने वाला 'उद्वाह-सम्बन्ध। उद्वाह-सम्बन्ध के विषय में वह स्पष्ट करते हुए कहता है—'विवाह धर्म-सम्मत होता है और शास्त्र के नियमों के अनुसार मान्य भी। उद्वाह भी ऐसा ही होता है, [illegible] न्तु [illegible] द्वाह में पति पत्नी को तथा पत्नी पति को ऊपर की ओर वहन करती है, अर्थात् परस्पर [illegible] चेतना को परिष्कृत करती है।......मैं तुम्हें विवाह की सलाह तो नहीं दूँगा, उद्वा[illegible] श्य दूँगा। शास्त्रकारों ने विवाह के लिये पाणिग्रहण का विधान किया है, जबकि [illegible] ग्रहण नहीं उपोद्ग्रहण होता है उपोद्ग्रहण समझे। उपोद्ग्रहण पाणि का नहीं [illegible] सिर्फ मानसिक होता है पृ० १७४-१७५

रैक्व आराध्य का स्थानापन्न है। इस प्रेम-समाधि में प्रिय के भाव की तल्लीनता है, उससे उत्पन्न उल्लास की आर्द्रता है, परन्तु द्वैत भाव नष्ट नहीं हुआ है। द्वैत भाव का यह विनाश हमें मिलता है रैक्व की अन्तिम प्रेम-समाधि मे। प्रथम दो में भी उनकी तल्लीनता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, परन्तु द्वैतभाव कहीं न कहीं शेष है ही। तृतीय में शुभा और वैश्वानी एकरूप होकर एक-दूसरे का स्थान ग्रहण करते हैं और द्वैत समाप्त होता है। सोलहवें अनुच्छेद में रैक्व औषस्तिपाद द्वारा बताई गई अनन्त सम्भावनाओं का द्वार खोलने वाली प्रज्ञारूप शक्ति के रूप में शुभा को देखते और तल्लीन होते हैं—"रैक्व को आज सब स्पष्ट हो रहा है। कहीं कुछ दुविधा नहीं है। शुभा ही तो प्रज्ञारूप है। आज हृदय के सभी बन्द द्वार अनायास खुल गये है। अभी तक ये रुद्ध थे। आज मानो जो मिलना था, मिल गया। अब तक उनका मन उत्क्षिप्त था। आज समाधि सिद्ध होने जा रही है। महान् गुरु औषस्तिपाद के शब्द अमृत की धारा के समान सिर पर बरस रहे हैं—तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध होकर बैठे हैं, वे तुम्हारा ही मार्ग-दर्शन करेंगे। वही प्रज्ञारूप हैं। पुराण ऋषियों ने कहा है—'प्रज्ञान ब्रह्म।' हाय, यह देवता तो शुभा से भिन्न नहीं है। बहुत दिनों बाद रैक्व ने अपने चित्त में ऐसी स्थिरता का अनुभव किया था। आज वे अनुभव कर रहे हैं कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी आवरण हट रहे हैं। सब को अभिभूत करके एक अपूर्व तेज उनके अन्तर्तम को आलोकित कर रहा है। वे अनायास समाधि की अवस्था में पहुँच गये।" (पृ० १६३)

जटिल मुनि के उपदेश के बाद रैक्व शुभा के प्रति अपने अभिलाष-भाव को समझने का प्रयास करते हैं और इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि शुभा के प्रति उनका अभिलाष-भाव प्रेम ही है। वे औषस्तिपाद और जटिल मुनि के उपदेशों के विषय में सोचते हैं कि क्या दोनों में कोई विरोध है। शुभा के कारण एक ओर तो समाधि ही सिद्ध नहीं होती तथा शुभा कहती है कि पुनः ध्यान-समाधि की ओर लौट चलूं। और दूसरी ओर जटिल का कहना है कि शुभा का ही ध्यान करो। विचार करते-करते वे अपने आप में खो जाते हैं और शुभा की मानसी मूर्ति सामने आकर आज के उपदेशों की उपलब्धि को बहुमूल्य बताती है और वे सोचते-सोचते समाधिस्थ हो जाते हैं—"उन्होंने सुना था कि कभी-कभी महान् गुरु अंगुष्ठ मात्र से शिष्य के ललाट का स्पर्श करके सारे आवरणों और मलों को भस्म कर देते हैं। आज उनका ललाट किसी ने अंगुष्ठ से या अन्य किसी अंगुलि से नहीं छुआ। पर मल और आवरण नष्ट होते जान पड़ते हैं। सारे इन्द्रियार्थ तन्मात्र रूप में गलते जा रहे हैं। इन्द्रिय प्राणों में, प्राण मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि आत्मानन्द में अनायास प्रवेश करने को आकुल है। उन्हें आज पहली बार यह सत्य प्रत्यक्ष हुआ कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। उनका चैतन्य प्रसारित हो रहा है। यह जगत् के ऊपर प्राणलोक, उसके भी ऊपर मनोलोक, उसके भी ऊपर विज्ञानलोक और उसके भी ऊपर आनन्दलोक उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। जड़ आवरण क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होते जा रहे हैं। ऊपर आनन्दलोक केवल प्रकाशलोक है। दिन-रात रटायी जाने वाली ऋचाओं का अर्थ स्पष्ट होता जा रहा है जिनमें कहा गया है—"मुझे असत् से सत् को ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो। पढ़ा बहुत था, आज उसका अर्थ प्रत्यक्ष हो रहा है। रैक्व आनन्द से भीग रहे हैं।" (पृ० १७८) इस समाधि-अनुभव से रैक्व के समक्ष यह प्रश्न उठता है कि 'जटिल मुनि से जो कुछ सुना था, उससे उनमें आत्म-विश्वास अवश्य संचारित हुआ, परन्तु अभी जो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, वह महर्षि औषस्तिपाद का उपदेश। समझ नहीं पा रहे हैं कि कुंजी कहाँ और कैसे खुली है। शुभा को देखकर जो उपदेश लुप्त हो रहे थे, जटिल मुनि से मिलने के बाद में ही प्रत्यक्ष हो रहे हैं। क्या कारण हो सकता है" (पृ० १७८)

द्विवेदीजी ने उपन्यास में कहीं भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर ध्वनित रूप से इस उपन्यास में ही निहित है। वस्तुतः औषस्तिपाद और जटिल मुनि भारत की अध्यात्म-साधना की दो विचारधाराओं के प्रतीक हैं। प्रथम वैदिक, ब्रह्मवादी या अद्वैतवादी है, जबकि जटिल भारतीय साधना के वामपंथ का प्रतिनिधित्व करते हैं। द्विवेदी जी जो कुछ कहना चाहते हैं, वह यह है कि ज्ञान और साधना का चरम लक्ष्य तो वही है जो वैदिक ऋषियों ने प्रस्तुत किया है, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिये एकमात्र वैदिक साधना का ही मार्ग नहीं है। यह निवृत्तिमार्गी धारा प्रेम और नारी से सर्वथा विमुख एक ऐसी ज्ञान-साधना या आनन्द-साधना है जिसमें निर्विकल्पक रूप से एकतानता अनिवार्य है। परन्तु वाममार्ग व्यक्ति की चित्तवृत्तियों का अध्ययन कर उसी में से साधना का मार्ग खोजता है। यही कारण है कि रैक्व का साधन तो शुभा बन गई है और साध्य है औषस्ति द्वारा एक-दूसरे की स्वीकृति, जो साधना के उच्चतम क्षेत्र में इस प्रकार के समन्वय के औचित्य को सिद्ध करती है और इसी समन्वय-साधना का पूरा प्रयास है यह उपन्यास। द्विवेदी जी की यह स्थापना कोई नयी नहीं है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वाममार्ग की इस विशेषता को वे पहले भी स्थापित कर चुके हैं।

प्रिय के माध्यम से परमवैश्वानर रूप की साधना की अन्तिम परिणति है रैक्व की तीसरी प्रेमसाधना, जिसका वर्णन उन्नीसवें अनुच्छेद में है। इस समाधि के पूर्व रैक्व ने जनसेवा द्वारा वैश्वानर के व्यक्त ब्रह्म रूप का अनुभव किया है। उसके उपरान्त ही उनकी समाधि में वैश्वानर-रूप शुभा के साथ एकरूप होकर व्यक्त होता है—"रैक्व ने दृढ़ता के साथ अपने आप पर नियंत्रण रखने का प्रयत्न किया। वे परमवैश्वानर-रूप का ध्यान रखने लगे। परमवैश्वानर जो विश्व-रूप है, जो रूपे-रूपे प्रतिरूप बभूतव। रूप मात्र उन्हीं का रूप है। रूप में सर्वश्रेष्ठ रूप है शुभा का। शुभा ही वैश्वानर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। माताजी ने कहा था, "बेटा, मनुष्य की शक्ति कहीं कितनी है। वह दो ही खेल खेलता है—प्रिय को देवता बना लेता है या फिर देवता को प्रिय बना लेता है।" ये ही खेल चल रहे हैं रैक्व के मनोमन्दिर में। एक बार शुभा परमवैश्वानर बन रही हैं, दूसरे क्षण में परमवैश्वानर शुभा बन रहे हैं। इस खेल का अन्त नहीं है। रात भर उनके मन में यही खेल बारी-बारी से खेला जाने लगा। शुभा अर्थात् परमवैश्वानर—परमवैश्वानर अर्थात् शुभा। अल्प भूमा बन रहा है—भूमा अल्प बन रहा है। यह विचित्र समाधि थी। यही संकोच और प्रसारण की लीला है, यही प्राण और आमान का द्वन्द्व है, यही केन्द्रापमा और केन्द्रानुमा शक्ति का द्वन्द्व है।" (पृ० १८२) और इसी समाधि के उपरान्त रैक्व और जबाला के उद्वाह के उपरान्त उपन्यास समाप्त हो जाता है। यही इस उपन्यास में अंकित प्रेम का अन्तिम लक्ष्य है जिसमें शैवाद्वैत, योग और भौतिकवादी दर्शन मिलकर एकाकार हो गए है।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय,
झालावाड़ (राजस्थान)

'परशुराम की प्रतीक्षा' : आहत कवि की हुंकार



डॉ० अशोक त्रिपाठी

'दिनकर' को सर्वमान्य रूप से ओज और पौरुष के कवि के रूप में मान्यता तो मिली है; लेकिन उनके ओज और हुंकार के स्वर के अन्दर जो विधायिनी गहन पीड़ा है, उसकी ओर लोगों की दृष्टि नहीं जाती है। उनकी दृष्टि बार-बार उनके हुंकार और ललकार से टकरा कर प्रत्यावर्तित हो जाती है और उसे भेदकर उसके अन्दर छिपी हुई पीड़ा का साक्षात्कार करने से वंचित रह जाती है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' ओज और पौरुष के महाकवि श्री रामधारी सिंह दिनकर की ३२ पृष्ठों की एक ऐसी ही लम्बी युद्ध-कविता है। इसका रचना-काल ७ जनवरी, १९६३ अर्थात् भारत-चीन-युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद का है। इस कविता में दिनकरजी ने पौराणिक ऋषि-पुरुष त्रेतायुगीन परशुराम को तत्कालीन युग-पुरुष के रूप में कल्पना की है। परशुराम तत्कालीन वर्जनाओं-विसंगतियों और कुरूप समस्याओं के कुहासे को नष्ट कर प्रकाश की स्वच्छ, सुनहली किरण विस्तीर्ण करने वाले तथा भारत के सोये हुए पौरुष को जगाने वाले महापुरुष के रूप में कल्पित है।

परशुराम प्रतीक हैं एक ऐसी शक्ति-पुंज के, जिनके अन्दर कवि ने उस समूची संभावना का संपूर्ण रूप से साक्षात्कार किया है जिसके आधार पर भारत-भूमि पर सुख-शान्ति और शक्ति की स्थापना हो सकती है, ताकि हमारे ऊपर आक्रमण करने की हिम्मत किसी भी बाहरी शक्ति को न पड़ सके। यह प्रतीक आततायियों का भक्षक और दीन-दुखियों का रक्षक है। यह गुणों का आदर करने वाला है, जाति या गोत्र का नहीं। यह धर्म-निरपेक्ष और समाजवादी-साम्यवादी समाज की संरचना करने वाला सर्जक है। यह एक ओर पोषणकर्त्ता है, दूसरी ओर संहारकर्त्ता है। यह शुभ का पोषण और अशुभ का विनाश करता है। त्याग और विराग की चेतना तो उसकी धमनियों मे प्रवाहित है। वह राजशक्ति का लोलुप नहीं है। राजशक्ति उसके लिए साध्य नहीं, साधन है—'सर्वजन-हिताय' और 'सर्वजन-सुखाय' का। धर्म की स्थापना उसके जीवन का लक्ष्य है, धन कमाना नहीं। वह सर्वदा, सजग, जागृत और चिन्तनशील रहने वाला है, सोने वाला नहीं। वह 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' का मूर्त स्वरूप है। वह पाप-विनाशक, नपुंसक धर्म का ध्वंसक, कायरों को कभी क्षमा न करने वाला, जन-जन के अन्दर व्याप्त भय और आशंका के अंधकार को दूर कर अभय प्रदान करने वाला है। वह केवल सद्पथ का उपदेश देकर अपने कर्त्तव्य की इति समझने वाला नहीं, वरन् लक्ष्य तक, जन-जन के साथ संघर्ष करता हुआ, पहुँचाने वाला है। वह विज्ञान और धर्म को समन्वित करने वाला है, शान्ति का प्रहरी है। परशुराम की यह कल्पना जो कवि ने प्रस्तुत की है, वह किसी दैवी अवतार की कल्पना नहीं है। इस कल्पित

पौराणिक पुरुष के उपर्युक्त समस्त गुणो को वह इस धरती के पुत्रों के अन्दर ही विकसित होता हुआ देखना चाहता है। कोई बाह्य शक्ति हमारा उद्धार नहीं कर सकती। हमको अपने अन्दर ही इन सद्गुणों का विकास करना होगा। परशुराम सामान्य जनशक्ति के ही प्रतीक हैं, और कुछ नही। वह स्वयं कहता है कि —

यह और नहीं कोई, केवल हम-तुम हैं। (परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १)

यही पर एक सवाल आता है कि यदि परशुराम और कोई नही, 'केवल हम-तुम हैं' तो कवि को पौराणिक प्रतीक-पुरुष परशुराम की शरण क्यों लेनी पडी ? क्या उसके सामने 'हम-तुम' में से कोई ऐसा युगीन पुरुष नहीं था या कोई अन्य स्थूल या सूक्ष्म प्रतीक उसके सामने ऐसा नहीं था जिसके माध्यम से वह अपने अनुभव-जगत् की सम्पूर्ण संवेदना को शब्द-रूप दे सकता। दिनकर ही क्यों, जब कोई भी रचनाकार, किसी वैदिक, पौराणिक या ऐतिहासिक प्रतीकों का दामन पकडता है, तो उसके सामने क्या मजबूरी होती है ?

दरअसल जब कोई भी रचनाकार या कलाकार अपने संवेदन-जगत् को सही, सटीक और प्रभावशाली रूप से, अभिव्यक्ति प्रदान करने में, अपने आस पास के वातावरण में प्राप्त उपकरणों को अक्षम पाता है, तब वह वेदों, पुराणों या इतिहासों के गर्त मे छिपे हुए उन जगमगाते नक्षत्रो या नक्षत्र-लोकों की तलाश करना शुरू करता है जहाँ उसकी आकांक्षाएँ पूरी-की-पूरी फिट बैठती है और जो उसके समूचे अभिव्यक्तिशील अनुभव-जगत् की संवेदना को अपने में समेटने का सामर्थ्य रखते हैं और जिनके माध्यम से रचनाकार का संवेदन-संसार अभिव्यक्त होकर प्राणवान् और अर्थवान् हो सकने की संपूर्ण संभावना रखता है। ठीक यही बात दिनकर के द्वारा गृहीत प्रतीक 'परशुराम' के संदर्भ में भी सटीक है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' युद्ध-संकट की संवेदनात्मक प्रस्तुति है। भारत-चीन-युद्ध के प्रसंग मे चीन द्वारा भारत के पौरुष का जो मान-मर्दन हुआ, जो जन-विनाश हुआ, उससे कवि का दर्प आहत हो उठा और उसी आहत दर्प की एक विवेकशील रचनात्मक कृति 'परशुराम की प्रतीक्षा' है। कवि हार के सम्पूर्ण कारणों की खोज-बीन करता है और इस पर चिन्तन करता है कि भारत की कैसी संरचना की जाय कि भविष्य मे पुनः हार का यह लज्जाजनक इतिहास दुहराया न जाय ? उनके इसी चिन्तन का परिणाम परशुराम का वह स्वरूप है जो पूर्वविवेचित है।

दिनकर को सर्वमान्य रूप से ओज और पौरुष के कवि के रूप में मान्यता मिली है। लेकिन इसके साथ ही उनके ओज और हुंकार के स्वर के अन्दर जो गहन विधायिनी पीड़ा है, उसकी ओर लोगो की दृष्टि नहीं जाती है। उनकी दृष्टि बार-बार उनके हुँकार और ललकार से टकराकर प्रत्यावर्तित हो जाती है और उसे भेद कर, पीड़ा का साक्षात्कार करने से वंचित रह जाती है।

दिनकर वस्तुतः पीड़ा या वेदना के कवि है। दिनकर 'पीर' के कवि हैं, लेकिन उस तरह की 'पीर' के नहीं, जिस तरह जायसी या मीराँ की 'पीर' है। दिनकर की 'पीर' जन-जन की सामान्य 'पीर' है, जन-सामान्य की वेदना है। उनका कवि, इसी पीड़ा को आत्मसात् करके, अनवरत संघर्ष करती, दुःख और पीड़ा को भोगती हुई जनशक्ति के पीड़कों को, कभी धिक्कारता है, कभी ललकारता है, कभी 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' की धमकी देता है, कभी जन-चेतना की अमोघ शक्ति का जयनाद करता है, कभी उसकी शक्ति का उद्घोष करता है, कभी उसे आततायियों से लड़ने के लिए जुझारू तेवर अख्तियार करने के लिए उत्तेजित करता है और कभी सुप्त जनचेतना को जगाने के लिए भैरवी गाता है ताकि इस पीड़ा का तथा , विस्म

ताओं वर्जनाओं और विसंगतियों का समूल नाश हो सके। कीड़ो मकोड़ो से भी अधिक बदतर यातनामय जीवन व्यतीत करने वाले मानव-पतिंगों का उद्धार हो सके और मानवीय जीवन-यापन का सुखद अवसर प्राप्त हो सके।

दिनकर का ओजस्वी और हुंकारी स्वरूप उनकी कविताओं का बाह्य ढाँचा है। बाहर से देखने पर उनकी कविताओं का शब्द-तन्त्र अपने अभिधात्मक रूप में ललकार और गर्जना की सृष्टि करता हुआ-सा प्रतीत होता है। लेकिन, जब शब्द-तन्त्र की साधना पर विचार करते हैं, तो उनके चेतना-पथ में वेदना, क्षोभ, दुःख और पीड़ा की अन्तःसलिला ही अनवरत प्रवाहित-प्रतिभासित होती है। उनकी कविता-वीणा की ओजस्वी झंकार में मिज़राब की जकड़ से घायल तर्जनी की पोर की पीर ही हुंकारित होती है। दिनकर जब कहते है कि—

हे बीर बन्धु ! दायी है कौन विपद का ?
हम दोषी किसको कहें तुम्हारे वध का ? (वही, पृ० २)

तो उनके मन की पीड़ा अनछिपी नहीं रह जाती और पीड़ा का वह दर्शन ही अन्त में धिक्कार के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। जिस संकटमय परिवेश की पीड़ा से इस रचना का प्रसव हुआ था, उस समय देश में असुरक्षा की दहशत का साम्राज्य था। हमारी आजादी, जिसे हमारे देश के नौनिहालों ने, अपनी माँ की गोद सूनी करके, पत्नी की माँग का सिन्दूर पोछकर, बहन की राखी को बाँझ बनाकर, दुधमुँहों को अनाथ कर, अपने को न्योछावर कर हासिल की थी, दाँव पर लगी हुई थी। ऐसे दुर्द्धर्ष संकट के क्षण में भी हमारे देश के कर्णधार-देव ने अपनी सस्ती और निकम्मी कीर्ति का सौदा देश की आजादी और उसके भविष्य से करने में चूक नहीं की। भाई-भतीजावाद का गर्म बाज़ार तनिक भी ठंडा नहीं हुआ। इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों से दिनकरजी का क्षुब्ध हृदय 'धिक्-धिक्' कर उठता है और अपना क्षुब्ध रोष प्रकट करता है—

घातक है, जो देवता सदृश दिखता है।
लेकिन, कमरे में गलत हुक्म लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है।
समझो, उसने ही हमें यहाँ मारा है। (वही, पृ० ३)

ये पंक्तियाँ तत्कालीन राष्ट्रनेताओं की दोमुँही नीति से असंतोषजन्य वेदना की परिणति हैं। 'गुण नहीं गोत्र प्यारा' होने की बात भी अपने अन्दर एक विशिष्ट सन्दर्भ समोयें हुए है। यह बेमिसाल गद्दारी गद्दारी के इतिहास में एक कलुषित अध्याय और जोड़ती है। जब माननीय शक्ति-दूत (?) प्रचारित करने लगते हैं कि हिन्दुस्तान की एक इंच जमीन भी चीन के कब्जे में नहीं है, तो वह सच्चाई के साथ षड्यन्त्र करते हैं क्योंकि इसी में उनका स्वार्थ सधता था। क्योंकि वह जानते थे कि यदि हिन्दुस्तान की जनता को इस सत्य का पता चल जायगा कि चीन ने हिन्दुस्तान की जमीन हथिया ली है, तो वह हमें कभी भी क्षमा नहीं करेगी, और नेफा में खून की नदियाँ बहाकर, चीन की साम्राज्य-विस्तारवादी नीति का तर्पण कर देगी तथा शान्ति-दूत का जो खिताब 'कबूतरबाजी' से हासिल हुआ है, वह खतरे में पड़ जायगा, उस पर खून के दाग लग जायेंगे। अपने इसी खिताब के लिए उन्होंने हिन्दुस्तान की आन और जमीन से सौदा किया तथा दुनिया की निगाहों मे उसे कायर और कमजोर सिद्ध किया। दिनकर का स्वाभिमान इससे क्षुब्ध हो उठता है। वे अपने को रोक नहीं पाते हैं और उनकी क्षुब्धता निम्न पंक्तियों मे उद्दाम धिक्कार के साथ ओजस्वी रूप में प्रस्तुत हो हो जाती है—

जो सत्य जानकर भी न सत्य कहता है,
या किसी लोभ के विवश मूक रहता है,
उस कुटिल राजतंत्री कदर्य को धिक है,
यह मूक सत्य हन्ता कम नहीं बधिक है। (वही, पृ० ३)

दिनकर वहाँ भी व्यथित दिखाई पड़ते हैं जहाँ युद्ध-संकट के क्षणों में भी दैहिक बल को पशुता की संज्ञा दी जाती है। कवि और कलाकार स्वप्न-नीड़ में रंगरेलियाँ मना रहे हैं। नेता शान्ति-चिन्तन में निमग्न हैं। यही व्यथा है जो भारत के सोये हुए पुंसत्व को जगाने के लिए भैरवी गाती है और सचेत करती है कि—

ओ बदनसीब अन्धो ! कमजोर अभागो !
अब भी तो खोलो नयन, नींद से जागो।
\+ \+ \+
असि छोड़, भीरु बन जहाँ धर्म सोता है
पातक प्रचंडतम वहीं प्रकट होता है
तलवारें सोती जहाँ बन्द म्यानों में
किस्मतें वहाँ सड़ती हैं तहखानों में। (वही, पृ० ४)

दिनकर देश में हड़ताल की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से भी दुःखी हैं। यह दुष्प्रवृत्ति उन्हें इस कदर मथती है कि उनका क्रोध हड़तालियों को गहरी फटकार देता है। इस कुप्रवृत्ति को वे बर्दाश्त नहीं कर पाते कि सीमा पर तो नौजवान अपना लहू बहाएँ और यहाँ लोग हड़ताल करके देश की आन्तरिक स्थिति को कमजोर करें। यह देश के साथ विश्वासघात है, पातक कर्म है। इसीलिए उनकी चेतनवनी है कि—

कह दो प्रपंचकारी, कपटी जाली से
आलसी, अकर्मठ, काहिल हड़ताली से,
सी लें जबान, चुपचाप काम पर जाएँ
हम यहाँ रक्त वे घर में स्वेद बहाएँ। (वही, पृ० ५)

दिनकरजी, युग की माँग को ठुकराकर तथ्यों को तोड़-मरोड़कर सत्य को छल-बल से अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये उपभोग करने वालों, देश या राष्ट्र की समूची प्रभुसत्ता से अपना हित-साधन करने वालों की कुटिलता से भी बहुत व्यथित हैं। नेफा-युद्ध में चीन द्वारा भारत की हड़पी गई भूमि आज भी हम वापस नहीं कर सके। आखिर ऐसा क्यों हुआ ? चीन को हम पर हमला करने की हिम्मत कैसे पड़ी ? ऐसा इसलिए हुआ कि हमारे मुखिया विश्व-शान्ति दूत होकर भला हथियार कैसे उठा सकते थे ? उन्हें तो अपनी कीर्ति की हविस सवार थी, देश जाए भाड़ में। 'कबूतरबाजी' से उन्हें फुरसत ही नहीं थी, तो भला राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न बनाने की बात वे कब सोचते ? वे तो 'गीता' में भी 'त्रिपिटक निकाय' की अहिंसा देखते थे। वे तो युद्ध में भी, जो कि पशु-धर्म ही है, पाशविक न बनने का संदेश देते हैं।

खण्ड तीन में कवि जब किरिचों पर किसी नये स्वप्न को ढोने की बात पूछता है, तो उसकी अन्तःपीड़ा ही उसको प्रश्नाकुल बनाती है। माँ भारती पर जो संकट आसन्न है, उसके कारण कवि का अन्तर्मन पीड़ा से आक्रान्त हो क्रुद्ध हो उठता है। वह फूत्कार कर उठता है। वह सिंह-गर्जना करने लगता है। इस संकट को टालने के लिए वह प्राणों की बाजी लगा देता है। वह हर कुर्बानी के लिए तैयार है—

मांगेगी जो रणचण्डी भेंट, चढ़ेगी,
लाशों पर चढ़कर आगे फौज बढ़ेगी। (वही, पृ० ७)

उसका क्रुद्ध पौरुष फुंकार उठता है। उसके देवत्व को, उसकी कायरता समझने वालों को, वह चेतावनी देता है कि जिस दिन हम अपने पौरुष के प्रति सचेत हो जायेंगे, अपने को शक्ति-सम्पन्न बना लेंगे उस दिन—

जो असुर हमें, सुर समझ आज हँसते हैं
वंचक शृगाल भूंकते सांप डसते हैं,
कल यही कृपा के लिए हाथ जोड़ेंगे
भृकुटी विलोक दुष्टता द्वन्द्व छोड़ेंगे। (वही, पृ० ८)

कवि जन-सामान्य की उस मानसिकता से भी दुःखी है जहाँ वह भी विनय, विराग, शान्ति को ही जीवन का परम ध्येय और इस ध्येय को प्राप्त करने का परम साधन मानता है। वह भी कल्पना-लोक में ही विचरण किया करती है और जीवन को निर्वीर्य ही बना देती है। शक्ति और शान्ति के अटूट सम्बन्ध को तोड़कर वह केवल शान्ति को ही अपनाती है। इसी मानसिकता से खिन्न हो कवि कहता है कि—

दो उन्हें राम, तो मात्र नाम वे लेंगी,
विक्रमी शरासन से न काम वे लेंगी। (वही, पृ० २४)

इन्हें ही लक्ष्य कर कवि उपदेशित करते हुए कहता है कि—

वे जपें नाम, तुम बनकर राम जियो रे। (वही, पृ० २७)

क्योंकि शान्ति तभी कायम रह सकती है जबकि शक्ति उसकी पहरेदार हो—

जहाँ शस्त्र बल नहीं
शास्त्र पछताते या रोते हैं
ऋषियों को भी सिद्धि
तभी तप से मिलती है
जब पहरे पर स्वयं
धनुर्धर राम खड़े होते हैं। (वही, पृ० ४५)

इसीलिए कवि जब परशुराम के रथ का जर्जर नाद सुनकर कवियों को उसकी अगवानी के लिए उत्साहित करते समय युग-पुरुष, जनशक्ति के परम प्रतीक परशुराम का चित्र प्रस्तुत करता है, तो उनके एक हाथ में 'परशु' और दूसरे हाथ में 'कुश' दिखाता है। यही दो चिह्न इस परम पुरुष की कल्पना के मूलतत्त्व हैं। 'परशु' अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न तथा अधर्म पर अंकुश रखने का प्रतीक है और 'कुश' धर्म का प्रतीक है। कुश अर्थात् धर्म की रक्षा के लिए परशु, अर्थात् शक्ति या शस्त्र-बल अनिवार्य है। मर्यादा पुरुषोत्तमराम को भी धर्म-संस्थापना हेतु धनुष की टंकार का ही सहारा लेना पड़ा था। चाहे वह विश्वामित्र की यज्ञरक्षा का प्रसंग हो, चाहे रावण-विजय का। समुद्र भी विनय से प्रभावित नहीं होता। जब—

'संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥

तब समुद्र—

कनक थार भरि मनि गन नाना। विप्र रूप आयउ तजि माना॥
(सुन्दरकाण्ड, रामचरितमानस)

अपने उन रण-बाँकुरों, आज़ादी के मतवाले वीर सिपाहियों, जिसके साथ, भारत की मूक-बधिर जनता और इस जनता को गुमराह करने वाले आजादी की लड़ाई के तथाकथित अहिंसावादी

सेनापतियों ने जो विश्वासघात किया, के प्रति दिनकर की आत्मा आज भी कचोट रही है। उनका मस्तक शर्म से झुक जाता है। उनकी आत्मा बार-बार उन्हें धिक्कार की पीड़ा का भोक्ता बनाती है और प्रायश्चित के लिए विवश करती है। जब दिनकर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के, आजिज आकर, स्वदेश छोड़ने की बात कहते हैं, या भगतसिंह, अशफ़ाक, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि वीरों की कार्यवाही को उद्धतता नहीं, धीरता कहते हैं और गहरे विचार-मंथन के बाद जब इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

हम मान गये, वे धीर नहीं उद्धत थे,
वे सही, और हम विनयी बहुत गलत थे। (वही, पृ० १०)

तो उनकी पीड़ा का अहसास किया जा सकता है। उनके मन में इस बात को लेकर कितना त्रासद क्षोभ रहा होगा कि समय उनके साथ, इतिहास उनके साथ न्याय नहीं कर सका। इसीलिए वह बार-बार उनसे क्षमा प्रार्थी होकर इस घोर संकट के क्षण में, प्रायश्चित-स्वरूप उनसे अगुवाई करने की प्रार्थना करते हैं और क्षमा-मुद्रा मे विनय के साथ हठ के स्वरों में उन्हें आश्वस्त करते हैं कि—

वे उठें देश उनके पीछे हो लेगा,
हम कहते हैं, कोई न व्यंग्य बोलेगा।
है कौन मूढ़, जो पिटक आज खोलेगा?
बोलेगा जय वह भी, न खड्ग जो लेगा।
वे उठें, हाय, नाहक विलंब होता है,
अपनी भूलों के लिए देश रोता है। (वही, पृ० ११)

इस पूरी कविता में कवि बार-बार अहिंसा, विनय और शांति के प्रति अरुचि प्रदर्शित करता है। उनके प्रति उसकी आसक्ति अनासक्ति में परिवर्तित हो जाती है। उसका मोह भंग हो जाता है। वह अहिंसा को कायरता का पर्याय घोषित करता है। त्रिपिटकों को बार-बार अप्रासंगिक और निरर्थक सिद्ध करता है। खण्ड चार में दिनकरजी कहते हैं—

जब तक, भीतर की गाँस नहीं कढ़ती है,
श्री नहीं पुनः भारत-मुख पर चढ़ती है। (वही, पृ० १३)

यह गाँस क्या है? जिसके कढ़े बगैर भारत-मुख पर श्री नहीं चढ़ेगी, अर्थात् भारत में सुख, शान्ति और सम्पन्नता का राज्य नहीं होगा, भारत अपना खोया हुआ गौरव वापस नहीं ला सकेगा। यह गाँस विषमता की गाँस है। जन-जन की पीड़ा है। भ्रष्टाचार, अन्याय, दमन, शोषण, विश्वास-घात, स्वार्थपरता और कायरता है। भारत-मुख क्या है? भारत-मुख, भारत की पीड़ित-शोषित जनता है। अतः जब तक विषमता और वैमनस्यता का समूल नाश नहीं होगा; अन्याय, दमन, शोषण की इति नहीं होगी; भारत-मुख, अर्थात् भारत की कोटि-कोटि पीड़ित मानवता पीड़ित ही रहेगी, सुख और शान्ति की अवतारणा, गौरव की पुनः प्राप्ति संभव नहीं है। घोर वैज्ञानिक और आर्थिक प्रगति के बावजूद भी जनता पीड़ित ही रहेगी और जनता की पीड़ा कवि के हृदय में गाँस बनकर टीसती रहेगी तथा उसे अन्याय और उत्पीड़न के नाश के लिए हुंकरित होने के लिए ललकारती रहेगी। क्योंकि कवि की बनी-बनायी नियति के बारे में बाबा कबीरदास जी बहुत पहले कह गये हैं—

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै,
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।

ऐसा इसलिये होता है कि कवि एक सजग, चेतना-सम्पन्न, संवेदनशील युग-द्रष्टा तथा युग धर्म का संवाहक प्राणी होता है, अतः समूची मानवता की पीड़ा उसके हृदय में संचरित हो जाती

बनकर सालती रहती है और वह सो नही पाता और निरन्तर इस गाँस को निकाल फेंकने के लिए धारासार संघर्ष करता रहता है। इस गाँस को निकाल फेंकने के लिए प्रतिबद्ध कवि अपने पीड़क क्षणो मे अनेक प्रकार के तेवर अपनाता है। कभी गर्जना करता है, कभी पीड़ा की गहन अनुभूति की अभिव्यंजना करता है, कभी ललकारता है, कभी व्यंग्य कसता है।

कवि इस बात से बेहद चिन्ताकुल है कि चाहे युद्ध हो या महामारी या कोई भी आपदा; सम्पन्न और अट्टालिकावासियों के चेहरे पर कोई शिकन नहीं आती। वे हमेशा हरे-भरे, तरो-ताजा, हट्टे-कट्टे, रक्तिमवर्ण ही दिखाई देते हैं, लेकिन निर्बल निस्सहाय, दीन-हीन, जर्जर, मेहनतकश, हमेशा मक्खियाँ भिनकती मुखवाला ही दिखाई पड़ता है और हर आपदा का बोझ वह अपने ही कंधों पर ढोता है। युद्ध में गोलियाँ और सगीनें झेलता है; खानों, कारखानों में अपनी जिन्दगी घिसता है; खेतों मे अपना खून जलाता है। कवि इस अनाचार से त्रस्त हो उठता है। कवि को इन बेसहारों और बेकशों की पीड़ा खाये जाती है। वह शंकाकुल हो उठता है कि ऐसी विषमता में देश कैसे एक होकर लड़ सकेगा ? इसी शंका की मर्मान्तक पीड़ा से आहत हो वह चीत्कार कर उठता है—

सबसे पहले यह दुरित-मूल काटो रे।
समतल पीटो, खाइयाँ-खड्ड पाटो रे।
बहुपाद बटों की शिरा-सोर छाँटो रे।
जो मिले अमृत, सबको समान बाँटो रे।
वैषम्य घोर जब तक यह शेष रहेगा,
दुर्बल का ही दुर्बल यह देश रहेगा। (वही, पृ० ३०)

'परशुराम की प्रतीक्षा में' दिनकर की ओजस्विता का मध्याह्न प्रखरित हुआ है। लेकिन ओजस्विता के इस मध्याह्न के पीछे पीड़ा और वेदना की अमानिशा से छुटकारा पाने की छटपटाहट ही प्रभावी है। वे स्वयं अपने गर्जना-गीतों के रहस्य को उद्घाटित करते हुए स्वीकार करते हैं कि इस हुंकार और ललकार का कारण, वर्तमान सामाजिक सभ्यता की विषमताओं, विभीषिकाओं और वर्जनाओं से उद्भूत पीड़ा या हूक ही है जो बुद्धि, मन और प्राण को विकल कर देती है। यही विकलता और इस विकलता से छूटने की असहाय छटपटाहट ही ललकार-गीतों की सृष्टि के लिए विवश करती है—

मेरी कविताएँ सुनकर खुश होने वाले
तुझे ज्ञात है, इन खुशियों का क्या रहस्य है ?
मेरे सुख का राज ? सभ्यता के भीतर से
उठती है जो हूक, बुद्धि को विकलाती है।
कोई उत्तर नहीं। हार कर मैं मन-मारा
चौराहे पर खड़ा जोर से चिल्लाता हूँ। (वही, पृ० ५४)

अपनी इस दुर्दान्त त्रासद निस्सहाय छटपटाहट के कारण ही दिनकरजी विवश होकर अपने मन की सम्पूर्ण दंशन-विधायिनी व्यथा को ओजस्वी स्वर प्रदान करते हैं। उनका साध्य है सभ्यता के भीतर से उठने वाली हूक की अभिव्यक्ति और साधन रूप में ग्रहण करते हैं—इस हूक को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए—गर्जना, धिक्कार, ललकार और हुंकार का ओजस्वी स्वर।



२२, लाउदर रोड
इलाहाबाद

स्वातंत्र्योत्तर-कालीन उर्दू की महिला कहानीकार—एक अध्ययन

●

श्रीमती वसीमा खातून

उर्दू साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक कहानी-विधा का प्रारंभ प्रेमचन्द से ही होता है। यूं तो प्रेमचन्द से पहले भी कुछ कहानियाँ मिलती हैं, परन्तु एक साहित्यिक कहानी सर्वप्रथम प्रेमचन्द के यहाँ ही दिखाई पड़ती है। प्रेमचन्द की भी प्रारम्भिक कहानियाँ काल्पनिक या रूमानी होती थी। क्रमशः वह कहानी को जीवन तथा समाज के निकट ले आये। तात्कालिक कहानीकारों में प्रेमचन्द का स्थान इसलिये उच्च है कि उन्होंने ही कहानी में सबसे पहले जन-साधारण के जीवन तथा क्रिया-कलापों का वास्तविक चित्र खींचा था। इस प्रकार कहानी को समाज का दर्पण बनाने की कला की नींव इन्होंने ही डाली।

इस रुचि का परिणाम सन् १९३२ में 'अंगारे' नामक कहानी-संग्रह के रूप में प्रकट हुआ। इस किताब में विभिन्न सामाजिक दोषों, अन्धी धार्मिकता, अज्ञानता, रीति-रिवाजों की पाबंदी तथा अब तक अवैध तथा अमानवीय समझे जाने वाले विषय काम-भावना (जिन्सी) पर भी कहानियाँ लिखी गयी।

यद्यपि इसके प्रकाशन से काफी खलबली मच गयी थी। लेखकों की कटु आलोचनाएँ की गईं। प्रकाशन पर भी पाबंदी लगा दी गई, परन्तु कहानीकार इससे भयभीत होकर पीछे नहीं भागा, बल्कि इस मार्ग को आगे आने वाले कहानीकारों के लिये प्रशस्त करता रहा।

परिणामस्वरूप अब कहानी न केवल मनोरंजन तथा कल्पना-लोक में विचरण का साधन मात्र रह गई, अपितु वह समाज के विभिन्न रूपों को दर्शाने वाला दर्पण बन गयी। अब अफसानों के विषय उच्च श्रेणी के लोगों की खोखली, आडंबरपूर्ण जिन्दगी, जन-साधारण की कठिनाइयों, उनके परिश्रम का दुरुपयोग, जीवन के लिये उनका संघर्ष, वेश्याओं की समस्या, नारी जाति की समस्या, नस्लों का संघर्ष, काम-संबंधी समस्या आदि होने लगे। इस समय के कहानीकारों में अस्मत चुगताई, कृष्णचंद्र, शौकत सिद्दीकी, अहमद नदीम कासिमी प्रमुख हैं।

सन् १९४५ में एक नई पीढ़ी का जन्म हुआ जिनमे करतार सिंह दुग्गल (जिन्हें १९८०-८१ का सोवियत भूमि मे नेहरू-पुरस्कार प्राप्त हुआ है), इकबाल हुसैन, इकबाल मतीन, फिक्र तौंसवी, हसन अस्करी आदि है। महिला कहानीकारों मे मुम्ताज शीरीं, रजिया सज्जाद जहीर, कुर्रतुलऐन हैदर, हाजरा मसरूर, खदीजा मस्तूर आदि हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन कहानीकारों मे कुछ नाम और आ गये। महिला कहानीकारों में प्रमुखतया जीलानी बानो, आमना अबुल हसन, जोहरा जमाल, शमीम निकहत, इफ्फत मोहानी, वाजिदा तबस्सुम आदि हैं। स्वातंत्र्योत्तर-काल से लेकर अब तक अन्य कई महिला कहानीकार भी उभर कर सामने आयी हैं जिनके यहाँ साहित्यिक परिष्कृत रुचि पायी जाती है वर्तमान कहानियों [illegible] समस्याओं की झलक दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर दौर में महिलाओं ने पुरुषों के साथ चलने का प्रयत्न किया है। पहले महिलाओं की संख्या कम थी, परन्तु अब काफी प्रतिभाशाली कहानीकार इस क्षेत्र में पुरुषों का मुकाबला कर रही हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-काल की महिला कहानीकारों का प्रश्न उठने पर कई ऐसे नाम दिखाई देते हैं जो स्वतन्त्रता-पूर्व से लेकर अब तक लिखती आ रही हैं। जैसे—डॉ० रशीद जहाँ, इन्होंने १९३२ से लेकर १९५२ तक कहानियाँ लिखी हैं; अस्मत चुगताई, जो पूर्व से लेकर अब तक लिख रही हैं; रजिया सज्जाद जहीर, कुर्रतुलऐन हैदर आदि। इनके अतिरिक्त जीलानी बानो, आमना, अबुल हसन, शमीम निकहत, इफ्फत मोहानी, वाजदा तबस्सुम, लैला लखनवी, अनीस कय्यूम, फय्याज सलमा शाकिर, फातिमा यजदानी, बानो सरताज, हाजरा मश्कूर, कौसर आदि।

स्वतन्त्रता के पश्चात् जब देश का विभाजन हो गया तो इस घटना पर साहित्यकार दुःख से चीत्कार कर उठे। हर कहानीकार ने इस विषय पर लिखा। महिलाएँ भी पुरुषों से पीछे नहीं रहीं।

उस समय जो कहानियाँ लिखी गयीं, उनके प्लाट प्रायः स्वतन्त्रता-पूर्व के आन्दोलनों से लेकर बँटवारे तक की घटनाओं से संबंधित है। उस समय की सम्पूर्ण घटनाएँ नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं। जैसे कुर्रतुलऐन हैदर की 'जिलावतन', अस्मत चुगताई की 'हिन्दुस्तान छोड़ दो' आदि।

'जिलावतन' कहानी का कथानक बड़ा विस्तृत है। स्वतन्त्रता का युद्ध, दंगों, फसादों से लेकर पाकिस्तान बनने तथा लोगों के हिन्दुस्तान छोड़कर भागने की सम्पूर्ण घटना का चित्रण है। उदाहरणस्वरूप—

"मुल्क आज़ाद हो गया। खेमवती की शादी होगी। किश्वरी के घर वाले आधे पाकिस्तान चले गये। इसके बाप बहुत बूढ़े हो गये थे।·········पुलिस हर वक़्त इनको तंग करती, 'आपके बेटे का पाकिस्तान से आपके पास खत कब आया था? आपने करांची में कितनी जायदाद खरीद ली है?''

'तुम तो पाकिस्तानी हो, तुम्हें नमस्ते न कहना चाहिए।' खेम ने बड़े तन्ज के साथ कहा।"

इन कहानीकारों की कहानी की कथावस्तु अधिकांशतः उच्च तथा मध्यम श्रेणी के मुस्लिम परिवारों से ली गई है। जैसे अस्मत चुगताई, वाजदा तबस्सुम, रजिया सज्जाद जहीर, जीलानी बानो, कुर्रतुलऐन हैदर आदि की। वाजदा तबस्सुम तथा अस्मत चुगताई ने अधिकांशतः नवाबों, बड़े-बड़े रईसों, जमींदारों के घरानों से कथानक को लेकर इनकी वास्तविकता को अनावरण किया है। इनकी कहानियों में कथानकों का पूर्ण विकास मिलता है।

वाजदा तबस्सुम के अफसाने 'उतरन' का कथानक भी एक हवेली के वासियों 'शाहजादी पाशा' और धाय की लड़की 'चमकी' से सम्बन्धित है। कथानक का विकास उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाता है जब 'उतरन' पहनते-पहनते तथा 'उतरन' शब्द सुनते-सुनते 'चमकी' अन्तर की पीड़ा से चीत्कार कर उठती है और यह दृढ़ निश्चय कर लेती है कि वह शाहजादी पाशा को जीवन भर के लिये अपना उतरन देगी और वह अपने को लुटाकर वैसा कर लेती है।

रजिया सज्जाद जहीर की कहानी 'अल्लाह दे बन्दा ले' यद्यपि मुख्य रूप से दो चरित्रों के ऊपर ही आधारित है, पर कथानक का पूर्ण विकास हुआ है। अधिकांशतः कहानियों में कथानकों का पूर्ण विकास ही मिलता है, परन्तु कुछ ऐसी भी कहानियाँ मिलती हैं जिनमें या तो कथानक होता ही नहीं या होता भी है तो कई छोटे-छोटे कथानकों को मिलाकर एक कहानी लिख दी जाती है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों में एक विशेषता यह भी है कि कहानी मनोविज्ञान से संबंधित है। किसी मनोवैज्ञानिक सत्य को लेकर कहानी की रचना होती है। महिलाओं की कहानियों में स्त्रियों तथा बच्चों का मनोविज्ञान स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, हाजरा शकूर की 'खटाई', बानो सरताज की 'आखिरी मुस्कुराहट', सलमा शाकिर की 'आखिरी गिरह', वाजदा तबस्सुम की 'उतरन' आदि।

यद्यपि पुरुषों की ही भाँति नारियों ने भी अपनी कहानी में विभिन्न पात्रों तथा चरित्रों का चित्रण किया है, पर आधिक्य नारी-चरित्रों के विभिन्न रूपों के चित्रण का ही है। एक नारी ही नारी-चरित्र की गंभीरता, उसकी आंतरिक पीडा, उसकी भावनाओं को अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकती है। यही कारण है कि महिला कहानीकारों ने नारी-चरित्र का बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया है।

जो कहानियाँ जमींदारों या नवाबों के समय से सम्बन्धित हैं तथा जिनमें उच्च मुस्लिम घरानों का वर्णन है, वहाँ की स्त्रियों के चरित्र में बेगमों, आयाओं या विभिन्न स्तर की स्त्रियों के चरित्र का चित्रण बिल्कुल उसी रूप में हुआ है जैसी वह होती थी। वाजदा तबस्सुम ने कोठियों में रहने वाली स्त्रियों को बिल्कुल उसी रूप में हमारे सामने लाकर उपस्थित कर दिया है। उनकी कहानी 'उतरन' की 'शाहजादी पाशा' के चरित्र में तथाकथित राजकुमारियों वाली शान और घमंड है। यद्यपि बाल्यावस्था की सरलतावश वह अपनी धाय की लड़की के साथ नहाती है, पर पहनने के लिये अपना उतरन ही देती है। दायी की सात वर्ष की बालिका 'चमकी' के कहने पर कि 'आप भी मेरी उतरन पहनो' तो क्रोध से चीखने लगती है। दूसरी ओर 'चमकी' का चरित्र है जिसमें नौकर होने की हीन भावना के साथ-साथ स्वाभिमान भी है जिसके कारण उसे 'उतरन' शब्द सुनकर ठेस पहुँचती है।

यहाँ अत्यन्त मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। बचपन से ही 'उतरन' शब्द से चिढ़ने और घृणा करने वाली स्वाभिमानी लड़की जब बड़ी होती है तो वह अपनी इस अवहेलना पर तिलमिला उठती है और फिर शहजादी को अपना उतरन देने के लिये भयंकर निर्णय कर लेती है। अन्त में उसे पूरा करके अपने मन में दबे दर्द को अट्टहास करके निकाल देती है।

महिलाओं ने अपनी कहानियों में भारतीय नारी का चरित्र बड़ा गरिमापूर्ण प्रस्तुत किया है। भारतीय नारी अपने प्रेम और कर्त्तव्य दोनों में दृढ़ होती है। भारतीय नारियों का यह चरित्र रहा है कि वे एक बार जिसे पतिरूप में स्वीकार कर लेती है, उसका दामन वह आजीवन पकड़े रहती हैं।

'लैला लखनवी' की 'फर्ज और मुहब्बत' कहानी में एक ऐसी ही नारी का चित्रण है। स्वतन्त्रता के शीघ्र पश्चात् जो कहानियाँ लिखी गई हैं, उनमें स्वतन्त्रता-पूर्व का हलचलपूर्ण, राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण, दंगे, आन्दोलनों आदि से लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति और देश-विभाजन तक का सारा वातावरण रूपायित हो उठा है। उस समय का प्रभाव पुरुष तथा महिला दोनों ही साहित्यकारों पर पड़ा। अस्मत चुगताई के 'हिन्दुस्तान छोड़ दो', कुर्रतुलऐन हैदर के 'जिलावतन' आदि अफसानों में तत्कालीन वातावरण का मार्मिक चित्रण है। उदाहरणस्वरूप, "सन् बयालीस का हिन्दुस्तान छोड़ दो' का हंगामा जोरों पर था।······ लिगन रोड के नाले पर एक बड़ा भारी-सा अलाव जल रहा था जिसमें वह राहु चलतों की टाइयाँ हैट और सूट आ जाता तो पतलूनें उतार कर जलायी जा रही थीं मजेदार टाइयाँ, नये तरहदार हैट इस्त्री की हुई पतलूनें

बड़ी बेदरदी से आग में झोंकी जा रही थी।" कहानी 'जिलावतन' में तत्कालीन मुस्लिम समाज के वातावरण का चित्र देखिये—

"सूबे की तहजीब से मुराद वह कल्चर था जिस पर मुसलमानों का रंग गालिब था। गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले, गाँव-गाँव सैकड़ों, हजारों मस्जिदें और इमामबाड़े थे। मक्तब, मदरसे, दरगाहें, किले, हवेलियाँ, चप्पे-चप्पे से मुसलमानों की आठ सौ साल पुरानी रिवायत बवास्ता थी।"

रजिया सज्जाद जहीर ने अपने अफसाने 'माजी-हाल-मुस्तकबिल' में आज की बिजली की समस्या पर एक व्यंग्यात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। पहले जब बिजली नहीं आई थी, तब लालटेनें और लैम्प जलते थे। बाद में जब बिजली आ गयी तो उन सब को एक बड़े पुराने बक्स में बन्द करके रख दिया गया। परन्तु जब बिजली फिर से जाने लगी और सरकारी कानून के अन्तर्गत कई-कई घंटे गायब रहने लगी तो पुनः पुराना लालटेनों वाला दौर लौट आया और बड़ा सन्दूक खोलकर पुनः लैंप और लालटेनें जला दी गईं।

सामाजिक वातावरण के साथ-साथ महिलाओं ने प्राकृतिक वातावरण के चित्रण में भी रुचि ली है। प्राकृतिक वातावरण के चित्रण के समय कहानीकार एक-एक वस्तु तथा दृश्य पर सूक्ष्म दृष्टि डालता है। 'तफरीह' में सालेहा आबिद हुसैन ने पहाड़ों, मैदानों, खेतों, पक्षियों का बड़ा सजीव चित्रांकन किया है। देखिये—

"शाम का वक़्त था। बेवक़्त की बारिश ने मौसम खुशगवार कर दिया था। आसमान पर बादलों के टुकड़े एक-दूसरे के पीछे भाग रहे थे जिनके बीच-बीच में गहरे नीले आसमान की झलक बड़ी दिलकश थी। सूरज की गोल थाल धीरे-धीरे मगरिब की उफ़क की तरफ़ सरक रही थी और उसके चारों तरफ़ कौस व कजह के हसीन रंग बिखरे हुए थे।"

कथोपकथन की दृष्टि से भी महिलायें अपनी कहानी-रचना में सफल हैं। अब कहानियाँ काल्पनिक न होकर वास्तविकता से संबद्ध होती है। अतः पात्रों की बोलचाल भी वास्तविक होती है। पात्र अपने सामाजिक वातावरण, अपनी श्रेणी के अनुसार ही वार्तालाप करता है। उसकी भाषा उसके व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। महिलाओं की भाषा तथा उनके वार्तालाप के ढंग का बड़ा वास्तविक रूप मिलता है। कुर्रतुलऐन हैदर की 'जिलावतन' कहानी में मुस्लिम परिवार की मद्र महिलाओं की भाषा देखिये—

"ऐ लो, दोनों की दोनो सठिया गयी हैं—ऐ बीबी! चाँद रात की नवीं तारीख के मरसिये निकाल कर बैठ गयीं......"

बड़ी भावज ने बावरचीखाने में से पुकारा। तोबा...बोबा...कम्बख्त ऐसी साड़ सत्ती पड़ी है कि अब तो कुछ भी याद नहीं रहता। ऐ लो, मैं तो अपनी ऐनक ही लाना भूल गयी...।

ऐ हे! यह क्या कौवा लोचनमयी है। एसामों पर मुसीबत की घड़ी आन पहुँची है और तुम हो कि खड़ी झगड़ रही हो...चल निकल ममोला यहाँ से...इबी जब देखो तब यही फजीहताना शुरू करती है।"

पात्रों की मानसिक स्थिति का स्पष्टीकरण भी कथोपकथन के द्वारा हो जाता है। उनकी आन्तरिक भावना की स्पष्ट झलक मिल जाती है।

"कार्प आज तुम खाना खाने नहीं आए। यूँ पड़े-पड़े क्या सोच रहे हो?

ऊँ......कुछ......नहीं।

....

कभी-कभी रातों को सुकून और गम का यकसा एहसास होता है, तो जी चाहता है कुछ न करूँ, बस यूँ ही पड़े-पड़े सेबो के घास पर गिरने की आवाज सुनता रहूँ।"

भूख नही थी'''अब तो तुम जा रही हो न'''इसलिये फिर उन पुरानी आदतों की तरफ लौट रहा हूँ।"

उपर्युक्त वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों एक दूसरे से प्रेम करते है, परन्तु कार्प मानसिक रूप से कुछ उलझा लगता है, क्योंकि वह कैंसर का मरीज है और उसका केवल छह मास का जीवन शेष है। अगले कथन मे भारतीय नारी अपनी पूरी गरिमा के साथ हमारे सामने आ जाती है—

"ऐना'''जरा सोचो तो जिसे जिन्दगी की मुद्दत को सिर्फ छह महीने मिले हों, उसे पाने की जिद बेकार है।

तुम्हें नही मालूम कार्प। हिन्दुस्तानी औरत जब एक बार किसी का दामन थाम लेती है, एक बार जिसे मन-मन्दिर का देवता मान लेती है तो फिर सारी जिन्दगी उसी के नाम पर बिता देती है।"

प्रायः महिला कहानीकार पात्रो के माध्यम से ही विभिन्न विषयों या समस्याओं पर अपने विचार प्रकट कर देती है, किन्तु इसमें भी स्वाभाविकता है। पात्रों के ऊपर लेखिका अपने विचार जबरदस्ती लादती हुई नही मालूम पड़ती है। 'लैला लखनवी' के अफसाने 'वादा' में तीन पात्रों के मध्य कथोपकथन के द्वारा ही अपने विचारों को प्रकट किया गया है—

"जिन्दगी तो नंगे और भूखों के मसाएल और मेहनतकशों के हाथ में है।

तुम अभी नातजरबेकार हो बेबी, जिन्दगी को दिलकश बनाने के लिये दौलत एक अहम किरदार अदा करती है।

'''सिर्फ पेट की आग बुझ जाना ही जिन्दगी नहीं होती है—जिन्दगी नाम है सुकून और शादमानी की उम्र बसर करने का।"

सारांश यह है कि महिला कहानीकार भी इस क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं रही हैं। पहले की अपेक्षा अब पर्याप्त संख्या में महिलायें इस क्षेत्र मे अपनी कला, अपने जीवनगत अनुभवों तथा मनोविज्ञान के द्वारा उन्नति कर रही हैं।

प्रारम्भ से ही महिला कहानीकारों ने विभिन्न आधारभूत विचारों को लेकर कहानी रचना की है। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार की कहानियाँ लिखी गयीं। स्वतन्त्रता के शीघ्र पश्चात् लिखी गयी कहानियों में स्वतन्त्रता-आन्दोलन जैसी तात्कालिक समस्यायें रही हैं। कुछ कहानीकारो ने धार्मिक कट्टरता, कर्मकाण्डों आदि को भी आधार बनाया है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांशतः कहानियों का केन्द्रीय विचार प्रेम रहा है। कहानियों में प्रेम को आधार मानकर जीवन की विभिन्न विचारधाराओं को समेटते हुए तात्कालिक समस्याओं का समावेश किया गया है। यह प्रेम बहुत ऊँचा और पवित्र है। इस भावना की सूक्ष्मतम अनुभूति का चित्रण किया गया है। अधिकांशतः कहानियों में प्रेम हृदय के एक पवित्र, सात्विक भाव के रूप में वर्णित हुआ है। उदाहरण-स्वरूप, 'लैला-लखनवी' की कहानी 'फर्ज और मुहब्बत', और 'वादा', अनीस कय्यूम फय्याज की 'याद की खुशबू', फातिमा यजदानी की 'जूद पेशमाँ', किश्वर सुलताना की 'तारीख उजाले', तय्यब खुसरो की 'नज्मी भय्या' आदि।

महिला कहानीकारों ने नारी-मनोविज्ञान का भी बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है। बानो सरताज की 'आखिरी मुस्कराहट' में नारी की मातृ-भावना का बड़ा हृदयस्पर्शी चित्रण है एक

निर्धन विधवा स्त्री अपने बच्चे के छीन लिये जाने पर हर समय रोती रहती है और उदास होकर उसी के विचारों में खोयी रहकर हर काम खराब कर देती है। अपने बच्चे के शव को प्यार करती अन्त में स्वयं भी प्राण त्याग देती है। उस समय उसके चेहरे पर पहली और अन्तिम बार मुस्कान बिखरी रही। इसी प्रकार सलमा शाकिल की 'आखिरी गिरह', किश्वर सुलताना की 'बदलते पैमाने', डाक्टर आपना शौकत की 'पहला खत,' किश्वर सुल्ताना की 'तारीख उजाले,' जीलानी बानो की 'मोम की मरियम', कुर्रतुलऐनहैदर की 'कमिन' तथा वाजदा तबस्सुम की अधिकांश कहानियों तत्कालीन भारतीय नारी का सहज-स्वाभाविक चित्रण मिलता है। 'मोम की मरियम' एक ऐसी लड़की की मनोवैज्ञानिक कहानी है जिसको घर भर की उपेक्षा ने अपने समाज, परिवार के रस्म-रिवाजों के विरुद्ध क्रान्तिकारी बना दिया है। हर ओर से उपेक्षित लड़की ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं किसी की चिन्ता न करते हुए बिल्कुल स्वेच्छा से जीवन-यापन करूँगी। वह विवाह से भी इन्कार कर देती है।

महिलाओं ने कहानियों में पुराने समाजी उसूलों के टूटने तथा स्त्रियों में साहस उत्पन्न होने की झलक दिखाकर दबने वाली स्त्रियों में साहस उत्पन्न करना चाहा।

इन कहानीकारों पर अंग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव पड़ा है। प्रायः कहानियों में अंग्रेजी कहावत, अंग्रेज लेखकों की पंक्तियाँ, अंग्रेजी उपन्यासों के उदाहरण आदि मिलते हैं। कुछ पर कम्यूनिज्म और सोशलिज्म का भी प्रभाव दिखायी पड़ता है।

सार यह है कि महिलाओं ने भी कहानी-क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की है। उनकी कहानियाँ भी हर तरह से परिपक्व एवं पूर्ण है। यही नहीं, मैं तो यहाँ तक कह सकती हूँ कि वे कहानी के मैदान में कहीं-कहीं पुरुषों से भी आगे निकल गयी है।

द्वारा—डॉ० रहमतउल्लाह,
२३४, बाजबहादुर,
आजमगढ़

रीतिकालीन साहित्य : शोध की संभावनाएँ



श्री अशोक भाटिया

'शोध' शब्द 'शुद्ध' धातु से बना है। 'शुद्ध' का अर्थ है पवित्र करना या पवित्र होना। अतः शोध का अर्थ शोधन या परिष्कार होता है। बाद में इसका अर्थ-विस्तार होता गया। आज तथ्यों के संकलन से परिशोधन तक की प्रक्रिया को शोध के भीतर गिना जाता है। अनेक भारतीय भाषाओं में शोध के दो मुख्य अर्थ हैं—१. ढूँढ़ना, अर्थात् किसी अज्ञात अथवा लुप्तप्राय वस्तु या तत्त्व या तथ्य की खोज तथा २. परिष्कार, अर्थात् खोज की पुनः खोज या ज्ञात की पुनर्व्याख्या या उसका शुद्धीकरण। इस प्रकार 'शोध' शब्द का अर्थ खोज और शोधन (परिष्कार) की निरन्तर प्रक्रिया में विद्यमान है।

संसार का कोई भी व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में शोध कर सकता है। एक लेखक जीवन और उसके मूल्यों पर चिन्तन करता है, तो एक प्रकार से वह कुछ शोध ही कर रहा है। वह अपने शोध-तत्त्वों को रचनात्मक रूप प्रदान करता है। किन्तु हमारा अभिप्राय यहाँ साहित्यिक शोध से है। साहित्य से सम्बन्धित प्रत्येक प्रकार का शोध साहित्यिक शोध कहलाएगा। रचनाकार का व्यक्तित्व, उसका युग-परिवेश तथा इनका रचनात्मक रूपान्तरण—यह त्रिकोण साहित्यिक शोध को पुष्ट आधार प्रदान करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् १६४३ ई० से १८४३ ई० तक का काल हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहलाता है। प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य इस काल के साहित्य पर हुए शोध-कार्य के आलोक में भावी शोध की कतिपय संभावनाओं पर विचार करना है।

१. पाठ-सम्बन्धी शोध—प्रामाणिक रचनाएँ शोध का मूल आधार होती हैं। किसी एक विषय पर प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों को अंतःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर परखते हुए सर्वाधिक प्रामाणिक प्रति तक पहुँचने का प्रयास पाठ सम्बन्धी शोध मे किया जाता है। रीतिकाल तक छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः इस काल के मूल ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध होते हैं जिनके प्रसार के लिए विविध व्यक्तियों द्वारा उनकी प्रतियाँ लिखी गयीं। इससे पाठ मे कहीं परिवर्तन होता गया, तो कहीं लिपिक किन्हीं अन्य अंशों को जोड़ता गया। इस प्रकार वे प्रतियाँ मूल ग्रन्थों से निरन्तर दूर पड़ती गयीं। आज हमें वे प्रतियाँ ही उपलब्ध होती हैं। उनके आधार पर मूल ग्रन्थ के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का प्रयास शोध का महत्वपूर्ण पक्ष है।

ऐसा शोध-कार्य बहुत कम हुआ। पहली दृष्टि से विशेष रूप से देव की कृतियों में पाठालोचन की समस्याएँ उठायी गयी हैं। दूसरी दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जगन्नाथदास रत्नाकर, लाला भगवानदीन आदि के द्वारा कवि-विशेष की कृतियों का सटीक सम्पादन आता है। किन्तु इस मुट्ठी भर प्रामाणिक रचनाओं से समूचे रीतिकालीन साहित्य पर शोध कैसे हो सकता है ? डॉ० पवनकुमार मिश्र के अनुसार अब तक रीतिकाल के लगभग ३२०० ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके

हैं इन ग्रन्थों पर पाठ शोध होना शोध का प्राथमिक अनिवार्यता है। कृतियों का प्रकाशन एवं समुचित मूल्यांकन इनकी प्रामाणिकता के पश्चात् ही हो सकेगा। संगरूर, अमृतसर, नाभा, पटियाला, जींद, उदयपुर आदि के अनेक पुस्तकालयों में इस काल के हस्तलिखित ग्रन्थ कीट-भक्ष हो रहे हैं, जिनका शीघ्र उद्धार होना अपेक्षित है।

२. भाषाविज्ञान-सम्बन्धी शोध—विवेच्य काल-खंड को जब 'रीतिकाल' नाम दिया गया था, उस समय दरबारी साहित्य या कला-प्रधान रचनाओं को ही दृष्टि में रखा गया होगा। वैसे भी उस समय तक उपलब्ध कृतियों में कला-प्रधान कृतियों की संख्या अथवा उनका आकर्षण संभवतः अधिक प्रतीत हुआ हो। किन्तु आज स्थिति इससे भिन्न है। फिर भी रीति-रचनाओं या दरबारी साहित्य से इतर साहित्य में कलात्मकता और रसात्मकता दोनों ही जुड़े हुए मिलते हैं। अतः शोध के कला-प्रधान आधार का महत्त्व इस दृष्टि से बना ही रहता है।

रीतिकालीन साहित्य पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत कम शोध कार्य हुआ है। 'भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन' के नाम से केवल बिहारी, घनानंद और मतिराम तथा कृतियों में 'रामचन्द्रिका' और 'राम-रहस्य' पर सामान्य कार्य हुआ है। एकमात्र विशिष्ट कार्य 'बिहारी सतसई' पर अर्थ-वैज्ञानिक दृष्टि से मिलता है।

काव्य की भाषा विशिष्ट होती है और भाषा-वैज्ञानिक शोध कवि की रचना-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में सहायक होती है। अतः ध्वनि-विज्ञान, शैली-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि पक्षों के सन्दर्भ में विविध काव्यों का अध्ययन बड़ा उपयोगी हो सकता है। जिन रीति ग्रन्थों के आधार पर इसे 'रीतिकाल' नाम दिया गया, वे ग्रन्थ कला-प्रधान थे। किन्तु इसके कलात्मक आयामों पर शोध-कार्य बहुत अल्प हुआ है। शैली-विज्ञान के अंग-विशेष (विपथन, समानांतरता, पद-चयन आदि) को लेकर शोध-कार्य किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से नये शब्दों के सृजन को लेकर भी कार्य हो सकता है।

३. तुलनात्मक शोध—शोध की तुलनात्मक दृष्टि युग-बोध की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है। इससे साहित्य को समझने की दृष्टि व्यापक होती है और कृतियों के नये आयामों का उद्घाटन होता है। इस दृष्टि से रीतिकालीन साहित्य पर लगभग १४ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस दिशा में तीन प्रकार से कार्य हो सकता है—

(i) रीतिकालीन हिन्दी साहित्य पर कवि या धारा की दृष्टि से शोध की अनल्प संभावनाएँ है। अभी तक बिहारी और अमीरदास की सतसई की तुलना ही हुई है। रीतिबद्ध कवियों अथवा उनकी कृति-विशेष को किसी दृष्टि से परस्पर तुलना, शृंगार-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्यानुभूति आदि की दृष्टि से रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्यधारा का तुलनात्मक अध्ययन, रीतिकालीन कवियों व कवयित्रियों के काव्य में नारी-जीवन का तुलनात्मक अध्ययन, हिन्दी-भाषी व अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में प्राप्त रीतिकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन आदि अनेक विषय अछूते पड़े हैं।

(ii) द्वितीय वर्ग में हिन्दी के इतर-रीतिकालीन खंडों, उनके कवियों व कृतियों का अध्ययन हो सकता है। इस दृष्टि से संभवतः कोई भी कार्य नहीं हुआ। आदिकालीन वीरकाव्य या शृङ्गार काव्य को लेकर अथवा छायावादी या नवस्वच्छन्दतावादी काव्य को लेकर रीतिकालीन काव्य से तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। पक्ष-विशेष को लेकर सूर व बिहारी, देव व केशव के काव्य की तुलना की जा सकती है।

(iii) तीसरे वर्ग में इतर हिन्दी भाषाओं के तत्कालीन काव्य-धारा या कवियों से तुलना हो सकती है। मराठी व तेलगु (शृंगार काव्य), कन्नड़ (अलंकारशास्त्र) तथा उर्दू (सांस्कृतिक

साहित्यिक समाजशास्त्रीय) के काव्यों से ही कुछ दिशाओं में तुलनात्मक शोध-कार्य हुआ है। इस क्षेत्र में भी शोध की बहुत संभावनाएँ हैं। फारसी के वीर काव्य, प्रशस्ति काव्य, मुक्तक काव्य भी तुलनात्मक पृष्ठभूमि के लिए उपयुक्त है। गुजराती, असमिया, बंगाली भाषाओं के तत्कालीन साहित्य से तुलना के क्षेत्र भी अछूते पड़े हैं।

४. काव्यशास्त्रीय पक्ष--प्रायः कहा जाता है कि रीति कवियों का लक्ष्य संस्कृत काव्य-शास्त्र की उद्धरणी प्रस्तुत कर देना मात्र था। अतः सिद्धान्तों और उनका प्रयोग इस साहित्य में बहुलता से मिल जाता है। किन्तु इस दृष्टि से शोध-कार्य उतना नहीं हो पाया है। सिद्धान्त-प्रयोग की दृष्टि से तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो रीतिकालीन काव्य में वक्रोक्ति व औचित्य सिद्धान्तों को लेकर लिखे गये हैं। छन्दों के विकास और दोहा छन्द को लेकर मध्यकाल पर तीन ग्रन्थ मिलते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में रीतिशास्त्र का विवेचन करते हुए विद्वानों ने इसे प्रायः 'अनुकरण' और 'पिष्टपेषण' का नाम दिया है। किन्तु दूसरी ओर उनके द्वारा नवीन छन्दों की उद्भावनाओं, अलंकारों के नवीन भेदों आदि की ओर भी संकेत किए गये हैं। अतः काव्यशास्त्र को रीतिशास्त्र की क्या देन है?---इसके सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। किस कवि-आचार्य ने किन-किन नये छन्दों की उद्भावना की? इसकी पृष्ठभूमि में क्या कारण विद्यमान थे? हिन्दी में नायिका-भेद का विस्तार कहाँ तक किया गया? इससे मौलिकता व अनुकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट हो सकेगी। लक्षण ग्रन्थों का भी पाठालोचन की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है।

५. इतरलिपियों में प्राप्त साहित्य पर शोध--इस क्षेत्र में अभी बहुत कम शोध हुए हैं। हरभजनसिंह, जयभगवान गोयल, गोविन्दनाथ राजगुरु आदि ने इस क्षेत्र में साहसिक कदम उठाये है। किन्तु अभी कुछ साहित्य खोजा हो गया है। उन पर शोध-कार्य उतना नहीं हुआ जितनी समीक्षाएँ मिलती हैं। दूसरे, गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य पर ही सामान्य कार्य हुआ है। मराठी व गुजराती लिपियों से सन्त रेणु आदि पर किया गया कार्य प्राथमिक और अत्यल्प है। इस क्षेत्र में दो प्रकार का शोध-कार्य हो सकता है। एक तो विविध लिपियों से हस्त-लिखित ग्रन्थ उपलब्ध किए जाएँ और एक विषय पर प्राप्त एकाधिक प्रतियों के अन्तःसाक्ष्य व बहिसाक्ष्य के आधार पर अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक प्रति का चयन किया जाये। यह शोध-कार्य आगामी शोध के लिए पृष्ठभूमि का काम करेगा। गुरुमुखी, गुजराती, मराठी, फारसी, रोमन, शारदा, टाकरी---विविध लिपियों में प्राप्त हिन्दी साहित्य को खोजकर यह कार्य करना बड़ा अनिवार्य है। दूसरे प्रकार के शोध में संत तुकाराम, प्राणनाथ, अखा, दीन दरवेश, प्रतापसिंह, प्रीतमदास, छोटम वस्तो विश्वम्भर, निरान्त आदि के काव्य पर विविध दृष्टियों से सूक्ष्म अध्ययन हो सकता है।

पंजाब में गुरुमुखी लिपि में खड़ीबोली की चार-पाँच सौ वर्ष प्राचीन परम्परा प्राप्त हुई है। इस पर शोध-कार्य खड़ीबोली के इतिहास में बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य जोड़ सकता है। गोविन्दनाथ राजगुरु ने अपने शोध-ग्रंथ 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी गद्य' में लिखा है---'वस्तुस्थिति यह है कि अठारहवीं शती को गद्य के चरम वैभव की शती सरलतया कहा जा सकता है।' (पृ० ७) खड़ीबोली का गद्य, जिसे साधारणतया वारतक भाषा, मुक्ति (मुक्त) भाषा आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है---पंजाब में ईसा की सोलहवीं शती से ही मिलने लगता है। (पृ० १४) आगे वे इस साहित्य का भाषावैज्ञानिक महत्त्व दर्शाते हुए लिखते हैं शब्द-रूप कारक विभक्ति-चिह्न क्रियापद तथा वाक्य-गठन की दृष्टि से यह भाषा-सामग्री अद्यावधि उपलब्ध खड़ी-

बोली के साहित्य में सबसे प्राचीन तथा पूर्णतः प्रामाणिक है।' (पृ० १६) अतः इस क्षेत्र में शोध की अपरिमित संभावनाएँ हैं। भगीरथ मिश्र ने भी इस काल के गद्य पर शोध की ओर संकेत किया है—'पत्र, दस्तावेज, अभिलेख, शिलालेख व भाषाओं तथा वार्ताओं आदि में प्राप्त विविध रूपों का अनुसंधान अभी होना है। टीकाओं, चम्पू काव्यों व कथा-साहित्य का गद्य भी अभी उपेक्षित पड़ा है।'

६. कृतिपरक शोध—यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि ३३०० प्राप्त रचनाओं में से आठ-दस चुनी हुई रचनाओं पर ही ऐसा शोध-कार्य हुआ है। यह स्पष्ट है कि कृतिपरक शोध अधिक गहन-गंभीर तथा व्यापक आयामों में होता है। अतः युग, परिवेश अथवा धारा-विशेष के रूप में किसी काल की कृतियों का विश्लेषण हो चुकने के पश्चात् ऐसा कार्य अधिक उपयोगी हो सकता है। यह भी समस्या है कि अभी अनेक कृतियों का सांगोपांग विश्लेषण भी नहीं हुआ है। किन्तु फिर भी कृतिपरक शोध के लिए बहुत-सी रचनाएँ ठोस आधार देती हैं। अभी तक 'बिहारी सतसई' पर सर्वाधिक कार्य हुआ है जिनमें सांस्कृतिक, भाषा-वैज्ञानिक, शैल्पिक आदि दिशाएँ चुनी गई हैं। 'रामचन्द्रिका, सुजान चरित, स्यामसनेही' आदि कुछ ही ग्रंथों पर शोध-कार्य हुआ है। इसी प्रकार अनेक ग्रन्थ विविध दृष्टियों से शोध की माँग कर रहे हैं। काव्य के तत्त्व-चतुष्टय की दृष्टि से शोध की अपरिमित संभावनाएँ हैं। कृति-विशेष में शब्दार्थ-नियोजन को लेकर महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता है। प्रकृति चित्रण की दृष्टि से गुमान मिश्र की 'कृष्णचन्द्रिका' और खुमान मिश्र की 'कृष्णायन' श्रेष्ठ और सशक्त रचनाएँ हैं। इन उपेक्षित कृतियों पर पृथक् रूप से शोध-कार्य हो सकता है—ऐसा संकेत डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया है।

७. कालपरक शोध—कालपरक शोध का अर्थ है समूचे रीतिकालीन काव्य के परिप्रेक्ष्य में किसी प्रवृत्ति-विशेष को लेकर शोध-कार्य करना। यह क्षेत्र विशेष रूप से व्यापक है। यों भी शोध-कार्य की गुंजाइश तो सदा ही सभी क्षेत्रों में रहती है।

रीतिकालीन साहित्य के शृंगार पक्ष पर प्रायः सामान्य व परम्परागत दृष्टि से ही शोध-कार्य हुआ है। इनमें नख-शिख वर्णन, सौन्दर्य-प्रसाधन, उद्दीपन विभाव, नायिका-भेद आदि पक्षों को लिया गया है। इन विषयों से स्पष्ट है कि उस काव्य को काव्यशास्त्रीय सन्दर्भों में देखने-समझने की लीक बनती चली जा रही है। एक युग जब बदलता है, तब उसके पीछे सभ्यता, समाज, संस्कृति आदि से संबंधित मान्यताएँ, मूल्य—सब में बदलाव आता है। तब यदि नयी (सामान्य अर्थ में) दृष्टि से विगत युग के साहित्य को देखा-परखा जाये, तो दृष्टि में व्यापकता भी आती है और रचना के नये रचनात्मक आयाम भी हमारे सामने आते हैं। उस युग के साहित्य की प्रासंगिकता का भी पता चलता है। अतः नये निष्कर्षों पर, नयी दृष्टि से विगत साहित्य की परख और मूल्यांकन होना ही चाहिये। रीतिकालीन काव्य के शृंगार पक्ष का अध्ययन आधुनिक-बोध के आधार पर किया जाना चाहिए। केवल रस और अन्य काव्यशास्त्रीय मानदंड इसके लिये अपर्याप्त रहेंगे। रस मूल्यांकन-सापेक्ष मानदंड नहीं है। रस का निकष जीवन-मूल्यों से प्रत्यक्ष रूप से सरोकार नहीं रखता। अब रीतिकाल के प्रत्येक कवि अथवा कृति-विशेष पर लालित्य तत्त्व या सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से सूक्ष्म शोध-कार्य हो सकता है। रीतिकाव्य के अन्तर्वर्ती सौन्दर्य-विधान की रचना-प्रक्रिया, रीतिबद्ध काव्य में सौंदर्यानुभूति तथा रीतिमुक्त काव्य से उसकी तुलना आदि महत्त्वपूर्ण विषय अभी उपेक्षित पड़े हैं।

विवेच्य अवधि के काव्य में वीरता पक्ष को लेकर 'दरबारी कवि' नाम से बहुत से कार्य हुए हैं। इनका रुझान सर्वेक्षण या समीक्षा की ओर अधिक है, शोध की ओर कम है। शुक्लजी ने इस

युग के वीर काव्य को 'अन्य' की कोटि में रखकर वहाँ उसे प्रकीर्ण रूप में स्थान दिया है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २२३)।

इधर डॉ० तोमर, डॉ० जयभगवान गोयल आदि ने इस युग के कुछ श्रेष्ठ वीरकाव्यों की सूची दी है। पहले तो इस कालखंड में लिखे गये वीरकाव्यों की खोज करनी है। तदुपरान्त इनके आधार पर विविध दिशाओं में शोध करके वीर काव्य का सही चित्र प्रस्तुत करने की बहुत आवश्यकता है। तत्कालीन वीरकाव्य में वीर रस, राष्ट्रीयता, कथा-सौष्ठव आदि दृष्टियों से महत्वपूर्ण कार्य हो सकता है। कृष्ण नारायण प्रसाद मागध ने कुछ रासो-काव्यों की सूची दी है जो इस काल-खंड मे पडते हैं और शोध की दृष्टि से उपेक्षित रहे हैं। (हिन्दी साहित्य : युग और धारा, पृ० ६७)

इस साहित्य के भक्ति पक्ष पर भी सम्प्रदाय विशेष को लेकर ही अधिक कार्य हुआ है, वह कार्य प्राथमिक व सामान्य स्तर का अधिक है। डॉ० भगीरथ मिश्र के मत मे 'भक्ति का विशद विस्तार रीतिकाल मे अधिक हुआ है।' (हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—७, संपादकीय वक्तव्य)। विशेष रूप मे सन्त साहित्य का यहां बहुत अधिक विकास हुआ। 'भक्ति' शब्द के अर्थ से थोड़ा बाहर निकल जाएँ, तो जैनों और सन्तों का काव्य, सूफियों का काव्य शोध के बहुत से आधार देता है। रामभक्ति-काव्य और कृष्णभक्ति-काव्य पर भी पृथक् रूप से ऐतिहासिक अथवा कृति-सापेक्ष शोध-कार्य किया जा सकता है। सहजराम का 'रघुवंशदीपक' नामक महाकाव्य रीतिकाल का 'रामचरित-मानस' कहा जा सकता है, किन्तु इस पर शोध-कार्य नहीं हुआ है।

विवेच्य साहित्य के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष पर सामान्य समीक्षात्मक कार्य अधिक हुआ है, शोध की प्रवृत्ति उनमें उतनी मुखर नहीं प्रतीत होती। अभी तक इस काव्य में नारी की स्थिति का बोध नायक-नायिका के आधार पर ही होता रहा है। अब दाम्पत्य-शृङ्गार व दाम्पत्य-संबंधों के अन्वेषण की आवश्यकता है। इस युग में पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के क्या आधार थे? यौन-सम्बन्धों, स्त्री-पुरुष-संबंधों की क्या स्थिति थी और उसके पीछे क्या कारण थे?—इनकी खोज नये सिरे से की जानी चाहिये।

तत्कालीन हास्य-व्यंग्य तथा नीतिपरक साहित्य भी स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है। छछूंदर रायसा, घूस रायसा आदि अनेक लघु रासो काव्य की विशुद्ध व्यंग्य-रचनाएँ इसका आधार प्रस्तुत करती हैं। नीतिपरक काव्य में काव्य-तत्त्वों या उसके समीकरण की खोज की जा सकती है। इस काव्य में लोक-तत्त्वों की खोज पर विशेष बल देना आवश्यक है। डॉ० महेन्द्रप्रताप सिंह के शब्दों में 'इस काल की कविता के सौन्दर्य-बोध को समझने और उसकी सही व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये लोक-तत्त्वों की पृष्ठभूमि को समुचित महत्त्व प्रदान करने की आवश्यकता है।'

शिल्प पक्ष—रीतिकालीन रीतिकाव्य मुख्य रूप से कला-प्रधान माना जाता रहा है। अत: इसमें लक्षणा, बिम्ब, प्रतीक, काव्य-रूढ़ियों आदि को लेकर लगभग बीस शोध-ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। किन्तु शिल्प को परखने के यह मानदंड अब रूढ़ से हो गए हैं। इनके माध्यम से शिल्प के विविध पक्षों का अनुशीलन खंड-खंड में तो हो सकता है, किन्तु संश्लिष्ट रूप से नहीं हो पाता है। अत: यदि इस कमी को पूरा करने वाला कोई मानदंड हो, तो उसे व्यवहृत करना चाहिए।

इधर आठवें दशक में समीक्षण की दो भाषिक पद्धतियाँ—शैली-वैज्ञानिक और स्थापत्य पद्धति—प्रचलन मे आयी है। शैली-वैज्ञानिक पद्धति का अभी कोई मॉडल तो स्थिर नहीं हुआ, किन्तु अपने टैक्नीकल औजारों और वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से यह रचना की भाषा के जरिए उसके भाव तक और इससे आगे जीवन तक पहुँचने का प्रयास करती है इसी प्रकार 'स्थापत्य

जो अभी नाटक के क्षेत्र में ही आयी है, को काव्य पर लागू कर के देखना चाहिये कि काव्य-शिल्प के विविध तत्त्व एक-दूसरे को कितना सहयोग देकर रचनात्मक परिणति को प्राप्त होते है ।

शोध की ऐतिहासिक दृष्टि—एक इतिहासकार जब युग-विशेष का अध्ययन करता है तो वह उस युग के विविध पक्षों का ऐतिहासिक दृष्टि से ही देखेगा । किन्तु जब एक साहित्यकार किसी युग का अध्ययन करता है तो वह साहित्य से प्राप्त होने वाले अन्तःसाक्ष्यों का आश्रय अवश्य लेता है और उसके माध्यम से ऐतिहासिक तथ्यों की खोज या पुनर्व्याख्या करता है । रीतिकाल पर इस तथ्य को लागू करें तो थोडा आश्चर्य होता है । यहाँ विद्वानो ने इतिहास के चश्मे से ही साहित्य को देखा है । यह भी संभव है कि मुगलों और अंग्रेजो ने इतिहास-लेखकों पर अपने पक्ष के लिए कुछ दबाव डाले हो । अतः उन ऐतिहासिक तथ्यों का पुनर्परीक्षण तो होना ही चाहिए । इतिहास-लेखन में साहित्य को प्रमाण मानना बहुत आवश्यक है । विशेष रूप से ऐतिहासिक (इतिहास-प्रधान) काव्यो से अछूती इतिहास-सामग्री मिल सकती है । 'भूषण ग्रन्थावली में मराठों का इतिहास' विषय पर वृहत् शोध-कार्य चल रहा है । इस दिशा में और प्रयास होने बहुत उपयोगी रहेंगे । इस प्रकार साहित्य के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर रीतिकाल के ऐतिहासिक सन्दर्भ खोजने की आवश्यकता है । डॉ० महेन्द्रप्रताप सिंह ने 'रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या' में लिखा है—'युग के इतिहास वा साहित्य के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों का अन्वेषण किया जाना चाहिये ।' तथ्य जो साहित्य में है लेकिन इतिहास में नही, या इतिहास में है लेकिन साहित्य में नही—इनका कारण खोजकर सही तथ्यों को सामने लाया जाना चाहिए ।

वस्तुतः रीतिकालीन साहित्य की आलोचना करते हुए आलोचकों की दृष्टि पूर्वाग्रह से प्रेरित रही है, या फिर नकारात्मक अधिक रही है । इससे रीतिबद्ध काव्य का विवेचन अधिक हुआ है और इसके प्रणेताओं पर 'आचार्य' शब्द लादने का प्रयास अधिक रहा है । इस कारण उनका व्यक्तित्व, साहित्य में उनकी मौलिकता तथा उनकी देन—सब कुछ धुँधलके में रहा है । संस्कृत-काव्यशास्त्र के साथ जोड़ दिए जाने के कारण इनका कवि-रूप उपेक्षणीय समझा जाता रहा है । यहाँ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्द उल्लेखनीय हैं—'इस युग के निर्माता शास्त्र के आचार्य नहीं थे, कवि ही थे ।' (हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २, पृ० ८) ।

जब नये तथ्य प्रकाश में आते हैं तो पहले से प्राप्त तथ्यों की पुनर्व्याख्या करनी पड़ती है । इस प्रकार शोध की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है ।

१८, गोविन्द नगर,
अंबाला छावनी

स्वातंत्र्योत्तर नारी का यौन-सम्बन्धी दृष्टिकोण



डॉ० (श्रीमती) ज्ञानेश्वरी बाजपेयी

स्वातन्त्र्योत्तर युग में स्त्री-समस्या का विवेचन ही हिन्दी कथा-साहित्य का मुख्य ध्येय रहा है क्योंकि नारी के ही रूप व स्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन स्वतन्त्रता से पूर्व अनुभव किया गया था। अतः आधुनिक युग में नारी की स्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो गई है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के कारण नारी-सम्बन्धी परम्परागत प्रतिमानों का अवमूल्यन हो गया है। परम्परागत रूप से चले आ रहे माँ, बहन, पत्नी के आदर्शों की कल्पना अब कथा-साहित्य से तिरोहित होने लगी है। अब साहित्यकार मनोवैज्ञानिक व्याख्या पर आधारित नारी के अन्तर्भावों की गुत्थियों को उद्घाटित करने लगे हैं। अब नारी-चित्रण कल्पना के आधार पर न होकर यथार्थ के आधार पर होने लगा है। मात्र नारी के आदर्श रूप को ही नहीं, वरन् उसके वासना, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम आदि भावों को भी चित्रित किया जा रहा है। नारी को लेकर नैतिकता एवं अनैतिकता के प्रश्न को रचनाकार अब नहीं उठाते हैं, वरन् नारी को उसके यथार्थ रूप में—आन्तरिक व वाह्य रूप में जैसी वह है, उसी को चित्रित करते हैं।

'मनोवैज्ञानिक कथा-साहित्य का आधार यौन-समस्या ही है। प्रेम के त्रिकोणात्मक संघर्ष की फार्मूलाबद्ध कथा को लेकर लिखे गए उपन्यासों की संख्या इस युग के उपन्यासों में सबसे अधिक है।'[1] कथा-साहित्य का समस्त परिवेश प्रेम की स्थितियों, समस्याओं एवं संघर्ष में ही सीमित हो जाता है। इस प्रकार का यौन-प्रधान कथा-साहित्य जीवन के व्यापक परिवेश का कहीं स्पर्श भी नहीं कर पाता।

स्वतन्त्रता-पूर्व के कथाकार फ्रायड द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। यही मुख्य कारण था कि साहित्यकारों का मोह परम्परागत शैली के चित्रण से समाप्त-सा हो गया, लेकिन इस परिवर्तन के मूल में फ्रायड व उनके साथियों का प्रभाव ही नहीं है, अपितु उसमें भारतीय नारियों की स्वयं की परिवर्तित स्थिति भी सम्मिलित है। भारतीय जीवन में सामाजिक, नैतिक मान्यताएँ खंडित हो रही थीं—यह पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का ही परिणाम था। इसके कारण एक विशेष प्रकार की उच्छृङ्खलता, नग्नता-प्रदर्शन, कामोत्तेजक हावभाव-प्रदर्शन की प्रवृत्ति तीव्रता से पनप रही थी। दोषपूर्ण शिक्षाप्रणाली, चित्रपट आदि इस अग्नि में घृत-आहुति का कार्य कर रहे थे। अब लेखक स्वतन्त्रता-पूर्व की कथा-परम्परा से हटकर एवं नवीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में चरित्रों की अवतारणा करने लगे हैं। अब लेखक मात्र समस्या-समाधान में रुचि नहीं लेते थे। इसके प्रमाण जैनेन्द्र, जोशी, यशपाल, अज्ञेय के कथा-साहित्य में ही प्राप्त होने लगे हैं। जैनेन्द्र की कट्टो, मृणाल, सुनीता, कल्याणी; जोशी की लज्जा, मंजरी, सिरंजना; यशपाल की शैला, राजदुलारी, दिव्या आदि नारियाँ परिवर्तनों की प्रतीक है। जैनेन्द्र की कुछ नारियाँ तो विवाहित होकर भी अन्य पुरुष से प्रेम करती हैं, किन्तु इस द्वंद्व में भी वे अपने कर्तव्यों के प्रति सतर्क रहती है। इस प्रकार के नारी

पात्रों की एक मुख्य विशेषता उनमें अहंभाव की प्राथमिकता है। पूर्ण आधुनिक होने के कारण वे अपने अहं को पराजित नहीं देख सकतीं। वे परम्पराओं को भी पूर्ण रूप से त्याग नहीं सकीं। किन्तु अब नारी चरम आधुनिक रूप में पहुँच गई है—इसके चित्रण नवीनतम कथाकारों के साहित्य में प्राप्त होते हैं।

परम्परागत विचारधारा में नारी-पुरुष के प्रेम और काम को अभिन्न स्वीकार किया गया है। किन्तु नवीन नैतिकता इन दोनों को बिखेर देती है। यौन-भावना शरीर की एक प्राकृतिक आवश्यकता अथवा प्राकृतिक क्षुधा है जिसकी तृप्ति चाहे जैसे भी हो, होनी ही चाहिए। इसे नियन्त्रित करने की आवश्यकता फ्रायड के अनुसार नहीं है। उनके अनुसार काम चेतना-जगत् के समस्त क्रिया-कलापों का मूल है। फ्रायड की इस धारणा ने काम-सम्बन्धों से सम्बद्ध नैतिकता को समाप्त कर दिया। अब काम-सम्बन्ध, प्रेम और विवाह के लिए एक ही व्यक्ति का होना आवश्यक नहीं है।

वास्तव में मनोवैज्ञानिक मनीषियों के मत से विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है और काम प्राकृतिक क्षुधा तथा प्रेम एक रागात्मक वृत्ति है। परम्परागत मान्यताओं में इन तीनों को सम्मिलित रूप में देखा गया था। किन्तु आधुनिक युग की नारी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए विवश नहीं है।

फ्रायड की इसी धारणा को ग्रहण करके हिन्दी साहित्य में मुख्यतः चार लेखक उभरे—जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और अज्ञेय। काम-भावना को मात्र प्राकृतिक क्षुधा स्वीकार करने वाले लेखकों में केवल यशपाल को ही रेखांकित किया जा सकता है। यशपाल मार्क्सवादी हैं। उनके अनुसार मानव का किसी भी रूप का शोषण अन्याय था। समाज में सबको समता का अधिकार स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना चाहिए। इसी सन्दर्भ से उन्होंने नारी को पुरुष-शोषण से मुक्त करके उसे यौन-क्षेत्र में स्वतन्त्र आचरण की सुविधा दी। नारी का 'वस्तु' के रूप में उपयोग होना उन्हें सह्य नहीं। नारी इसी अन्याय के विरोध में यौन स्वतन्त्रता की कामना करने को तत्पर हुई। नारी ने परम्परागत यौन-बंधन को तोड़ा। उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा नारी के प्रति यौन-शुचिता की रही है।

जैनेन्द्र, जोशी तथा अज्ञेय ने काम को कहीं भी मानसिक स्वीकृति से भिन्न करके नहीं देखा है। यौन-क्षुधा की तृप्ति के चित्रण की दृष्टि से देखा जाय तो स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य में नारी का सर्वाधिक नूतन आयाम विकसित हुआ है। अब यौन-सम्बन्धों की स्वीकृति नारी की विवश स्थिति नहीं है। मानसिक समर्पण के साथ शारीरिक समर्पण की अनिवार्य भावना नहीं है, बल्कि ऐसे नारी पात्रों का चित्रण हुआ है जो स्वयं यौन क्षुधा में ही परम्परागत नारी-प्रतिमा को खंडित करके खड़ी हैं। पर प्रश्न है कि नारीगत यह सर्वथा नवीन आयाम क्या कथाकार की साहस-पूर्ण कल्पना मात्र है? क्या नारी शारीरिक तृप्ति के इस कगार पर स्वयं खड़ी नहीं हो गई है? नारी के इस परिवर्तित रूप के मूल में बदलता हुआ सम्पूर्ण मानवीय समाज है।

नारी के इस परिवर्तन का सर्वप्रमुख कारण है नारी का अब आर्थिक रूप में पूर्ण स्वतन्त्र हो जाना। आर्थिक परतन्त्रता ही नारी के लिए एक ऐसा विवशतापूर्ण बन्धन था जिसके कारण उसे अपनी भावनाओं की हत्या करनी होती थी। आधुनिक युग में नारी शिक्षित हुई, आर्थिक रूप से समर्थ हुई तो उसे समाज में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश की छूट हुई। इससे उसे पुरुष-सम्पर्क के अधिक अवसर प्राप्त हुए, अतः नारी के प्रतिमान परिवर्तित होने लगे। कुछ तो उसकी परिस्थितियों ने उसे परिवर्तित किया और अधिकांश उसके मनोविज्ञान ने। सर्वाधिक परिवर्तन प्रेम व यौन के क्षेत्र में ही दृष्टिगत हुआ। आधुनिक नारी की यौन निर्बन्धता कुछ तो इसलिए भी है कि वह आधुनिक तथा 'बोल्ड' हो रही है। मशीनी दौड तथा [illegible] दृष्टिकोण से ग्रस्त

आधुनिक मानव जीवन तथा जगत् के प्रति किसी गहरे बोध की अनुभूति नहीं करता है स्वभावत आज की नारी आधुनिकता की दौड़ में समाज, परिवार तथा प्रेम-सेक्स जैसे व्यक्तिगत आसंगों के प्रति किसी गहरी अनुभूति का अनुभव न करके केवल उथले-उथले तैर कर आगे निकल जाना चाहती है। किन्तु इसके मूल में एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि इधर के कथा-लेखक स्वयं भी 'आधुनिक' तथा 'बोल्ड' बनना चाहते है। इस 'बोल्डनेस' के लिए सबसे सुगम रास्ता यह है कि वे नारी को अधिकाधिक अनावृत्त करते जाएँ।

'नारी के इस प्रकार के चित्रण में बिचौलिया नव-लेखकों ने सांस्कृतिक संक्रमण की विसंगतियों की जो सामाजिक यातना उभारी, वह 'भय' और 'सेक्स' की धुरी पर रही, अत: उसका बोध फूहड़पन और संत्रास का रहा। छायावादी नारी-पूजा के स्थान पर उन्होंने हिप्पीवादी नारी-भोग की जो संरचना की, उसमे डायोनिसस तथा कंदर्प कुर्बान हो गए। निर्मल वर्मा ने यूरोप की बियर पीती लड़कियाँ, गर्भपात करातीं प्रेमिकाएँ तथा तजकूमल चौधरी ने हेनरी मिलर की जैसी भूखी-प्यासी रमणियाँ, व्यभिचार और गुप्त रहस्यों में सेक्स के खेल खेलती युवतियाँ पेश कीं। बाल-विवाह के शिकार कस्बई अंचलों से आए सेक्स की किसी भी रोमांटिक अनुभूति से वंचित नव-लेखकों ने काव्य-शरीर को रमणी-शरीर और रमणी-शरीर को सांस्कृतिक शरीर ही बना डाला। हर युग में पुरुष नारी-पूजा और नारी-भोग की सांस्कृतिक रचना करता रहा है।'' लेकिन प्रश्न यह उठता है कि नारी का यह कामातुर रूप समाज में विद्यमान नारी-रूप की प्रतिछाया है अथवा कहीं लेखकों ने इस रूप-निर्णय में अपने ही मन की कुण्ठा को प्रतिबिम्बित किया है। निश्चय ही समाज में विद्यमान सम्पूर्ण नारी-वर्ग का यही रूप नहीं है। ऐसा प्रतिमान तो अपने को अत्याधुनिक होने का बोध कराने वाली कुछ नारियों पर ही लागू होता है। नारी स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण करने के साथ-साथ परम्परा से आज भी असंदिग्ध रूप से जुड़ी है।

रीतिकालीन कवियों के लिए यह प्रतिस्थापित मान्यता है कि तत्कालीन निराशा तथा मनोबलहीन जनता ने विलास की मदिरा में अपने को भुला दिया जिससे नारी-प्रतिमा इस तरह धूमिल हुई कि उसे पुन: चमकाने में शताब्दियाँ लग गईं। कदाचित् पिछले दो-तीन दशकों का विघटित संत्रस्त समाज के विशिष्ट कथा-लेखक ने नारी के सम्पूर्ण बिम्ब (इमेज) को केवल जंघाओं तक सीमित करके रीतिकालीन कवियों की तरह अपने संत्रास के लिए विश्राम-स्थली ढूँढ़ ली है।

इसके अतिरिक्त कथा-साहित्य मे चित्रित नारी के परिवर्तित रूप के मूल में एक अन्य सूक्ष्म कारण है कि आज नारी पुरुष की स्पर्धा में, किन्हीं अर्थों में, कहीं कम नहीं है। लेकिन सदियों से नारी को हीन समझने वाला भारतीय अभी भी शताब्दियों के संस्कार से मुक्त नहीं हो पाया है। अत: उसका पराजित अवचेतन मन अप्रत्यक्ष रूप से नारी को विवस्त्र करता हुआ उसकी प्रतिभा को खंडित कर रहा है। एक अन्य कारण है कि आधुनिक युग की साहसिकता, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, निरंकुश शासन, अवसरवादी एवं स्वयं-सुखभोगी राजनीति, सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक विषमता यौन क्षेत्र का खुला वर्णन करने में प्रकट होती है।

प्रेम व काम के सम्बन्ध में जो अवैध मान्यताएँ थीं, उन्हें ही वर्तमान सन्दर्भ में वैधता की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न किए जा रहे है। इन समस्त परिवर्तनों की पृष्ठभूमि मे परिवर्तित होता हुआ मानवीय दृष्टिकोण है। आधुनिक उपन्यास-कहानियों में काम की शाश्वत आवश्यकता की पूर्ति की आकांक्षा से प्रेरित लेखक यौन स्खलन का चित्रण इस रूप में करने का प्रयास कर रहे हैं कि स्खलित व्यक्ति के प्रति घृणा के स्थान पर संवेदना का भाव उत्पन्न हो।

स्वतन्त्रता-पूर्व के प्राय: सभी कथाकारों ने 'काम' तत्त्व का समाज-स्वीकृत रूप ही चित्रित

किया है। नग्न अथवा अश्लीलता की श्रेणी में आने वाला अमर्यादित वर्णन कहीं प्राप्त नहीं होता। परन्तु इधर दो-तीन दशकों के लेखक इस अश्लील चित्रण के लिए किसी आवरण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। "इस प्रकार प्रेम व यौन को वर्जन के क्षेत्र से बाहर निकाल कर वर्तमान उपन्यासों का महत्वपूर्ण केन्द्र बना दिया गया है।"[३]

आधुनिक जीवन में नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्पर्क के अवसर अधिक मिलने के कारण भी पारस्परिक मान्यताओं में अन्तर आया है। नारी-शिक्षा व नारी-स्वतन्त्रता की भावना ने भी इस क्षेत्र में नवीन स्पष्ट स्वच्छंदता को प्रश्रय दिया है। पाश्चात्य जीवन दर्शन को आदर्श स्वीकार करने वाली नारी आधुनिक युग में प्रेम-यौवन के सम्बन्धों में परम्परा का विरोध करती है। विवाह-पूर्व डेटिंग का प्रयोग पाश्चात्य की भाँति भारतीय उच्च वर्ग में भी स्वीकृत हो चुका है। इस प्रकार आधुनिक युग में युवतियाँ परम्परागत विचारों से चिपके रहना 'दकियानूसीपन' समझती हैं।

लेकिन आधुनिक युग की नारी यथार्थ जीवन में तथा कथा-साहित्य की दुनिया में सम्बन्धों को तोड़ने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। काम को लेकर मन में कुठाएँ पालना एवं सतीत्व व कौमार्य नष्ट हो जाने जैसी बातें उसके लिए अर्थहीन हैं। पहले सहयोग सन्तति-प्राप्ति के लिए होता था, किन्तु अब 'परिवार-नियोजन' के युग में वह तनाव दूर कर सुख प्राप्त करने के लिए होता है। नवीन दृष्टि के अनुसार सैक्स और सन्तति दो पृथक् नाते हैं। "पता नहीं आज की मनुष्यता किस यौन मेघ की तैयारी में है। एक ओर संतति-निग्रह का सामाजिक पैमाने पर व्यापक प्रचार और प्रसार हो रहा है; दूसरी ओर यौन परिकल्पनाओं की यह उपासना! शायद ही किसी पूर्ववर्ती युग में गर्भाशय का मुख बन्द करके यौनाशय के द्वार का इस प्रकार उन्मूलन किया गया होगा।"[४]

उन्मुक्त रोमांस को अब प्रश्रय प्राप्त हो रहा है। इसका मुख्य विषय ही शायद 'क्षुधा' और 'काम' हो गए हैं। विकासमान नवीन नैतिकता का आग्रह है कि धर्म काम का विरोधी न रहे। काम-भावना प्राकृतिक माँग है। धर्म, पाप-पुण्य, नीति-अनीति, पवित्रता-अपवित्रता आदि से अब काम-भावना को असम्बद्ध कर दिया गया है। अब जीवन में श्लील-अश्लील पर चिन्ता करना निरर्थक समझा जाने लगा है। यथार्थ के नाम पर नग्नता-प्रदर्शन की होड़-सी लगी है। मनुष्य आदिम स्थिति का उपभोग पुनः करने के प्रयत्न में संलग्न प्रतीत होता है। इसीलिए प्रेम और सेक्स में स्वेच्छाचार को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

आधुनिकतावादी उक्त विचारधाराओं के परिणामस्वरूप दाम्पत्य-जीवन-सम्बन्धी नैतिक मान्यताएँ शिथिल हो रही हैं। एकनिष्ठता की माँग अब अनुचित एवं रूढ़िवादी प्रतीत होती है। शिष्ट पति-पत्नी को अब एक-दूसरे के आचरणों के सम्बन्ध में मौन धारणा करना चाहिए। यहीं तक नहीं, आधुनिक परिवेश में अब यह भी स्वीकार हो गया है कि पति व प्रेमी पृथक्-पृथक् व्यक्ति हो सकते हैं। समाज को भी अब इस स्थिति पर आक्रोश दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं। कृत्रिम प्रजनन और परख-नली सूत्रों की भावी सम्भावना ने मानव की नैतिक भावना पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। "आत्मा का सम्बन्ध शारीरिक सम्बन्ध से पृथक् होता है। अगर पति और पत्नी में परस्पर प्रेम है तो छुटपुट स्खलनों से उन्हें कुपित नहीं होना चाहिए। अर्थात् प्रेम इतना पवित्र और महार्घ तत्व है कि उस पर दैहिक स्खलनों के दाग नहीं पड़ते।"[५]

वस्तुतः स्वातंन्त्र्योत्तर काल में जिस नवीन उपयोगितावादी चेतना का विकास हुआ है, उसमें नारी का अहं सशक्त रूप में विकसित होता दृष्टिगोचर होता है। पुरुष का अस्तित्व तो सदैव से ही था, इसी कारण प्रेम की नवीन स्थिति में दोनों ही अपने-अपने व्यक्तित्व को मिटाने के लिए प्रस्तुत नहीं, वरन् उसके प्रति प्रत्येक क्षण सतर्क रहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि

प्रेम में जो नवीन स्थितियाँ स्वातंत्र्योत्तर काल मे उभरी, उसमे दोनों ही पक्ष अतिरिक्त रूप से सचेत रहने लगे है और भावुकता का वहाँ कोई भी महत्व शेष नही रह गया है। "यह प्रेम का नया यथार्थ है जिसे कथाकार ने बड़ी संख्या में अपनी कहानियों मे चित्रित किया है।"[६] इस प्रकार की कुछ कहानियाँ है---'सोलवे साल की बधाई' (सुरेश सिन्हा), 'धरती अब भी घूम रही है' (विष्णु प्रभाकर), 'यही सच है' (मन्नू भंडारी), 'बादलों के घंटे' (कृष्णा सोबती), 'एक अनउगा दिन' (विनीता पल्लवी), 'लवर्स' (निर्मल वर्मा), 'वासना की छाया में' (मोहन राकेश), 'वर्षा भीगी' (नरेश मेहता), 'छोटे-छोटे ताजमहल' (राजेन्द्र यादव), 'पीला गुलाब' (कमलेश्वर), 'पचपन खम्भे लाल दीवारे' (उषा प्रियंवदा) आदि।

विगत एक दशक में यौन के सम्बन्ध मे आधुनिक साहित्यकार सीमा का अतिक्रमण कर आगे बढ गये है। स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों, तनाव, कटुता, मानसिक असंतोष पर आधारित कहानियाँ स्वतन्त्रतापूर्व भी लिखी गई थीं जिनमें जैनेन्द्र तथा अज्ञेय की कहानियाँ प्रमुख थीं। सन् १९५० ई० के बाद भी अनेक कहानीकारों ने उसी परम्परा पर अनेक कहानियाँ लिखी, किन्तु उसके बाद एक ऐसा झोंका आया कि कथाकारों ने कामातुर नारी को चित्रित करने में विशेष रुचि दिखाई है। राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' ऐसी ही कहानी है। इसमें दो लड़कियाँ परस्पर काम-क्रीड़ा कर तुष्टि प्राप्त करती हैं। इन कहानियों के द्वारा जैसे पुरुष-वर्ग को चेतावनी दी गई है कि अब पुरुषो को नारियों के प्रति उदार हो जाना चाहिए, वर्ना विवाह-संस्था ही समाप्ति की ओर बढ़ने लगेगी। नपुंसक व वृद्ध पति की पत्नियों को कहानी का आधार बनाकर और फिर उसके माध्यम से होटल के बेटर, मकान के अन्य किरायेदार अथवा पति के ही मित्रों से यौन सम्बन्ध स्थापित कर "इन युवती पत्नियों को सतीत्व से मुक्ति दिलाने की प्रथा स्वातन्त्र्योत्तर काल की प्रत्येक सातवीं कहानी में प्राप्त की जा सकती है।"[७]

यौन के क्षेत्र में समलिंगी यौनाचारी लड़कियों का चित्रण अति आधुनिकता का ही परिणाम है। बड़ी उम्र की अविवाहिता युवतियाँ जो आर्थिक रूप से पूर्ण समर्थ होती है, समाज की पूर्ण उपेक्षा कर इच्छानुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता समझती है। यौन के क्षेत्र में नारी के परिवर्तित दृष्टिकोण ने सामाजिक सम्बन्धों को बहुत ठेस पहुँचाई है। यौन उन्मुक्तता मे आज आधुनिक नारी, सम्बन्धो की पवित्रता का कोई विचार नहीं करती; वह समझती है कि सम्बन्धो के बन्धन तो रूढ़िवादिता के प्रतीक है। आज की प्रोग्रेसिव (प्रगतिशील) नारी यौन की प्राकृतिक माँग को ठुकराना उचित नहीं समझती। प्रकृति ने तो केवल 'नारी' और 'नर' की रचना की है। सम्बन्ध समाज द्वारा आरोपित बंधन है। नारी की इस मनोवृत्ति के चित्रण का प्रारम्भ मनोवैज्ञानिक कथाकारों के साहित्य से आरम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति की 'बोल्ड' नारियाँ 'शेखर : एक जीवनी' की शशि एवं 'नदी के द्वीप' की रेखा हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'चलते-चलते' की विमला भी इसी कोटि की नारी है। यशपाल के उपन्यास 'क्यों फँसे ?' की मामी भी ऐसी ही है। इन नारियों के लिये यौन-तृप्ति को छोड़कर नैतिक-अनैतिक, सम्बन्धों की पवित्रता आदि का कोई अर्थ नहीं।

आधुनिक युग की नारी यौन क्षेत्र में जो इतनी प्रगतिशील दृष्टिगत होती है, उसका एक सूक्ष्म कारण है कि आधुनिक कृत्रिम वातावरण में नारी अपने को कहीं नितांत एकांकी, सम्बन्धो से असम्पृक्त अनुभव करती है। अतः आत्मीयता प्राप्त करने के हेतु ही वह यौन-स्वच्छन्दता की ओर उन्मुख होती है आधुनिक नारी की यौन [illegible] बहुत बड़ा उत्तरदायी उनका पारिवारिक

परिवेश होता है, जहाँ वे अपने एकाकीपन में घुटती रहती हैं, सम्बन्धों की निकटता के हेतु उत्कंठित रहती हैं। पति-पत्नी के सम्बन्धों के विषय में नारी की यौन स्वतन्त्रता पति के प्रति स्पर्धा के कारण होती है।

नारी के समस्त आचरण के प्रति विचार करते ही यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि समाज में नारी को नर की सापेक्षता में ही आँकने की प्रथा आदिकाल से रही है। क्योंकि नर और नारी सम्यक् रूप से ही समाज के निर्माता हैं। आज नारी, नर के विचारों का ही प्रतिरूप है। बहुत अंशों में नर ही नारी को बनाता है। जब-जब नर ने नारी को जो रूप दिया, तब-तब नारी वैसी ही बन गई। नारी उतनी परिवर्तित नहीं हुई, वरन् पुरुष की दृष्टि ही नारी के प्रति परिवर्तित हो गई, अतः नारी परिवर्तित दीखने लगी। किन्तु नारी का दृष्टिकोण यदि वस्तुतः वस्तुवादी हो जाता है तो उसकी उपलब्धियाँ अपूर्ण रह जाती हैं। इस सन्दर्भ में यही विचार किया जायगा कि नारी के नारीत्व का मूल्य उसे किस अंश तक प्रगति के पथ पर ले जाता है और किस अंश तक अवनति के गर्त में गिराता है? वास्तव में बाह्य स्तर पर आज नारी अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुकी है, किन्तु अन्दर से वह उतनी ही खोखली एवं दिशाहीन हो गई है। इसका अप्रतिम उदाहरण मन्नू भंडारी का 'आप का बंटी' है।

इस उपन्यास के मनोवैज्ञानिक चित्रण में लेखिका इतनी लीन है कि समझ में नहीं आता कि माँ का वात्सल्य नारी है अथवा आधुनिक समर्थ नारी की आधुनिकता की माँग? बंटी के प्रति ममत्व के जिन भावों की अभिव्यक्ति शकुन के माध्यम से उपन्यास में हुई है, उसमे नारी माँ, वही सदियों पूर्व की नारी है जिसका बेटे के भविष्य के प्रति आतुर होना, प्रेम-वात्सल्य की अकुलाहट आज भी उतनी ही है। यद्यपि अपनी बाह्य आधुनिकता के फेरे मे वह उसको नकार जाती है और बंटी का जीवन विडम्बनापूर्ण हो उठता है। पर शकुन स्वयं ही कहाँ फिट है? बाह्य रूप से वह चाहे जितना रूप भर ले, अन्दर से तो टूटती ही गई है। फिर आखिर उसकी उपलब्धि क्या रही? शकुन आधुनिक, पूर्णरूपेण परिवर्तित नारी है। वह आर्थिक स्तर पर पूर्ण समर्थ है। समाज मे उसका मान है। परम्परागत विवाह की रूढ़ियों का उसने बड़ी शक्ति से खंडन किया है। विवाह-विच्छेद किया, पुनर्विवाह किया। किन्तु बंटी को लेकर फिर उसकी यह भावुकता कैसी जो उसकी समस्त आधुनिकता के सम्मुख प्रश्न-चिह्न लगा देती है और अन्ततः वह मात्र माँ रह जाती है। यदि शकुन अपने में सन्तुष्ट होती तो समझ में आता कि चलो नारी की आधुनिकता सार्थक हुई, पर ऐसा हुआ नहीं।

संदर्भ-संकेत

१. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य—सम्पादक—महेन्द्र भटनागर, पृ० २५। २. कथा त्रैमासिक—नवयुवा चिन्तन तथा नवलेखन का नवारंभ—रमेश कुंतल मेघ, पृ० १४। ३. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य-संक्रमण—हेमेन्द्र कुमार पानेरी, पृ० १८३। ४. अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० कुमार विमल, पृ० २३१। ५. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन—डॉ० कुमार विमल के 'अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य' के पृ० २८३ से उद्धृत। ६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का परिपार्श्व—डॉ० ल० सा० वार्ष्णेय, पृ० ११३। ७. हिन्दी साहित्य का विकास और नैतिकता—डॉ० सुखदेव शुक्ल, पृ० १८४।

द्वारा—श्री जे० पी० बाजपेयी
६२, छोटा बघाड़ा,
प्रयाग

साठोत्तरी हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ और लेखिकायें



श्रीमती उषा सक्सेना

परिवर्तन के अनवरत चक्र में घूमने वाली हिन्दी साहित्य जाह्नवी ने सहस्रधा होकर न जाने कितनी दिशायें बदली हैं। विगत युगों की पल-पल परिवर्तित राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के प्रतिक्रियास्वरूप निरंतर ही नवीन विधाओं, नई विचारधाराओं को अपने में समेट कर मानवता के सागर में विलीन हो जाना ही उसका लक्ष्य रहा है। युगानुसार प्रवृत्तियाँ उसमें उभरी हैं। कहीं भक्ति और शृङ्गार की मधुरिम और सुखद अनुभूतियाँ हैं तो कहीं क्रांति-विस्फोटक चिनगारियाँ; कहीं यथार्थ जीवन की विकृतियों और विसंगतियों के कारण घुटन, कुंठा एवं संत्रास की भावना है तो कहीं धरती को ही स्वर्ग बना देने की लालसा।

परिवर्तन की इसी विविधता के दर्शन हमें साठोत्तरी साहित्य में भी होते हैं। आज का साहित्यकार भी नये युग और नये परिवेश में नये ढंग से ही कुछ कहना चाहता है। पुरातन मान्यताओं, मानदंडों एवं प्रणालियों पर आस्था होते हुए भी नये सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य सर्जना करना चाहता है। नये रचनाकार ने अपनी रचनाओं में विस्तृत जीवन परिवेश को उभारने का प्रयास किया है। यही कारण है कि उसका विषय-क्षेत्र व्यापक हो गया है। सामाजिक यथार्थवाद को उसने अपनी सर्जना का मूलाधार चुना है। कल्पना की भाव-भूमि से उतर कर जीवन यथार्थ धरातल पर आ पहुँचा है। यद्यपि सामाजिक यथार्थवाद की प्रेरणा उसे पूर्ववर्ती साहित्यकारों से ही मिली थी किन्तु आज के इस प्रगतिशील युग में इसका क्षेत्र और व्यापक हो गया है। गाँवों, आंचलिक क्षेत्रों, हरिजनों, श्रमिकों एवं सर्वहारावर्ग को उसने अपनी रचनाओं का विषय चुना है। आज का साहित्यकार अपने चिन्तन-मनन, अपने महानतम अनुभवों एवम् अपनी सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा समाज की विसंगतियों, विकृतियों, कुरूपता और गुटबंदी तथा आर्थिक विषमताओं का चित्रण करने में संकोच नहीं करता है। जीवन के सत्य का अनावरण स्पष्ट रूप से कर देना उसका लक्ष्य है।

समष्टिगत चिन्तन के साथ भी उसकी प्रवृत्ति व्यक्तिगत विचारप्रधान साहित्य की सर्जना भी है। प्रेम, सेक्स, विवाह, नारी और पुरुष के नये सम्बन्ध, पारिवारिक जीवन, यौन भावनाओं का चित्रण भी स्पष्ट रूप में करता है जिसके कारण संशय, टेंशन, घुटन, संत्रास सभी कुछ विस्तार में उभर आता है। छायावादी युग में भी 'मैं' की भावना उभरी थी, किन्तु उसके मूल में था संवेदना का विश्वव्यापी राग। प्रगतिवाद में समष्टिगत चिन्तन ही मूल लक्ष्य था। प्रयोगवादी कवि स्वभावतः सुर्वथान्वेषी था और अस्तित्ववाद पर बल देता रहा। आज की पीढ़ी भी व्यक्तिवादी है भले ही उसका कारण आज की व्यक्तिवादी परिस्थिति हो। इतना अवश्य है कि आज राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति सभी का क्षेत्र भी सीमित हो गया है।

राजनीति के क्षेत्र में भी प्रतिबद्धता आ गई है। कोई मार्क्स का समर्थक है, कोई माओ का किसी के आदर्श हैं गांधी और किसी की आस्था लेनिन पर है। इसी का प्रभाव साहित्य पर भी पड़

है। किसी न किसी वाद अथवा निर्धारित विचारधारा अथवा शिल्पविधा को वह अंगीकार कर लेता है, भले ही थोड़े समय के लिए ही क्यों न इस प्रवृत्ति को अपनाये।

मनोवैज्ञानिक रूप से भावों की अभिव्यंजना भी आज के साहित्य की एक प्रवृत्ति है। छोटी से छोटी घटना को मनोवैज्ञानिक रूप दे अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण आज की रचनाओं में बखूबी मिलता है। सूक्ष्म रूप मे भावों की अभिव्यक्ति के स्थान पर विस्तार में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। आज के साहित्य में घटनाओं का बाहुल्य न होकर हृदय के तीव्र संवेग की भावुक अनुभूति को उभार मिला है।

मानवतावादी दृष्टिकोण को आज की लेखिकाओं ने अपनाया है। जहाँ तक साहित्य सर्जना का प्रश्न है, वे अधिक से अधिक विषयों पर लिख रही हैं। जिस यथार्थवादी धरातल पर उन्होंने अपने लेखन को प्रतिष्ठित किया है, उसका उद्घोष वर्षों पहले हिन्दी की अधिष्ठात्री महीयसी महादेवी की गद्य रचनाओं में हुआ था। उन्होंने शोषित-पीड़ित वर्ग की समस्याओं को उठाया था। आज की लेखिकायें भी शोषित वर्ग की समस्याओं को उठा रही है, भले ही उसकी अभिव्यक्ति वे व्यष्टि के माध्यम से कर रही हैं। उनकी व्यक्तिपरक रचनाओं में आज के यांत्रिक व्यस्त जीवन, महानगरीय कृत्रिम वातावरण, पति-पत्नी के टूटते सम्बन्ध, पति-पत्नी और प्रेयसि का त्रिकोण, नारी-पुरुष के नये सम्बन्ध, वैवाहिक जीवन की घुटन और छटपटाहट का चित्रण हुआ है।

आज के कथा-साहित्य में ये प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से देखने को मिलती हैं। आज की बहुचर्चित उपन्यासकार मन्नू भंडारी की कृतियों मे हृदय की भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति है। उनका 'आपका बंटी' विशेष लोकप्रिय हुआ। उसके सम्बन्ध में एक प्रश्न अवश्य उभर कर आता है कि क्या नारी अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अपने मातृत्व का उत्सर्ग कर सकती है ? उषा प्रियंवदा के उपन्यासों में आधुनिक जीवन का स्वाभाविक अकन हुआ है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में एक आधुनिक शिक्षित युवती के मानसिक उद्वेलन का चित्रण हुआ है। वह भी अपनी सीमायें नहीं तोड़ पाती। अपने कहानी-संग्रह 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' मे उन्होंने सामयिक समस्याओं को उठाया है।

आज की लेखिकाओं ने उच्चस्तरीय रहन-सहन वाले कथानक भी चुने हैं जिनमें आज के जीवन की तड़क-भड़क, साज-सज्जा का विस्तृत चित्रण मिलता है। आज की लेखिकाओं ने कथ्य की संप्रेषणीयता पर अधिक बल दिया है। किन्तु भावप्रवणता सहज ही देखने को मिलती है। हिन्दी की प्रबुद्ध एवं प्रख्यात लेखिका श्रीमती गौरा पंत शिवानी के उपन्यासों में अलंकृत भाषा में हृदय की तीव्र भावानुभूति की अभिव्यक्ति है। श्रीमती आशापूर्णा देवी की रचनाओं में जीवन की सुन्दर एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

निम्न वर्ग की आर्थिक समस्याओं को लेकर लिखा गया मंजुल भगत का उपन्यास 'अनारो' बहुचर्चित रहा। सम्भवतः उसका कथानक लीक से हटकर था इस कारण विशेष लोकप्रिय हुआ। उसके कुछ अंश बड़े ही स्वाभाविक थे :

'सबेरा हुआ, अनारो उठी। उसे लगा वह सोकर नहीं मर कर उठी है। न सबेरा सबेरापन लिए था न दिन के उजाले में उसे कोई रोशनी नजर आई।' एक श्रमिक वर्ग की नारी के लिए उषा की अरुणिमा जीवन में अनुराग बिखराने नहीं आती। काम की चक्की में हर क्षण पिसने वाली अनारो अपने स्वार्थी पति की प्रशंसा सुनकर नींव का पत्थर बनने को तैयार हो जाती है। लेखिका ने युगों से रिसती-पिसती जिन्दगी का चित्र उतारा है। आज की सशक्त लेखिका मृदुला गर्ग ने भी यथार्थ को अपनाया है। उन्होंने स्वयं कहा है ''यथार्थ के धरातल पर आधारित अर्थशास्त्र ने मुझे जीवन

की वह पीड़ा नही मिली, इसलिये आत्माभिव्यक्ति की ललक मुझे कथा-लेखन की ओर प्रेरित करती गई।"

'कोहरे, चंदा की जीत, डूबने से पहले' आदि की लेखिका दीप्ति खंडेलवाल ने 'सन्धि-पत्र' मे अपनी नायिका सीमा और नायक रोहित को आधुनिक परिवेश में डाल पति-पत्नी के नये सम्बन्धो को उजागर किया है। एक ही साथ रहते हुए और अलग-अलग जीवन जीते हुए आपस में समझौता कर लेते हैं। आज के व्यावहारिक जीवन में ये कहाँ तक सम्भव हैं, कहा नही जा सकता है।

ममता कालिया 'प्रेम के अलावा', सूर्यबाला 'गुजरती हदें', बिन्दु सिनहा 'शिलालेख', शशिप्रभा शास्त्री 'नया संसार', 'अगरबत्ती' तथा मालती जोशी की 'गुडमार्निङ्ग मिस मैथ्यूज' कहानियाँ उल्लेखनीय है। गुडमार्निङ्ग मिस मैथ्यूज में "स्ट्रिक्ट डिसिप्लिनेरियन" मिस मैथ्यूज के अन्दर सहसा ही ममत्व जागृत हो जाने की स्थिति को मर्मस्पर्शी व्यंजना लेखिका ने की है। आज की लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं मे यथार्थ को एक नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

इसी यथार्थवाद के दर्शन हमें आज भी कविता में भी होते है। आज की कविता ने एक नया मोड़ लिया है। परिवर्तित सामाजिक परिप्रेक्ष्य के कारण कविता प्रचलित सभी वादों से मुक्त हो एक नई दिशा की खोज मे संलग्न है। यही कारण है कि नवगीत, अगीत, अकविता आदि अनेक नवीन विधाओं का प्रचलन हुआ है। साठोत्तर "अकविता" संकलन के माध्यम से एक विशिष्ट कवि-वर्ग बना जिसका लक्ष्य था परम्परा-भंजन और नवीन मार्ग की खोज। पुरातन परम्पराओ के प्रति अनास्था और विरक्ति। अकविता के संवाहको के सम्बन्ध मे श्याम परमार ने कहा, "बृहत्तर परिवेश से अपनी काव्य-रचनाओं को प्रकाश मे लाना उनका ध्येय है। यहाँ अकविता का कोई सिद्धान्त और दर्शन इसके अतिरिक्त और नही है कि ये कवि पिछली परम्परा को नकारते है, परिवर्तित सौंदर्य-बोध के पक्षधर है।" अकविता मे आधुनिक जीवन के विभिन्न स्तरों को छूने वाली कवि-दृष्टि है। इस क्षेत्र में कुछ कवयित्रियाँ भी अग्रगण्य हैं जिनमें मोना गुलाटी और मणिका मोहनी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मोना गुलाटी के अनुसार "उनके लिए बौद्धिक और अबौद्धिक होने के मान-दण्डों का स्खलन हो चुका है। सेक्स अश्लीलता का नहीं वितृष्णा का विषय है।" मोना गुलाटी अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारो से कुछ भी नहीं प्राप्त करना चाहतीं। "नव शताब्दी में रहते-रहते मेरे पूरे जिस्म पर फफोले हो गये हैं" घोर अनास्था का चित्रण उन्होंने किया है :

१. क्यों नहीं बंजर हो जाता पूरा देश और धरती
क्यो उगलती है अन्न

२. अब एक-सा लगता है
पिल्ले और आदमी पर अविश्वास करना
या हो जाना लाश या देह।

मणिका मोहिनी अपनी कविताओं की सर्जना की प्रेरणा के सम्बन्ध मे कुछ दावा नहीं करतीं। आंतरिक घुटन और मानसिक तनाव से प्रेरित हो काव्य-सर्जन में रत हो जाती हैं। अन्दर की टूटन ही अभिव्यक्ति का कारण है। कभी-कभी आक्रामक रुख अपनाती हैं :

सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक/मैं इन्तजार करती हूँ/रात का

× × ×

विवाह के बाद जिन्दा रहने के लिए/जानवर बनना बहुत जरूरी है।

ममता कालिया दाम्पत्य संदर्भों की कवयित्री हैं। उनकी रचनाओं में आधुनिकता के प्रति सहज आग्रह है और वे अपने कवि-धर्म के प्रति सजग तथा सचेत हैं

भीड मे स्पर्श बेहूद लगते है
क्योंकि स्पर्शों की भाषा सिर्फ सन्दर्भों म पढा जा सकता है।

कुछ कवयित्रियाँ आज भी मानवीय संवेदना एवं भावनात्मक दृष्टिकोण को लेकर चल रही है। शालीनता की रक्षा उन्होंने अपनी रचनाओं मे की है। कमलारत्नम, डॉ० रमासिह, कीर्ति चौधरी, शकुन्तला माथुर, शान्ता सिन्हा, स्नेहमयी चौधरी की रचनाओ में नारी-सुलभ शालीनता एवं अभि-व्यक्ति की सहजता है। आज की लेखिकाओं को रचनाओं में युग और समाज के प्रति सजगता है। सामाजिक विषमता, अपेक्षा, उदासीनता असंगतियाँ, विकृतियाँ और तनावयुक्त जीवन के अनेक ध्वनि-बोध वाले चित्र उन्होने उतारे हैं। कहीं-कहीं जीवन के प्रति व्यंजनात्मक दृष्टिकोण भी मिलता है। उनके काव्य में व्यष्टि और समष्टि के समन्वय का प्रयास है जिसका माध्यम उन्होंने स्वयम् अपने को चुना है। उनमें आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति नहीं है और न ही केवल वैयक्तिक अनुभूतियों के निरावृत्त करने की लालसा। वे स्पष्ट रूप से युगधर्म और सत्य को मुखरित कर देना चाहती हैं।

कुछ कवयित्रियाँ आज भी छायावाद की मधुर कल्पना, रसात्मकता, संवेदनशीलता और सगीतात्मकता को लेकर चल रही है। जीवन की रागात्मक अनुभूतियों के अभिव्यक्तीकरण द्वारा सहज रसोद्रेक की लालसा अब भी उनमें है। अधिकांश की रुझानें नवीन शैली में हैं। युगबोध को स्वीकार करते हुए काल्पनिक जगत् से निकलकर वे आधुनिक परिवेश मे एक नये ढंग से अपनी बात कहना चाहती है जिसके लिए उन्हें श्रुतिमधुर कोमल शब्दावली की अपेक्षा नहीं। बोलचाल की भाषा ही उन्हें ग्राह्य है। शब्दों के मधुर जाल मे वे उलझना ही नही चाहतीं :

मजबूर है जल्लाद भी/कि हत्या उनका पेशा है/और पेशा
जिन्दगी का अहम् सवाल होता है
भिची हुई मुट्ठियाँ और पत्थर की आँखों में देखते हुए सधे कदमों से वे/आगे बढ़ते हैं/बढ़ते हुए उन जर्द होंठों को मुस्कराना भी पडता है अजीब मजबूरी है (पद्माशा)

बिम्ब विधान, प्रतीक पद्धति और मानवीकरण सभी में वे नवीनता लाना चाहती हैं। प्रचलित पुरातन उपमानो को बदलने की आकांक्षा उनमे है। कभी-कभी नवीनता इतनी अस्पष्ट और दुर्बोध हो जाती है कि साधारण पाठक उन्हें समझ भी नहीं पाता।

चूल्हा/कल तक कोने में सोता रहा आज उसने खोली आँख और/आग को हँसते हुए/वक्ष पर धारण किया।

लेखन के क्षेत्र में नवीन प्रयोग हो रहे हैं। कहीं-कहीं प्रयोग सुन्दर बन पड़े हैं। विसंगतियों को पहचानने की क्षमता लेखिकाओं में है इसलिए किन्हीं कविताओं में उनका दृष्टिकोण सशक्त हो उठता है। सामाजिक सन्दर्भ में लिखी गई डॉ० रमासिह की कविता 'दो प्राकृतिक दृश्य' इसी भाव को व्यक्त करती है।

दो प्राकृतिक दृश्य

दृश्य एक :—बागों की क्यारियाँ/फूलों की किलकारियाँ
बड़े करीने से खिलते हैं फूलों के रंगीन गुच्छे
जैसे हँसते खेलते किसी कान्वेंट के बच्चे

दृश्य दो :—ऊबड खाबड़ बन/कितना मनमाना क्रम
बिना ही किसी तरकीब के फूल खिलते, जैसे किसी मदरसे के बेतरतीब लड़के

आज की कवयित्रियों में ईंदु जैन, किरण जैन, कीर्ति चौधरी, शान्ति मेहरोत्रा, इंदुमती कौशिक, पद्माशा आदि प्रमुख हैं। इधर कुछ वर्षों से अगीत लिखने की चल पड़ी है। "अगीत का

कवि अनुभूति और अभिव्यक्ति की स्थिति को पकड़ने के लिए अनेकत्व की ओर जाना चाहता है। उसका लक्ष्य साधनापरक और पद्धति वैज्ञानिक है।''

कवि की ही भाँति सामाजिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति को नाटकों के क्षेत्र में भी लेखिकाओ ने अपनाया है। साठोत्तरो इतिहास में सामाजिक यथार्थवाद के धरातल पर नये-नये मूल्यों की प्रतिष्ठा का आग्रह विशेष रूप से है।

जहाँ तक इस युग में साहित्य-सर्जना का प्रश्न है, आज की लेखिकाओं ने बहुत लिखा है ओर अनवरत लिख रही है। उनकी लेखनी जैसे रुकना ही नहीं चाहती। एक व्यापक परिवेश को अपनी रचनाओं में समेटने की लालसा उनमे है। फिर भी एक प्रश्न उभर कर आता है कि आजीवन समस्याओ को झेलते हुए अपने जीवन के गहनतम अनुभवो द्वारा सामाजिक परिवेश के साहस से बदलने की वात उन्होने अपनी रचनाओं मे क्यो नहीं उठायी ? पारिवारिक घुटन, तनाव, रोजी-रोटी की समस्या मे हर क्षण सपने का इतिहास तो अंकित करती है, किन्तु सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने मे अग्रगण्य क्यों नही है ? अपनी सतत् साहित्य-साधना द्वारा यदि वे साहित्यकार के उत्तरदायित्व का निर्वाह भी कर सके तो निश्चित रूप से एक नये युग का निर्माण कर सकेंगी। संवेदना की गायिका महादेवी जी के शब्दो में 'नारी यदि सृष्टा है तो उसे अपने लेखन द्वारा युग को एक नयी दृष्टि देनी ही होगी।'

७, ६ इच्छा भवन
पानदरीबा चौराहा, चारबाग,
लखनऊ

हिन्दी गीत का रचना-विधान

डॉ० सिद्धेश्वरनाथ सिंह

निराला ने 'मेरे गीत और कला' निबन्ध में लिखा था कि "जूही की कली एक ऐसी रचना है जिसमें से सूक्ति को उद्धृत कर उसकी सम्पूर्णता और अर्थ-गौरव को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। मेरी छोटी रचनाएँ (लीरिक्स) और गीत (सॉन्ग्स) प्रायः ऐसे ही है। इनकी कला इनके सम्पूर्ण में है, खण्ड में नहीं। सूक्तियाँ—उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।···ऐसी रचनाओं का खण्डोद्धरण आलोचक का अधूरा सौंदर्य-दर्शन और कवि पर की गई कृपा-रूपिणी अकृपा है।" निराला ने आगे गीत से फूल की तुलना करते हुए बात स्पष्ट करने की कोशिश की है कि, "फूल का कला रूप मिलाइए। इस तने से डालें भिन्न होकर भी जुड़ी है, इसी तरह डालों से पत्ते, पत्तों से फूल, फूलों से सुगन्ध। सुगन्ध अपने तत्व में सारे पेड़ को ढके हुए है। तने का रूखापन डालों की थोड़ी-थोड़ी हरियाली, पत्तों की पूरी, फूलों का एक या अनेक रंगों—केसर-पराग आदि से विकसित रूप, सुगन्ध सारे पेड़ के उच्चतम विकास को स्पष्ट करती हुई, उसी में उसी से ढके हुए—यह कला है।"

निराला के इस कथन से कई प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। पहला तो यह कि दोहे, शेर या कविता के किसी बंद पर दाद देने की परिपाटी आलोचकों और पाठकों के बीच देखी जाती है, वह कविता या गीत के पूरे बंधान के महत्त्व को नहीं समझने या नासमझ होने की पहचान होती है। गीत के खण्डांश या चमत्कारपूर्ण किसी बंद पर दाद से गीत विधा की सम्पूर्णता और उसकी मूल-प्रकृति की बहुत क्षति हुई। फुटकल चमत्कारपूर्ण लयात्मक वाक्यों को सजाकर गीत के सृजन की जो परिपाटी आज देखने में आती है, उससे आलोचकों को सुविधा तो बढ़ती है और पाठकों को आनन्द-बोध भी होता है, लेकिन गीत की कला का निधन भी हो जाता है। गीत के स्ट्रक्चर का जो उच्चतम सौन्दर्य है, उसकी पहचान के अभाव में सहज रूप में सूक्ति-सौंदर्य मिल जाने से मेहनत नहीं करनी पड़ती। सम्पूर्ण गीत के गठाव और उसकी सम्पूर्णता से निकल कर प्रस्फुटित होते सौन्दर्य को प्राप्त करने में ज्यादा जहमत कौन उठाये। हिन्दी के अधिकांश गीतकारों को इसी कारण ज्यादा ख्याति मिली कि वे सूक्तिपरक चामत्कारिक लयात्मक पंक्तियों के सजाने में मँजे हुए उस्ताद हैं।

है अपूर्व यह युद्ध हमारा हिंसा की न लड़ाई है।
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है।
तलवारों की धार मोड़ने गर्दन आगे आई है,
सिर के मारों से डंडों की होती यहाँ सफाई है।

—गोपालसिंह नेपाली

अथवा—

सुन-सुन ये दीवाने किसके आवाहन का शोर चले।
गलहार पहन कर किस महफिल की ओर चले

चढ़ टिकरी पर चूम रस्सियाँ ये मतवाले किधर चले ।
जिधर हमारे लाल लाडले विहँस-विहँसकर बिखर चले ।
—श्यामनारायण पाण्डेय

कविता के दोनों खण्डांशों मे लय है, छन्द है, एक-एक पंक्ति में चमत्कार है जिसको पढ़ कर पाठक तो चमत्कृत हो उठेगा और आलोचक भी कह उठेगा—देखा, कविता इसको कहते है, जो सुनते और पढते ही मिश्री की डली के समान जुबान पर घुलने लगे । उनको निराला, प्रसाद या महादेवी थोडे अच्छे लगेंगे ।

गीत के लिए निराला के कथन में दूसरा आवयविक सिद्धान्त (आर्गेनिक थियरी) का प्रश्न सामने आता है । गीत के पूर्ण बंधान को आवयविक रूप मे समझाने के लिए निराला ने जो प्राकृतिक उपमा का आधार लिया, वह अकारण नहीं है । यूरोप के रोमांटिक कवियों ने भी क्लासकी लिटरेचर के विरुद्ध अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में प्राणिशास्त्रीय-जैविक-आवयविक सिद्धान्तो का सहारा लिया है । ये रोमांटिक कवि अपनी कविता को सचेतन प्राणी के आवयविक रूप में स्वीकारते थे । निराला भी अपने गीतों के इसी रूप के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए फूल की उपमा प्रस्तुत करते हैं । हो सकता है निराला के इस कथन से आंशिक असहमति हो, लेकिन गीत की अनुश्रुति, अन्विति, अर्थ की एकतानता और अन्तर्ग्रन्थन के महत्त्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ?

अन्ततः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'गीत के विन्यास की अखण्डता' उसकी कला के विश्लेषण के लिए ज्वलत प्रश्न है :

बीती विभावरी जाग री ।
अम्बर पनघट में डूबो रही
ताराघट ऊषा नागरी ।
—प्रसाद

अथवा—

दिवावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे ।
—निराला

अथवा—

तारकमय नव वेणी बंधन
शीश फूल पर शशि का नूतन
रश्मिवलय सित अवगुंठन
धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
ओ बसन्त रजनी ।
—महादेवी

इन तीनों उद्धरणों में जो चित्र प्रस्तुत होता है, उसमें आर्गेनिक सिस्टम का पूरा नियम खड़ा उतरता है और ऐसा लगता है कि जीवन की गति या रूप अभी बाकी है जो आगे देखने में आयेगा और मन मे सम्पूर्ण गीत पढने की माँग उभरती है । जबकि—

चाँदनी उस रुपये-सी है जिसमें
चमक है पर खनक गायब है ।
—मुक्तिबोध

ये दो पंक्तियाँ अपनी परिपूर्णता में सूक्तिपरक हैं। चाहे जितना हम इस पर खुश हो लें, गीत की मूलधर्मिता इन दोनों वाक्यों के अन्तर से गायब है।

धीरे-धीरे परतें कटने लगी धूप की
यहाँ-वहाँ पर
पिघले सोने के पानी-सी
धूप टपकने लगी
गाँव खिल गये फूल से।
—धर्मवीर भारती

या— बादल चले आ रहे
संध्या के लौटे मेले से
जैसे राही हारे—
—रामदरश मिश्र

या— मुक्त जल
जो कुनमुनाता था
झकोरों के सहारे सर उठाता था
देखता था अचानक सम्मुख गिरि को
क्षुब्ध होता था—
—प्रयाग नारायण त्रिपाठी

गीत-संरचना की दृष्टि से प्रसाद, निराला या महादेवी के गीतों में जैसी अनुश्रुति है, अर्थ एवं चित्र की अन्विति है, वह बाद के तीनों कवियों धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र और प्रयाग नारायण त्रिपाठी के गीतों में नहीं है। संरचना की सूक्ष्मता पर गौर करने पर निराला के सान्ध्य चित्र में जो लय और गति है और उसके चितेरा कवि का जैसा रूप सामने उपस्थित होता है, वह धर्मवीर भारती या अन्य दोनों कवियों में देखने को नहीं मिलते।

यह मानकर चलना पड़ेगा कि निराला ने गीत-संरचना का जो मानक तैयार किया है, उसको फिर से स्वीकार करके ही आधुनिक गीत-काव्य का मार्ग प्रशस्त करना होगा।

कुछेक नये कवियों ने निराला के गीत-स्ट्रक्चर को बहुत गंभीरता से स्वीकार किया है, जैसे—

पूरब का मुँह अँजोर
डूब गये तारे
चला गया परदेशी
आज मुँह अन्हारे
रात लगी मेंहदी तो भोर मुँह ललाई
तुलसी के बिरवे की हिलती परछाँई
बनजारा दिन आया कौन मन उचारे
कागा ले दूध-भात बोल बचन प्यारे
सुबह तुम सिवाने से नाम ना पुकारे
सरिता के दर्पन में रूप को निहारे
भैरवी है जाग रही ताल के किनारे
चला गया परदेशी आज मुँह अन्हारे

उपर्युक्त गीत निराला के गीत 'संध्या सुन्दरी' के सम्पूर्ण ठाठ की याद दिलाता है। अर्थ, भाव और चित्र की केन्द्रीयता, उसके प्रभाव की केन्द्राभिगामिता और उच्च स्तर के गीतों के लक्षण होते हैं।

छायावाद की कविता पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था कि छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप में ही अधिकतर प्रकट हुई हैं, लेकिन गीतों का मूल धर्म अन्विति है, उसी का अभाव है। शुक्लजी के दिमाग की सम्पूर्ण बनावट 'एपिक पोयट्री' के आलोचक की थी। गीत की बुनावट, भाषा की घुलनशीलता, चित्र के संघटन की सूक्ष्मता जिसे गीतकार ने स्वर्णकार के शिल्प के समान बारीकी से गढ़ा है, उसे पहचान पाना मुश्किल है।

यह सही बात है कि छायावाद के उपरान्त नरेन्द्र, नेपाली, बच्चन आदि गीतकारों ने हिन्दी गीतधारा को जिस रूप में अग्रसर किया, उसका स्वर और आन्तरिकता बदल-सी गई। बच्चन के अनुभव का दायरा छोटा था। मूलतः स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो को लेकर ही उनके गीत उद्भूत हुए है। अपने अनुभव और भोग से बाहर जा जहाँ भी उन्होंने अपने गीतों के ठाठ तैयार किये हैं, व निरे छूंछे और निष्प्राण से लगते है।

बच्चन ने हिन्दी गीत की भाषा को नवीन, ताजा और सरल तो बनाया, लेकिन उसमे वह गहराई की अनुभूति नहीं डाल पाये जो निराला के गीतो में देखने को मिलती है। महादेवी के गीतो में एक तार्किक अन्विति देखने को मिलती है। उन्होंने गीतों का एक ढांचा प्रस्तुत किया जिसमें टेक की पहली पंक्ति में कविता का मुख्य कथ्य होता है, और फिर तीन या चार स्टैंजा में उसे उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जाता है। जैसे—

"सब आँखो के आँसू उजले,
सब के सपनों मे सत्य पला।"

इसके बाद पूरा गीत उपमाओं, रूपकों और रूपचित्रों के सहारे विस्तार पाता है। महादेवी के समान बच्चन ने भी इस टेक शैली का अपने गीतकार के व्यक्तित्व के समान प्रयोग किया और सफल भी रहे। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' के संकलित गीत अपनी सफाई, कढ़ाई और भाषा की सादगी के कारण लोक-कंठ में बस तो गये, लेकिन महादेवी की अनुभूति की सघनता इनकी कथन-सरलता में खो गई।

'कलगी बाजरे की' अज्ञेय के इस गीत का कोई एक अंश तोड़ कर दिखाने से ऐसा लगेगा जैसे किसी आदमी का अंग-भंग कर दिखाया जाय—

यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट है
और मैं एकान्त होता हूँ
समर्पित
शब्द जादू है
मगर क्या यह समर्पण कुछ नही है।

गीत का यह अंश इस तथ्य की ओर ले जाता है कि इसका कथ्य बुद्धिपरक नहीं है, अनुभूतिमूलक है। 'समर्पण' के लिए प्रश्न गीत की सम्पूर्ण संरचना से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। इसमे भावोच्छ्वास तो नहीं है, लेकिन एक संस्कृत, गम्भीर व्यक्ति की पीड़ा है। संरचना की बुनावट को जब इस प्रकार देखा जायेगा, तभी गीत के सहीपन का मूल्यांकन हो पायेगा।

आज जैसे गीतों का प्रचलन हो चला है उसमे मुहावरे का प्रयोग, चमकते हुए वाक्यों का सटीक गीत को मूल बिन्दु से दूर हटा देने वाले हैं

विजयदेव नारायण साही कहते हैं—"छायावादी कलाकृति मूलतः एक विस्फोट करता हुआ कला-रूप है—जैसे केन्द्रीय अर्थ फूटकर चारों ओर क्रमशः विलीन होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति उसे एक लहर की तरह निर्मित करती है, जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं। नयी कविता उस तरंग के रूप को एक स्ट्रक्चर में बदल देती है। जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।" अज्ञेय का कहना है कि—"मैं मानता हूँ कि भावना-प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नहीं तो अपने भावों का पैराफ्रेज होने लगता है।" बात साफ है कि गीत का आधुनिक रूप स्फटिक या क्रिस्टल के समान सख्त और पारदर्शी हो, उसमे स्ट्रक्चर का प्राधान्य हो, हृदय और मस्तिष्क का भेद जब मिट जायेगा तो पीड़ा स्फटिक या हीरे का क्रिस्टल बनेगी। यहाँ तार्किकता या अतार्किकता का प्रश्न नहीं है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'अपनी पत्नी की मृत्यु पर' शीर्षक कविता एक नया और ताजा बिम्ब प्रस्तुत कर देती है जो पीड़ा की जड को और गहरा कर देती है। लेकिन कविता की बाद की पंक्तियों का अनपेक्षित विस्तार अर्थ की सघनता को विरल और ठूंठ कर देता है।

श्रीकान्त वर्मा की 'समाधि-लेख,' रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध', राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' नामक लम्बी कविताओं में कहीं-कहीं आंशिक रूप में गीत की मर्मिता पीड़ादायक होती हुई हीरे के क्रिस्टल के समान जमी दिखाई पडती है और काँटे के समान अपनी प्रभान्विति में चुभती है।

इसके अतिरिक्त नीरज, वीरेन्द्र मिश्र आदि और उसके बाद की पीढ़ी रचनारत है जिनके गीतों का मूल्यांकन भविष्य करेगा।

५७, पुराना मम्फोर्डगंज
इलाहाबाद

नए प्रकाशन :

समकालीन हिन्दी कविता : लेखक—डॉ० अशोक त्रिपाठी

प्रकाशक : शारदा सदन, जीरो रोड, इलाहाबाद—मूल्य : पचास रु० मात्र



डॉ० अशोक त्रिपाठी की आलोचनात्मक पुस्तक 'समकालीन हिन्दी कविता' में कविता के लगभग ३० वर्षों का लेखा-जोखा विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। सन् तैंतालिस से लेकर उन्नीस सौ सतहत्तर के बीच प्रायः हिन्दी कविता-यात्रा में जितने भी मोड़ आये, उनकी चर्चा अत्यन्त सुसंबद्ध तरीके से विद्वान् लेखक ने की है ।

पूरी पुस्तक को तीस अध्यायों में विभाजित किया गया है जो कि क्रमशः निम्न हैं—(१) कवि का संकट, (२) होने न होने की गिरफ्त, (३) सामाजिक दायित्व, (४) क्रान्तिदर्शिता की दोहरी पीड़ा, (५) सही पाठक की तलाश, (६) असुरक्षा का बोध, (७) अजनबीपन : एकाकीपन, (८) अस्तित्व का प्रश्न, (९) रोमांस और रोटी, (१०) लक्ष्य, (११) चेतना, (१२) आस्था-अनास्था, (१३) संत्रास, (१४) मूल्यगत संक्रान्ति, (१५) सम्बन्धों की विकृति, (१६) टूटती परम्पराएँ, (१७) राजनैतिक विसंगति, (१८) युवा-संस्कृति, (१९) अभिव्यक्तिगत संसाधनों का असमर्थता-बोध, (२०) शब्दों का सही-बटा प्रयोग, (२१) शब्दों का लघ्वीकरण, (२२) कुछ विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणालियाँ, (२३) प्रतीक, (२४) पौराणिक प्रतीक, (२५) लोक-जीवन से गृहीत प्रतीक, (२६) राजनीतिक प्रतीक्षा, (२७) परिवार-नियोजन प्रतीक, (२८) युद्ध प्रतीक, (२९) बिम्ब, (३०) फैंटेसी।

उक्त अध्यायों को देखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक कविता के हर बदलाव को इंगित करता हुआ उसकी मूल प्रवृत्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करता चलता है।

इस बात को कहने में कोई सकोच नहीं है कि प्रगतिवाद के बाद कविता के क्षेत्र में जितने आन्दोलन (प्रयोग) हुए है, उतने आन्दोलन इसके पहले कभी नहीं हुए। इसके साथ ही इधर की कविता को समझने के लिये एक विशेष दृष्टि की भी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि आम पाठक कविता में व्यक्त संदर्भ को ठीक से पकड़ नही पाता। शायद यही कारण है कि जिससे कविता का निरन्तर ह्रास होता चला जा रहा है। यदि यही प्रक्रिया बनी रही तो आगे लिखी जाने वाली कविता सम्भवतः मात्र कवि ही समझ सकेगा या उनके समानधर्मा चार-छह लोग। डॉ० त्रिपाठी ने इस प्रकार के समस्त काव्यान्दोलनों को लेते हुए बानगी-स्वरूप कवितायें देते हुए इनकी व्याख्या की है।

इन व्याख्याओ को पढकर यह लगता है कि आलोचक किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से रहित होकर तटस्थ भाव से इनकी चर्चा कर सका है। पुस्तक को पढ़कर समकालीन कविता को समझने में सहायता मिलती है, इसमें कोई संदेह नही है।

आज का कवि जिन मानसिक दबाओं के बीच जा रहा है युगीन उसकी

में कितने प्रकार के तनाव और टकराहट उत्पन्न करती हैं आदि सन्दर्भों को जोड़कर

कविताओं को रखा गया है जिससे आम पाठक के लिये दुरूह लगने वाली बात भी स्पष्ट हो जाती है ।

पुस्तक के कुछ अध्याय बहुत प्रभावी ढंग से लिखे गये है । उनमें से एक-दो के उदाहरण देना उपयुक्त होगा—-

"कवि जब अपने को या अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता, तो कैसे-कैसे नये-नये संसाधनों की माँग करता है और अपनी अनुभूति को वाणी देने की छटपटाहट में किस-किस प्रकार के अजूबे प्रयोग करता है ।"

+ + +

"युगीन दबावों और विभीषिकाओं के कारण आज की जटिल संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने मे भाषा किस कदर अपने को बंजर और अपंग साबित कर रही है तथा समकालीन कवि अनेक स्तरों पर अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति न दे पा सकने के कारण, किस भीषण मानसिक यातना का भोक्ता बनने को मजबूर है ।"

यद्यपि लेखक ने प्रगतिवादी कविता को इसमें सम्मिलित न करने के अपने कारण दिये हैं जो कि बहुत हद तक ठीक भी हैं, लेकिन यदि प्रगतिवादी कविता को भी इस पुस्तक में सम्मिलित करके बात कही जाती तो पुस्तक अधिक पूर्ण होती ।

रामजी

अनुरोध

* पत्रिका को अधिक उपादेय बनाने के लिए हम समसामयिक विषयों को भी छापकर उसकी गम्भीरता को बनाये रखना चाहते हैं ।
* लेख भेजते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि लेख चाहे टाइप किया हुआ हो या हाथ का लिखा, साफ होना चाहिए ।
* लेख की वापसी के लिए डाक टिकट लगा लिफाफा साथ में भेजने से हमें अधिक सुविधा होती है ।
* लेख की स्वीकृति, अस्वीकृति के लिए थोड़ा समय अवश्य लगता है । कृपया निर्णय की सूचना मिलने तक लेख अन्यत्र न छपाएँ और यदि छपाएँ तो हमें सूचित करना न भूलें । क्योंकि प्रायः ऐसा देखा गया कि जो लेख हमारे यहाँ प्रकाशनार्थ भेजा गया, वही अन्यत्र प्रकाशित हो गया । हमें उसकी कोई सूचना नहीं दी गई ।
* कभी किन्हीं ऐसे विषयों पर भी हमें अच्छे लेख मिलते है जिन्हें छापना हमारे लिए संभव नही होता । अतः हमारी विवशता को अन्यथा न लेकर हमे निरन्तर सहयोग देते रहें ।
* समीक्षको से निवेदन है कि वे संक्षेप में और परिमार्जित लेख ही भेजें । आवश्यकतानुसार लेख को काट-छाँट कर सँवारना ही पड़ता है, क्योंकि कई बार भरती की चीजे अधिक होने से ऐसा करना अनिवार्य हो जाता है । पत्रिका के स्तर को बनाये रखने के लिए उसी स्तर के लेखों की अपेक्षा है ।
* अन्त में, पत्रिका के विद्वान् लेखकों एवं पाठकों से विनम्र निवेदन है कि कतिपय अपरिहार्य कारणों से हम अभी भी इसे अद्यतन नही बना पाये । हम विश्वास दिलाना चाहेंगे कि हम इसके लिए निरन्तर सचेष्ट है और कुछ ही समय में हम इसे नियमित बना सकेंगे ।

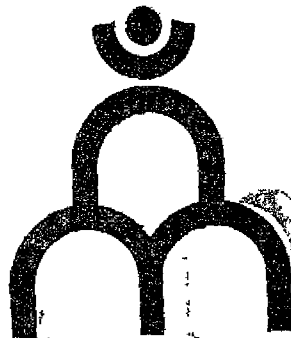
सहायक सम्पादक

डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव एवं कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित एवं
वीना प्रिंटिंग प्रेस कीटगंज इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाग ४२ — अक्टूबर-दिसम्बर

अङ्क ४ — सन् १९९१ ई०



मूल्य ५ रुपये

[वार्षिक ; २० रुपये

अनुक्रम

जर्जर :
सत्ता और समाज के संघर्ष का प्रतीक

□

डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित

भारतीय प्राचीन लोकधर्म में इन्द्रध्वज की पूजा तथा उस अवसर पर मनाये जाने वाले उत्सव का विशेष महत्त्व था। महाभारत के आदिपर्व (५७।१७-२७) में आयी कथा के अनुसार इन्द्र ने प्रसन्न होकर चेदिराज उपरिचर वसु को दिव्य विमान, वैजयन्ती माला तथा एक वेणवी (बाँस की) यष्टि प्रदान की। इस यष्टि को राजा ने धूमधाम से नगर में प्रवेश कराया। परवर्ती काल मे भी यह परम्परा बराबर जारी रही। इन्द्रध्वज की पूजा का यह उत्सव इन्द्रमह कहलाता था। ऐसे ही इन्द्रमह के स्थान पर श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा करवाकर गिरिमह आरम्भ करवाया था।

इन्द्रध्वज की यष्टि को गन्ध, माल्य, विविध अलंकारों तथा पिटकों से अलंकृत करते थे। पिटक की पहचान अभी तक अज्ञात है। यह यष्टि ३२ हाथ अथवा ४८ फ़िट लम्बी होती थी। वराहमिहिर अपनी बृहत्संहिता के ६८ श्लोकों से ४३वें सम्पूर्ण अध्याय में इन्द्रध्वज के विषय में ही विस्तार से चर्चा करते हैं। तदनुसार असुरों पर विजय पाने की कामना से उपस्थित सभी देव-समुदायसहित इन्द्र को विष्णु ने एक ध्वज प्रदान किया। विष्णु-तेज से उत्पन्न यह ध्वज किंकिणियों, माला, छत्र, घंटा तथा पिटक से अलंकृत अत्युन्नत था। इससे इन्द्र ने शत्रुओं को जीत लिया। बाद में इन्द्र ने इसे उपर्युक्त उपरिचर वसु को दे दिया था। इसकी पूजा से राजा विजयी, वसुमान् तथा सिद्धियें से सम्पन्न एवं प्रजा नीरोग, सन्तुष्ट, सस्य-सम्पन्न तथा सत्-असत् की ज्ञाता हो जाती है। अतः जय एवं सफलता के कामी नृप इन्द्रध्वज की बराबर पूजा करते रहे।

इन्द्रध्वज के लिए अर्जुन, अश्वकर्ण, प्रियक, धव और उदुम्बर अथवा अन्य कौसी (अस्त्री-सञ्ज्ञक) वृक्ष को काटें। काटते समय कुठार से 'जर्जर' शब्द निकले तो अशुभ है (परशोजर्जरशब्दो नेष्टः ४३।१८)। स्निग्ध और घन शब्द शुभ है। दंड को अग्र से चार तथा मूल से आठ अंगुल काटकर जल में डाल देते थे। वहाँ से गाड़ी या आदमी के द्वारा उठवाकर पुरद्वार पर लाया जाता था। भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को राजा राघवर्ग सहित सोत्सव इसे पुर में प्रवेश करवाते। पुर भी तब पवित्र एवं सजा-धजा होता था। चौराहे नट, नर्तक तथा संगीतज्ञों से भर जाते थे। बढ़ई उसे युक्तिपूर्वक छीलकर खरात पर चढ़ाकर बनाता था। राजा एकादशी का जागरण रखता। ऐन्द्र तथा वैष्णव मंत्र से होम करता। दैवज्ञ संवत्सर का भविष्य बताता। गुड, पूप, पायस, दक्षिणादि से विप्रों का सत्कार कर द्वादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में या अन्य किसी श्रवण नक्षत्र के दिन ध्वज उच्छ्रित किया जाता था। मनु का निर्देश है कि इस पर पाँच या सात शक्रकुमारी बनावे। अर्ध-भाग में नन्दा तथा चौथाई में उपनन्दा एवं सोलहवें भाग में जय-विजय वसुन्धर बनाये जाते थे, बीच के आठवे अंश में इन्द्रमाता बनाते थे। भिन्न-भिन्न आभूषणों से इन्द्रध्वज को सजा देते थे। ऐसे तरह अलकारों की चर्चा हुई है चौथ दिन -उत्सव विधिपूर्वक पूर्ण होता है। राजा इस अवसर पर इन्द्र से विजय की प्रार्थना करता था। पाँचवें दिन सोत्सव प्रजासहित राजा इन्द्रध्वज

का विसर्जन कर देता था। तब राजा स्वयं को शत्रु भय से मुक्त पाता था। स्वभावतः हर राजा अपनी-अपनी राजधानी में इस जयद इन्द्रध्वज की पूजा तथा उत्सव करवाते ही थे और प्रजा पूरे उत्साह से इस उत्सव में भाग लेती थी।

महाभारत मे इन्द्रध्वज बाँस का बताया गया है। परन्तु वराहमिहिर ने उसे पूर्वोक्त विभिन्न वृक्षों का बताया है। वृक्ष के तने का पुष्ट ध्वज होने से उसमें विभिन्न पुतलियाँ या मूर्तियाँ भी उकेरी जाने लगीं। यह गुप्तयुगीन कलारुचि का भी प्रमाण है। विभिन्न प्रकार से अलंकृत करने की चर्चा दोनों स्थलों पर हुई है। आज भी विभिन्न 'निशान' पुष्ट एवं प्रलम्ब बाँसो के ही होते है तथा वे भिन्न-भिन्न प्रकार से अलंकृत भी होते हैं। नेपाल में आज भी भाद्रपद शुक्ल अष्टमी से आठ दिन तक 'इन्द्रयात्रा' उत्सव मनाया जाता है। कालिदास ने भी अपने रघुवंश (४।३) में इन्द्रध्वज के दर्शन से प्रसन्न प्रजा की चर्चा की है। विभिन्न पुराणों, राजतरंगिणी (८।१७०, १८२), अथर्व परिशिष्ट, भास के बालचरित, शूद्रक के मृच्छकटिक, नाभाधम्मकहा इत्यादि में भी इन्द्रमह या इन्द्रध्वज की चर्चा पायी जाती है।[१] इससे स्पष्ट है कि इन्द्रध्वज की पूजा की परम्परा सुदीर्घ-काल तक रही। भरत के नाट्यशास्त्र की रचना महाभारत के पश्चात् तथा वराहमिहिर की बृहत्संहिता से पूर्व हुई है।

नाट्यशास्त्र से प्रतीत होता है कि इन्द्र और उसके सहयोगियों का पूरा आशीर्वाद भरत मुनि को प्राप्त था। क्योंकि ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम इन्द्र को ही नाट्यवेद समझने का आग्रह किया। उसकी असमर्थता व्यक्त करने पर ब्रह्मा ने वह भरत को समझाया। स्वभावतः भरत को इन्द्र का पूरा समर्थन प्राप्त था। ब्रह्मा ने नाट्य के प्रथम प्रयोग का सुअवसर भी इन्द्रध्वजमह ही सुझाया :

> महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः। अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते।
> अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥ १।५४-५५

ध्वजमह के अवसर पर वराहमिहिर ने भी नाट्य इत्यादि उत्सव करने की अनुशंसा की है। ध्वजमह के अवसर पर ही, देवताओं की उपस्थिति में, इन्द्रविजय के उत्सव में भरत ने प्रथम प्रयोग आरम्भ किया। इन्द्र ने प्रसन्न होकर सर्वप्रथम इन्द्रध्वज प्रदान किया और तब भरत को विभिन्न देवताओं ने विभिन्न वस्तुओं से उपकृत किया :

> ततस्तस्मिन्ध्वजमहे निहतासुरदानवे।
> प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे॥ —नाट्यशास्त्र, १।५६
> प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्वान् स्वध्वजं शुभम्। १।६०

इस प्रकार 'दैत्यदानवनाशन' नामक प्रयोग जैसे ही आरम्भ हुआ, सभी दैत्यों ने क्षुब्ध होकर उसका बहिष्कार कर दिया। उनके इस विघ्न को देखकर नर्तकों की वाणी, चेष्टा और स्मृति स्तम्भित हो गयी। सूत्रधार बेहोश हो गया।[२] यह सब देखकर क्रुद्ध हो शक्र ने सहसा वह (इन्द्र) ध्वज उठा लिया और रंगपीठ पर ऊधम मचाने वाले विघ्नसंतोषी असुरों की देहों को जर्जर कर दिया, उस जर्जर से :

> उत्थाय त्वरितं शक्रः क्रोधाज्जग्राह तं ध्वजम्।
> सर्वरत्नो ज्ज्वलं तं तु किंचिदुद्वृत्तलोचनः॥
> रंगपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट्।
> जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः॥ १।६९-७१

* × × •

नाट्यविध्वंसिनः सर्वे येन ते जर्जरीकृतः ।
तस्माज्जर्जर इत्येव नामतोऽयं भविष्यति ।। १।७३

नाट्यविध्वंसियों को जर्जर करने से इन्द्रध्वज का (नाट्य सन्दर्भ में) 'जर्जर' नाम पड़ गया । स्पष्ट ही लोक में वह इन्द्रध्वज के नाम से और नाट्य-मंडप में वही जर्जर के नाम से सतत् पूजा जाता रहा ।

लेकिन विघ्न यहीं समाप्त नहीं हुआ । जब कभी फिर शक्रमह होता और उसमें नाट्य प्रस्तुत किया जाता, वे विघ्नसंतोषी विघ्न अवश्य करते । भरत अपने सुतों सहित ब्रह्मा के पास जा प्रार्थना करने लगे—भगवन् ! विघ्नकारियों ने इस नाट्य के विनाश का निश्चय कर लिया प्रतीत होता है । अतः इसकी रक्षाविधि बताइये :

निश्चिता भगवन् विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
अस्य रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर ।। १।७८

तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने का निर्देश दिया । बनने पर उसकी रक्षा का भार देवताओं पर डाला गया । जर्जर पर दैत्यविनाशक वज्र स्थापित किया गया । उसके पर्व-पर्व में विभिन्न तेजस्वी देव स्थापित किये गये । उसके सिरे पर ब्रह्मा, दूसरे पर्व में शंकर, तीसरे में विष्णु, चौथे में स्कन्द, पाँचवें में शेष, वासुकि, तक्षक इत्यादि महानाग स्थापित किये गये । विघ्नविनाश के लिए जर्जर में इन देवों को स्थापित किया गया ।[3] नाट्यशास्त्र की इस चर्चा से स्पष्ट है कि जर्जर पाँच पर्वों के बाँस का होता था । नाट्यशास्त्र (चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो, ।२।१६) में दण्ड की लम्बाई चार हाथ बताई गयी है । पाँच पर्व प्रायः चार हाथ लम्बे होंगे । इस प्रकार जर्जर की लम्बाई भी प्रायः दंड के बराबर ही मानी जा सकती है जो यथावसर नापने और ताड़ने, दोनों काम आ सके । नाट्य में विघ्न डालने वालों को क्रमशः साम, दान, भेद और दंड से समझाना चाहिए ।[4] स्पष्ट ही जर्जर का उपयोग अन्त में दंड के समय ही होता था ।

इस विकृति से स्पष्ट होता है कि एक वर्ग नाट्यविरोधी था । यह वही वर्ग था जो देव-विरोधी था । नाट्य में चूँकि देवताओं की विजय और असुरों की पराजय दिखाई गई, इसलिए वे और अधिक खिन्न थे । यही कारण है कि ऐसे नाट्य का उन्होंने विरोध किया, उसकी प्रस्तुति में विघ्न डाला ।

ज्ञात इतिहास में नाट्यविरोधी अशोक मौर्य था । यह सुज्ञात है कि गाँव-गाँव, नगर-नगर में लोकोत्सव तथा लोकनाट्य होते थे । उपरि विवरण से स्पष्ट है कि लोकोत्सवों में इन्द्रमह महत्त्वपूर्ण था । पर यह प्रायः राजधानी में ही होता था क्योंकि इसमें राजा की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी । गाँवों में अन्य कई उत्सव होते थे । इन अवसरों पर नाट्य भी होते थे । इसीलिए उत्सव और समाज का अविनाभाव सम्बन्ध हो गया । बिना समाज के उत्सव सम्पन्न नहीं माने जा सकते थे । यही कारण है कि ये दोनों अभिन्न माने जाने लगे । रामायण, महाभारत, विभिन्न पुराण, अभिलेख, बौद्ध, जैन तथा इतर साहित्य से यह स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व में प्रायः समाज से तात्पर्य प्रेक्षागृह में नाट्य-प्रदर्शन तथा समज्जमंडल से तात्पर्य रंगमंच रहा ।[5] नाट्य-प्रदर्शन के लिए नटवर्ग उपस्थित रहता था, एकत्र होता था, इसलिए नाट्य समाज कहलाता था । इस समाज के दर्शक सामाजिक कहलाते थे । सामाजिक की तो परवर्ती टीकाओं तथा रसशास्त्र मे भी पर्याप्त चर्चा हुई है ।

इस समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रदर्शन होते थे । लोकनाट्य और शास्त्रीय नाट्य दोनों का प्रदर्शन होता था इनका अभिनय करने वाले नटों का एक व्यापक समुदाय ही बन गया था ।

इस वर्ग के नर-नारी लोकरंजन के लिए अश्लील अभिनय भी करते थे। नटियों का चरित्र सदा संदेहास्पद रहता था। जिस बस्ती मे नटमंडली रात रहती, वहाँ के रसिकों का चरित्र तथा वित्त संशय मे पड़ जाता था। मंच लोक को आकर्षित करने का माध्यम भी बन जाता था।

इधर नाटक जन को प्रभावित करने का प्रबल माध्यम था। गाँव-गाँव में जाकर जब नट-मंडलियाँ किसी रूपक को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती थी तो आम जनता उससे प्रभावित होती ही थी। अतः ऐसे सक्षम नाटक भी लिखे जाने लगे थे जो जनक्रान्ति, धर्माक्षेप अथवा विशिष्ट पक्ष के समर्थन में होते थे और वे जनमानस को आकृष्ट भी कर लेते थे। जनता की विचारधारा नाटकों की वस्तु का समर्थन करने लगती थी। नाटकों की सशक्त सूक्तियाँ और श्लोक जनता की जबान पर चढ़ जाते थे जिससे समाज का एक वर्ग अप्रसन्न भी हो उठता था। वह वर्ग ऐसे रूपकों को पसन्द नहीं करता था। जहाँ भी ऐसे समाज आयोजित होते थे, वहाँ ऐसे वर्ग के लोग जाकर दंगा करते थे। ऐसे ही दंगों की ओर नाट्यशास्त्र के पूर्वोक्त संदर्भ में उल्लेख भी है। इससे नाट्य से सम्बन्धित लोग त्रस्त हो गये थे। नाट्यशास्त्र के विवरण से स्पष्ट है कि इसकी समूची भूमिका तथा पूजार्चन वैदिक-परम्परानुरूप है। इसे पाँचवाँ वेद तक कह दिया गया है। स्वभावतः त्यागोन्मुखी प्रवृत्ति वाले बौद्ध एवं जैन भिक्षुओं तथा साधुओं के लिए ये वर्जित थे। जो साधु इन समाजों में सम्मिलित होते, उनकी या तो निन्दा की जाती थी अथवा उन्हें साधुवर्ग से बहिष्कृत कर दिया जाता था।[६] इसलिए भी कि इन समाजों में नृत्य, गीत, सुरा इत्यादि का खुलकर उपयोग होता था। इसलिए नाट्यशास्त्र में भी नाट्यविरोधी तत्वों के बहिष्कार की जो चर्चा की गयी है, उनमें विभिन्न सम्प्रदाय के लोग, आश्रमवासी, भगवाधारी तथा विकलांग सम्मिलित है। प्रायः साधुमात्र नाट्यविरोधी रहे, परन्तु बौद्ध और जैन अधिक रहे। इसलिए भी कि नाट्य का उत्स वैदिक है। सम्भवतः इसीलिए सम्राट् अशोक ने समाज न करने की अनुशंसा की है। वह कहता है—समाज नही करना चाहिए। देवों का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में अनेक दोष देखता है। देवों का प्रिय प्रियदर्शी राजा मानता है कि कुछ समाज साधु होते हैं।[७]

समाज और उत्सव जो परवर्ती काल में मिलकर एक हो गये थे— अशोक ने उन्हें पुनः अलग कर दिया। वह उन उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है जो हिंसापरक हैं तथा जिनमें मांस और मदिरा का खुलकर उपयोग होता है। वह उन समाजों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है जो इन उत्सवो के अंग बन जाते हैं, जिनमे अश्लीलता रहती है तथा जो इन्द्रध्वज इत्यादि वैदिक उत्सवो के अंग के रूप में प्रदर्शित होते हैं। अशोक ने यह प्रतिबन्ध बौद्धधर्म से प्रेरित होकर लोकसुधार के बहाने प्रस्तुत किया। कारण एक और भी था—समाज में राजविरोधी नाटकों के प्रचार को रोकना, मृच्छकटिक-जैसी कृतियों पर प्रतिबन्ध लगाना। असंभव नही यदि इसी विरोध के कारण भास 'चारुदत्त' को पूरा नही कर पाया, या ऐसे ही तत्वों ने उसमे से क्रांति तत्व हटा दिये, क्योंकि इनके द्वारा समाज में राज्यक्रांति तथा बौद्ध-विरोध इत्यादि बुरा असर पड़ने की सम्भावना थी। वैसे विरोध तो चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी किया था। पर, दबी जबान से। उसका लक्ष्य भी राज्यक्रान्ति जैसी वस्तु प्रस्तुत करने वाले रूपकों को हतोत्साहित करना था :

विवाद-सौरिक-समाज-द्यूतवारणं च कारयेत्। (१२।६)

गाँवों में कृषिकार्य पर समाज का विपरीत असर गिरने से कौटिल्य ग्राम में नाट्यशालाएँ इत्यादि न बनाने का निर्देश देता है जिससे सभी अपने-अपने कार्य में लगे रहें। अशोक ने कौटिल्य की इस अनुशंसा को व्यापकता प्रदान कर उसे कार्यान्वित भी किया। परन्तु कौटिल्य यह भी जानता था कि प्रजा की विचारधारा का विरोध नहीं किया जा सकता उसने कहा भी है कि समस्त कोषों

में प्रधान प्रकृतिकोप है—प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो महीयान् । कालिदास भी विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थाङ्क में प्रकृति-असूया की चर्चा करता है । अशोक ने समाज की समूची भावना को बदलने का प्रयास किया । उसने उन सब समाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जो उत्सव के पारम्परिक तथा वैदिक परम्परानुयायी लोकोत्सवों के अंग के रूप में आयोजित होते थे । वैदिक परम्परा के विरोधी होने से ही मार्कण्डेय पुराण की दुर्गासप्तशती (८।६) में शुम्भ के सहयोगी दैत्यों में मौर्यों की भी गणना की गयी है :

कालका दौहृदा मौर्याः कालकेयास्तथासुराः । युद्धाय सज्जा निर्यान्तु आज्ञया त्वरिता मम ॥

इन्द्रध्वजोत्सव इत्यादि इतने लोकप्रिय थे कि आयास करने पर भी अशोक मौर्य उन्हें लोक से मिटा न सका । वे बाद में भी चलते रहे । समाज इन उत्सवों का अनिवार्य अंग था । अतः उन्हें भी वह बंद न कर सका । समाज लोकरंजन का प्रधान साधन था तथा प्रजा के एक समूचे वर्ग की जीविका भी इस पर निर्भर थी । यह ऐसा वर्ग था जो कला का संरक्षक और प्रचारक था । इन नट, नर्तक तथा गायकों को नियमित वेतन देने की चर्चा कौटिल्य भी करता है । कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह गायन, वादन, नृत्य, नाटक, लेखन, चित्रकारी, वीणा, वेणु, मृदंग, माल्यग्रथन, पादसम्वाहन, प्रसाधन आदि कलाओं की शिक्षा देने वाले आचार्यों का प्रबन्ध करे । उनकी आजीविका का प्रबन्ध वह उस आय से करे जो नगरों तथा गाँवों से आती है । कौटिल्य ने प्रत्येक नट-नर्तक-गायक को ढाई सौ पण तथा प्रवीण वादक को पाँच सौ पण प्रतिवर्ष देने की अनुशंसा की है । और यह भी कहा है कि गणिका, अभिनेत्री आदि के लिए चौसठ कलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था राज्य की ओर से हो ।[८] उन्होंने लिखा है कि वर्षाऋतु में नट, नर्तक, गायक, वादक आदि एक ही स्थान पर निवास करें । उनकी कला से प्रसन्न होकर उचित मात्रा से अधिक यदि कोई पुरस्कार दे तो उसे वे स्वीकार न करें । अपनी अधिक प्रशंसा को भी अनसुना कर दें । इन नियमों का उल्लंघन करने पर बारह पण दण्ड दिया जाये । किसी देश, जाति, गोत्र या चरण का उपहास अथवा निन्दा और मैथुन सम्बन्धी बातों को छोड़कर नट लोग अपनी इच्छानुसार खेल दिखावें ।[६]

स्पष्ट ही कौटिल्य ने जहाँ अभिनय-विद्या को प्रोत्साहित करने की नीति अपनाई, वहीं उसका सेंसर भी कर दिया था । किसी देश, जाति, गोत्र या चरण का उपहास अथवा निन्दा किसी नाटक में सहन नहीं किया जा सकता था । स्वभावतः उस युग के नाटकों में ये तथ्य विद्यमान रहते थे । ऐसे सभी नाटकों को उसने निषिद्ध कर दिया । स्वभावतः राज्यक्रांति इत्यादि को व्यक्त करने वाली एक नाट्य-परम्परा ही थी जिसके अवशेष के रूप में आज एक 'मृच्छकटिक' किसी तरह से बचा रह सका । नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट 'दैत्य-दानवनाशन' में भी एक जाति की प्रशंसा तथा दूसरी की निन्दा स्पष्ट ही व्यक्त होती है, इसलिए उसका विरोध हुआ । क्योंकि निषिद्ध होने पर भी ऐसा रूपक अभिनीत किया गया ।

कौटिल्य ने समाजोत्सव के लिए कई सुविधाओं की अनुशंसा की तथा कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये । सम्राट् अशोक ने धार्मिक कारण और समाज-सुधार के बहाने समाज या नाट्य के प्रदर्शन पर लगभग प्रतिबन्ध लगा दिया । कुल को जरूर छूट थी । पर जब व्यापक प्रतिबन्ध लग गया, तब कौन रूपक प्रस्तुत करेगा और तब ऐसे रूपकों की रचना के लिए प्रवृत्ति भी कैसे होगी !

राजविरोध हर कोई मोल नहीं ले सकता । नाट्यशास्त्र में अप्रदर्शनीय कुछ बातों की ओर संकेत भा किया गया है युद्ध मरण इत्यादि प्रत्यक्ष न दिखाये जायें नायक का वध नहीं बताना चाहिए हाँ वध के स्थान पर ग्रहण या सन्धि की योजना

की जानी चाहिए।[10] प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र में यह योजना अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती निर्देश के परिप्रेक्ष्य में की गयी है जिससे जनता में राजविरोध की अथवा राजपतन की दृष्टि ही न आ सके। परन्तु लोकधारा को अचानक रोक पाना सरल नहीं है। ऐसे लोकप्रिय रूपक जनता में तब भी व्यापकता से खेले जाते रहे होंगे। अर्थशास्त्र के पदक्रम पर चलने वाले अशोक ने जब देखा कि ये आयोजन बन्द नही होते, तभी उसने अपने प्रथम लेख में ही 'समाज' न करने का निर्देश दे दिया। यह लेख शाहनाजगढ़ी (पाकिस्तान) से लगाकर धौली तथा देहरादून से लगाकर गिरनार और दक्षिण तक एकसाथ एक ही रूप मे उत्कीर्ण करवाकर वह अपने आदेश के अनुपालन का इन्तजार करता रहा। प्रतीत होता है कि राजकीय आदेशों के ही अनुपालन करवाने में पूरा शासकीय तंत्र लग गया था। आदेश के अनुपालन में निश्चय ही संघर्ष की स्थिति भी बन जाती थी। इसी क्रम मे इन्दध्वज-उत्सव के अन्तर्गत आयोजित होने वाले समाजों को भी प्रतिबन्धित करने के लिए मुठभेड़ की स्थिति भी उपस्थित होती रही होगी। क्योंकि प्रजा का बहुधा वर्ग परम्परावादी रहा। नये आदेशों के परिप्रेक्ष्य में उस परम्परा को उसे त्यागना था। रूढ़ि को त्यागना सरल नहीं था। न केवल रूढ़ि, अपितु लोकरंजन के ये माध्यम भी थे। जनता का 'समाज' के प्रति सदा ही विशेष आकर्षण रहा है। पुनः नटों की यह जीविका और उनका यह धर्म भी था। वे अपना पेशा छोड़कर निर्वाह कैसे करते। वे नाट्य, नर्तन इत्यादि से लोक का रंजन करते और लोक उनकी जीविका की व्यवस्था करता। पर जब शासन की ओर से 'समाज'-विरोध हुआ तो शासन को भी 'समाज' का विरोध सहना पड़ा। परिणामतः जहाँ भी रूपक प्रदर्शित होते, शासनतंत्र उन्हें बन्द करवाने, उनमे विघ्न डालने पहुँच जाता और तब संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती। यह कहा जा चुका है कि ऐसे आयोजन बहुधा इन्द्रध्वज के उत्सव में ही होते थे। परिणामतः विघ्नकारियों को खदेड़ने में तत्काल सुलभ इन्द्रध्वज का ही उपयोग कर लिया गया। इन्द्रध्वज की मार से विघ्नकारी भाग खड़े हुए। इन्द्रध्वज की मार से ये लोग जर्जर हो जाने से इन्द्रध्वज का नाम भी 'जर्जर' पड़ गया। बृहत्संहिता (४३।१६) के अनुसार इन्द्रध्वज के लिए काटी जाने वाली लकड़ी पर कुठाराघात की ध्वनि घन और स्निग्ध हितकारी होती है तथा जर्जर ध्वनि राजा के लिए अनिष्टकारी है :

परशोजर्जर शब्दो नेष्टः स्निग्धो घनश्च हितः।

इसी व्यापक सामाजिक संघर्ष-प्रणाली का परिणाम है कि, प्रतीत होता है, अन्ततः हताश हो अशोक ने इन उत्सवों को स्वीकृति दे दी, पर कुछ संशोधन के साथ। कुबेर, अप्सरा, इन्द्र, ऐरावत इत्यादि वैदिक तथा पौराणिक देव एवं अर्द्धदेव तथा वैदिक प्रतीकों को अशोक ने बुद्धपूजा के अंग के रूप में या बुद्ध के समक्ष अवनतों के रूप में स्वीकार कर लिया क्योंकि इन लोकदेवताओं तथा लोकोत्सवों के प्रति आम जनता की भावना बद्धमूल थी। जब ये प्रतीक बौद्धों में भी दिखाई देने लगे तो जनता के द्वारा बुद्ध की ओर उन्मुख होने में कोई विशेष विरोध नहीं किया गया होगा। क्योंकि इन्हीं देवताओं की पूजा करना है—इधर भी, उधर भी। अशोक ने इसीलिए अपने कई लघु लेखो मे लिखवाया—अमिसा देवा मिसा कटा—जो वैदिकों और बौद्धों में अलग-अलग देवताओं की पूजा होती थी, अशोक ने उन्हें मिलाकर एक कर दिया। इन्द्रध्वज की पूजा राजा तथा प्रजा मिलकर करते थे, वह चिरकालागत अत्यन्त लोकप्रिय समाजोत्सव का आधार था। असम्भव नहीं यदि अशोक ने उसी परम्परा को अपने पाषाणी धर्मस्तम्भ के रूप में स्वीकार कर उन्हें कौशाम्बी, काशी, विदिशा, साँची, उज्जैन इत्यादि विभिन्न स्थलो पर स्थापित कर दिया—बुद्ध के प्रतीक के रूप मे। उत्सव वही रहा—केवल लक्ष्य बदल गया। तब उस अवसर पर होने वाले समाजों की विधा भी निश्चय ही बदली होगी

शुंगकालीन विभिन्न बौद्ध-स्तापत्यों पर उत्कीर्ण दृश्य-बन्धों में इन्द्र अथवा उनका ऐरावत, यक्ष, कुबेर, अप्सरादि समूचा परिवार बौद्ध-प्रतीकों के समक्ष अवनत या बौद्धस्थलों के रक्षक के रूप में प्रदर्शित हैं। इससे भी नाट्यशास्त्र में वर्णित असुरों द्वारा इन्द्र-विरोध की स्पष्ट ही प्रतीकात्मक रूप से पुष्टि होती है। अशोक ने पहले लेख में समाज बन्द करवाकर प्रजा का विरोध मोल ले लिया होगा। बाद में समझौते हुए और लोकप्रिय देवोत्सवों को उसने स्वीकृति दी होगी—यह उसके लेखो और नाट्यशास्त्र में वर्णित पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है।

स्वभावत: 'जर्जर' नाम रखना ही राजविरोध या राजविनाश का संकेतक है। पर राजतंत्र भी पीछे न हटा। जब भी इन्द्रध्वज के अवसर पर समाज आयोजित होते, वे पुनः उनमें विघ्न डालते। नाट्यशास्त्र का पूर्वोक्त प्रसंग इस ओर संकेत करता है। अन्तत: विघ्नसंतोषी तत्त्वों को समझाया गया कि नाट्य न किसी के पक्ष में है, न किसी के विपक्ष में। इसमें तो त्रैलोक्य के भावो का अनुकीर्तन है। इसमें तो लोकवृत्त का अनुकरण होता है। दुःखी, थके-हारे लोगों के लिए यह विश्रान्तिदायक है। लोकोपदेश का लोकहारी साधन है। हर प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कर्म इसमें दिखाया जाता है। इसलिए केवल देवताओं के प्रति आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। यह सबका विनोदकारी है।[११] समझाने का कुछ प्रभाव हुआ और नाट्य अनवरत रह सका। बाद में तो जैन राजा खारवेल ने भी उदयगिरि की रानीगुम्फा में न केवल नाट्यशाला ही बना दी, अपितु समाजोत्सव का भी आयोजन किया था। ऐसी अनेक नाट्यशालाएँ बनी होंगी जिनमें से अब कुछ कहीं बच पायीं। पर विघ्नों को पार कर भी नाट्य-परम्परा अनवरत रही। अभिलेख-सम्पन्न ये प्रेक्षागृहाएँ अशोक के काल अथवा कुछ ही समय बाद बनीं और बनती रहीं जिनमें समाज भी होते रहे। कामसूत्र, खारवेल, सातकर्णि इत्यादि के प्रमाणों से यह परम्परा पुष्ट होती रही। लोकरुचि की विजय हुई। अन्तत: 'जर्जर' की ही विजय हुई। समाज की शक्ति के सामने सत्ता को झुकना पड़ा।

संदर्भ-संकेत

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, १९६४, पृ० ३३-३४।

२. एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने। भगवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र संगताः ॥
विरूपाक्षपुरोगास्तु विघ्नान् प्रोत्साद्य तेऽब्रुवन्। नेत्यभिष्यामहे नाट्यमेतदानभ्यतामिति ॥
ततस्तैरसुरैः सार्धं विघ्नमायामुपाश्रिताः। वाश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥
× × ×
सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम्। —नाट्यशास्त्र, १।६४-६७, ६९।

३. जर्जरे चैव निक्षिप्तं वज्रं दैत्यनिबर्हणम्। तत्पर्वसु च निक्षिप्ताः सुरेन्द्राः ह्यमितौजसः ॥
शिरः पर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शंकरस्तथा। तृतीये स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥
पंचमे च महानागाः शेषवासुकितक्षकाः। एवं विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुराः ॥
—वही, १।९१-९४।

४. पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च। तयोरूपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते ॥
—वही, १।९९।

५. डॉ० एच० एन० दासगुप्ता, द इंडियन स्टेज, भाग १, पृ० ३५-३७ तथा प्रस्तुत लेखक का लेख 'भारतीय - - और राजनैतिक हस्तक्षेप' वीणा नव० दिसम्बर १९८०, पृ० ४१-४७

६. विनयपिटक (२।५।२।६) एवं आचारांगसूत्र (२।१।२।५-६)।

७. न च समाजो कर्तव्यो। वहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानं पियो पियदसि राजा। अस्ति पितु एकच्चा समाजा साधुमत्ता देवानं पियस पियदसिनो रानो ॥
(अशोक का प्रथम लेख)

८. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।४३।२७।५ तथा ५।८९।३।२, अध्यक्ष प्रचार ४१।

९. कुशीलवा वर्षारात्रिमेकस्था वसेयुः। कामदानमति मात्रस्यातिवादंच वर्जयेयुः। तस्यातिक्रमे द्वादशपणो दण्डः। कामं देशजातिगोत्र चरणमैथुनापहाने नर्मयेयुः।—अर्थशास्त्र, ४।७६।१।१५।

१०. युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव। प्रत्यक्षाणि तु नांके प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ अंके प्रवेशके च प्रकरणमाश्रित्य नाटके वापि। न वधः कर्तव्यः स्याद्योभ्युदयी नायकः स्यातः ॥ अपसरणमेव कार्यं ग्रहणं वा सन्धिरेव वा योज्यः ॥ —नाट्यशास्त्र, १८।३८-४०।

११. नाट्यशास्त्र, १।१०१-१२३।



१२, वीर दुर्गादास मार्ग,
उज्जैन

सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत' और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र'

□

डॉ० सुरेन्द्रनाथ मीतल

सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत'* संस्कृत साहित्य के शुद्ध राजनीतिशास्त्र के कुछ ग्रन्थों में से एक है (निबन्ध-ग्रन्थ, यथा—चण्डेश्वर का 'राजनीति-रत्नाकर' छोड़कर, जिसमें स्मृतियों, इतिहास-पुराण ग्रन्थों तथा राजनीति के ग्रन्थों के उद्धरणों को कुछ स्पष्टीकरणों के साथ संकलित किया गया है)। सोमदेव, कामन्दक के ही समान, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पर्याप्त मात्रा में सामग्री ग्रहण करता है और कौटिल्य के ही समान तथा कामन्दक के विपरीत, उसने इसे सूत्रों के रूप में लिखा है। परन्तु उसके इस ग्रन्थ में विषय का वर्णन और उसका अध्यायों (समुद्देशों) में विभाजन वैसा सुगठित नहीं है जैसा कौटिलीय अर्थशास्त्र का। उदाहरण के लिए 'पुरोहितसमुद्देश' में केवल प्रथम तीन सूत्र पुरोहित के विषय में हैं तथा शेष का वर्णन तभी पुरोहित से संलग्न माना जा सकता है यदि राजा की शिक्षा (और अधिकतर साधारण शिक्षा के नियमों) के वर्णन को किसी भी प्रकार से पुरोहित से सम्बन्धित मान लिया जाये, जैसा कि प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र के किसी ग्रन्थ में नहीं है। नीतिवाक्यामृत के अन्तिम अध्याय का नाम 'प्रकीर्णक' (विविध) समुद्देश है, परन्तु दिखायी यह देता है कि अन्य कई अध्यायों के अंश भी प्रकीर्णक हैं। जैसे 'मंत्रिसमुद्देश' के प्रथम १११ सूत्र मंत्रियों से सम्बन्धित हैं अथवा माने जा सकते हैं, पर फिर शेष ६० सूत्रों में विविध वर्णन किया गया है। यही स्थिति 'पुरोहित-समुद्देश' की है जिसके ५५ सूत्रों मे से २८ सूत्र तो शिक्षा के विषय में भी नहीं हैं। ऐसा ही 'विद्यावृद्ध-समुद्देश', 'स्वामिसमुद्देश', 'अमात्यसमुद्देश', 'व्यवहारसमुद्देश' तथा 'सदाचारसमुद्देश' में है। यह तथ्य इससे भी सिद्ध होता है कि सोमदेव कुछ स्थानों (लगभग ११) पर एक से अनुप्रासवाले परन्तु अधिकांशतः परस्पर असम्बन्धित सूत्र प्रस्तुत करता है,[1] जैसे अध्याय ११ में "अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकण्डनमिव। नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णलवणमिव। अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव।"[2] इसमें काव्यात्मकता हो सकती है, व्यवस्थितता नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि 'नीतिवाक्यामृत' बिलकुल सुयोजित नहीं है। सोमदेव "अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः" (प्रारम्भ में धर्म, अर्थ, काम विषयक फल देने वाले राज्य को नमस्कार) कहकर धर्म, अर्थ, काम का तीन समुद्देशों में विचार करता है और फिर इन तीनों के विरोधी अरिषड्वर्ग (काम, क्रोधादि) और इन तीनों को राजा प्राप्त कर सके, इसके लिए उपयोगी

---

* सोमदेव ने अपने ग्रन्थ 'यशस्तिलकचम्पू' में लिखा है कि उसने वह ग्रन्थ शक ८८१ में पूरा किया जिसका अर्थ है कि सोमदेव १०वीं शताब्दी ईस्वी का है।

राजा की शिक्षा (विद्यावृद्धसमुद्देश) का उल्लेख कर चार समुद्देशों मे चार विद्याओ (आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता, दण्डनीति), पाच समुद्देशो म पाँच प्रकार के कर्मचारियों (मंत्रि, पुरोहित, सेनापति, दूत, चर) और फिर (दो समुद्देशों में विचार अर्थात् प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम—तथा व्यसनों का विचार के पश्चात्) सात समुद्देशो में राज्य के सात अंगों (स्वामि, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, बल, मित्र) का और तत्पश्चात् राजा की रक्षा और उसके दैनिक कार्यक्रम का वर्णन करता है। इन पचीस समुद्देशों के उपरान्त विवाद, षाड्गुण्य, युद्ध, विवाह, सदाचार, व्यवहार और प्रकीर्ण नाम के समुद्देश हैं (यद्यपि इस क्रम में नहीं)। पर इस व्यवस्था के अनुसार विषय का विवेचन करने मे यह हो गया है कि धर्म और त्रयी (अध्याय १ और ७); अर्थ, वार्ता और कोश (२,८,२१); काम और विवाह (३, ३१); आन्वीक्षिकी और विचार (६, १५); अरिषड्वर्ग और व्यसन (४,१६); स्वामी, राजरक्षा और दिवसानुष्ठान (१७,२४,२५); मंत्री और अमात्य (१०,१८); मित्र और षाड्गुण्य (२३,२९); बल और युद्ध (२२,३०); सदाचार, व्यवहार और प्रकीर्ण (२६,२७,३२)—कुछ विषय, जो इन पृथक् वर्गों में एकसाथ विचार करने योग्य हैं, स्वयं पृथक्-पृथक् हो गये हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया, सोमदेव बहुत-से विषयों में कौटिल्य का अनुसरण करता है—अनुसरण ही नहीं, कौटिल्य के अनेक सूत्रों को उद्धृत करता है[३], वैसे का वैसा ही अथवा थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ। 'नीतिवाक्यामृत' में ऐसे सूत्रों की संख्या सौ से अधिक ही है[४]। इसके अतिरिक्त ऐसे भी सूत्र हैं जिनके विचार कौटिल्य के वर्णित विचारों के समान हैं[५] अथवा जिनमें कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त शब्दों का भाव्य है[६]। इन सब सूत्रों की संख्या मिलाकर डेढ़ सौ से अधिक है जो कि 'नीतिवाक्यामृत' के सूत्रों (१५२८) का लगभग ग्यारह प्रतिशत है। कामन्दक ने भी कौटिल्य का बहुत अनुकरण किया है, परन्तु कामन्दक यह स्वीकार अवश्य करता है कि उसने कौटिल्य के ग्रन्थ का संक्षिप्तीकरण किया है[७]। इसके विपरीत सोमदेव, यद्यपि उसने नीतिवाक्यामृत मे चाणक्य (कौटिल्य का नामान्तर) का दो स्थानों पर इतिहास की घटनाओं के सम्बन्ध में उल्लेख किया है[८] और यद्यपि वह यशस्तिलकचम्पू में बृहस्पति, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म के नीतिशास्त्रों का उल्लेख करता है, परन्तु वह अपने ग्रन्थ में कौटिल्य के किसी ऋण को, कामन्दक के समान, स्वीकार नही करता[९]।

केवल इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा कि सोमदेव कौटिल्य का, लगभग इतने सूत्रों के लिए पूर्णतया ऋणी है। यह भी विचार करना आवश्यक होगा कि सोमदेव ने कौन-कौन से विषयों में कौटिल्य का अनुकरण किया है। त्रिवर्ग का लगभग पूरा विचार[१०] कौटिल्य पर आधारित है। आन्वीक्षिकी[११] और दण्डनीति[१२] संबंधी विचार भी कौटिल्य से गृहीत हैं, यद्यपि कौटिल्य ने जिन चार प्रकार के कार्यों (अलब्ध की प्राप्ति, लब्ध का रक्षण, रक्षित का विवर्धन और वर्धित का तीर्थों अर्थात् सत्पुरुषों मे वितरण) को दण्डनीति के अन्तर्गत रखा है, सोमदेव ने उन्हें अर्थ से सम्बन्धित किया है[१३]। राजकुमार की शिक्षा और विवाह की आयु[१४] तथा कुछ मात्रा मे उसको पढ़ाये जाने वाले विषय भी (यथा लिपि, संख्या आदि)[१५], इसके अतिरिक्त यह विचार कि शिक्षा द्रव्य (गुण ग्रहण करनेवाले) को ही विनयी करती है, अद्रव्य को नहीं, और द्रव्य-प्रकृति की बुद्धि के गुण[१६] तथा यह विचार कि नये बालक के ऊपर एक बार जो गलत प्रभाव पड़ गया, वह समाप्त नही होता[१७] सोमदेव द्वारा कौटिल्य से ही लिये गये हैं। कैसे राजकुमार राज्य देने योग्य नहीं होते,[१८] अविनीत राजपुत्र घुन लगी हुई लकड़ी के समान हैं जिनके कारण राजकुल नष्ट हो जाता है तथा ऐसे राजकुमारों को सुख में लिप्त कर देने पर वे पिता के विरुद्ध विद्रोह नहीं करते[१९]—ये सब विचार कौटिल्य के ग्रन्थ के हैं, यद्यपि इसमें प्रथम विचार सोमदेव के अपने शब्दों में है।

सोमदेव 'बुद्धिमान' और 'आहार्यबुद्धि' शब्दों का भी कौटिल्य के समान प्रयोग करता है, परन्तु उन शब्दों की व्याख्या उसकी अपनी है[२०]। सोमदेव राजकुमारों और राजा के विनयी होने की भी बार-बार चर्चा करता है[२१] तथा विद्यावृद्धसंयोग की भी[२२]। परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि यह विचार उसने कौटिल्य से ही ग्रहण किया है क्योंकि यह विषय मनुस्मृति मे भी है। राजा इन्द्र और यम के समान कृपा करने और दण्ड देने वाला है[२३] तथा यदि प्रजा का राजा से मिलना संभव नही हो पाता तो राजा के समीपस्थ लोग कार्यों में गड़बड़ी करा देते हैं और अन्त मे राजा कष्ट में पड़ जाता है[२४]—यह विचार भी लगभग कौटिल्य के ही शब्दो मे है। कुछ-कुछ यह विचार भी कि शास्त्र का केवल ऊपरी ज्ञान रखने वाले राजा से अन्धा राजा अच्छा है[२५]। पुरोहित के गुण[२६], दूतों के प्रकार, उनका महत्त्व तथा उनके वध न करने का नियम[२७] तथा गुप्तचरों के प्रकार आदि का वर्णन[२८] भी बहुत-कुछ कौटिल्य का अनुकरण-मात्र है। सोमदेव यह भी कहता है कि अकेले राजा से कार्यसिद्धि नही होती, जैसे अकेले पहिये से चला नही जा सकता[२९] और यह कहकर वह कौटिल्य के समान ही अमात्यों की आवश्यकता का वर्णन करता है। कौटिल्य के समान ही, परन्तु संक्षेप में (एक सूत्र में ही)[३०] सोमदेव यह संकेत देता है कि मंत्रियों को धर्म, अर्थ, काम और भय उपधाओं द्वारा परीक्षित होना चाहिए। उसका यह भी कहना कि मंत्रणा के द्वारा ही राजा के सब कार्य प्रारम्भ होते है तथा यह कि मंत्रणा के पाँच अंग क्या है, मंत्रणा से क्या साध्य हो सकता है तथा मंत्रियों के कार्य क्या हैं[३१] प्रायः कौटिल्य के ही शब्दों में दिये गये हैं। सोमदेव यह भी कहता है कि साधारणतया एक अथवा दो मंत्री नहीं होना चाहिए क्योंकि एक मंत्री स्वेच्छाचारी हो सकता है तथा दो मंत्रियों का पारस्परिक झगड़ा अथवा उनका मिल जाना—दोनों ही हानिकारक हो सकते है, यह कौटिल्य का तर्क दुहराया गया है। परन्तु मंत्रियों की संख्या कितनी हो, इसमें सोमदेव कौटिल्य का अनुकरण नही करता तथा यह भी कहता है कि यथोचित गुणवाले एक अथवा दो मंत्री भी हो सकते हैं[३२]। सोमदेव मंत्रणा की रक्षा का आग्रह करता है, यद्यपि अपने शब्दों में, परन्तु गुप्त मंत्रणा किस प्रकार से प्रकट होती है, इसमें वह कुछ मात्रा में कौटिल्य के ही शब्द दुहराता है[३३]। तादात्विक, मूलहर और कदर्य कर्मचारी हानिकारक होते है तथा इन तीनों शब्दों के भाष्य में भी कौटिल्य का ही अनुकरण है तथा इसमें भी कि राजा को ऐसा कोई काम नही करना चाहिए जिससे प्रजा का क्षय, विनाश हो अथवा प्रजा में लोभ उत्पन्न हो जाये[३४]—यद्यपि कौटिल्य का इस विषय में जो विश्लेषण है, वह सोमदेव नही दुहराता। अधिक व्यय परन्तु कम आयवाला कर्मचारी राजा के धन को खा जाता है तथा जो कम आय के साधनवाला राजा है, वह (आय के लिए) जनता को पीड़ित करता है[३५], कर्मचारीगण घोड़ा के समान अपना व्यवहार नित्य बदलने के कारण राजा के कार्य मे गड़बड़ी करते हैं[३६]—सोमदेव के ये विचार भी कौटिल्य के समान है तथा कुछ-कुछ उसके ही शब्दों में। सामाजिक विचार में पुरुष-स्त्री की व्यवहार-प्राप्त होने की (एक प्रकार से विवाह की) आयु तथा विवाह के प्रकार कौटिल्य के शब्दों में ही दोहराये गये हैं[३७] तथा कौटिल्य जैसा ही (यद्यपि अपने शब्दों में) विवाह के धर्म्य और अधर्म्य प्रकारों में अन्तर किया गया है[३८]। युद्ध के सम्बन्ध मे सोमदेव प्रायः कौटिल्य के शब्दों मे कहता है कि जो पूरी प्रकार से पराजित है, उन्हें पीड़ित नही करना चाहिए क्योंकि दुःख और क्रोध से परिपूर्ण तेज बड़ा पराक्रमशाली होता है[३९]। युद्ध, न समान के साथ करना चाहिए और न बलवान के साथ; बलवान के साथ तो युद्ध ऐसा है जैसा पैदल का हाथी के साथ; तथा धर्मविजयी, लोभविजयी और असुरविजयी की परिभाषा—ये सब विचार वैसे ही हैं जैसे कौटिल्य के, यद्यपि सोमदेव के शब्दों में[४०]। तूष्णींदण्ड का वर्णन कौटिल्य का ही है और कूटयुद्ध का भी लगभग वैसा ही[४१] सोमदेव

ने कौटिल्य से सबसे अधिक ग्रहण किया है मण्डल तथा षाड्गुण्य (परराज्यसंबंध) के विषय में। उस एक अध्याय के ही १०२ में से कम से कम ३६ सूत्र कौटिल्य से उधार लिये हुए है। शम (कर्मफलोपभोग) और व्यायाम (उद्योग)[४२]; दैव (भाग्य) और मानुष-कर्म (प्रयत्न) का कुछ वर्णन[४३]; मण्डल, उदासीन, मध्यस्थ और विजिगीषु की परिभाषा[४४], यद्यपि प्रथम तीन परिभाषाएँ कौटिल्य की शब्दावली से पर्याप्त भिन्न है; किस प्रकार के शत्रु से लड़ाई करनी चाहिए तथा किसका उच्छेदन और किसका पीडन और कर्षण करना चाहिए[४५]; सहज और कृत्रिम मित्र और शत्रु[४६]; प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति आदि[४७]; षड्गुण (सन्धि, विग्रह आदि) और उनके प्रयोग का समय[४८]; चार उपाय और उसकी परिभाषा[४९]; मित्र, हिरण्य और भूमि का लाभ[५०]; पूर्वलाभ तथा पश्चात् कोप की तुलना[५१]—ये सब कौटिल्य के अनुसार हैं। इन सबके अतिरिक्त कौटिल्य के सोमदेव पर कुछ छोटे-मोटे ऋण है जैसे उचित वचन बालक से भी ग्रहण करना चाहिए[५२] तथा प्रत्यक्ष का अर्थ है स्वयं देखा हुआ[५३] आदि। इन उपर्युक्त उदाहरणों के कारण यह संभव लगता है कि सोमदेव के टीकाकार का यह कथन सत्य हो कि किसी राजा ने ही सोमदेव को, कौटिल्य के ग्रन्थ की दुर्बोधता के कारण, 'सुबोध' और 'ललित' ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया था, चाहे वह राजा कान्यकुब्ज के श्री महेन्द्रदेव न हों, जैसा 'नीतिवाक्यामृत' की भूमिका मे श्री नाथूराम प्रेमी ने सिद्ध किया है (पृष्ठ २१-२२)।

परन्तु जैसा सोमदेव के विषय-विवेचन की अव्यवस्था के उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि सोमदेव के ग्रन्थ में कोई व्यवस्था नहीं है, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणो के आधार पर यह कहना भी बिलकुल ठीक नहीं होगा कि 'नीतिवाक्यामृत' में कोई मौलिकता नही अथवा उसके ग्रन्थ में कौटिल्य से कोई भिन्नता नहीं है। पहले मोटे-मोटे तथ्य लिये जायें। सोमदेव ने अपने ग्रंथ का नाम 'नीति' पर आधारित किया है, 'अर्थ' पर नही। ऐसा कहना उचित होगा कि प्राचीन भारतीय राजनीति के सम्पूर्ण साहित्य में केवल कौटिल्य का एकमात्र ऐसा उपलब्ध ग्रन्थ है जिसका नाम 'अर्थशास्त्र' है, अन्य सब ग्रन्थों के नाम 'नीति' पर हैं जिनमें प्रायः सब कौटिल्य के बाद के हैं (लेखक का मत है कि शुक्रनीति ही इसका सबसे बड़ा अपवाद हो सकता है), एक प्रकार से उसके अनुयायी, कामन्दक और सोमदेव तक ने भी अपने ग्रन्थों का नामकरण उसी प्रकार किया है, यहाँ तक कि कामन्दक कौटिल्य के ग्रन्थ को भी 'अर्थशास्त्र' न कहकर 'नीतिशास्त्र' कहता है।[५४] दूसरे, सोमदेव, कौटिल्य के विपरीत, उस भारतीय परम्परा का अनुसरण करता है जिसमे पूर्ववर्ती विचारों और विचारकों का खण्डन नही किया गया है। कौटिल्य तो अपने ग्रन्थ मे, जैसा ऊपर संकेतित है, कुछ विचारकों के तथा कुछ विचारधाराओं के, जैसे 'वातव्याधिः', 'पाराशराः' (चाहे वे वास्तविक हो अथवा काल्पनिक), मतों का उल्लेख करता है और उन सबका वर्णन करके फिर कहता है 'नेतिकौटिल्यः'। जैसे वह पूर्व आचार्यों के, संभवतः मनु तथा महाभारत के भी[५५], इस विचार का उल्लेख कर कि राजा सदैव दण्ड प्रयोग करने को उद्यत रहे, कौटिल्य 'नीति कौटिल्यः' कहकर इसका खण्डन करता है और उसका कारण बताता है कि कड़ा दण्ड मनुष्यो को उद्वेलित कर देता है[५६], वही कारण जो कि मनुस्मृति के अनुसार नित्य उद्यतदण्ड रहने का लाभ है। यह खण्डन की परम्परा पश्चिमी विचार में तो प्रचलित है और उसे लोग उचित अथवा श्लाघ्य भी मान सकते हैं, परन्तु भारतीय परम्परा में, मध्यकाल के पूर्व, साधारणतया यह पद्धति नहीं दिखायी देती है। धर्मसूत्रों में, स्मृतियों में और इतिहास-पुराण ग्रन्थों में पूर्व के विचारों का एके अन्ये कहकर उल्लेख किया गया है तथा तत्पश्चात् ग्रन्थकार अपना मत दे देता है परन्तु पूर्व मत का खण्डन नहीं करता। पाठक

की इच्छा पर यह छोड़ देता है कि वह इन विभिन्न मतों को परस्पर विकल्प माने अथवा परस्पर प्रतिकूल। अतः सोमदेव इस विषय में पूर्ववर्ती भारतीय परम्परा का अनुकरण करता है, कौटिल्य का नहीं। सोमदेव और कौटिल्य के ग्रन्थों का तीसरा अन्तर यह है कि शत्रुओं और दुष्टों से निबटने के लिए अथवा आपत्तिकालीन कोष-संग्रह के लिए कौटिल्य ने जिन साधनों का वर्णन किया है[५७], जिन्हें अनैतिक कहा जा सकता है, उन साधनो का वर्णन सोमदेव के ग्रन्थ में बहुत कम है।

कुछ विषय ऐसे हैं जिनका विचार कौटिल्य ने किया है, परन्तु सोमदेव ने नही किया अथवा बहुत कम किया है। कौटिल्य राज्य के कुछ प्रकारों का उल्लेख करता है—द्वैराज्य, वैराज्य[५८], कुलसंघ[५९], राजशब्दोपजीवी तथा वार्ताशास्त्रोपजीवी संघ[६०]। नीतिवाक्यामृत में (और कामन्दकीय मे भी) इनका थोडा-भी संकेत नही है। कौटिल्य ने राज्य के प्रशासन का विभिन्न विभागों का[६१], केन्द्रीय कार्यालय का[६२] तथा कोष की व्यवस्था का[६३] बहुत विस्तृत वर्णन किया है। सोमदेव के इस ग्रन्थ में उसकी तुलना में उनका वर्णन बहुत अल्प है[६४]। कौटिल्य का विधि तथा न्याय का अधिकरण भी[६५] बहुत बड़ा है। सोमदेव ने भी एक अध्याय[६६] (विवादसमुद्देश) में न्याय का वर्णन किया है तथा यत्र-तत्र विधि का भी सकेत है[६७], परन्तु सोमदेव का विवेचन, यद्यपि कामन्दक से अधिक है, परन्तु कौटिल्य के 'धर्मस्थीय' और 'कण्टकशोधन' की तुलना में कुछ भी नहीं है।

इतने से ही सोमदेव की मौलिकता सिद्ध नहीं होती। यह तो नकारात्मक है। इसमें तो यही कहा गया है कि कौटिल्य की कौन-सी बात सोमदेव के ग्रन्थ में नही है। सोमदेव ने कौटिल्य से जो पृथक् विवेचन किया है, वह नहीं बताया गया। सोमदेव ने अध्यात्म का वर्णन किया है (आन्वीक्षिकी समुद्देश) और राजा के आध्यात्मिक होने पर बल दिया है[६८]। सोमदेव प्रमाणों (अर्थात् एक प्रकार से न्याय दर्शन) का भी विवरण देता है[६९]। धर्म का वर्णन[७०] सोमदेव का अपना है तथा बहुत-कुछ मात्रा में अर्थ[७१] तथा काम[७२] का भी, जो केवल इन दो समुद्देशों में ही नहीं, यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। सामाजिक विचार भी[७३] प्रायः कौटिल्य से नहीं लिये गये हैं और सोमदेव उसके लिए अधिकांश में स्मृतियों का ऋणी है। परन्तु राज्य-सम्बन्धी विचार भी कुछ सोमदेव का अपना है। सप्तांगों की परिभाषा तथा उनके गुण[७४], राजा के गुण तथा उसका व्यवहार[७५], राजा का उत्तराधिकार[७६], मंत्रियों की संख्या त । उनके वर्ण[७७] इन सब पर सोमदेव के निष्कर्ष उसके अपने हैं। इसके अतिरिक्त राज्य-सम्बन्धी बहुत-सी विस्तार की बातें भी सोमदेव की अपनी ही लिखी हुई है—षाड्गुण्यसमुद्देश में भी[७८] जिन सबका यहाँ संक्षेप में भी वर्णन करना सम्भव नहीं है। सबसे अन्त में, सोमदेव, प्रत्येक विषय में लगभग जितनी परिभाषाएँ दी जा सकती हैं, उतनी देता है, धर्म[७९] से लेकर विवाह[८०] तक जिनमें सौ से अधिक[८१] उसकी अपनी हैं। उदाहरण के लिए, वह जनपदसमुद्देश में ही राष्ट्र, देश, विषय, मण्डल, जनपद, दारक, निर्गम—सात समानार्थक शब्दों की परिभाषाएँ करता है[८२]। यह सब परिभाषायें भी सोमदेव की अपनी विशेषता हैं। अतः सोमदेव कौटिल्य का बहुत-कुछ अनुकरण करता हुआ अपनी मौलिकता भी प्रकट करता है।

सोमदेव के कौटिल्य से ऋण के सम्बन्ध में यह बताना शेष है कि सोमदेव कौटिल्य का ही ऋणी नहीं, उसने बहुत से विचार अन्य स्थानों से भी ग्रहण किये हैं जिन सबका स्रोत संभवतः ढूंढ़ निकालना कठिन होगा। यहाँ केवल कुछ उदाहरण ही दिये जा सकते हैं। सोमदेव के ग्रन्थ (धर्मसमुद्देश) का पहला सूत्र ही "जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है" कणाद के वैशेषिक सूत्र से लिया हुआ है[८३]। मूर्ख मन्त्रियो द्वारा राजा का मार्गदर्शन ऐसा ही है जैसा

ग्धों द्वारा अंधों का मार्गदर्शन"[८४] का दूसरा अंश निश्चित रूप से उपनिषद् पर आधारित है[८५]। गुप्तचर राजा की आँखें हैं[८६] तथा राजा महान् देवता है, इसलिए दुर्बल राजा की अवमानना नहीं करनी चाहिए—मनुस्मृति से लगभग उद्धृत है[८७]। इसी प्रकार से यह विचार भी कि अपात्र को देना भस्म में आहुति देने के समान है[८८] अथवा यह कि माँ तक के साथ अकेले में नहीं बैठना चाहिए[८९]। चौदह विद्याओं का वर्णन[९०]याज्ञवल्क्यस्मृति जैसा[९१] है। जैसा पीछे कहा गया, अधिकांश सामाजिक विचारों के लिए (मुख्य रीति से वर्ण, आश्रम और स्त्रियों-सम्बन्धी वर्णन)[९२] सोमदेव कौटिल्य की तुलना मे स्मृतियों का अधिक ऋणी प्रतीत होता है तथा कुछ अन्य बातों के लिए भी जैसे यह कि जिससे प्राणवध बच जाये, वह असत्य भी असत्य नही है[९३]। महाभारत से भी समानता कई स्थानों पर देखी जा सकती है। यथा इसी ग्रन्थ के समान सोमदेव का कहना है कि राजा को बहुत-से पाप करने पड़ते हैं, परन्तु जिससे धर्मपालन हो, वह पाप पाप नहीं है[९४] अथवा यह कि पुरुष अर्थ का दास होता है[९५] अथवा यह कि गृहिणी ही वास्तव में गृह है[९६]। इसलिए पूरी प्रकार से सोमदेव कौटिल्य पर निर्भर नही है, उसने अन्य स्रोतों से भी सामग्री ली है और यह भी एक प्रकार से सोमदेव की मौलिकता है।

सदर्भ-संकेत

१. ६।४२-४५; ७।३१-३८; १०।११९-२३, १२५-२६; ११।१९-२०, २२-२७, २९-३० तथा ३८-५०, १९।१४-१७; २५।७१-८०; २६।४१-४५; २७।७-२१ तथा २३-२५ तथा ४७-५७, ३२।६९-७२। २. ११।४२-४४। ३. २।२-४, ६-९; ३।२-४, ८-९; ४।१; ५।१, ४३-४४, ५५-५६, ७२; ७।१ का प्रथमार्ध, २,२४-२५; ९।६-७; १०।१४, २२-२५, ३३, ३५, ६७, ६९-७०, १५४, १६४; ११।१, २८; १३।३, १८-१९; १४।८-१२, ३५-४०; १५।३; १७।३४; १८।२३, १६, ४०, ५०; २३।३-४; २४।२-३, ६२; २९।१-७, २३, ३०-३४, ३८, ४०-४८, ५०-५३; ६९-७४, ७८-७९, ८५; ३०।५८, ६०, ६३-६४, ६६, ६९-७२, ९१; ३१।१, ४, ६, ९, ११-१२, ३२।२९ (अर्धांश)। ४ ऊपर के पदपाठ मे बताये गये सूत्रों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ इस प्रकार के सूत्र हो सकते हैं जिनकी ओर लेखक का ध्यान न गया हो। ५. २।१०; ३।४-५; ५।३०-३१, ३८-३९, ६१-६२, ७२; १०।१, २७; १३।१, ६, १७।१३; १८।१७; २०।६; २४।६१, ७३; २९।२१-२२, ८७, ९७; ३०।६८, ९० । ६. ४।२-७; ५।४५-५४; १०।३६; २९।७-८। ७. नीतिसार १।७। ८-१०।४; १३।१४। ९. डॉ. अम्बादत्त पन्त ने लेखक का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। १०. ३।२-४ तथा १४-१५ भी। ११. ५।५६। १२. ९।६-७। १३. २।३-४। १४. ११।२८। १५. ११।४। १६. ५।४३-४४। १७. ५।७१ उन्हीं शब्दों में नहीं। १८. ५।३८-३९। १९. २४।७२-७३। २०. ५।३०-३१; १०।१। २१. ५।३१, ३९-४०; ११।५-७; १६।३०; २४।७१-७२; २७।६; २८।१४। २२. पूरे एक अध्याय का यही नाम है-अध्याय ५ विशेष रूप से सूत्र ६१-७१ तथा २४।७३। २३. ५।१। २४. १७।३४। २५. ५।७२। २६.११।१। २७. १३।३, १८-१९। २८. समुद्देश १४ विशेष रूप से ९, ३६-३७। २९. १८।२-३। ३०.१०।१४। ३१ १०।२२-२५। ३२ १०।६७-७३, ७६। ३३. १०।३३-३५ तथा ३६-४१। ३४. २।६-९। ३५. १८।१६-१७। ३६ १८।५०। ३७. ३१।१, ४-७, ९-१२। ३८. ३१।८, १३। ३९. ३०।६३-६४, ६६। ४०. ३०।६८-७२। ४१. ३०।९०-९१। ४२. २९।१-२। ४३. ३-७। ४४. २०-२३। ४५. ३०-३२। ४६. ३३-३४, देखिए २३।२-३ भी। ४७. ३८, ४०-४१। ४८. ४२-४८, ५०-५३। ४९ ६९-७४। ५० ७८ ७९ ५१ ८५। ५२ १०।१५४। ५३ १५।३। ५४ १।६। ५५. मनु० ७।१०२ ३ महाभारत १२।१४० ७ ८। ५६. ३।४५ ७-८। ५७ ५।२ तथा अधिकरण ७, ८

११-१४ । ५८. ८।२५-८ । ५९ १।१७।५३ । ६०. अधिकरण ११ । ६१. २।१२-१९, २१-३५ । ६२. २।७ । ६३. २।५-६,८ । ६४ प्रशासन---१८।४७-५२, ३२।२९; कोक्ष-व्यवस्था—८।२-८; १८।६-१०, १६-१७, ४७-५२ । ६५. अधिकरण ३ मुख्यतया तथा ४ भी । ६६. २८ समुद्देश । ६७ ३२।४१।४४, ५०-५१ । ६८. ६ २ । ६९. समुद्देश १५ । ७०. अधिकरण १ तथा अन्यत्र भी । ७१. १।७-१९, २८-२९, ३८; २; ३।५-६, ८; ४।४; ८।३; १०।१०९, ११७-१८; ११।३५-३६, ३८; १५।१६; १६।२१-२२; १७।८-१२, ५३-५५; २१।८-१३; २२।१६; २६।९, १५, १८, २०, २९, ३७-३८, ५२-५४ आदि । ७२. ३; ४।२; १०।११४-१६, ११८; २५।७८, ९६-१०७ । ७३ मुख्य रीति से ५।६-२५; ७।११।९-२९; २४।८-४३; ३१ । ७४. १७।१; १८।५, १३; १९।१-८; २०।१, ३; २१।१-२; २२।१, १३; २३।१, ५ । ७५. १।२५-२६, ३२-४३; ५।२६-५३, ६६, ६७; ६।२, २४-३०, ३२-४४; ७।१७-१८, २७-३०; १०।४२-४८, ६०-६५, ७५-७६, ११९-१६०, १६६-७०; ११।१३-१४, २२-२३, ३०-५५; १२।३-१६; १७।१, ६-७, १३-२०, २६-८८, ५९-६२; १९।१९; २२।१३, २५; २४।६५; २५।६८-७१; २६।१-४, ६-७; ९-१८, २०-२१, २३-२५, २७-३३, ३५-३९, ४३, ४५-४६, ४८, ५०, ५३-५४, ५८, ६०-६१, ६३-६५; २७।१४-१५, १८, २०, २२-२५, ३१-३४, ४९-५६; २९ । ६७-६८; ३०।६१-६५, ६७; ३२।३१, ३४, ४०-४१, ४३, ४५-४९, ५२-५३, ६०-६१, ६७-६८ । ७६. ५।२६-४० । ७७. १०।७१-८२; १८।२२-२४ तथा २५।३६ भी । ७८. यथा २९।५६-६८ । ७९. ११ । ८०. ३१।३ । ८१. १।१-२, १०, २०, २१, ४५; २।१, ५, ३।१, ६, ८; ४।२-७; ५।१, ४, ५, १८, ३१, ४०, ४१, ४५-५३, ५४; ६।१, ४-७, ९-१२, १३, १७, १६, २६, २८-३२; ९।२; १०।१, १४, ३६-४०, ८७, १२९, १६३; ११।६, १५।२, ३, १२, १३; १६।१८, २०, २२, २९, ३१; १७।२१, ३८-३९, ४३; १८।८, ९, १०, १२, ५०; १९।१-७; २०।१; २१।१, २२।१; २३।१; २५।१५, २०, ६६; २६।८; २९।२१,२२, २४, २६, ९७, ३०।४५-४६, ९०-९१; ३१।३; ३२।१ । ८२. १९।१-७ । ८३. १।२ । ८४. १०।९१ । ८५. कठोपनिषद् १।२।५ । ८६. १४।१ = मनु० ९।२५६ । ८७. ९।६६ = मनु० ७।५-८ । ८८. १।११ = मनु० ३।९७-९८, १६६ । ८९. २५।१९ = मनु० २।२१५ । ९०. ७।१ । ९१. १।३ । ९२. अध्याय ५, ७, २४ । ९३. ३२।१९ = मनु० ८।१०४; याज्ञ० २।८३; तथा महाभारत ८।६९ । २३ तथा ३३ भी । ९४. ६।४१-४२ = शान्तिपूर्व १४२ = ६-८, २४, २७-२८ । ९५. १७।५४ = भीष्मपर्व ४३।४३, ५६, ७१ । ९६. ३१।३१ = १२।१४६ । ५-६ ।

प्राध्यापक, राजनीति विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

लेखन-शैली में सांख्यिकी : तुलसीदास का संदर्भ

श्री नरोत्तम जोशी[1] एवम् श्री जगमोहन चन्द्र जोशी[2]

सारांश

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग करते हुए, प्रसिद्ध कवि तुलसीदास की काव्य-शैली का अध्ययन करना है। इस तथ्य का अनुसंधान करने का प्रयास किया गया है कि जो रचनायें तुलसीदास के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे वास्तव में उनके द्वारा रचित हैं अथवा उनका लेखक कोई अन्य है। इस खोज के मूल में यह भावना है कि उन भ्रांतियों का निराकरण किया जाय जो इतिहासकारों तथा विद्वानों मे तुलसीदास की कतिपय रचनाओं के बारे में हैं।

प्रस्तावना— हिन्दी-साहित्य में पाठ-संशोधन के अनेक लेखको द्वारा प्रयत्न हुए हैं। प्राचीन पाडुलिपियों मे शुद्ध पाठ का विवेचन करने की यह प्रवृत्ति उचित है, लेकिन इस दिशा में सांख्यिकी को आधार बनाकर कोई प्रयत्न नहीं मिलता। प्रस्तुत कार्य इसी दिशा में एक प्रयास है। इस प्रकार की शोध का विचार हमारे मन में डीमार्गन द्वारा अपनी शिष्य हील्ड को लिखे गये एक पत्र[1] से जागृत हुआ।

प्रत्येक लेखक या कवि की अपनी लेखन-शैली होती है। कुछ लेखकों द्वारा लघु शब्दो की लेखन-शैली का प्रयोग मिलता है, जबकि दूसरों मे दीर्घ शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति होती है। अतः शाब्दिक लम्बाई से हमारा तात्पर्य उस प्रतिमान से है जिसके आधार पर प्रस्तुत लेख में लेखन-शैली का अध्ययन किया गया है।

लेख में अक्षर-गणना की पद्धति निम्न रूप से प्रदर्शित है :

1.5+1+1.5	1+1	1+1	1+1+1	1+1+1
बंदउँ	गुरु	पद	पदुम	परागा।
1+1+1	1+1+1	1+1+1	1+1+1+1	
सुरुचि	सुबास	सरस	अनुरागा॥	
1+1+1	1+1+1+1	1+1+1	1+1	
अमिअ	मूरिमय	चूरन	चारू।	
1+1+1	1+1+1	1+1	1+1	1+1+1+1
समन	सकल	भव	रुज	परिवारू॥
1+1.5+1	1.5+1	1+1	1+1+1	1+1+1
सुकृति	संभु	तन	बिमल	बिभूती।
1.5+1+1	1.5+1+1	1+1	1.5+1+1	
मंजुल	मंगल	मोद	प्रसूती॥	

1+1 1+1 1.5+1 1+1+1 1+1 1+1+1
जन मन मंजु मुकुल मल हरनी।
1+1.5 1+1+1 1+1 1+1 1+1 1+1+1
किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥
1.5 1+1 1+1 1+1 1+1+1+1 1+1
श्री गुर पद नख मनिगन जोती।
1+1+1+1 1+1.5 1.5+1.5 1.5+1 1+1
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
1+1+1 1+1 1+1 1 1+1.5+1+1
दलन मोह तम सो सुप्रकासू।
1+1 1+1 1+1 1+1+1 1+1
बड़े भाग उर आवइ जासू॥

प्रस्तुत अनुच्छेद रामचरितमानस[३] के प्रारम्भ में उद्धृत है।

ऐसी मान्यता है कि तुलसीदास की मूल हस्तलिपि में होने के कारण 'विनयपत्रिका' उनकी एक मानक रचना है। अतः विनयपत्रिका में प्रयुक्त शैली को हम सर्वमान्य रूप में स्वीकार करेंगे।

प्रयुक्त सूत्र—सांख्यिकी के निम्न सूत्र संदर्भ संख्या[४] से लिये गये है।

(1) समान्तर माध्य $(\bar{x}) = \frac{\sum fx}{\sum f}$, जहाँ x शब्द लम्बाई, $\sum$ योग तथा f आवृत्ति है।

(2) मानक विचलन $(\sigma) = \sqrt{\frac{\sum fd^2}{\sum f}}$, जहाँ d शब्द लम्बाई x का माध्य से विचलन है तथा बाकी प्रतीकों का अर्थ पूर्ववत् है।

(3) माध्य $\bar{x}$ का एक विस्तृत प्रतिचयन लेकर हम यह जाँच करेंगे कि लिया गया प्रतिचयन उसी शैली में लिखा गया है या नहीं जिसमे विनयपत्रिका रचित है।

माना, विनयपत्रिका में प्रयुक्त शब्दों की औसत लम्बाई (माध्य) तथा मानक विचलन क्रमशः μ तथा σ हैं। अब प्रतिचयन में प्रयुक्त शब्द लम्बाई के माध्य का समग्र के माध्य (विनय पत्रिका में प्रयुक्त शब्द लम्बाई का औसत) से विचलन ज्ञात करके मानक विभ्रम निम्न सूत्र से ज्ञात करते हैं :

मानक विभ्रम $(e) = \frac{\sigma}{\sqrt{n}}$, जहाँ σ मानक विचलन तथा n प्रतिचयन का आकार है।

यदि वह विचलन मानक विभ्रम के 3 गुने से कम आता है, तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लिया गया प्रतिचयन मूल शैली में लिखा गया है और यदि विचलन मानक विभ्रम के 3 गुने से अधिक आता है तो प्रतिचयन को मूल शैली में लिखा हुआ नहीं मानेंगे।

उपयोग—प्रथम चरण के रूप में, विनयपत्रिका में प्रयुक्त समस्त शब्दों तथा अक्षरों का परिगणन किया तथा शब्द लम्बाई की एक आवृत्ति सारिणी तैयार की। परिकलन के उपरान्त अग्र-लिखित परिणाम प्राप्त हुए :

(1) माध्य (μ) = 2.7

(2) मानक विचलन (σ) = 1.03

तथा (3) प्रसरण (σ^2) = 1.06

इस तरह यह कहा जा सकता है कि विनयपत्रिका में प्रयुक्त शब्द लम्बाई का माध्य 2.7 तथा प्रसरण 1.06 है। क्योंकि रामचरितमानस की मूल पांडुलिपि अनुपलब्ध है और रामचरितमानस में बहुत से क्षेपक अंश भी हैं, लेकिन सामान्यतः यह सुनिश्चित किया गया है कि रामचरितमानस का पंचम सोपान (सुन्दर काण्ड) तुलसीदास की मूल हस्तलिपि में प्राप्त हुआ। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित रामचरितमानस के 'काशिराज' संस्करण में "सुन्दर कांड" के बारे में निम्नलिखित अनुच्छेद है :

"मानस का केवल पंचम सोपान (सुन्दर काण्ड) की हस्तलिखित प्रति दुलही (लखीमपुर) की संवत् 1672 की है। इसका उपयोग गीता प्रेस वाले संस्करण मे सर्वप्रथम किया गया है। तुलसीदास के जीवन-काल का हस्तलेख होने से इसका महत्त्व निर्विवाद है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसे परित्यक्त कर दिया है, क्योंकि लिपिकाल मे केवल संवत् का उल्लेख है, मास-तिथि-वार का नही जिससे जाँच हो सके।"

सांख्यिकीय प्रामाणिकता के लिए हमने सुन्दर कांड (3) के लिए शब्द लम्बाई की एक आवृत्ति सारिणी तैयार की :

शब्द लम्बाई :	1	1.5	2.0	2.5	3.0	3.5	4.0	4.5	5.0	5.5	6.0	6.5
आवृत्ति :	195	74	2761	668	1378	454	420	109	83	18	11	1

गणना के उपरान्त निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए :

(1) माध्य = 2.65

(2) मानक विचलन = 0.87

(3) प्रसरण = 0.76

लेखन-शैली में सादृश्य प्रमाणित करने के लिए हम एक यादृच्छिक प्रतिचयन के लिए निम्न आवृत्ति सारिणी बनाते हैं :

शब्द लम्बाई :	1	1.5	2	2.5	3	3.5	4	4.5	5	6
आवृत्ति :	3	2	11	2	7	5	4	2	3	1

गणना के उपरान्त, मानदंड निम्नलिखित हैं :

माध्य = 2.93

आकार (n) = 40

इसका तात्पर्य है कि कवि ने इस प्रतिचयन में 2.93 औसत लम्बाई के शब्दों का प्रयोग किया है। अब हम इसकी जाँच करेंगे कि इस औसत का महत्त्व विश्वसनीय है या नहीं, अर्थात् इसका वास्तविक शैली का प्रतिनिधित्व होता है या नहीं।

प्रतिमान के माध्य का समग्र के माध्य से विभाजन = 2 93 − 2 70

= 0 23

$$\text{मानक विभ्रम } (e) = \frac{\sigma}{\sqrt{n}} = \frac{1{\cdot}03}{\sqrt{40}} = 0{\cdot}162$$

इसलिए 3 (मानक विभ्रम) $= 3 \times 0\ 162 = 0{\cdot}486$

क्योंकि औसत का विचलन मानक विभ्रम के 3 गुने से कम है, अतः यह कहा जा सकता है क शैली में एकरूपता है।

पुनः आवृत्ति सारणी का दूसरा प्रतिरूप निम्न प्रकार है :

शब्द लम्बाई :	1	1·5	2	2·5	3	3·5	4	4·5	5	5·5
आवृत्ति :	3	2	6	1	6	5	9	1	2	1

उपर्युक्त सारिणी से हम निम्न परिणाम ज्ञात करते हैं :

माध्य $= 3{\cdot}11$

आकार $= 36$

समग्र के माध्य से प्रतिचयन के माध्य का विचलन $= 3{\cdot}11 - 2{\cdot}70 = 0.41$

तथा मानक विभ्रम $= 0{\cdot}17$

अतः 3 (मानक विभ्रम) $= 3 \times 0{\cdot}17 = 0{\cdot}51$

स्तष्टतया औसत का विचलन मानक विभ्रम के 3 गुने से कम है, इससे प्रदर्शित होता है कि इसकी शैली में एकरूपता है।

अब हम एक परीक्षण करेंगे जिससे यह परिकल्पना प्रमाणित होगी कि यह दोनों प्रतिचयन एक ही शैली में है। इस प्रकार हम निम्न परिणाम ज्ञात करते हैं :

मानक विभ्रम $= 0{\cdot}559$

तथा प्रतिचयनों के माध्यों का अन्तर $= 3{\cdot}11 - 2{\cdot}93 = 0{\cdot}18$

चूंकि माध्यों का अन्तर, मानक विभ्रम के 3 गुने से कम है, अतः यह स्पष्ट होता है कि दोनों प्रतिचयन एक ही शैली में लिखे गये हैं।

इस रूप में सुन्दर काण्ड से विभिन्न प्रतिचयनों को लेकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शैली भिन्न नहीं है और इससे यह सिद्ध होता है कि सुन्दरकाण्ड वास्तव में तुलसीदास द्वारा ही लिखा गया है।

अब हम रामचरितमानस के अन्य काण्डों की प्रामाणिकता की जाँच करेंगे।

पहली भ्रांति अरण्यकाण्ड के विषय में है। इस काण्ड के विषय में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं " में जैसी परिवृत्ति तथा उसकी जैसी भाषा मिलती है, वह तुलसीदास की

उपर्युक्त वक्तव्य की जाँच करने के लिए हम निम्न आवृत्ति सारिणी लेते हैं :

शब्द लम्बाई :	1	1·5	2	3	3·5	4	4·5	5	5·5	6
आवृत्ति :	4	2	4	8	7	2	4	2	3	1

माध्य = 3·25

आकार = 36

इसी पद्धति से अध्ययन करते हुए, जैसे पहले कर चुके हैं, हम पाते हैं :

माध्य का विचलन = 0·60

तथा 3 (मानक) विभ्रम = 0·435

इस प्रतिचयन के लिए माध्य का विचलन, मानक विभ्रम के 3 गुने से अधिक है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शैली भिन्न है।

अरण्यकाण्ड से ही एक दूसरा प्रतिचयन लेते हैं जिसकी आवृत्ति सारिणी निम्न प्रकार है :

शब्द लम्बाई :	1	1·5	2	2·5	3	3·5	4	4·5	5	5,5	6·0
आवृत्ति :	3	3	10	1	6	4	8	2	4	2	1

जिससे हम प्राप्त करते है :

माध्य का विचलन = 0·53

तथा 3 (मानक विभ्रम) = 0·39

यहाँ भी विचलन, मानक विभ्रम के तीन गुने से अधिक है, अतः शैली भिन्न है।

अब यहाँ पर एक उदाहरण (प्रतिचयन) है जिसमें शैली की एकरूपता परिलक्षित होती है :

शब्द लम्बाई :	1	1·5	2	2·5	3	4	4·6	5·5	6
आवृत्ति :	14	1	18	33	52	15	9	11	1

गणना से :

माध्य का विचलन = 0·05

तथा 3 (मानक विभ्रम) = 0·162

माध्य का विचलन, मानक विभ्रम के 3 गुने से कम है जो शैली की एकरूपता को प्रदर्शित करता है।

हमने अरण्यकाण्ड से अनेक प्रतिचयनों का अध्ययन किया और यह पाया कि—अधिकांश मामलों में शैली भिन्न है। यद्यपि कुल मिल कर यह कहना कि अरण्यकाण्ड तुलसीदास ने नहीं लिखा है, असंगत होगा। परन्तु सांख्यिकीय अध्ययन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अरण्यकाण्ड का अधिकांश भाग किसी अन्य कवि द्वारा रचित प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि अरण्यकाण्ड का कुछ मूल भाग उपलब्ध रहा हो और किसी अन्य के द्वारा साहित्यिक चोरी की घटना घटित हुई हो।

इस प्रकार सांख्यिकीय आधार पर शैली का अध्ययन किया जा सकता है और शैली के बारे में साहित्यकारों की परिकल्पनाओं को भी प्रमाणित किया जा सकता है। क्योंकि लघु प्रतिचयनों से वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाता इसलिए लघु प्रतिचयन की प्रणाली लाभप्रद नहीं होगी

अध्ययन के लिए जब कोई प्रतिचयन लेता है तो यह बात ध्यान में रखनी होगी कि प्रतिचयन यादृच्छिक हो।

भविष्य में इस प्रकार के अध्ययन में उच्चतर सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग इस दिशा में और भी अधिक दिशासूचक हो सकता है।

संदर्भ-संकेत

१. आर० डी० लार्ड—डीमार्गन एण्ड दी स्टेटिस्टिकल स्टाइल ऑफ लिट्रेरी स्टाइल, बायोमेट्रिका, वॉल्यूम ४५, पार्ट्स लैण्ड, १९५८। २. तुलसीदास—रामचरितमानस; गीता प्रेस, गोरखपुर। ३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—रामचरितमानस, काशिराज संस्करण। ४. सी० ई० बोदरबर्न—ए फर्स्ट कोर्स इन मैथेमेटिकल स्टेटिस्टिक्स, दी इंगलिश बुक सोसाइटी एण्ड दी इंगलिश यूनीवर्सिटीज प्रेस लिमिटेड, केम्ब्रिज, १९६८।



(१) प्रवक्ता गणित,
राजकीय महाविद्यालय, जयहरिखाल, लैंसडाउन,
गढ़वाल, उ० प्र०

(२) विभागाध्यक्ष, गणित विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
पिथोरागढ़, उ० प्र०

अध्यात्म रामायण पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव

श्री हरिशंकर मिश्र

रामकथा लौकिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, साम्प्रदायिक आदि विविध धाराओं में चिरकाल से जनमानस को आप्यायित करती हुई देश-विदेश में निरन्तर निर्बाध गति से प्रवहमान रही है। अर्वाचीन-रामकथा के स्वरूप-निर्धारण तथा राम-भक्ति के विकास में साम्प्रदायिक धारा का प्रदेय सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उल्लेख्य रहा है। भुशुंडि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनंद रामायण आदि इस धारा के प्रमुख ग्रन्थ-रत्न हैं। लोकमान्य एवं प्रिय तुलसी की रामकथा को ठोस आधार भूमि प्रदान करने का श्रेय विशेषतः अध्यात्म रामायण को प्राप्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ ने भागवत-प्रेरित होकर रामकथा को आध्यात्मिक रूप में उपस्थापित करने का सफल उपक्रम किया है। इसको प्रभावित करने वाले पूर्ववर्ती ग्रन्थ के रूप में 'भुशुण्डि रामायण' का नाम गृहीत होता है[1] और 'भुशुण्डि रामायण' पर श्रीमद्भागवत का इतना अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है कि उसे 'राम-भागवत' अथवा 'राम-कथा का भागवतीकरण' कहना सर्वथा संगत लगता है।[2] यहाँ सम्पूर्ण राम-कथा को भागवतीय कृष्ण-कथा के ढाँचे में ढाला गया है। यथा—सरयूपार कल्पित व्रजप्रदेश में गोपेन्द्र सुभित्र एवं मंगल्या दम्पति की उद्भावना नन्द तथा यशोदा के समानान्तर की गयी है जहाँ रावण के भय से शिशु रामादि को सुरक्षार्थ भेज दिया जाता है; किन्तु वहाँ भी रावण राम के वधार्थ अनेक छद्मी राक्षसों (पूतना, तृणावर्त आदि) को भेजता है और वे सब राम के हाथों अपने प्राण त्यागते हैं। धेनुकवध, दावानल-पान, कालिय-दमन, इन्द्र-यज्ञ निवारण, कुपित इन्द्र का मूसलाधार वर्षण, उससे राम का मेघावरोधक छत्र धारण कर साकेतपुरी एवं तत्संलग्न गोपप्रदेश की रक्षा करना, ऊखल बन्धन, यमलार्जुन उद्धार, गोचारण तथा माखनचोरी आदि लीलाएँ एवं घटनाएँ भागवत-वर्णित घटनाओं के ठीक समानान्तर परिकल्पित हैं। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर रासलीला का भी आयोजन कराया गया है।[3] भुशुण्डि रामायणकार ने भागवत के अनुकरण पर राम के सन्दर्भ में यह भी उद्घोषित किया है—

> एते चांशकलाश्चैव रामस्तु भगवान् स्वयम्[4] ॥ भु० शु० रामा०, १।८।१८
>
> एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥ भागवत, १।३।२८

डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने 'भुशुण्डि रामायण' का पाठ सम्पादन कर उसकी कथावस्तु तथा उस पर सारगर्भित एवं विस्तृत समीक्षा प्रकाशित कर एक श्लाघनीय कार्य किया है जिससे रामकथा-विषयक अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकेंगी। डॉ० सिंह के विचारानुसार 'अध्यात्म रामायण की रामकथा का सम्पूर्ण ढाँचा भुशुण्डि रामायण से प्राप्त किया गया है',[5] किन्तु प्रस्तुत लेखक के मत में अध्यात्म रामायण उक्त रामायण से प्रभाव ग्रहण करने के अतिरिक्त भागवत से प्रत्यक्षतः कहीं अधिक प्रभावित प्रतीत होती है यह बात इस अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगी

१५वीं शताब्दी में रचित अध्यात्म रामायण में शांकर वेदान्त के आधार पर रामभक्ति का प्रतिपादन करते हुए रामकथा को आध्यात्मिक स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। आलोच्य ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय में द्विविध मत हैं। एक मत इसे पुराण (ब्रह्माण्ड पुराण का खिल्) के रूप में स्वीकार करता है[६] तथा दूसरा मत एक स्वतन्त्र रामायण ग्रन्थ के रूप में।[७] वस्तुतः यह ग्रन्थ रामायण एवं पुराण-शैलियों का मिश्रित रूप है।[८] ब्रह्माण्ड पुराण से ही प्रस्तुत ग्रन्थ को सम्पृक्त बतलाने के तीन कारण सम्भावित हैं—प्रथम, उक्त पुराण द्वारा इसका माहात्म्यगायन; द्वितीय, सन्दर्भित पुराण में परशुराम की कथा के अनन्तर रामकथा का अभाव तथा तृतीय, आलोच्य ग्रन्थ की श्लोक-संख्या को मिलाकर ही ब्रह्मांड पुराण की श्लोक-संख्या-पूर्ति।

शिव-पार्वती-सम्वाद रूप में कथित होने तथा वासुदेव (राम) सम्मत होने के कारण यह ग्रन्थ आगम-परम्परा की सरणि में भी आता है।[९] आगमिक तत्त्व भी अध्यात्म रामायण में परिव्याप्त हैं। शक्तिमान् के साथ शक्ति की चिन्मय कल्पना आगम की ऐसी सर्वप्रमुख विशेषता है जो निगम-मूलक आस्तिक धारा में अनुपलब्ध है। षड्दर्शनों में ब्रह्माश्रित चिन्मयी शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं की गयी। मीमांसा शक्ति को स्वीकारती हुई भी उसे जड मानती है। उत्तर मीमांसा की दृष्टि में भी अनिर्वचनीया माया शक्ति से भिन्न किसी चिन्मयशक्ति की सत्ता अमान्य है। आगम में द्वयात्मक अद्वय सत्ता को चरम सत्ता मानते हुए उसे 'समरस या सम' कहा गया है। यह सम्पूर्ण सृष्टि द्वयात्मक अद्वय की परिणति है।[१०] सीताराम की चिन्मयी शक्ति हैं; वह मूल प्रकृति हैं जो उनके सान्निध्यमात्र से समस्त कार्य करती हैं—

सीता साक्षाज्जगद्धेतुश्चिच्छक्तिर्जगदात्मिका। (अ० रा०, ६।४।४०)

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के अतिरिक्त विशुद्ध अप्राकृत चिदानन्दमय शरीर की धारणा भी आगमिक है।[११] अध्यात्म रामायण का राम की देह को शुद्ध सत्त्वमय कहना आगम सम्मत है—

शुद्ध सत्त्वमयं देहं धृत्वा स्वाधीन सम्भवम्। अ० रा०, २।२।२७

पहले कहा जा चुका है कि साम्प्रदायिक-रामायणों पर श्रीमद्भागवत पुराण का व्यापक प्रभाव है; वह उनके प्रणयन का प्रमुख प्रेरणास्रोत भी है। रामचरितमानस के प्रधान उत्तमर्ण अध्यात्म रामायण पर भागवत के व्यापक प्रभाव का किंचित् दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

नवधा भक्ति—भक्ति-तत्त्व प्रकाशक ग्रन्थरत्नों में श्रीमद्भागवत शीर्षस्थ है। भक्ति अपनी चरम परिणति पर यहाँ दृष्टिगत होती है। मध्यकाल मे 'भक्ति और भागवत' का परस्पर पर्याय बन जाना इसकी अनल्प महत्ता को द्योतित करता है। 'पढ़िये गुनिये भगति भागवत' कहकर भक्ति के साथ इसकी सहस्थिति की घोषणा की जाने लगी थी। परम्परा-मान्य अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' का निषेध कर यहाँ सर्वप्रथम 'भक्ति' को परम पुरुषार्थ घोषित किया गया।[१२] भक्तिक्षेत्र मे 'नवधा-भक्ति' की प्रख्याति भागवत के निम्नांकित श्लोक के माध्यम से परिव्याप्त हुई—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नव लक्षणा। —भागवत, ७।५।२३-२४

भागवत-प्रतिपादित उक्त नवधा भक्ति का अन्य पुराणों (शिव, आदि, ब्रह्मवैवर्त) ने अविकल उल्लेखकर एवं रामानन्द, वल्लभाचार्य, रूप गोस्वामी आदि भक्ताचार्यों ने उसको आप्त मानकर विशेष गौरव प्रदान किया है।[१३]

उपर्युक्त भागवतीय नवधा भक्ति के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की नवधा भक्ति' त्म रामायण में उल्लिखित है जिसका पूर्ण अनुवर्तन तुलसीदास ने रामचरितमानस के तृतीय नस्थ नवधा-भक्ति-वर्णन-प्रसंग में किया है। अभी तक विद्वान् अध्येता अध्यात्म रामायणीय । भक्ति को भागवत-भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकार की नवधा-भक्ति मानते रहे हैं। इसके स्रोत का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। वस्तुतः इस नवधा-भक्ति का मूल उत्स भी श्रीमद्भागवत है। सन्दर्भित पुराण के एकादश स्कन्दान्तर्गत उल्लिखित भक्ति-साधनों को आध्यात्म रामायणकार वधात्मक क्रम प्रदान कर दिया है, प्रकृत प्रसंग में यह उनकी मौलिकता है। यहाँ अध्यात्म यणीय नवधा-भक्ति और भागवत में उसकी स्थिति का तुलनात्मक उल्लेख किया जा है—

अध्यात्मरामायणोक्त नवधा-भक्ति	भागवत में उसकी स्थिति
तस्माद् भामिनि संक्षेपाद् वक्षेऽहं भक्तिसाधनम्। सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥ द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्। व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् ॥	पुनश्च कथयामि मद्भक्तेः कारणंपरम ॥ (११।१६।१६) सत्संग लब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ॥ (११।११।२५) श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ॥ (११।१६।२०) मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ॥ (११।१६।२२)
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा।	आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत् कर्हिचित्। ११।१७।२७ मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत् मदात्मकम्। (११।१०।५)
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।	यमानभीक्ष्णं सेवेत् नियमान् मत्परः क्वचित्। (११।१०।५)
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठ साधनमीरितम्। मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥ मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः। बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा। अष्टमनवमं तत्त्व विचारो मम भामिनि।	परनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनम्। आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्। मद्भक्त पूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः। मय्यर्पणं च मनसा सर्वकाम विवर्जनम्। मदर्थेऽर्थ परित्यागो भोगस्य च सुखस्य च। इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥
एवं नवविधा भक्तिसाधनं यस्य कस्य वा। (अ० रा०, ३।१०।२२-२७)	यदर्पितः तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति। रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥ (भाग० ११।१६।२०-२३, २६)

उपर्युल्लिखित तुला सारणी के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अध्यात्म रामायणकार ने भागवत से प्रेरणा तथा वाक्य एवं वाक्यांश ग्रहण कर उसके प्रति अपना समादर व्यक्त किया है।

यहाँ ध्यातव्य है कि भागवत से प्रभावित होने पर भी शांकर वेदान्तानुयायी अध्यात्म रामायणकार तद्वत् भक्ति को साध्य न मानकर मुक्ति को साध्य मानते हैं, यद्यपि तत्प्राप्त्यर्थ भक्ति

ो ही श्रेष्ठतम साधन स्वीकारते हैं। उनके मत में भक्तिशून्य पुरुषों को शतकोटिकल्पपर्यन्त ो मुक्ति अथवा ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति की सम्भावना नहीं है।[१४] भागवत के भक्तों के समान अध्यात्म रामायण के भक्त भी भगवान् से सदा अनपायिनी भक्ति की याचना करते हैं—

देव मे यत्र कुत्रापि स्थितायाः अपि सर्वदा।
त्वत्पाद कमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे॥ अ० रा० १।५।५८
भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥ भागवत, १२।१३।२२

निरन्तर भगवच्चिन्तन को तन्मयता का प्रमुख हेतु निरूपित करते हुए भागवतकार भक्ति की अपेक्षा 'वैरानुबन्ध' को सद्यः भगवत्प्रापक मानते हैं—

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चला मतिः॥ भागवत, ७।१।२६

अध्यात्म रामायणकार ने रावण के द्वारा उक्त मत का अनुमोदन इस प्रकार कराया है—

विरोध बुद्धैय हरिं प्रयामि द्रुतं न भक्त्या भगवान् प्रसीदेत्।
—अ० र०, ३।५।६१

क्रियायोग-वर्णन—भागवत में ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के अतिरिक्त क्रियायोग का भी वर्णन किया गया है। सर्ववर्णाश्रम एवं स्त्री-शूद्रादि तक के लिए भी परम निःश्रेयस्, कर्मबन्धविमोचक एवं भक्तिप्रदायक क्रियायोग का उपदेश भगवान् कृष्ण ने भक्त उद्धव के प्रति सविस्तार किया है। अध्यात्म रामायण में भी इसी प्रकार सर्वोपकारक क्रियामार्ग का उपदेश राम ने लक्ष्मण के प्रति किया है। अध्यात्म रामायणकार ने मात्र पात्रान्तर के साथ भागवत-वर्णित क्रियायोग को अनुवर्णित किया है जो निम्नवत् है—

इदानीं श्रोतुमिच्छामि क्रियामार्गेण राघव।
भवदाराधनं लोके यथा कुर्वन्ति योगिनः॥८॥
इदमेव सदा प्राहुर्योगिनो मुक्ति साधनम्।
नारदोऽपि तथा व्यासो ब्रह्मा कमलसम्भवः॥९॥
ब्रह्मक्षत्रादि वर्णानामाश्रमाणां च मोक्षदम्।
स्त्री शूद्राणां च राजेन्द्र सुलभं मुक्तिसाधनम्।
तव भक्ताय मे भ्रात्रे ब्रूहि लोकोपकारकम्॥१०॥ —अ० रा०, ४।४

क्रियायोग समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वता सात्त्वतर्षभ॥१॥
एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्निः श्रेयसं नृणाम्।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः॥२॥
एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम्।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद॥४॥
—श्रीमद् भाग०, ११।२७

श्री राम उवाच

मम पूजाविधानस्य नान्तोऽस्ति रघुनन्दन।
तथापि वक्ष्ये सङ्क्षे —अ० रा० ४ ४।११

श्री भगवान् उवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

—श्रीमद्भाग०, ११।२७।६

स्वगृह्योक्तप्रकारेण द्विजत्वं प्राप्य मानवः ।
सकाशात्सद्गुरोर्मन्त्रं लब्ध्वा मद्भक्तिसंयुतः ॥ —अ० रा०, ४।४।१२

सदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥

—श्रीमद्भाग०, ११।२७।८

तेन सन्दर्शितविधिर्मामेवाराधयेत्सुधीः ।
हृदये वानले वार्चेत्प्रतिमादौ विभावसौ ॥ —अ० रा०, ४।४।१३

आचार्यां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥

—श्रीमद्भाग०, ११।२७।९

प्रातः स्नानं प्रकुर्वीत प्रथमं देहशुद्धये ।
वेदतन्त्रोदितैर्मन्त्रैर्मृल्लेपविधानतः ॥
सन्ध्यादि कर्मयन्नित्यं तत्कुर्याद्विधिना बुधः ॥
संकल्पमादौ कुर्वीत सिद्ध्यर्थं कर्मणां सुधीः ।

—अ० रा०, ४।४।१४-१६

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद् ग्रहणादिना ॥
सन्ध्योपास्त्यादि कर्माणि वेदमन्त्रोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् संकल्पः कर्मपावनीम् ॥

—श्रीमद्भाग०, ११।२७।१०-११

शिलायां स्नपनं कुर्यात्प्रतिमासु प्रमार्जनम् ।
प्रसिद्धैर्गन्धपुष्पाद्यैर्मत्पूजा सिद्धिदायिका ॥
अमायिकोऽनुवृत्या मां पूजयेन्नियतव्रतः ।
प्रतिमादिष्वलंकारः प्रियो मे कुलनन्दन ॥

—अ० रा०, ४।४।१७-१८

स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥
द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।

— श्रीमद्भाग०, ११।२७,१४,१५

अग्नौ यजेत हविषा भास्करे स्थण्डिले यजेत् ।
भक्तेनोपहृतं प्रीत्यै श्रद्धया मम वार्यपि ॥ —अ० रा०, ४।४।१९

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्त्या मम वार्यपि ॥

०, ११ २७ १७

चैलाजिनकुशै सम्यगासन परिकल्पयेत् ।
तत्रोपविश्य देवस्य सम्मुखे शुद्ध मानसः ॥ —अ० रा०, ४।४।२१
शुचिः सम्भृत सम्भारः प्राग्दर्भैं कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः ॥

—श्रीमद्भा०, ११।२७।१६

× × ×

विभवे सति कर्पूर कुंकुममागरु चन्दनैः ।
अर्चयेन्मन्त्रवन्नित्यं सुगन्ध कुसुमैः शुभैः ॥ —अ० रा० ४।४।२८
चन्दनोशीर कर्पूर कुकुमागरुवासितै ।
सलिलै स्नापयेन्मन्त्रै नित्यदा विभवे सति ॥

—श्रीमद्भा०, ११।२७।३०

× × ×

मुखवासं च ताम्बूलं दत्वा प्रीतिसमन्वितः ।
मदर्थे नृत्यगीतादि स्तुतिराठादि कारयेत ।
प्रणमेद्दण्डवद् भूमौ हृदये मां निधाय च ॥

—अ० रा०, ४।४।३४, ३५

मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ।
उपगायन् गृणन् नृत्येन् कर्माण्यभिनयम् मम ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥

—श्रीमद्भा०, ११।२७।४३-४५

शिरस्याधाय मद्दत्तं प्रसादं भावनामयम् ।
पणिभ्यां मत्पदेमूर्ध्नि गृहीत्वा भक्ति संयुतः ॥
रक्ष मां घोरसंसारादित्युक्त्वा प्रणयेत्सुधीः ।
उद्वासयेद्यथापूर्वं प्रत्यग्ज्योतिषि संस्मरन ॥ —अ० रा०, ३६, ३७

शिरोमत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहणार्णवात् ॥
इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादूरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः ॥

—श्रीमद्भा०, ११।२७।४६-४७

की फलश्रुति करते हुए दोनों ग्रन्थों में कहा गया है—

एवं उक्त प्रकारेण पूजयेद्विविवद्यदि ।
इहामुत्र संसिद्धि प्राप्नोति मदनुग्रहात् ॥ —अ० रा०, ४।४।३८
एवं क्रियायोगपथेः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धि मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥

—श्रीमद्भा०, ११।२७।४८

यण की तुलना में भागवत में क्रियायोग का किंचित् विस्तृत वर्णन है।[७४]

विराट्-रूप-वर्णन—भगवान् के विराट् रूप का वर्णन वेदों,[१७] रामायणों[१८] तथा पुराणों[१९] में प्राप्त होता है, किन्तु सर्वापेक्षा भागवत में अनेकत्र एवं अनेकधा विराटत्व की विवेचना हुई है।[२०] अध्यात्मरामायण में कबन्धकृत विराटत्व विवेचन का उपजीव्य श्रीमद्भागवत प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत्।
स्थूलेऽण्डकोशे देहे ते महदादिभिरावृते ।
सप्तभिरुत्तर गुणैर्वैराजो धारणाश्रयः ॥

—अ० रा०, ३।८।३४-३५

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥
आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरण संयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥ —भाग०, २।१।२४-२५
पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम्॥
रसतालं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते ।
जानुनी सुतलं राम ऊरु ते वितलं तथा ॥
अतलं च मही राम जघनं नाभिगं नभः ।
उरः स्थलं ते ज्योतींषि ग्रीवा ते मह उच्यते॥
वदनं जन लोकस्ते तपस्ते शङ्खदेशगम् ।
सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षण्यास्ते सदा प्रभो॥

—अ० रा०, ३।८।३६-३९

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरुरुद्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥
उरः स्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो ललाट विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्र शीर्ष्णः॥

—भागवत, २।१।२६-२८

इन्द्रादयो लोकपाला बाहवस्ते दिशः श्रुतिः।
अश्विनौ नासिके राम वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः॥ —अ० रा०, ३।८।४०
इन्द्रादयो बाहवः आहुरुस्राः कर्णौदिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ[२१] परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरद्धः॥

—भाग०, २।१।२९

चक्षुस्ते सविता राम मनश्चन्द्र उदाहृतः ।
भ्रूभङ्ग एव कालस्ते बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवेत् । —अ० रा० ३।८।४१
यच्च क्षुरासीत् तरणिर्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।—भा०, ८।५।३६
सोमं मनो यस्य..।—भा०, ८।५।३४
चन्द्रोमनो यस्य दृगर्क..................................।—भा०, १०।६३।३५
तद्भ्रूविजृम्भ परमेष्ठिधिष्ण्यम्		—भा० २ १ ३०

यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थो नक्षत्राणि द्विजालयः। —अ० रा० ३।८।४२
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि[22]........................... ।—भा०, २।१।३१

स्वेदकला द्विजालयः

हासो मोहकरी माया सृष्टिस्तेऽपाङ्गमोक्षणम्।
धर्मः पुरस्तेऽधर्मश्च पृष्ठभाग उदीरितः ॥ —अ० रा०, ३।८।४३

हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः। —भा०, २।१।३१
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम्। —भा०, २।१।३२
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्................................।—भा०, ८।५।४०
वाचश्छन्दांसि ते अव्यय...................................।

—अ० रा०, ३।८।४२

निमेषोन्मेषणे रात्रिदिवा चैव रघूत्तम ।
समुद्रा सप्त ते कुक्षिर्नाड्यो नद्यस्तव प्रभो ॥ —अ० रा०, ३।८।४४

वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु।
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो मन्युं ललाटे अधर एवं लोभम् ॥

—भा०, ८।२०।२७

कुक्षिषु सप्तसिन्धून .... । —वही, ८।२०।२४
नद्योऽस्य नाड्यो........ ....। —वही, २।१।३३
रोमाणि वृक्षौषधयो रेतो वृष्टिस्तव प्रभो । —अ० रा०, ३।८।४५
रोमाणि वृक्षौषधयः.......वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते । —भा०, १०।४०।१४

राम का मातृ-प्रबोधन—अध्यात्म रामायण में जराजरजरिता शुभलक्षणा माता कौसल्या के भवबन्ध-निवर्तक ज्ञानोपदेश हेतु निवेदन करने पर मातृ-भक्त भगवान् राम ने जिस ज्ञान का उपदेश किया है, उसका आधार निश्चितरूपेण भागवतस्थ कपिलकृत देवहूत्युपदेश है। यहाँ एक बात विशेष उल्लेख्य है कि भागवतकार तथा तद्वत् अध्यात्मरामायणकार भी 'भामिनि' शब्द का प्रयोग माता (भद्र स्त्री) के लिए करते हैं, जबकि संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के कोशकारों ने 'भामिनि' शब्द का अर्थ एकमत से 'चण्डी, मानिनी, क्रोधशिला, सुन्दरी युवती, 'पैशनेट वूमन' आदि किया है।[23] वृद्धा स्त्री विशेषतः माता के लिए 'भामिनि' शब्द का प्रयोग भागवतकार द्वारा किया गया सर्वथा नया अर्थ-प्रयोग प्रतीत होता है जिसका बाद में सूर एवं तुलसी ने भी उक्त अर्थ में प्रयोग किया है।[24] यहाँ भागवत एवं अध्यात्मरामायण के उक्त प्रसंग को मिलान के लिए सविस्तार उद्धृत किया जा रहा है—

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षप्राप्ति साधकाः।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः ॥—अ० रा०, ७।७।५८
योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ —भा०, ११।२०।६

भक्तिर्विभिद्यते मातस्त्रिविधा गुणभेदतः ।
स्वभावो यस्य यस्तेन तस्य भक्तिर्विभिद्यते ॥ —अ० रा०, ७।७।६०
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ —भा० ३।२९।७

यस्तु हिंसा समुद्दिश्य दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
भवेद्दृष्टिश्च संरम्भी भक्तो मे तामसः स्मृतः ॥ —अ० रा०, ७।७।६१
अभिसंधाय यो हिंसा दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ —भा०, ३।२९।८
फलाभिसन्धि भोगार्थी धनकार्यो यशस्तथा ।
अर्चादौ भेदबुद्ध्या मां पूजयेत् स तु राजसः ॥ —अ० रा०, ७।७।६२
विषयाभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ —भा०, ३।२९।९
परस्मिन्नर्पितं यस्तुकर्म निर्हरणाय वा ।
कर्तव्यमिति वा कुर्याद् भेद बुद्ध्या स सात्विकः ॥ —अ० रा०, ७।७।६३
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ॥
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः । —भा०, ३।२९।१०
मद्गुणाश्रयणादेव मय्यनन्तगुणालये ।
अविच्छिन्नामनोवृत्तिर्यथा गङ्गाम्बुनोऽम्बुधौ ॥ —अ० रा०, ७।७।६४
मम गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाश्रये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ —भा०, ३।२९।११
तदेव भक्तियोगस्य लक्षणं निर्गुणस्य हि ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिर्मयि जायते ॥ —अ० रा०, ७।७।६५
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ —भा०, ३।२९।१२
सा मे सालोक्य सामीप्य सार्ष्टि सायुज्यमेव वा ।
ददात्यपि न गृह्णन्ति भक्ता मत्सेवनं विना ॥ —अ० रा०, ७।७।६६
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ —भा०, ३।२९।१३
स एवात्यन्तिको योगो भक्तिमार्गस्य भामिनि ।
मद्भावं प्राप्नुयात्तेन अतिक्रम्य गुणत्रयम् ॥ —अ० रा०, ७।७।६७
स एव भक्तियोगाख्यं आत्यन्तिकं उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ —भा०, ३।२९।१४
महता कामहीनेन स्वधर्माचरणेन च ।
कर्मयोगेन शस्तेन वर्जितेन विहिंसनात् ॥ —अ० रा०, ७।७।६८
निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥ —भा०, ३।२९।१५
मद्दर्शन स्तुतिमहापूजाभिः स्मृति वन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सङ्गेनासत्यवर्जनैः । —अ० रा०, ७।७।६९
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्वेनासङ्गमेन च ॥ —भा०, ३।२९।१६
बहुमानेन महतां दुःखिनामनुकम्पया ।
स्वसमानेषु मैत्र्या च यमादीनां निषेवया ॥ —अ० रा०, ७।७।७०

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ —भा०, ३।२६।१७

वेदान्तवाक्यश्रवणान्मम नामानुकीर्तनात् ।
सत्संगेनार्जवेनैव ह्यहमः परिवर्जनात् ॥ —अ० रा०, ७।७।७१

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामकीर्तनाच्च ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥ —भा०, ३।२६।१८

काङ्क्षया मम धर्मस्य परिशुद्धान्तरो जनः ।
मद्गुण श्रवणादेव याति मामञ्जसा जनः ॥ —अ० रा०, ७।७।७२

मद्धर्मणो गुणैरेतै परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणंहि माम् ॥ —भा०, ३।२६।१९

यथा वायुवशाद् गन्धः स्वाश्रयाद्घ्राणमाविशेत् ।
योगाभ्यासरतं चित्तमेवमात्मानमाविशेत् ॥ —अ० रा०, ७।७।७३

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ —भा०, ३।२६।२०

सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः ।
तमज्ञात्वा विमूढात्मा कुरुते केवलं बहिः ॥ —अ० रा०, ७।७।७४

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चा विडम्बनम् ॥ —भा०, ३।२६।२१

क्रियोत्पन्नैर्नैक भेदैर्द्रव्यैर्मे नाम्बतोषणम् ।
भूतावमानिनार्चायामर्चितोऽहं न पूजितः ॥ —अ० रा०, ७।७।७५

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ —भा०, ३।२६।२२

तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः ।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ॥ —अ० रा०, ७।७।७६

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृति सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ —भा० ३।२६।२५

वस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च ।
भिन्नदृष्टेर्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्निसंशयम् ॥ —अ० रा०, ७।७।७७

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ —भा०, ३।२६।२६

मामतः सर्वभूतेषु परिछिन्नेषु संस्थितम् ।
एक ज्ञानेन मानेन मैत्र्या चार्चेदभिन्नधी ॥ —अ० रा०, ७।७।७८

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ —भा०, ३।२६।२७

ावत में छह श्लोकों में जीव श्रेष्ठताक्रम निरूपित है[२५] जिसे अध्यात्म-
ाही किया। फलश्रुतिगत एकता द्रष्टव्य है—

चेतसैवानिशं सर्वभूतानि प्रणमेत्सुधीः ।
ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् —अ० रा०, ७।७।७९

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ —भा०, ३।२९।३४

तस्मात्कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः ।
भक्तियोगो ज्ञानयोगो मया मातरुदीरितः ॥
आलम्ब्यैकतरं वापि पुरुषः शुभमृच्छति ।
—अ० रा०, ७।७।८०-८१

भक्तियोगश्च योगश्च मयामानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुष व्रजेत् ॥ —भा०, ३।२९।३५

भागवत के कृष्ण एवं अध्यात्मरामायण के राम—भागवतीय कृष्ण की प्रायः सभी अलौकिकताएँ अध्यात्मरामायणकार ने अपने राम में सन्निविष्ट कर दी हैं। भागवत में कृष्ण को मात्र गोपिकानन्दन न मानकर विश्वरक्षार्थ ब्रह्मा की प्रार्थना पर उन्हें सात्वतकुलावतीर्ण माना गया है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥—भा०, १०।३१।४

अध्यात्म रामायणकार की मान्यता भी राम के विषय में इसी प्रकार है—

यद्वा न रामो मनुजः परेशो मां हन्तुकामः सबलं बलोघैः ।
सम्प्रार्थितोऽयं द्रुहिणेन पूर्वं मनुष्यरूपोऽयं रघोःकुलेऽभूत ॥
— अ० रा०, ३।५।५९

कृष्ण प्राकृत-पुरुष न होकर माया-मनुष्य (भा०, ११।५।४९), माया-मनुज (भा० ७।१।२८) तथा लीला-मनुष्य (भा०, १०।४५।१४) हैं। अध्यात्मरामायण के राम भी माया-मनुष्य (१।१।१), माया-मानुष (२।९।५७), माया-मनुज (६।८।३५) तथा लीला-मनुज (२।६।३७) हैं। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्मा कहते हैं—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यं स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः। (भा०, १०।१४।२३)

इसी प्रकार राम की स्तुति करती हुई अहल्या भी कहती है—

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण एकः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः। (अ० रा०, १।५।४९)

भागवतकार के मतानुसार कृष्ण रमापति (भा०, १०।५९,४४), श्रीपति (१०।४७।४६) एव रमेश (१०।३३।१७) हैं। व साक्षात् विष्णु हैं—

स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः।[२६] — भा०, १०।२४।०८

इस सन्दर्भ में अध्यात्मरामायणकार की राम-विषयक अवधारणाएँ निश्चित ही भागवतानुसारिणी हैं। उनके राम भी रमानाथ (१।४।२०, १।५।४०, ३।३।४५), इन्दिरापति (३।८।४५) एव रमापति (७।३।४५, ७।४।२१) है। वे ही साक्षात् विष्णु हैं—

त्वं साक्षाद् विष्णुरव्यक्त परात्मा सनातनः।[२७] अ० रा०, २।९।५१

इन्हीं कृष्ण और राम ने मत्स्यादि अवतार समय-समय पर धारण किये हैं।[२८] दोनों राम और कृष्ण में अभेद मानते हुए राम को 'वासुदेव' (भा०, ५।१९।६) तथा 'मथुरेश' (अ० रा० ६। १३।१७) कहते हैं।

इसी प्रकार अध्यात्मरामायण-विवेचित जीव-जगत्-माया सम्बन्धी विचारों पर भी भागवत का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। राम की बाललीलाओं, विभिन्न स्तुतियों एवं गीताओं पर भागवत की गहनतम छाया है। स्थानाभाव के कारण उन सबका तुलनात्मक विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है रामकथा पर के व्यापक प्रभाव पर स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है

संदर्भ-संकेत

१. भुशुण्डि रामायण--कथावस्तु तथा समीक्षा, पृ० ४२ । २. वही, इंग्लिश इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३-४ । ३. वही, पृ० १-२१ । ४ वही, पृ० ३ पर उद्धृत । ५. वही, प्रस्तावना, पृ० ४० । ६. रामदास गौड़ (हिन्दुत्व, पृ० ३८१, ८२); एम० विण्टरनित्ज (ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर (पृ० ५७८-७६); डॉ० विजयबहादुर अवस्थी (रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव, पृ० ४३); श्री मुनिलाल (अनुवादक, अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस, पृ० ६); डॉ० राजपति दीक्षित (तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३०४) । ७. डॉ० बुल्के (रामकथा, पृ० १६६); डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, (भु० शु० रामा० की प्रस्तावना, पृ० ४०) । ८. 'सर्ग-विभाग' रामायण-शैली के अनुकरण पर तथा 'उवाच एवं सूत्र-सन्दर्भ' पौराणिक-शैली के अनुकरण पर प्रतीत होता है ।

९. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागमुच्यते ॥

—भारतीय दर्शन (उमेश मिश्र), पृ० ३८४ पर उद्धृत

१०. आगम और तुलसी (डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी), पृ० २३ । ११. अ० रा०, ११११३४, ११७१२५-२७, ४१७११७ । १२. भागवत, ३१२६११४, ७१७१५५ । १३. तुलसी दर्शन-मीमांसा, पृ० २८७ ।

१४. तस्मात्त्वद्भक्तिहीनानां कल्पकोटिशतैरपि ।
न मुक्तिशङ्का विज्ञानशङ्का नैव सुखं तथा ॥ अ० रा०, ११७१४१

१५. भागवत, १०१४७१५१, १२११०१३४; अ० रा०, ११७१४८, ३१३१४१, ५१३१३७ । १६. भागवत-वर्णित क्रियायोग का परिमाण ५५ श्लोकों में तथा अध्यात्मरामायण का ३४ श्लोकों में है । १७. ऋग्वेद, १०१६०; यजुर्वेद, ३१ । १८. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११७१२३-२६; अ० रा०, ३१६१३४-५० । १९. विष्णुपुराण, ४१११८३-६०; भागवत, २१११२४-३७, २१६११-८, आदि । २०. भागवत, ११३१४, २१११२४-३७, २१६११-१८, २१६१४१-४४, २११०११५-३४, ३१६११-३५, ३१७१२२, ७१३१३३, ७१८१३६, ८१११९३, ८१५१३२-४२, ८१२०१२१-२९, १०१८१३७-४१, १०११०१२९, १०१४०११३-१४, १०१६३१३५-३६, ११ १४१४, १११५१२ । २१. दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिका के छिद्र हैं । २२. सब प्रकार के स्नेह दाँत हैं । २३. 'भामिनि'—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (सर एम० मोनियर विलियम्स), पृ० ७५१-५२ । —द स्टूडेन्ट संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (वी० एस० आप्टे), पृ० ४०३ । —पाइअ सद्दमहण्णवो (प्राकृत शब्दमहार्णव), पृ० ६४९ । —आदर्श हिन्दी शब्दकोश, पृ० ८३१ ।

२४. (क) जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ सो नँदभामिनि पावै । —सूरसागर
(ख) कह रघुपति सुन भामिनि बाता । मानउँ एक भगतिकर नाता ।

—रा० च० मा०, ३१३५१४

सोइ अतिसय प्रिय भामिन मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे । —वही, ३१३६१७

२५. भागवत, ३१२९१२८-३३ । २६. भागवत और भी, १०१३८११०, १०१५४१४४, १०१५६१३६ । २७ अ० रा०, ६११३११०, ६११४१२३, २१५१११, ३१८१३४ । २८. भा०, १०१४०११७-२२; अ० रा०, २१५११५-२० ।

६५८ त्रिवेणी रोड कृष्ण नगर
कीडगंज प्रयाग ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : भाषिक औदात्य

□

डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल

आचार्य द्विवेदी या द्विवेदी जी कहने से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का बोध होता है। इस प्रकार ये दोनों शब्द उनके पर्याय (वाचक) हैं। पर्याय इस अर्थ में कि ये दोनों शब्द एक ही व्यक्ति (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) के वाचक हैं। आचार्य द्विवेदी के कृतित्व का यथार्थ परिज्ञान उनकी कृतियों के भाषिक विश्लेषण से ही सम्भव है। मेरी दृष्टि में किसी भी उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार और कवि के साहित्यिक मूल्याकन का प्रथम सोपान उसका भाषिक अध्ययन है। क्योंकि भाषा-पक्ष के अध्ययन के अभाव में उसका साहित्यिक मूल्यांकन अधूरा रह जाता है। आचार्य द्विवेदी की कृतियों मे भाषागत अध्ययन की समस्त सम्भावनाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु, विस्तारातिशय के भय से इस लघु निबन्ध मे उनके उपन्यास 'पुनर्नवा' को केन्द्र में रखकर उसके ध्वनि और अर्थपक्ष का विवेचन किया जा रहा है।

१. ०. ध्वनि पक्ष—ध्वनि पक्ष के अन्तर्गत ध्वनिसमूह, लय और अनुप्रास का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. १. ध्वनि समूह—आचार्य द्विवेदी ने अनेकानेक प्रसंगों में ध्वनिगुच्छों का प्रयोग कर भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यंजना की है।

१. १. १. प्रभावोत्पादकता के लिए ध्वनिगुच्छों का मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक प्रयोग इस प्रकार है—

झज्झज्झरत — विषाक्त दर्प-मद
दद्दद्दमकत — मूर्धरत्नशात
ठट्ठट्ठमकत — एक-एक सिर (पुनर्नवा, भाग १४, पृष्ठ १४४)

१. १. २. हाँफते-हाँफते शब्द द्वारा मानव पर आने वाली अप्रत्याशित आपदा को बिम्बात्मक रूप में अभिव्यंजित किया है—

'मृणाल, उन्मादिनी की तरह दौड़ी। दीदी, दीदी, हे भगवान! काका दूर थे। शोभन को लिये दिये हाँफते-हाँफते दौड़े।' (पुनर्नवा, इकतीस, पृ० ३१६)

१. १. ३. मानव की अव्यक्त पीड़ा एवं भविष्य में होने वाले क्लेशों की आशंका आदि के अभिव्यंजन के लिए 'फफक-फफक कर' का प्रयोग बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है—

'थोड़ा एकान्त पाकर वह फफक-फफक कर रो पड़ी। हाय, आर्य, मेरा उद्धार कैसे होगा!' (पुनर्नवा, भाग १५, पृ० १५४)

'वे फफक-फफककर रो रहे थे। हय बेटी अकिंचन पिता को क्षमा कर देना।' (पुनर्नवा भाग छह, पृ० ६०)

१. १. ४. इसी प्रकार 'फुसफुसाकर' का प्रयोग अपने प्रयोग-औचित्य के कारण शोभन एवं सटीक विवक्षार्थ प्रस्तुत करता है —

(क) 'फुसफुसाकर' बोले, 'कैसा लग रहा है बेटा, मैं हूँ देवरात !'

(ख) देवरात ने फुसफुसाकर कहा—'जान पड़ता है आततायियों ने आग लगा दी है ।'

(पुनर्नवा, बाईस, पृ० २३१)

१. १. ५. असंतुलित मनःस्थिति का द्योतन 'हड़बड़ाकर' शब्द द्वारा अत्यन्त सटीक रूप में किया गया है—

'हड़बड़ाकर उठे, अपनी पोटली खोजने लगे, पर वह तो उसी स्थान पर रह गयी थी जहाँ सायंकाल बन्दी बनाये गये थे ।' (पुनर्नवा, छब्बीस, पृ० २५९)

१. २. लय—लय तत्त्व का सम्बन्ध मात्र पद्य से ही नहीं, अपितु गद्य से भी है । श्रेष्ठ गद्यकारों की कृतियों द्वारा उदाहृत वाक्यों द्वारा इसकी पुष्टि की जा सकती है । आचार्य द्विवेदी इस लयात्मकता से असम्पृक्त नहीं हैं ।

१. २. १. 'वे उसे उपासना-गृह कहा करते थे । स्नान करने के बाद वे एक बार उसमें अवश्य जाया करते थे ।' (पुनर्नवा, तीन, पृ० ३७)

इसमें लय के कारण भूतकालिक शाश्वत क्रिया का बोध होता है ।

१. २. २. 'आज यहाँ, कल वहाँ' घूमता हुआ वह अनेक देशों में नटमण्डली के साथ कलाबाजी भी दिखाता रहा और मल्ल-विद्या भी सीखता रहा ।' (पुनर्नवा, सात, पृ० ३९)

यहाँ पर लय की सहायता से चतुर्दिक् निपुणता की पुष्टि होती है ।

१. २. ३. 'प्रयाग और साकेत के बीच कोई छोटा-सा राज्य था, वह वहीं का साधारण राजा था ।' (पुनर्नवा, सात, पृ० ७३)

इसमें लय के द्वारा परिचय एवं इयत्ता का द्योतन सुन्दर ढंग से किया गया है ।

१. २. ४ 'हिमालय का कण-कण हिमालय-पुत्री के प्रख्यातजन्य दुख से आर्द्र है और तपस्याजन्य विजय से उल्लसित है ।' (पुनर्नवा, दस, १०३)

यहाँ लय के माध्यम से दुःख-सुख की मधुरिम दशा की व्यंजना की गयी है ।

१. ३. ०. अनुप्रास—अनुप्रास से गद्य की भाषा में ओज, चारुत्व, प्रभविष्णुता और निपातीयता की सृष्टि होती है । आचार्य द्विवेदी की भाषा में ये गुण घनीभूत रूप में उपलब्ध हैं । यथा—

१. ३. १ 'जब-जब उसे उस करुणा-कातर बालिका का ध्यान आता, तब-तब एक विचित्र प्रकार की हूक उसके मन में उठती ।' (पुनर्नवा, सात, ७१)

१. ३. २. 'यह उसे शुभ शकुन-सा लग रहा था ।' (पुनर्नवा, सात, ७१)

१. ३. ३. 'आचार्य और अमात्य अपनी गम्भीर वार्ता में खोये हुए थे ।'

(पुनर्नवा, सोलह, १७१)

१. ३. ४. 'मदन-शर से बेधे गये शिव के गुणों जो जैसे एक ही इशारे में नन्दी ने चांचल्य से विरत होने का निर्देश दे दिया था ।' (पुनर्नवा, सत्तरह, २८५)

१. ३. ५. 'महामल्ल शार्वलिक ने आदेश के स्वर में सबको सावधान करते हुए कहा ।'

(पुनर्नवा, चौबीस, २४४)

आचार्य द्विवेदी की विवेच्य कृति में अनुप्रासों का प्रयोग अधिकतर स्वाभाविक रूप में ही हुआ है और कहीं-कहीं प्रभावोत्पादकता के लिए भी ।

२ ० अर्थ-पक्ष अर्थतत्त्व का अध्ययन-पक्ष बहुत व्यापक है। यहाँ केवल पर्याय (सिनोनिम), विलोम (काम्पोनेन्ट), मुहावरा आदि भाषिक तत्त्वों एवं अलंकार और शब्दशक्ति-व्यंग्यार्थ और काव्यशास्त्रीय पक्षों का स्वरूप-विवेचन किया जा रहा है।

२. १. ०. पर्याय —पर्याय, भाषा की सम्पन्नता के प्रतीक हैं। जो भाषा जितनी ही सम्पन्न होगी, उसके पर्यायों की संख्या उतनी ही अधिक होगी। किसी एक ही वस्तु अथवा व्यक्ति के भिन्न-भिन्न वाचक शब्दों को पर्याय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। महान् कवि या लेखक द्वारा सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिये पर्यायों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कवि या लेखक के भाषिक औदात्य का सबसे बड़ा प्रमाण—सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों (अर्थच्छायाओं) के द्योतनार्थ उसके द्वारा पर्यायों का यथातथ्य प्रयोग है। यदि इस दृष्टि से विवेचन किया जाये तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान हिन्दी के गद्य-लेखकों मे प्रथम होगा। पुनर्नवा में पर्याय के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

२. २. १. 'देवरात उस दिन अधीर और व्याकुल देखे गये।' (पुनर्नवा, एक, १७)

२. १. २. 'राजा ने समझा कि उन्होंने अपने को अपमानित अनुभव किया है।' (वही)

२. १. ३. 'बड़े-बड़े प्रासाद इस प्रकार निस्तब्ध खड़े थे मानों महामारी से ग्रस्त होकर मूर्छित हो गये हों।' (पुनर्नवा, दो, २७)

२. १. ४. 'जो पुरुष शूर हैं, धर्म के अनुकूल हैं, पापी से डरना नहीं जानते, अन्यायी का रक्त-पान करते हैं, वे सिंह है।' (पुनर्नवा, चार, ३९)

२. १. ५. 'धरती मदमत्त पौरुष कसमसा उठी है, उद्धत सैन्य-शक्ति के पदचाप से शेषनाग का फणमण्डल व्याकुल हो उठा है।' (पुनर्नवा, दस, १०४)

२. १. ६. 'वे देवताओं के विध्वंसक हैं, ब्राह्मणों के शत्रु हैं, प्रजा के उत्पीड़क हैं।' (पुनर्नवा, दस, १०५)

२. १. ७. 'और एक बार अवसर मिलने पर गोपाल निस्सन्देह अपने शौर्य और पराक्रम से उसे आसमुद्र-धरित्री का विजेता बना देगा।' (पुनर्नवा, चौदह, १३८)

२. १. ८. 'राज-प्रतिनिधि अमात्य पुरन्दर ने शान्ति और धैर्य के साथ आचार्यपाद की बातें सुनीं।' (पुनर्नवा, सोलह, १७०)

२. १. ९. अपने बारे में सच्ची बातें कहकर मैंने आर्यक को भी दुख दिया और तुझे भी कष्ट दे रही हूँ।' (पुनर्नवा, सत्रह, १८०)

'पुनर्नवा' से उदाहृत पर्याय शब्दों में पूर्ण और आंशिक दोनों प्रकार के पर्याय हैं। आचार्य द्विवेदी ने पर्यायों का यथातथ्य प्रयोग किया है।

२. २. विपर्याय—विपर्याय से तात्पर्य विलोम शब्दों से है। अर्थगत सूक्ष्म भावों के परिज्ञान के लिए पर्याय की तरह इनका भी महत्व है। विवेच्य कृति से इसके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

२. २. १. 'और उसके दास-दासी घर छोड़कर भाग गये।' (पुनर्नवा, दो, २४)

२. २. २ 'ऊपर आकाश और नीचे धरती।' (पुनर्नवा, दो, २७)

२. २. ३. 'देवरात वैरागी से गृहस्त हो गये।' (पुनर्नवा, तीन, २९)

२ ३ ० मुहावरा मुहावरा भाषा का प्राणतत्त्व है भाषा की संरचना में यह अर्थमूलक घटक है विभिन्न प्रकार के भावों कटाक्षों एव चि ८ आदि की सृष्टि के लिए इसका प्रयोग

(क)या जाता है। बिना मुहावरे के प्रयोग के भाषा को सशक्त नहीं बनाया जा सकता। विवेच्य (कृ)ति में प्रयुक्त मुहावरों के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं—

२. ३. १. 'पद-पद पर मान, पद-पद पर ठसक !
'बाप रे बाप, इतनी मानवती है कि बस नाक का फोड़ा समझो।'

(पुनर्नवा, उन्नीस, १८८)

२. ३. २. 'बुद्धिमान व्यक्तियों ने सिर हिलाकर कहा था—देखते रहो, जनम की विलासिनी, करम की मायाविनी गणिका अगर पूजा-पाठ करने लगे तो मानना होगा बबूल में भी कमल के फूल खिलते हैं, पनाले में भी सुगन्ध फूलती है, सर्पिणी भी पुजारिनी बन सकती है।'

(पुनर्नवा, दो, १८)

२. ३. ३. 'चारो ओर कुत्सित शवों की गन्ध से नसें फटने लगीं।'

(पुनर्नवा, अट्ठारह, १८२)

२. ४. ०. अलंकार—भावों की अभिव्यक्ति, चारुता और सर्वग्राह्यता की दृष्टि से अलंकारों का विशिष्ट महत्त्व है। विवेच्य कृति से अलंकारो के दो उदाहरण दिये जा रहे हैं।

२. ४. १. उपमा—'दूर तक जनशून्य राजमार्ग अजगर की तरह लेटा हुआ दिखायी दे रहा है।'

(पुनर्नवा, दो, २७)

२. .४ २. अतिशयोक्ति :

'आँसुओं की धारा बाँध तोड़कर फूट पड़ी है।' (पुनर्नवा, सत्रह, १७०)

२. ५. शब्दशक्ति—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ—अर्थ के ये तीन सोपान हैं। प्रथम दो से अर्थबोध न होने पर तीसरी शब्दशक्ति का प्रयोग किया जाता है। इससे व्यंजित अथवा ध्वनित होने वाले अर्थ को व्यंगार्थ कहा जाता है। यहाँ पर विवेच्य कृति से इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

२. ५. १. 'कोई पानी देने वाला नही रह गया है।' (पुनर्नवा, दो, २५)

२. ५. २. 'अजगर की तरह लेटा हुआ दिखाई दे रहा है, परन्तु आग कहाँ मिले ?'

(पुनर्नवा, दो, २७)

२. ५. ३. 'पत्थरों की छाती भेदकर निकले हुए विराट वृक्ष उसे जीवनी-शक्ति की महिमा बताते हैं।' (पुनर्नवा, ग्यारह, १०)

उपसंहार—आचार्य द्विवेदी के भाषिक औदात्य का अध्ययन बहुत व्यापक स्तर पर किया जा सकता है। प्रस्तुत लघु निबंध में विस्तारातिशय के भय से भाषागत अध्ययन की सीमित सम्भावनाओं पर ही विचार किया गया है। आचार्य द्विवेदी जैसे सशक्त लेखक की कृतियों की, ध्वनि, अर्थ, वाक्य आदि विभिन्न दृष्टियों से, शोध करने की आवश्यकता है।

●

प्राध्यापक, हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०)

मुक्तिबोध की सृजन-प्रक्रिया

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

हिन्दी की नई कविता (जिसमें, छायावादोत्तर काल की सभी कविता-प्रवृत्तियाँ हैं) के कवि, सृजन के साथ उसकी आलोचना को यदि अपने सृजन का अनिवार्य अंग मानते हैं, तो इसका कारण केवल यह नहीं है कि परम्परागत आलोचना (धंधई या शास्त्रीय या अकादेमिक) उनके सृजन के मूल्यांकन मे सक्षम नहीं है, बल्कि यह है कि छायावाद और उसके बाद की कविता में गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया विषयवस्तु, प्रेरणा के स्रोत और पृष्ठभूमि की दृष्टि से इतनी तीव्र हो उठी कि आलोचना के प्रतिष्ठित मान उसका सही मूल्यांकन नहीं कर सके, सस्ते निष्कर्षों वाली तथा कथित धंधई आलोचना आलोचना है ही नहीं, परन्तु शास्त्रीय आलोचना भी, नवसृजन का उसकी समग्रता में मूल्यांकन न कर, उसे परम्परागत फ्रेमों में बैठाने लगी। कवि और आलोचक (कवि और भावक) के बीच भिड़ंत का वास्तविक मुद्दा यही था। वैसे देखा जाय तो कवि और भावक के बीच दरार हमेशा रही है। संस्कृत-समीक्षक राजशेखर के इस प्रतिपादन के बावजूद कि कवि और भावक एक-दूसरे के पूरक हैं, एक में सृजन करने की प्रतिभा है, जबकि दूसरे में भावन करने की—यह दरार पट नहीं सकी। आधुनिक युग में वह और चौड़ी हो गई। नए कवि और नई कविता के पक्षधर, परम्परागत आलोचना के विरोध में अपनी आलोचना को सृजनात्मक आलोचना कहते हैं जो उनके विचार से कविता का यह तीसरा साक्ष्य है जो महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक मुक्तिबोध का प्रश्न है, निराला के बाद, उन्हें नवसृजन में विशेष महत्त्व प्राप्त है। एक तो, उनका सृजन प्रथम तारसप्तक का एक तार है। दूसरे, वे जीवन के यथार्थ संघर्ष में सक्रिय रहे; तीसरे, उन्होंने जीवन के संघर्ष को अपनी कविता में कलात्मक अभिव्यक्ति दी; चौथे, उनकी करुण और संघर्षपूर्ण मृत्यु ने उनके सृजन को अधिक संवेदनीयता से आकर्षित किया और वह नई कविता के शहीद हस्ताक्षर बन गए।

मुक्तिबोध साम्यवादी क्रान्ति की असफलता के बाद कविता के क्षेत्र में उतरे। उनके अनुसार, सृजन का मूल तत्त्व जीवन-चेतना है जो मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता, शोषण-विहीन समाज-रचना, आदि में से किसी के भी प्रति, प्रतिबद्ध हो सकती है। चूँकि मुक्तिबोध की विचारधारा का उत्स साम्यवाद है, अतः उससे सम्बन्धित विचारात्मक संवेदनों का संप्रेषण उनके सृजन का मुख्य उद्देश्य है। भरत मुनि भाव को सृजन का मूल तत्त्व मानते हुए, साधारणीकरण के द्वारा उसकी रसात्मक स्थिति की कल्पना करते हैं। रिचर्ड्स 'मूल्य' को काव्य का विषय मानता है। उसके अनुसार किसी कलात्मक अभिव्यक्ति में संप्रेषणीयता स्वतः आ जाती है। मुक्तिबोध के अनुसार, विधायक कल्पना के द्वारा पुनर्रचित जीवन, एक विशिष्ट अनुभव का नहीं, बल्कि तत्समान सारे अनुभवों का सामान्यीकरण होता है। सृजन एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। उनके अनुसार जब सक्रिय कल्पना और द्रवित मन के द्वारा कवि अनुभवों को प्रेषित करता है तो प्रतीति के ये क्षण 'सौंदर्य के क्षण' बन जाते हैं जो सारी मानवता के सुन्दर क्षण हैं। मन की यह स्थिति एक क्रियावान् शक्ति है। इस प्रकार सौंदर्य-क्षण या रस-क्षण तक पहुँचाने वाली सृजन प्रक्रिया का मूल तत्त्व भाव है जो

रागचेतना का अंग है। काल और क्षेत्र के अनुसार रामचेतना बदलती है और उसके द्वन्द्व का स्वरूप बदलता है। यह तथ्य निर्विवाद है, और किसी न किसी रूप मे सबको मान्य है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में आस्था रखते हुए मुक्तिबोध उसमें और हृदय की संवेदना में कोई विरोध नहीं देखते। उनके अनुसार साम्यवाद मानव-सम्बन्धों को विकास का नया सामाजिक धरातल देता है। यह सही है कि साहित्य और जीवन का विवेक अलग-अलग नहीं है, पर प्रश्न उठता है कि विवेक के मूल में सक्रिय द्वन्द्व को कैसे परिभाषित किया जाए? सृजन में विवेक है तो द्वन्द्व होगा ही। 'कामायनी' में यदि पूर्ण अहंता और अपूर्ण अहंता का द्वन्द्व है, तो मुक्तिबोध में बूर्जुआ और सर्वहारा वर्ग को लेकर। सर्जनात्मक शब्द द्वारा सौंदर्य-क्षण और रस-क्षण तक पहुँचने की प्रक्रिया समान है। दोनों का आधार भाव है, परन्तु रस-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि सामंतवाद है जो भाव के औचित्य का विचार सामाजिक न्याय और समानता के आधार पर न कर, आभिजात्य वर्ग के आधार पर करता है, जैसे कुलीन नायकों का प्रेम-वर्णन शृङ्गार रस है, दूसरे वर्गों के प्रेम का वर्णन रसाभास है। छायावादी कविता की भावानुभूति इस दायरे को तोड़ती है। काव्य के मूल्यांकन के एकमात्र आभिजात्य प्रतिमान 'रस' का तभी से विरोध शुरू हुआ।

मुक्तिबोध की सृजन-प्रक्रिया का केन्द्र-विन्दु सामाजिक संघर्ष है। एक ओर, उसमें सांस्कृतिक द्वन्द्व है, दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का द्वन्द्व। इन द्वन्द्वों को, वह भारत की मध्यकालीन ऐतिहासिक प्रवृत्तियों, भौगोलिक स्थितियों और प्राकृतिक वस्तुओं के प्रतीक-कथनों के माध्यम से आकार देते हैं। द्वन्द्वों की संवेदनात्मक कल्पनामय बुनावट ही उनकी सृजन-प्रक्रिया है, इसमे वे सारे उपकरण हैं, काव्य-रचना में जिनका उपयोग संभव है। फैंतासी मुक्तिबोध के सृजन की प्रतिनिधि शैली मानी जा सकती है जिसमें प्रतीक-बिम्ब, आत्मकथ्य, संवाद, तीसरा पात्र, आकस्मिकता, अज्ञातवाणी, देव, शिशु-परिकल्पना आदि तत्त्व आ जाते हैं। उदाहरण के लिए 'ब्रह्मराक्षस' उनकी प्रसिद्ध कविता है जो मध्यमवर्ग के बजाय भारत के मध्यकालीन मानस की प्रतीक है। शहर के बाहर एक परित्यक्त सूनी बावड़ी है जिसके ठंडे अँधेरे में पुराना पानी भरा हुआ है। उसकी गहराई में अनेक सीढ़ियाँ डूबी हुई हैं। वस्तुतः यह बावड़ी भारतीय पौराणिक संस्कृति की प्रतीक है—

"बावड़ी को घेर/डालें उलझी हैं
खड़े हैं मौन औदुम्बर/व शाखों [वस्तुतः शाखाओं] पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले/परित्यक्त भूरे गोल"

पौराणिक चेतना की इस बावड़ी को नाना विचारधाराओं की शाखाएँ घेरे हुए हैं, संप्रदाय-रूपी औदुम्बर वृक्ष उसके चारों ओर चुपचाप खड़े हैं, उनकी शाखाओं-प्रशाखाओं में दार्शनिकों के आश्रम (घुग्घुओं के घोंसले) हैं जिन्हें छोड़कर दार्शनिक अब नए संप्रदायों की रचना करने में लगे हैं। उनके नए चमचमाते प्रतिष्ठान बन रहे हैं। बावड़ी की उन सूनी गहराइयों में एक 'ब्रह्मराक्षस' (भारत का मध्यकालीन मानस) पैठा हुआ है, उसके शब्दों की बड़बड़ाहट और गूँज साफ़ सुनाई देती है जो गत जीवन की पापछाया दूर करने के लिए अपनी देह साफ़ करने में लगा हुआ है। लेकिन वह, प्रायश्चित से अपने को जितना पवित्र करता है, उतना ही मैल बढ़ने का अनुभव उसे होता है। कवि का संकेत है कि भारतीय संस्कृति का मूल स्वर मर चुका है, केवल उसके नाम पर लोग पाखण्ड को संस्कृति मान रहे हैं। भ्रष्ट आचरण या योग्य शिष्य के अभाव में, विद्यादान न करने के कारण, राक्षस-योनि में जन्म होने वाला ब्राह्मण 'ब्रह्मराक्षस' कहलाता है। स्तोत्र-पाठ आत्म-विश्लेषण और अखण्ड स्नान के पागल प्रवाह में उसकी संवेदना स्याह पड़ गई है। परन्तु उसका

वह ज्यों का त्यों है । कभी भूले-भटके सूर्य और चन्द्रमा की किरणें बावड़ी के भीतरी हिस्से पर गिरती हैं तो वह समझता है कि सूर्य और चन्द्रमा ने उसे प्रणाम किया है । उसे सुमेरी-बेबिलोनी जनकथाओं से लेकर अपने समय तक की विश्व-संस्कृति ज्ञात है, वह विश्व के प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण करता है, लेकिन विश्व की धारा से कटी हुई उसकी चेतना के प्रलाप को कौन सुनता है ?—

"सुनते है करौंदी के सुकोमल/फूल सुनता है उन्हें प्राचीन औदुम्बर
सुन रहा हूँ मैं वही/पागल प्रतीक में कही जाती हुई
वह ट्रैजिडी/जो बावडी में अड़ गई"

कवि का निष्कर्ष है कि उस सांस्कृतिक चेतना की साधना में निष्ठा है, परन्तु वह जिस अतिरेकवादी पूर्णता को पाने के लिए यह सब कर रही है, वह असंभव है, दूसरे उसका लक्ष्य अच्छे और बुरे के बीच में से अच्छे का चयन करना नहीं है, बल्कि अच्छो में और अच्छे दिखने का संघर्ष है । 'ब्रह्मराक्षस' की दूसरी त्रासदी यह है कि वह मार्क्स से लेकर गांधी तक के हर सिद्धान्त की व्याख्या अपने ढंग से करता है और अपने विचारों में लीन रहता है, यह सोचकर कि वह सर्वोत्तम है—

''नहाता ब्रह्मराक्षस श्याम/प्राक्तन बावड़ी की
उन घनी गहराइयों में शून्य''

कवि की उसके प्रति सहानुभूति है क्योंकि अतिरेकवादी पूर्णता को प्राप्त करने में 'ब्रह्मराक्षस' को जो व्यथाएँ झेलनी पड़ी हैं, वे प्रिय है । क्योंकि अपनी समस्त असफलताओं के बावजूद 'ब्रह्म-राक्षस' का व्यक्ति-रूप कोमल है । जिस समय वह भावना को तर्कसंगत बनाने की कोशिश कर रहा था, उसी समय धन को सफलता की एकमात्र कसौटी मानने वाले कीर्ति-व्यवसायी अंग्रेजों ने उसे धर दबोचा । इस प्रकार दो पाटों के बीच उसका अंत हो गया । कवि अन्त में 'ब्रह्मराक्षस' का सहृदय शिष्य होना चाहता है जिससे वह 'ब्रह्मराक्षस' की वेदना (योग्य शिष्य न मिलने की वेदना) के कारण को खोज, उसे अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचा सके ।

'लकड़ी का बना रावण' में साम्राज्यवाद को विराट् पुरुष के रूप में चित्रित करता हुआ कवि बताता है कि वह किस प्रकार आंदोलन से भयभीत है और कहता है—

"डरता हूँ/उनमें से कोई हाथ/सहसा न चढ़ जाये
उत्तुंग शिखर की सर्वोच्च स्थिति पर
पत्थर और लोहे के रंग का यह कोहरा ।"

पत्थर और लोहे के रंग के कुहरे से कवि का अभिप्राय संघर्षरत दृढ़ काली भारतीय प्रजा से है । फैंतासी को स्पष्ट करता हुआ साम्राज्यवाद रूपी रावण कहता है—

"स्वयं को ही लगता हूँ/बाँस के व कागज के पुट्ठे के बने हुए
महाकाय रावण-सा हास्यप्रद भयंकर"

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता का संदर्भ कवि से जुड़ा हुआ है । लेकिन जब तक चाँद का प्रतीकार्थ (शासन) स्पष्ट नहीं होता, तब तक पूरी फैंतासी का कथ्य और उद्देश्य समझना कठिन है । कवि को नागपुर की इम्प्रेस मिल के अहाते के ऊपर, चिमनियों के बीच, चाँद वक्र रूप में दिखाई देता है जिसकी तुलना हड़ताली मजदूरों पर गोली कांड करने वाले शासन से करता हुआ वह कहता है—

भयानक स्याह सन तिरपन का चाँद वह/गगन में करफ़्यू है
धरती पर चुपचाप जहरीली छि: थू है।
पीपल के खाली पड़े घोंसलों में पक्षियों के
पैठे हैं—खाली हुए कारतूस"

स्पष्ट है कि यहाँ 'चाँद' शासन का प्रतीक है। 'चाँद' की दुरंगी नीति का पर्दाफाश करते कवि का निष्कर्ष है कि चाँद अट्टालिकाओं पर कुछ और दिखाई देता है और ग़रीबों की मड़ियों में कुछ और। दमन और विद्रोह का तुलनात्मक चित्र अंकित करते हुए उसका कहना है चाँदनी (गुप्तचर-शाखा) बिल्ली की तरह सब क्रांतिकारियों पर आँखें गड़ाये हुए है।

"यमदूत-पुत्री सी
[सभी देह स्याह, पर
पंजे सिर्फ़ श्वेत/और ख़ून टपकाते नाख़ून]"

ख़ूनी क्रांति के विरोध में उस समय जो सांस्कृतिक कविताएँ लिखी गईं, उन पर कवि की तिक्रिया है—

"सचाई के अधजले मुर्दों की चिताओं की
फटी हुई फूटी हुई दहक में कवियों ने
बहकती कविताएँ गाना शुरू किया
संस्कृति के कुहरीले धुएँ से भूतों के
गोल गोल मटकों से चेहरों ने
नम्रता के घिघियाते स्वाँग में/करना शुरू किया
बुद्ध के स्तूप में/गड़ गए गाड़े गए।"

इसी कविता में, कवि और चित्रकार के संवाद का यह निष्कर्ष है—

"हमारा अधिकार सम्मिलित श्रम और
छीनने का दम है"

चाँद के उत्पीड़न से त्रस्त जनता इस आस्था में जी रही है—

"सुबह होगी कब और/मुश्किल होगी दूर कब
समय का कण कण/गगन की कालिमा से
बूँद-बूँद चू रहा/तड़ित ज्वाला बन ॥"

'डूबता चाँद कब डूबेगा' विद्रूप सभ्यता वाले समाज का यथार्थ चित्रण करने वाली कविता है। उस पाखण्डपूर्ण समाज में सत्य को छिपाकर रखना पड़ता है। वसुदेव, पन्ना धाय और शिवाजी के उदाहरणों से कवि इसका समर्थन करता है तथा विभिन्न प्रतिक्रियाओं द्वारा क्रान्ति का आह्वान करता है। 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में क्रांति की गाथा है। कवि अपने को साम्राज्यवाद के महल के नीचे दबा पड़ा हुआ पाता है। क्रान्ति की यह आग दूसरे देशों में भी लगी है। कवि कहता है कि भारतीयों का, कई सदियों से, इतिहास के मलबे के नीचे पड़ा रहना और जीवित रहना सृष्टि का एक चमत्कार है। उसका विश्वास है कि हमारा बलिदान भावी पीढ़ी के लिए सुख-समृद्धि लाएगा। 'मुझे याद आते हैं' में कवि की जीवन-गाथा का प्रतीक-कथन है जिसमें कवि ज़िन्दगी के

गंदे, न कह सके जाने वाले अनुभवों के ढेर की कल्पना भयंकर स्याह पहाड़ के रूप में करता है। पूरी जीवन-गाथा इसी स्याह पहाड़ के प्रतीक पर अङ्कित है। उसमें चट्टानें, आग, धुआँ, चाँद की मुस्कराहट, स्वप्नों के मेघ और मसानी आसमान—सब कुछ है। इस पहाड़ को पार करने और सहने की प्रेरणा, कवि श्रमशील नारी से ग्रहण करता है और वह श्रमशील जनता से जुड़ जाता है, क्योंकि गरीबी का ऐसा अनुभव उसे भी है—

"माता-पिता के संग बीते हुए/भयानक चिन्ताओं के लम्बे-लम्बे कालखंड
में से उठ-उठ कर/करुणा में मिली हुई गीली हुई गूँजें कुछ
मुझे मिला देती है नई ही बिरादरी।"

'मुझे नही मालूम' मे यन्त्रबद्ध सत्य की आलोचना है। लोग ग्रह-नक्षत्रों को अपना सहचर मानते हैं जिनके अनुसार जीवन मे सब कुछ निर्धारित है। कवि कहता है कि जिन्दगी की गहराई में डूबकर, खतरा उठाकर ही सत्य पाया जा सकता है; वह इस धारणा पर प्रहार करता है—

"हमे तो डर है कि/खतरा उठाया तो,मानसिक यन्त्र सी बनी हुई आत्मा
आदतन बने हुए अक्षतन भावचित्र/विचार चरित्र ही/टूट-फूट जाएँगे
प्रेमें नव टूटेगी व टंटा होगा निज से
इसलिए सत्य हमारे सतही
पहले से बनी हुई राहों पर घूमते हैं/यंत्रबद्ध गति से"

'मेरे लोग में' कविता ग़रीबी की रेखा के नीचे रहने वाली ग़रीब जनता का चित्रण गोयात्रा के प्रतीक से करती है—

"भाव मंथर, काल पीड़ित ठठरियों की श्याम गोयात्रा।"

इस सत्य को सुसंस्कृत लोग नही समझ सकते। घर-गृहस्थी वाली अपढ़ माताएँ उसे समझ लेती हैं—

"मग्न होकर ध्यान करती हैं कि
अपने बालकों को छातियों से और चिपकातीं
भोलेभाव की करुणा बहुत ही क्रान्तिकारी सिद्ध होती है"

'मेरे सहचर मित्र' में कवि की संघर्ष-गाथा है। वह कहता है कि मैंने एकलव्य की तरह ज्ञान के बन्द दरवाज़ों की दरार से ही पुस्तकीय ज्ञान को प्राप्त किया है—

"सब ग्रन्थाध्ययन वंचिता मति ने सड़कों पर
ज्ञान के हृदय-जाग्रत स्वप्नों को/प्राप्त किया।"

ग़रीब गलियों में खड़े अक्षयवट को संबोधित कर कवि अत्यन्त भावुक होकर कहता है—

"मैं उन ग़रीब गलियों में घूमा-झूमा हूँ
जिन गलियो में तुम अक्षयवट
ले शत सहस्र भावना विचारों के पल्लव
औ जटा जटिल/अनुभव शाखाएँ लिए खड़े
जाने कितने जन कष्टों की/पीढ़ियाँ दुखो की देखी हैं तुमने
उस अक्षयवट से मैं/चिन्ता में अकुलाता झूमा"

वह अनुभव करता है—

"अपने छोटे निज जीवन में/जी ली हैं अनगिन जिन्दगियाँ
जिन्दगी हरेक व्यक्ति चन्दन का ईंधन है"

'ओ काव्यात्मन् फणिधर' (वस्तुतः फणधर) में कवि अपनी कविताओं के भावात्मक चरित्र का विश्लेषण करता है—

"भोगो जहरीला संवेदन !
पर उससे अधिकाधिक जागृत/अधिकाधिक उत्तेजित आक्रमण हो
सूँघते हुए बीरान हवा/तुम स्वप्न देखते हुए
मन के मन में विश्लेषण करते हुए/झाड़ियों से गुज़रो"

'नक्षत्रखंड' में भूरी पहाड़ी उस मन का प्रतीक है जिस पर जमाने के जड़ संस्कारों की परतें जमी हैं, उसके नीचे भावरत्न छिपे हैं, वे ही जीवन के भाग्य-विधाता हैं, न कि आकाश के नक्षत्र-खंड जो गुरुत्वाकर्षण की नियति से बँधे हुए हैं। 'चमकती चिनगारियाँ' रागचेतना की प्रदीप्त अनुभूति-मणियों का प्रतीक हैं जो मनुष्य-हृदय में प्राकृतिक रूप से रहने वाली न्याय-संवेदना के स्पर्श से चमक उठती हैं। कवि कहता है—

"प्रतीकों और बिम्बों के/असंवृत रूप में रह
हमारी ज़िन्दगी है यह,जहाँ पर धूल के भूरे गरम फैलाव
पर पसरीं लहरती चादरें/ बेथाह सपनों की"

इन सपनों को गद्यात्मक छन्दो में भी अभिव्यक्ति दी जा सकती है—

"अधूरी और सतही ज़िन्दगी में भी,
जगत् पहचानते मन जानते/जी माँगते तूफ़ान आते हैं
व उनके धूल-धुँधले कर्ण-कर्कश/गद्य छन्दों में
तड़फते मान दुनिया छान आते हैं।"

कवि की समस्या है—

"मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में,सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त/कब होंगे।"

'जब प्रश्न-चिह्न बौखला उठे' कविता जीवन के ज्वलंत प्रश्नों का विश्लेषण करती है। कवि को लगता है—

"प्राणों में कोई बैठा है कबीर मर्मी
ये पहलू—पाँखें पंखुरियाँ स्वर्णोज्ज्वल
नूतन नैतिकता का सहस्र दल खिलता है
मानव व्यक्तित्व सरोवर में"

'स्वप्नकथा' और 'अन्तःकरण के आयतन' कवि के अपने व्यक्तिवादी मन का विश्लेषण है कि मैं आन्तरिक उधेड़बुन में इतना अधिक लगा रहा कि निर्णायक क्षण निकल गया और मैं कुछ नहीं कर सका। इसीलिए—मेरी ये कविताएँ—

"भयानक हिडिम्बा हैं
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ
विकृताकृति-बिम्बा हैं"

हृदय के विस्तार में कवि विश्व की दुःखगाथा से जुड़ता हुआ कहता है —

"धरती के विकासी द्वन्द्वक्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष"

वह स्वीकार करता है 'बिना संहार के सर्जन असम्भव है अकेली स्वप्न-वीथी कुछ नहीं

कर सकती ।' 'इस चौड़ी से ऊँचे टीले पर' यानी मानव-संस्कृति के टीले पर कवि की अज्ञात व्यक्ति से बात होती है, उस ऊँचाई पर, जब वह पेड़ के रूप में मनुष्य की कल्पना करता है तो उसे दिखाई देता है—

"पेड़ में एक मानवी रूप
मानवी रूप में एक ठूँठ
सच या कि झूठ"

मनुष्य के शोषण के मूल मे समाज में व्याप्त स्वार्थवृत्ति है। 'चंबल घाटी' में भारतीय संस्कृति की चंबल नदी से तुलना की गई है। कवि का कहना है कि जब तक भारतीय समाज-व्यवस्था में सहानुभूति और आन्तरिक करुणा थी, तब तक वह नदी की धारा की तरह बहती रही, लेकिन मध्ययुग में अन्तःस्रोत सूखने पर, चंबल की घाटी की तरह वह कट-पिट कर नाना ढूहों में विभक्त हो गई। इन्हीं ढूहों से उस संस्कृति की रचना हुई है जिसे सामंतवाद कहते हैं। मानवता की उस चंबल नदी की स्थिति यह है—

'पानी की खोहें और थाहें सब सूख गईं
तले सब फट गए/दरारों में प्यास भर गई है
"भूख भरी गहराई खुली पड़ी कब से/जाने कब से"

ढूहों की चट्टानें जड़ीभूत मानवता का प्रतीक हैं। वह, गतियों का प्रस्तरीभूत हिम है जो अपने से ही संघर्ष कर रहा है। दस्युवाद सामन्तवाद का ही परवर्ती रूप है—

"जो गुप्त प्रक्रिया गहन निजात्मक
वह देह धर कर/दस्यु रूप/बैठ गई उर पर"

जो व्यवस्था तुम्हारे ऊपर बैठी है, वह वास्तव में तुम्हारा ही प्रतिफलित बिंब है, इसलिए तुम इस व्यवस्था को लेकर लुढ़को, अकेले नहीं, क्योंकि अकेले में मुक्ति नहीं मिलती।

'अँधेरे में' कई दृष्टियों से कवि की महत्त्वपूर्ण फैंतासी है जो स्वतन्त्र भारत की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों की गाथा प्रतीकों में व्यक्त करती है। समूची कविता आठ खंडों में विभक्त है। कवि स्वाधीन भारत के इतिहास की यह गाथा साम्यवादी विचार की पृष्ठभूमि पर रचता है। फैंतासी 'बन्द कमरे' (अवचेतन मन) से प्रारम्भ होती है। कमरे में पड़े हुए उसे दीवाल के गिरते पलस्तर पर नर का चेहरा दीख पड़ता है, फिर वह कुहरे से आच्छन्न और रक्तालोक से स्नात व्यक्तित्व के रूप में दिखाई पड़ता है। अन्त में कवि उसकी पहचान टॉल्सटाय से करता है। विचारों की 'उधेड़बुन में' वह रात में उठकर स्वतन्त्रता का जुलूस देखता है जिसमें नामी-गिरामी नागरिक सम्मिलित हैं। लोग उसे पहचान लेते हैं और मारने दौड़ते हैं—यहीं से कवि की संघर्ष-गाथा शुरू होती है।

फैंतासी में घटनाएँ कई मोड़ लेती हैं। चूँकि कवि भावना और कर्म के स्तर पर, इस संघर्ष से जुड़ा रहा है, इसलिए समूची फैंतासी आत्मीय और संवादमय है। समूची फैंतासी भावुक बयानों, भाग-दौड़, आशंकाओं, आतंकों और सूक्ष्म संकेतों-अभिप्रायों से जुड़ी हुई है। इस प्रकार वह सामाजिक संघर्ष के विकास का मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित करती है। उसमें दृश्य और वर्णन, दोनों हैं। डॉ० नामवर का यह सोचना ठीक नहीं कि उसमें अस्मिता की खोज को नाटकीय रूप दिया गया है। कवि फैंतासी का रचयिता है, न कि नायक। मूलतः 'अँधेरे में' पूँजीवाद के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के संघर्ष की गाथा है, परन्तु उसका प्रारम्भ सांस्कृतिक द्वन्द्व से होता है।

और गांधी के उल्लेख द्वारा वह बताता है कि किस प्रकार अहिंसक आन्दोलन हिंसक

का अग है मुक्तिबोध मे आत्म विश्लेषण की प्रवृत्ति गहरा और सक्रिय है। डा० रामविलास शर्मा इस प्रवृत्ति को अपराध भावना से ग्रस्त मानत हैं जबकि वास्तविकता यह है कि उनमे अपनी दुबलताओ को स्वीकार करन का नैतिक साहस है जा वतमान राजनीतिज्ञा म नहीं है। डा० नामवर न मुक्तिबोध पर अँधेरे में देखने और हठयोग के प्रभाव का आरोप लगाया है जो बताता है कि वे मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया को गहराई से नहीं देख सके। 'अँधेरे में' का प्रतीकार्थ है 'अवचेतन में।' कवि दृश्यों और घटनाओं (जिनमे वह खुद है) की कल्पना के द्वारा जोड़ता है। आत्मकथ्य होने से यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि कवि ही उसका नायक है, परन्तु यह शैली उनकी अधिकांश लम्बी कविताओं में है। डॉ० नामवर का यह कहना सचमुच दुर्भाग्यपूर्ण है कि मुक्तिबोध को उजाले में उतना साफ़ दिखाई नहीं देता जितना अँधेरे में। यानी वे दिवांध थे। प्रश्न यह है कि प्रकाश में जो देखा गया है, उसके चित्र कैसे लिए जाएँ? 'अँधेरे में' और दूसरी कविताओं में, कवि प्रकाश के चित्रों को अवचेतन की प्रक्रिया में जोड़ता है जिसमें कल्पना प्रमुख रूप से सक्रिय रहती है। मुक्तिबोध ने अपनी कविता में 'घुग्घू' (उल्लू) का उल्लेख कई सन्दर्भों में किया है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में गांधी की प्रतिमा पर बैठा 'उल्लू' तिलक की प्रतिमा पर बैठे उल्लू से कहता है—

"मैंने भी सिद्ध की
देखो मूठ मार दी"

तिलक-प्रतिमा पर आसीन उल्लू देखता है कि लाल-लाल चिल्लाकार कुछ तैरता आ रहा है और कहता है—

"राज के जहाँपनाह/इसीलिए आजकल
दिन के उजाले में भी अँधेरे की साख है
रात्रि की काँखों में दबी हुई/संस्कृति-पाखी के पंख हैं सुरक्षित"

जब प्रकाश पर अन्धकार की शक्तियाँ हावी होती हैं तो उन्हें चीर कर कवि सत्य का पता अपनी प्रतिभा के प्रकाश से लगाता है। फिर यह ज़रूरी नहीं कि जो कुछ प्रकाश में दिखाई देता है, वह सच हो।

विज्ञापन और अभिव्यक्ति के साधनों से उन्नत इस युग में 'सत्य' का पता लगाना कितना कठिन है—यह हम सब जानते हैं। और डॉ० नामवर कहते हैं कि मुक्तिबोध को अँधेरे में साफ़ दिखाई देता है, लेकिन वह जो प्रकाश में देख रहे हैं, वह कितना अन्धकारपूर्ण है—शायद उन्हें यह पता नहीं।

उनका एक आरोप यह है कि मुक्तिबोध में ब्राह्मणी संस्कार हैं क्योंकि उनकी भाषा संस्कृत-गर्भ है और वह पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। लेकिन मुक्तिबोध की कविताओं का जिसे सतही ज्ञान है, वह भी जानता है कि पुरोहितवाद और सामंतवाद पर आधारित समाज-व्यवस्था की उन्होंने कड़ी आलोचना की है। 'एक अरूप शून्य के प्रति' कविता में वह ब्रह्म से कहते हैं—

"धरती की चीखों के शब्द/पंखदार कीड़ों से बेचैन
तुम्हारे कानों के बालों पर बैठते/भिनभिनाते चक्कर काटते
अटूट है, लेकिन नींद!"

ब्रह्मवादियों की आत्मा के बारे में कवि का कथन है—

"प्रतिपल तुम्हारा ही नाम जपती हुई
लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया

स्वार्थ-सफलता के पहाड़ी ढाल पर
चढ़ती है हाँफती/आत्मा की कुतिया
राह का हर कुत्ता जिसे छेड़ता है, छेंकता,
लेकिन तुम खूब हो
सूनेपन के डोह में अधिकारी डूब हो''

कवि किसी भी दार्शनिक विचारधाराओं का मूलतः विरोधी नही है, लेकिन यदि स्वार्थपूर्ति और शोषण के लिए उनका भीषण दुरुपयोग होता है तो वह उनकी आलोचना करने से नहीं चूकता।

साम्यवादी होने पर भी मुक्तिबोध भारतीय इतिहास के सूक्ष्म विश्लेषक और भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्यो के प्रशंसक हैं, राष्ट्रीय धारा की मुख्य समाजोन्मुखी प्रवृत्तियों के समर्थक हैं। मध्य-युगीन संस्कृति की जिन स्थूल और पाखंडपूर्ण मान्यताओं का खंडन छायावाद ने सूक्ष्म तर्कों और मानवतावाद की आध्यात्मिक समानता के आधार पर किया, मुक्तिबोध उनका खंडन इतिहास के स्थूल तथ्यों और ठोस तर्कों के आधार पर करते हैं। छायावादी कवियों की धारणा थी कि आध्यात्मिक एकता पर आधारित मानवतावाद के आधार पर जब तक नैतिक क्रान्ति नहीं होती, तब तक विश्व में नई स्थायी क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। मुक्तिबोध का कहना है कि मध्यकालीन संस्कृति के कुहासे को काटे बिना सामाजिक क्रान्ति नही। स्थूल और यथार्थ जीवन-मूल्यों के लिए किया गया संघर्ष ही राष्ट्र में एकता और समृद्धि ला सकता है। मुक्तिबोध अभावजन्य दुःख को जीवन का सबसे बड़ा सत्य मानते हैं। श्रम और सामूहिक बोध से ही दुःख की इस वास्तविकता का सामना किया जा सकता है। वह ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और सामाजिक स्थितियों के चित्रण के लिए जिन प्रतीकों को चुनते हैं, वे भौगोलिक तथ्यों और प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं। उनकी कविता केवल वर्तमान संघर्ष का चित्रण नहीं करती, अपितु आगामी के छायाचित्र भी अंकित करती है। वह जन-चरित्री है।

फैंतासी के बारे में यह कहना ठीक नहीं कि उसमें उन विचारों का पूर्व अधिग्रहण होता है जो अपूरणीय इच्छाओं से सम्बद्ध होते हैं। वस्तुतः फैंतासी यथार्थ का कलात्मक चित्र है, वह यथार्थ चाहे घटित हो या घटमान। क्योंकि, मुक्तिबोध के अनुसार कलात्मक चेतना वास्तविक जीवन-यापन का ही एक अंग है। कलात्मक चित्रण में कल्पना होगी ही, फैंतासी में कल्पना यथार्थ के खंडों को एक सूत्र में पिरोने वाली शक्ति है। मुक्तिबोध की सृजन-प्रक्रिया में आधुनिक हिन्दी कविता के सभी उपकरण और तत्त्व हैं। उन्हें किसी कलात्मक प्रयोग से परहेज नहीं, बशर्ते वह सामाजिक संघर्ष और यथार्थ ज्ञानात्मक संवेदन को अभिव्यक्ति देते हों। भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक विश्लेषण, स्वतन्त्र भारत के नैतिक पतन और सामाजिक संघर्ष की कलात्मक अभिव्यक्ति ही उनकी सृजन-प्रक्रिया का श्रेष्ठ रूप है।



शान्ति-निवास
११४, उषानगर
इन्दौर-४५२००२

धूमिल :
भाषा के कटघरे में

□

डॉ० अशोक त्रिपाठी

'धूमिल' उर्फ़ सुदामा पाण्डेय समकालीन हिन्दी कविता में ऐसा नाम है जिसके बिना समकालीन हिन्दी-कविता की पहचान कबंध की पहचान होगी।

धूमिल, जिन्हें मुक्तिबोध की पंक्ति का कवि कहा जाता है, अपनी संप्रेषणीयता में मुक्तिबोध से कहीं अधिक कारगार सिद्ध हुए हैं।

मुक्तिबोध की कविताएँ एक जटिल सूझ-बूझ की माँग करती हैं। मुक्तिबोध की कविता अनुभव की जटिलता के साथ-ही-साथ अभिव्यक्ति-शैली की जटिलता से भी बराबर भरपूर रही है; लेकिन धूमिल की कविता अनुभव की जटिलता को आत्मसात् किये हुए, ऐसी सादगी और खुलेपन का बाना अख्तियार किये हुए प्रकट होती है कि हर पढ़ा-बेपढ़ा आदमी अपने मतलब की बात उसमें से पकड़ लेता है।

मुक्तिबोध की कविता में सागर की गहराई है; धूमिल की कविता में सागर का फैलाव।

मुक्तिबोध की कविता में सागर-तल में छिपे असंख्य बवन्डर, असंख्य ज़हरीले संवेदन-जन्तु तथा अनुभव के मुक्तामणि हैं जिनका अनुभव गोताखोर ही कर सकता है। धूमिल की कविता में उत्ताल तरंगें हैं, ज्वार-भाटा है और साथ बहकर आई मणियाँ हैं, विषैले जीव हैं जिनका अनुभव कोई भी किनारे खड़ा व्यक्ति सहज ही कर सकता है और उन्हें हाथों से पकड़ लिया है।

मुक्तिबोध 'ब्रह्मराक्षस' हैं; धूमिल 'मोचीराम'।

मुक्तिबोध की भाषा में प्रच्छन्न आभिजात्य का संगोपन है; धूमिल की भाषा में किसान का-सा बेलौसपन।

धूमिल की कविता में नाटकीयता है जिससे यह कभी-कभी ऐसे मोड़ पर आकर ठहर जाती है या एकाएक ऐसा मोड़ लेती है कि एकबारगी एक तेज़ झटका लगता है। यह नाटकीयता कहीं-कहीं तो कविता के पूरे भावबोध को ही एक ऐसी परिणति दे जाती है कि पूर्वांश के आधार पर उसकी उम्मीद ही नहीं होती और पाठक घण्टों डूब जाने के लिए विवश हो जाता है। और जब इस मन:स्थिति से उबरता है, तब बरबस धूमिल की कलम चूमने को जी चाहता है। कम-से-कम मुझे तो उनकी कविता 'क़िस्सा जनतन्त्र' का निम्नलिखित अन्तिम अंश पढ़कर ऐसा ही लगा—

"सहसा चौरस्ते पर जली लाल बत्ती जब
एक दर्द हौले से हिरदै को हूल गया
ऐसी क्या हड़बड़ी कि जल्दी में पत्नी को चूमना—
देखो, फिर भूल गया।" (कल सुनना मुझे, पृ० १०८)

मुक्तिबोध की कविताओ के अर्थ फैंटेसी बिम्बो और जटिल प्रतीको की गिरफ्त मे कैद है।

धूमिल की कविताओ के अर्थ शब्दो के साथ हसते बतियाते चलते हैं। जहाँ कहीं धूमिल ने प्रतीकों या बिम्बों का प्रयोग किया भी है, वहाँ भी वे अर्थों को संगोपित नहीं करते, वरन् अर्थों को और अधिक स्पष्टता, चमक और तीखापन प्रदान करते हैं। धूमिल को शब्द और अर्थ का सही 'संज्ञान' था। धूमिल शब्द-संस्कृति के जानकार थे। वह शब्दों को खोल कर रखते थे।

धूमिल गाँव के थे, गाँव उनका था, गाँव के लोग, गाँव की संस्कृति, उसकी आत्मीयता, उसकी सरलता तथा उसकी अक्खड़ता उनके खून में रसी-बसी थी। गाँव की भाषा, गाँव का दुःख दर्द उनकी निजी जिन्दगी था।

गाँव के लोग सारी जिन्दगी एक बेहतर भविष्य का स्वप्न आँखों में संजोए, धारासार संघर्ष करते हुए, जिस आस्था के सहारे, अपनी पूरी उम्र खटते हुए काट देते हैं, वही पुरजोर आस्था धूमिल को भी विरासत में मिली थी जिसे धूमिल ने कभी भी नहीं छोड़ा। यही कारण था कि अनेक दुर्द्धर्ष परिस्थितियों में जीवन की सारी कटुता के दंशन को सहते हुए वह कभी भी निराश या हताश नहीं होते। घुप्प अँधेरे में भी उन्हें ज्योति-किरण आलोकित करती रही है—

१. रोशनी के दस्तावेज/फट गये हैं/और टूट गई है/उपलब्धियों की बार्ता
फिर भी/अँधेरे की मुँडेर पर/अमर बेलि लटकी है।
(आस्था—कल सुनना मुझे, पृ० १०)

२. हम न देखें/लेकिन अंधकार वर्ष को चीर कर
प्रकाश की लचीली बाँह/हमें छूती है
('दस्तक'—कल सुनना मुझे, पृ० ११)

३. हम न कहें किसी से/लेकिन अपरिचित भी जानता है
उजले केशों वाली रोशनी ने/जब भी दस्तक दी है/दरवाजे खुलते हैं।
('दस्तक'—कल सुनना मुझे, पृ० १२)

४. एक खिलखिलाहट मेरी बगल में उभरती है
चालाक गिलहरियों का पीछा करती हुई/दुधमुहीं तिनी
(मेरी बच्ची) किलक उठी है/मैं चौक पड़ता हूँ/नहीं—इन दिनों/बात-बात पर
इस तरह उदास होना/ठीक नहीं है।
मैं देखता हूँ/—मुझे बरजती हुई उसके चेहरे पर एक खुली हुई हँसी है—
जिसमें एक भी दाँत/शरीक नहीं है। (कल सुनना मुझे)

धूमिल की कविता 'क़िस्सा जनतन्त्र' भाषा की दृष्टि से ग्राम्य संस्कृति की सशक्त कविता है।

धूमिल की कविता को लेकर सबसे अधिक आक्षेप उनकी भाषा पर किये गये हैं। उनकी भाषा को फ़ोश कहा गया है। अशिष्ट, अमर्यादित और भदेस कहा गया है। और ये सब विशेषण उनकी भाषा में हुए यौनक शब्दों और यौन बिम्बों या प्रतीकों को लेकर लगाये गये हैं।

यह सही है कि धूमिल ने कुछ ऐसे यौन शब्दों, यौन बिम्बों या यौन प्रतीकों का प्रयोग किया है जो तथाकथित सभ्य, सफ़ेदपोश और अभिजात वर्ग के लिए सह्य नहीं हैं, लेकिन इसके साथ यह भी सही है कि यह तथाकथित अभिजात वर्ग उन विसंगतियों वर्जनाओं और अमानवीय यन्त्रणाओं की

मुक्तिबोध की कविताओं के अर्थ फैंटेसी, बिम्बों और जटिल प्रतीकों की गिरफ़्त में कैद हैं।

धूमिल की कविताओं के अर्थ शब्दों के साथ हँसते-बतियाते चलते हैं। जहाँ कहीं धूमिल ने प्रतीकों या बिम्बों का प्रयोग किया भी है, वहाँ भी वे अर्थों को संगोपित नहीं करते, वरन् अर्थों को और अधिक स्पष्टता, चमक और तीखापन प्रदान करते है। धूमिल को शब्द और अर्थ का सही 'संज्ञान' था। धूमिल शब्द-संस्कृति के जानकार थे। वह शब्दों को खोल कर रखते थे।

धूमिल गाँव के थे, गाँव उनका था, गाँव के लोग, गाँव की संस्कृति, उसकी आत्मीयता, उसकी सरलता तथा उसकी अक्खड़ता उनके खून में रसी-बसी थी। गाँव की भाषा, गाँव का दुःख दर्द उनकी निजी ज़िन्दगी था।

गाँव के लोग सारी ज़िन्दगी एक बेहतर भविष्य का स्वप्न आँखों में सँजोए, धारासार संघर्ष करते हुए, जिस आस्था के सहारे, अपनी पूरी उम्र खटते हुए काट देते हैं, वही पुरजोर आस्था धूमिल को भी विरासत में मिली थी जिसे धूमिल ने कभी भी नहीं छोड़ा। यही कारण था कि अनेक दुर्द्धर्ष परिस्थितियों में जीवन की सारी कटुता के दंशन को सहते हुए वह कभी भी निराश या हताश नहीं होते। घुप्प अँधेरे में भी उन्हे ज्योति-किरण आलोकित करती रही है—

१. रोशनी के दस्तावेज/फट गये हैं/और टूट गई है/उपलब्धियों की वार्ता
फिर भी/अँधेरे की मुंडेर पर/अमर बेलि लटकी है।

(आस्था—कल सुनना मुझे, पृ० १०)

२. हम न देखे/लेकिन अंधकार वर्ष को चीर कर
प्रकाश की लचीली बाँह/हमें छूती हैं

('दस्तक'—कल सुनना मुझे, पृ० ११)

३. हम न कहें किसी से/लेकिन अपरिचित भी जानता है
उजले केशों वाली रोशनी ने/जब भी दस्तक दी है/दरवाजे खुलते हैं।

('दस्तक'—कल सुनना मुझे, पृ० १२)

४. एक खिलखिलाहट मेरी बगल में उभरती है
चालाक गिलहरियों का पीछा करती हुई/दुधमुहीं तिनी
(मेरी बच्ची) किलक उठी है/मैं चौक पड़ता हूँ/नहीं—इन दिनों/बात-बात पर
इस तरह उदास होना/ठीक नहीं है।
मैं देखता हूँ/—मुझे बरजती हुई उसके चेहरे पर एक खुली हुई हँसी है—
जिसमें एक भी दाँत/शरीक नही है। (कल सुनना मुझे)

धूमिल की कविता 'क़िस्सा जनतन्त्र' भाषा की दृष्टि से ग्राम्य संस्कृति की सशक्त कविता है।

धूमिल की कविता को लेकर सबसे अधिक आक्षेप उनकी भाषा पर किये गये हैं। उनकी भाषा को फ़ोश कहा गया है। अशिष्ट, अमर्यादित और भदेस कहा गया है। और ये सब विशेषण उनकी भाषा में हुए यौनक शब्दों और यौन बिम्बों या प्रतीकों को लेकर लगाये गये हैं।

यह सही है कि धूमिल ने कुछ ऐसे यौन शब्दों, यौन बिम्बों या यौन प्रतीकों का प्रयोग किया है जो तथाकथित सभ्य सफ़ेदपोश और अभिजात वर्ग के लिए सह्य नहीं हैं लेकिन इसके साथ यह भी सही है कि यह तथाकथित अभिजात वर्ग उन विद्रूपताओं वर्जनाओं और अमानवीय मन्त्रणाओं को

कल्पना भी नहीं कर सकता जिसे धूमिल जैसे व्यक्ति को अपनी निजी ज़िन्दगी में भोगना पड़ा है या जिसे हिन्दुस्तान की जनसंख्या का एक बड़ा भाग आज भी भोगने को विवश है। और धूमिल जिसके लिए न्याय की लड़ाई आजीवन लडते रहे।

इस अभिजात वर्ग को उस दर्द का अहसास भी नही हो सकता जिस दर्द को धूमिल हमेशा अपने सीने में लिए घूमते रहे और अन्त में ब्रेन ट्यूमर के शिकार होकर असमय ही एक भरे-पूरे परिवार, गाँव और समाज को कलपता छोडकर चल दिये।

धूमिल सुविधाओं से समझौता नही कर सके—न भाषा की सुविधा से और न ही सामाजिक सुविधा से, इसीलिए वह भदेस (?) हो गये और इतनी जल्दी चले गये। यही कारण है कि वह सुविधा-परस्त, मौक़ापरस्त, 'पूंछ के नीचे मादा' अभिजात वर्ग उनकी भाषा की मार को सह नहीं पाता और तिलमिला कर, बौखला कर उसे भदेस, अशिष्ट और असामाजिक कह उठता है।

अभिजात वर्ग या शोषक वर्ग के द्वारा शोषित वर्ग को पीड़ा का जो दंशन सहने को बाध्य होना पड़ता है, उसका अहसास उन्हें नहीं होता—हालाँकि उस दंशन के सर्जक वही होते हैं—इस लिए इस पीड़ा से उत्पन्न होने वाली बौखलाहट और फिर इस बौखलाहट में उस पीड़ा को व्यक्त करने के लिए जिन शब्दों को वह माध्यम बनाता है, वे उनके खिए भदेस और अशिष्ट होते हैं।

लोहे का स्वाद, लुहार से मत पूछो
उस घोड़े से पूछो/जिसके मुँह में/लगाम है। (कल सुनना मुझे)

धूमिल की ये कविता-पक्तियाँ इसी विडम्बना को शब्द देती हैं। धूमिल ने कहा है—

कविता, एक बौखलाए हुए आदमी का
संक्षित एकालाप है। (ससद से सड़क तक)

कविता के बारे में धूमिल की यह अवधारणा उनके भद्दे (?) और यौन शब्दों की प्रयुक्ति पर प्रकाश डालती है।

वर्तमान अस्तित्वखाऊ यथास्थितिवादी व्यवस्था की यन्त्रणाओं, पीड़ाओं और विषमताओं की अमानवीय दंशन-विधायिनी स्थितियों के तनाव में जीने वाले व्यक्ति का बौखला जाना कोई अजूबा नही है। और, बौखलाहट मे ऐसे शब्दों का प्रयोग कर जाना जो तथाकथित अभिजात जीवन जीने वालों के लिए भदेस हों, आश्चर्यजनक तो क़तई नहीं है—स्वाभाविक अवश्य हैं।

धूमिल गाँव के थे। गाँव की संस्कृति और उसके संस्कार उनकी भी संस्कृति और संस्कार थे। और जो लोग गाँव से परिचित होंगे—परिचित क्या गहरे जुडे होंगे—वे जानते होंगे कि बात-बात मे माँ, बहन, बेटो के सामने यौन शब्दों का प्रयोग करना गाँव के लोगों के लिए फलाहार करने जैसा है। जब तक कि कोई उनको टोके नहीं; वे यह समझ भी नही पाते कि वे कोई गाली-जैसा शब्द प्रयोग कर रहे हैं।

धूमिल भी गँवई संस्कार से लैस थे। अतः वह यदि कह देते है कि—

आदमी दाएँ हाथ की नैतिकता से इस कदर मजबूर होता है कि
तमाम उम्र गुजर जाती है/मगर गाँड़ सिर्फ़ बायाँ हाथ धोता है।
(संसद से सड़क तक)

तो यह भाषा की सहजता और आम व्यक्ति की ईमानदारी का नमूना है, भदेसपन का नहीं ''गाँड धोना'' गाँवों में चमचागोरी जी-हुजूरी और चापलूसी करने का मुहावरा भी है जो

संदर्भ आने पर बड़े धड़ल्ले से प्रयोग किया जाता है। अतः भदेसपन शब्द-निरपेक्ष नहीं, वरन् स्थिति और सन्दर्भ सापेक्ष परिप्रेक्ष्य में आंका जाना चाहिए।

दूसरी बात यह कि धूमिल की बौखलाहट पागलपन का पर्याय नहीं है। इसीलिए संक्षिप्त एकालाप भी पागलपन की बड़बड़ाहट नहीं है, वरन् यह व्यवस्था की सम्पूर्ण त्रासद स्थितियों के दंशन को झेलने और उस पर गम्भीर चिन्तन की खौफ़नाक परिणति है।

बड़े लोग नैतिकता के नाम पर जिस गलीज़पन की जिन्दगी जीने के लिए शोषित जन को बाध्य करते हैं—उसे यदि धूमिल उपर्युक्त रूप से अभिव्यक्ति देते हैं, तो उनकी चिन्तन की ईमानदारी और उस चिन्तन को शब्द देने के बेलौसपन पर उँगली उठाने की गुंजाइश कहाँ रह जाती है?

शोषित जन जिस ज़िन्दगी को जीते हैं, उसे तो ये बड़े लोग अभिजात वर्ग के लोग—बड़े लुत्फ के साथ देखते हैं और उनका सौन्दर्य-बोध कहीं भी गँदला नहीं होता। लेकिन जब उसे सही शब्द-संदर्भ दे दिया जाता है, तो उनके सौंदर्य और आभिजात्य-बोध को उबकाई आने लगती है। ऐसे दोमुँहे और दोगले 'नैतिक' सौन्दर्य-बोध को सन्तुष्ट करना, पूँजीपतियों के दलालों का साध्य हो सकता है, धूमिल जैसे शोषित जनता के पक्षधर और जुझाऊ कवि का नहीं।

२२, लाउदर रोड,
इलाहाबाद

रचना-व्यवहार : साहित्यकार का दायित्व

श्री गिरिराज किशोर

जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, अपने बारे में इतना ही कहूँगा कि पिछले बीच-बाईस वर्षों या कहिये इस चौथाई शताब्दी के लेखन-काल में कलम पकड़ने का अभ्यास किया है और 'साहित्य' और 'साहित्यकार' के प्रति 'आस्था' अर्जित की है। यह भी अनुभव हुआ है कि साहित्य और साहित्यकार से प्रति, साहित्य से जुडे होने पर भी, हम उतनी आस्था नहीं सँजो पाते जितनी नौकरियों, व्यवसायों, बाल-बच्चों तथा अन्य राजनीतिक, सामाजिक, और पारिवारिक उपलब्धियों, प्रतिष्ठानो और हितों में रखते हैं। उसके पीछे बहुत से कारण को सकते हैं— जैसे, हमारे अपने बीच की प्रतिस्थापनाएँ, लेखन को मात्र शौक की तरह लेना, साहित्य से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों की तरफ़ देखना और रचनाकर्म से जुड़े संघर्ष को अनदेखा करना, लेखन को किसी बडे उद्देश्य के रूप में न लेकर मात्र सीढ़ी समझना। रचनाकार का यह अपना निर्णय होता है कि वह साहित्य के साथ क्या रिश्ता रखना चाहता है। उसे कितना देना चाहता है। साहित्य देने के मामले में दीर्घसूत्री तो होता ही है, अव्वल दर्जे का सूम भी होता है। कई बार हम साहित्य से त्वरित परिणाम की अपेक्षा करने लगते हैं और साहित्य में अपनी आस्था का आधार अपनी अपेक्षा की पूर्ति को मान बैठते हैं। यह वही विन्दु है जहाँ से साहित्य में हमारी आस्था पर प्रश्नचिह्न लगना आरम्भ हो जाता है। साहित्य के स्वभाव को समझे बिना कोई भी ऐसा कार्य करना, जिसे साहित्य खपा सकने में असमर्थ हो, उसकी मर्यादा के विरुद्ध होता है।

सच पूछिये तो साहित्य एक ऐसा उदासीन, निस्पृह, सधुक्कड़ है जो किसी से कभी कोई अपेक्षा नही रखता। 'साहित्य' की मानसिकता एक 'आशिक' 'मस्त फ़क़ीर' की ही होती है जिसे किसी से कोई दिलगिरी नही होती। वह एक ऐसा औलिया है जो पास आने वालों को भगाने और झिड़कने में विश्वास करता है। यह नहीं चाहता कि लोग उसके रास्ते पर चलें। जो लोग आ जाते हैं, उन्हें भटकाने में उसे कम मज़ा नहीं आता। हर मोड पर जहाँ मौका मिलता है, परिवर्तन की नई रेखा खींच देता है। एड़ियाँ रगड़वाता है। नाम और ग्राम पूछता है। जब उसे लगता है कि यह तो ढीठ भिखारी है तब कही जाकर अपनी नजर को नरम करता है। भगाता है लाठी लेकर और पास आने देता है चींटी से भी मद्धम चाल से। रचनाकार की यह यात्रा जीवन भर जारी रहती है। उसके बाद इस यात्रा को उसकी रचनाये पूरी करती हैं। अगर उस 'चक्कर' को वे पूरा कर पाती है तो बच रहती है और नहीं कर पातीं तो 'महाप्रस्थान' के शेष यात्रियों की भाँति एक-एक करके उपेक्षा के बर्फ़ में दब जाती हैं। इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के संदर्भ में साहित्य के प्रति आस्था का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। किस सीमा तक कौन उस मूलभूत आस्था को अपने जीवन में उतारता है यही प्रश्न अन्तत· साहियाकार के अस्तित्व का आधार होता है। जहाँ रचनाकार ने साहित्य को गम्भीरता से लेना शुरू किया वही ये प्रश्न उसकी परिक्रमा करना आरम्भ

कर देते हैं। इन प्रश्नों का सही उत्तर खोजना और फिर उसके अनुरूप भविष्य की तैयारी करना ही रचनाकार के प्रथम दायित्व का निर्वाह होता है।

साहित्य के प्रति आस्था के इस प्रश्न से जुड़ा एक दूसरा प्रश्न और है। उसके लिए भी साहित्यकार को सदा तैयार रहना चाहिए। वह है मनुष्य-मात्र में उसकी बुनियादी आस्था। आज हर रचनाकार इस बात को स्वीकार करता है कि साहित्य की आस्था को 'मनुष्य' के सन्दर्भ में ही देखा और समझा जाना चाहिये। लेकिन उसे समझे जाने का आधार क्या होगा? इतने से ही तो काम नहीं चल सकता कि हम यह कहकर कि हम भी साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के हामी हैं, दोषयुक्त हो जायें। लेखक होने के कारण, शब्दों का अभाव, क्षमताओं और अक्षमताओं से परिचित होने का लाभ उठाकर हम अपने इस आग्रह को दूसरों पर आरोपित नहीं कर सकते। उसे तब तक नहीं मनवा सकते जब तक हमारे पास उस कथन की सत्यता को प्रमाणित करने का ठोस आधार न हो। शब्द भी तभी हमारा साथ देते हैं जब हम उनकी आत्मा से अपनी आत्मानुभूति को जोड़ देते हैं। अनुभूति ही उन शब्दों तक हमारे व्यवहार और आस्था की प्रामाणिकता को पहुँचाने वाली 'पाइप-लाइन' है। वही हमारे सम्पूर्ण रचनात्मक कर्मयोग के संदर्भ में, शब्दों को प्रामाणिक या अप्रामाणिक बनाती है।

मुक्तिबोध ने अपने एक निबन्ध 'व्यक्तित्व और चेतना' के अन्तर्गत 'कर्म' और 'क्रिया' की कड़ी में 'कर्ता' को भी बराबर का स्थान दिया है। 'कर्ता' रचनाकर्म के क्षेत्र में, 'कर्म' और 'क्रिया' को, अपने भावों, अभावों, उपलब्धियों और असफलताओं आदि से किसी न किसी रूप में निरन्तर प्रभावित करता रहता है। इसलिए कर्ता, क्रिया और कर्म से कुछ भिन्न बैठता है। साहित्य के क्षेत्र में कर्ता रचनाकार या साहित्यकार ही है। वह भोगता भी है और सोखता भी'''यानी पचा लेने वाला यानी अनुभव को एसिमिलेट करने वाला'''। पछोर कर, सार-सार और थोथा-थोथा अलग करने के दायित्व को वह सोखता के रूप में ही वहन करता है। जितना जो सार बचता है, भोगता और कर्ता के साथ-साथ, उसका वह अभिव्यक्ता भी हो जाता है। रचनाकार बीजारोपण से लेकर, पालने-पोसने, फसल उगाने, रखवाली करने और फिर पक आने पर उसे यथावत् समाज के नाम समर्पित करने के दायित्व को बेझिझक निबाहता है। रचनाकार के सामने यह स्पष्ट रहता है कि घोंघे बोकर गेहूँ नहीं उगते।

'वार एन्ड पीस' उपन्यास के अन्तर्गत एक पात्र के माध्यम से टॉल्सटाय ने एक प्रश्न उठाया है कि 'वी कैन ओनली नो दैट वी नो नथिंग, दैटिज दी हाइएस्ट डिग्री ऑफ द मैन विज़डम।' जब तक रचनाकार इस तथ्य के बारे में सचेत नहीं रहता, तब तक वह रचना-कर्म से जगने वाले अपने अहं से भी मुक्त नहीं हो पाता। यह संभव है कि वह घोंघे बोकर गेहूँ उगने की प्रतीक्षा में सारा जीवन निकाल दे। कुछ भी न जानने का यह अहसास किसी भी संवेदनशील प्राणी को कुछ जानने से अधिक, जीवन जीने के फलस्वरूप मिलने वाले अनुभव की ओर आकर्षित करेगा। अनुभव से जानना अभिव्यक्ति को कहीं ज्यादा प्रामाणिकता प्रदान करता है। हम भोगकर, और उस भोगे हुए को वहन करके तो अपना दायित्व निबाह सकते हैं, परन्तु 'कल्पना-विलासी' होकर नहीं निबाह सकते। कल्पना केवल उतनी ही आवश्यक होती है जो यथार्थ को उजागर करने में सहायक हो। यथार्थ को ढक लेने या उसे धुँधला कर देने वाली कल्पना अनुभव और अभिव्यक्ति को निरर्थक और कुंठित करती है। अनुभव के विस्तार में ऐसी कल्पना का कोई योग नहीं बैठता। यथार्थ की अपनी कुछ सीमायें हैं। हर वह चीज जो हमारे खेत में पैदा होती है श्रेष्ठ नहीं होती वही यथार्थ यथार्थ होता है जो समकालीन संवेदना को बारबार बनाता है और बृहत्तर संवेदना से जोड़ता है।

कभी कभी जिन्दगी का छोटे से छोटा अनुभव बृहत्तर संवेदना से जुड़कर अर्थवान् हो उठता है और कभी जिस अनुभव को रचनात्मक दृष्टि से बड़ा समझकर हम रचनात्मक-यथार्थ मान बैठते हैं, वह संवेदना को आकर्षित करने की सभावना से शून्य होने के कारण निरर्थक हो जाता है। रचनाकार बावजूद अपनी सम्पूर्ण कारसाजी के उसे एक बड़ा अनुभव नहीं बना पाता। कभी-कभी वह अपने अत्यधिक जानने का उपयोग करने के कारण अनुभव और यथार्थ दोनों को गड्डमड्ड कर देता है। साहित्यकार का रचनात्मक क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण दायित्व उस यथार्थ को पहचानना ही है जो व्यापक संवेदना से जुड़ सकने का सामर्थ्य रखता हो।

उस यथार्थ को पहचानने की कसौटी एक ही हो सकती है कि हम अपने आप से पूछें कि इन्सान का जो स्वरूप होना चाहिए, उसको पहचानने और निखारने में हम एक रचनाकार की हैसियत से क्या योगदान दे रहे हैं ? जो कुछ हम लिख रहे हैं, क्या वह लिखना ऐसा समाज बनाने में सहायक होता है जो स्वस्थ और स्वतन्त्र मानसिकता का निर्माण करने की सम्भावना से जुड़ा हो। ऐसा तो नहीं कि वह लेखन समाज को ऐसे थोथे आदर्शों में भटका रहा हो जो इन्सान की पहचान को मद्धम करते हों और भटकाव की स्थिति बढ़ाते हों ? किसी ऐसे समाज की परिकल्पना तो नहीं थोपी जा रही जिसके लिए जन-मानस तैयार न हो। साहित्य भटकाव की पृष्ठभूमि तो जल्दी तैयार कर देता है, परन्तु उसके आलोक में सही रास्ता देखने में देर हो सकती है। साहित्य एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ रचनाकार रचना के दौरान आत्मस्थ अनुभव करता है और पाठक वाचन के समय आत्मस्थ होता है। दोनो स्थितियाँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि रचनाकार का अपने समाज और उसके यथार्थ से सम्पूर्ण तादात्म्य हो और उस क्षेत्र में उसकी पहचान सही हो। वह पहचान सीधी और साफ़ दृष्टि के माध्यम से ही हो सकती है। क्योंकि साहित्य एक निर्मल धारा की तरह होता है जिसकी तली में पड़ी गंदी से गंदी और अच्छी वस्तु भी साफ़ नज़र आती है। यदि साहित्य हमें अपनी गहराई तक पहुँचने का अवसर प्रदान नहीं करता और सतह पर ही अटका लेता हो तो वह हमारे अनुभव का हिस्सा नहीं बन सकता। निर्मलता वही है जो तल में पड़े मोती और नर-कंकाल, दोनों को ही समान रूप से दृष्टि-सुलभ कराये। न तो हम धुँधली दृष्टि से ही देख सकते हैं और न धुँधली सतह के आर-पार अपनी दृष्टि ले जा सकते हैं। सही दृष्टि और सही माध्यम ही सही पहचान के साधन होते हैं।

अतः रचनाकार का सबसे पहला काम पहचान बनाना ही है। उस पहचान की परिधि में रचनाकार स्वयं और उसका वह दर्प भी आता है जो रचनात्मक दृष्टि को धुँधला करता है। अपने दर्प और पूर्वग्रह से मुक्ति पाना रचना-कर्म की पहली शर्त है। उसी स्थिति में वह व्यक्ति और समाज के बीच के उस सेतु को पहचान पाता है जो यह बतलाता है कि उन दोनों के बीच क्या रिश्ता है ? कौन कहाँ से आ रहा है और कौन कहाँ जा रहा है ? व्यक्ति समाज तक और समाज व्यक्ति तक पहुँचता है या नही ? ऐसा तो नही कि समाज व्यक्ति तक पहुँचकर समाप्त हो जाता हो ? अगर समाज और व्यक्ति बिजली की धारा की तरह एक-दूसरे तक निरंतर प्रवहमान नही रहते तो अवश्य कही अवरोध है या असंतुलन की स्थिति है, जो वृत्त (सर्किट) को पूरा नहीं होने देती। साहित्यकार का दायित्व उस अवरोध अथवा असंतुलन को पहचानना और धारा को निरंतर प्रवहमान रखने की दिशा मे रचनात्मक स्तर पर प्रयत्न करना है। साहित्यकार ही एक मात्र ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो इस अवरोध को पहचान सकने वाली संवेदनशील दृष्टि से युक्त है। इसका कारण है कि वह व्यक्ति भी है और समाज भी। यही उसकी (की मुठभेड़ का बिन्दु भी है और उसके सामर्थ्य की पहचान भी

वही व्यक्ति और समाज के रिश्ते की वस्तुपरकता ही रेखांकित करता है और व्यक्ति के दु:ख-सुख को समाज के दु:ख-सुख से जोड़कर देखने में मदद देता है। हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के ढाँचे के सत्ता-स्थानान्तरण के बाद, राजनीतिक चेतना और आर्थिक हितों के प्रति जागरूकता के बावजूद एक बदलाव आया है। इस राजनीतिक परिवर्तन के बाद से 'शब्दतन्त्र' का जो 'निखिलभक्षी' व्यापार चला है, वह निश्चित रूप से कही-न-कहीं रचना के सामर्थ्य पर प्रश्न-चिह्न लगा रहा है। यही कारण है कि रचनाकार ईमानदारी के प्रति भी आश्वस्त होने में संकोच करता जाता है। रचनाकार चाहे जितना भी मानव-समाज के उत्कर्ष का हामी क्यों न हो, वह जनमानस की पीड़ा में भागीदार नहीं होना चाहता। उससे जुडने का जो थोड़ा-बहुत प्रयत्न नजर भी आता है, वह या तो उसकी व्यक्तिगत ईमानदारी के चलते है या फिर सामाजिक और राजनीतिक उठा-पटक में हिस्सेदार बनकर उसका लाभ उठाने की नीयत से है। दरअसल ईमानदारी इन्सान के चरित्र का बहुत ही निरामिष और सहज व सज्जन पक्ष है। रचनाकार यदि इस पक्ष को निरंतर मजबूत नहीं करता तो कुछ दिन बाद वह छुई-मुई की तरह अनछुआ हो जाता है और अन्तत: अपने आपको उस सम्पूर्ण संघर्ष के प्रति उदासीन कर लेता है। इस दृष्टि से लेखक अपना सबसे बडा शत्रु होता है। अगर वह शत्रु न हो तो वह अपनी और अपने परिवेश की इतनी तटस्थता के साथ चीर-फाड़ न करे। जो दबा-ढका है, उसे दबा-ढका ही रहने दे। वही लेखक अपने को जीवित रख पाता है जो अपने स्वस्थ पक्ष को जीवित बनाये रखने के लिए कच्चा काटने से नहीं चूकता। वह साहित्य में मात्र यथार्थ की अनुगूंज से असंतुष्ट नही होता। जब तक वह यथार्थ का स्वयं साक्षात्कार नही कर लेता और रचनाओं द्वारा समवर्ती और उत्तरवर्ती समाज को व्यक्त नहीं कर देता, तब तक उसे संतोष नही होता। यथार्थ का स्वरूप भयावह होता है। उतना ही भयावह जितनी भयावह इन्सान की जिन्दगी है। उस भयावहता का सामना और उनकी अभिव्यक्ति कबीर के बताये हुए रास्ते पर चलकर ही संभव है। जो आदर्श कबीर ने स्थापित कर दिया है, उस पर या तो कबीर स्वयं खरे उतरते हैं या फिर उन जैसे उनके अन्य कुछ समकालीन रचनाकार। इसका मतलब यह कदापि नही कि आज का रचनाकार उस सूत्र को अप्रासंगिक या अव्यावहारिक कहकर उससे छुट्टी पा ले। क्योंकि अन्तत: रचनाकार के दायित्व की कसौटी यही है जिसके चलते रचनाकार के लिए अपने दर्प और अहंकार को भी 'सिर' की तरह उतार कर 'भुंइ' पर रखना पड़ता है और 'अपना घर' जला कर कबीर का पल्ला पकड़ना होता है। जो रचनाकार ऐसा कर पायेंगे, वही अन्तत: बड़े रचनाकार बनने का गौरव प्राप्त कर सकेंगे।

साहित्य-रचना परिवर्तनशील समाज के सन्दर्भ में, मानव के अस्तित्व और उसकी सत्ता की स्थापना और पुनर्स्थापना का कभी न शेष होने वाला सतत् प्रयास है। मानव की सत्ता की स्थापना हर रचनाकार अपने अनुभव के हिसाब से करता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समाज, और समाज की इकाई के रूप मे व्यक्ति के द्वारा भोगे जा रहे संत्रास से मिलने वाला अनुभव ही रचनाकार का वह अनुभव होता है जिसका उपयोग वह अपने रचना-कर्म में करता है। वह जानता है कि मानव-सत्ता की पहचान और स्थापना ऐतिहासिक-क्रम और उसके सम्यक् बोध के बिना सम्भव ही नहीं होती। जो रचनाकार आज लिख रहा है, उसके पीछे सम्पूर्ण मानवता के विकास का इतिहास और उससे जन्मी विशद संवेदना का सम्पूर्ण क्रम है। इस सत्ता की स्थापना मात्र समाजशास्त्रीय, राजनीतिक, दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक उपलब्धियों के आधार पर नही होती। ये मनुष्य के विकास के अलग-अलग पक्ष हैं जिनसे मनुष्य अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी अलग-अलग पहचान बनाता है कुछ तो ऐसे भी पक्ष हैं जो मनुष्य की सत्ता को स्थापित करने

के स्थान पर उसके ध्वंस की दिशा में काम करते मालूम पड़ते हैं। अगर इस बात को भी अनदेखा कर दिया जाय और हम सब पक्षों को एक गठरी मे बाँधकर एकत्रित कर लें तो क्या इन सबके जरिये मनुष्य की सत्ता स्थापित की जा सकती है ? यह ऐसी ही बात होगी, जैसे हम संसार की सुन्दरतम नारियों के सौन्दर्य को प्रदर्शित करने वाले उनके श्रेष्ठतम अंगों को उपलब्ध कर लें और उनसे एक नई देह-यष्टि का निर्माण करें। ऐसा करके क्या सौन्दर्य की उत्कृष्टतम प्रतिमूर्ति तैयार हो जायेगी ? इस सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "समस्त पक्षों को यथा-स्थान बैठा देना चतुर-स्रष्टा के ही बस का काम है।" इसी प्रकार मनुष्य की मानवीय सत्ता को न तो राजनीतिज्ञ स्थापित कर सकता है और न वैज्ञानिक। भले ही वे मनुष्य की राजनीतिक सत्ता की शक्ति को स्थापित करके उसे संसार का परम शक्तिशाली व्यक्ति बना दें। शक्ति का सम्बन्ध मनुष्य के मानवीय पक्ष से होता ही कितना है। प्रचार करने भर का। साहित्यकार ही वह 'चतुर-स्रष्टा' है जो सतत् जागता रहता है और मानवीय सत्ता को स्थापित कर सकने का अदम्य सामर्थ्य सँजोता रहता है। यदि आज वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, कबीर, सूर, टॉल्सटाय, चेखव, गोर्की, प्रेमचन्द आदि न हुए होते तो मानवीय सत्ता की स्थापना की बात ही न उठी होती। अगर उठती भी तो उसकी शक्ल बिल्कुल दूसरी होती।

सामाजिक 'सत्यासत्य' और 'तथ्यातथ्य' समाज मे भी होते हैं और व्यक्ति के रूप मे रचनाकार में भी। समाज में वे तनुकृत यानी 'डाइल्यूटेड' रूप में रहते हैं और इन्सान में सार यानी 'कन्सन्ट्रेटेड' रूप में। परन्तु जब चेतना, संवेदना और रचना के स्तर पर सत्यासत्य और तथ्यातथ्य का निरूपण होता है, तब रचनाकार को रचनात्मक स्तर पर सुम-दृष्टि का सहारा लेकर अपने आपको रचना-तत्त्व तक ही सीमित रखना चाहिए। यह काम रचनाकार के व्यक्ति के बस की बात नहीं। यह काम उसका सहज-बोध और रचना-दृष्टि ही करते हैं। वह भी तब, जब व्यक्तिगत दर्प, अहंकार और मोह से मुक्त हो चुके हों। वास्तव में सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया के दो मुख्य आधार हैं — एक 'सहजबोध' और दूसरा 'दृष्टि' या 'दृष्टिकोण'। सहज-बोध रचनाकार की मूलभूत शक्ति है। कुंडलिनी की भाँति ही वह उसे भी अपने अन्तर में वहन करता है। सहज-बोध जितना जागृत होता जाता है, रचना-कर्म की पहचान उतनी ही आसान होती जाती है। अनुभव का पूरा सार वह इसी सहज-बोध के माध्यम से निचोड़ कर अपनी रचना में संचित करता है। यही उसे वह दृष्टि देता है जो अँधेरेतम कोने में बुदबुदाती तकलीफ़ और मनुष्य के अन्तर्तम मन मे छिपे संवेगों का दिग्दर्शन कराती है। सहज-बोध संवेदना का वह निर्मलतम रूप है जो रचना-कर्म को निरन्तर समृद्ध बनाता जाता है। दरअसल यह रचनाकार का वह 'तीसरा-नेत्र' है जो सृजन के निमित्त रात-दिन क्रियाशील रहता है।

'दृष्टि' या 'दृष्टिकोण' सहज-बोध के माध्यम से प्राप्त होने वाले अनुभव की अभिव्यक्ति को प्रासगिकता प्रदान करता है। दृष्टि का महत्त्व सदा रहा है क्योंकि हर काल की अपनी प्रासंगिकता होती है। परन्तु व्यापक स्वीकृति की दृष्टि से इसे हम वैज्ञानिक युग की देन कह सकते है। युग के वैज्ञानिक परिवेश के कारण, कभी-कभी लगता है, 'दृष्टिकोण' या दृष्टि' सहज-बोध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठी है। परन्तु यह परिवर्तनशील है। जिन्दगी का प्रवाह हर नये मोड़ पर एक नई 'दृष्टि' की अपेक्षा करता है। दृष्टि के बदलते ही प्रासंगिकता भी बदल जाती है। एक समय की प्रासगिकता दूसरे समय की अप्रासंगिकता हो जाती है। फ्रांसीसी साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक में अपने-अपने समय पर 'रोमांस' का युग रहा है। रोमांस के विकास ने स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को सर्वोपरि रखा स्त्री के भावातिरेक और सौन्दर्य-दर्प का उपयोग करके,

आत्मनिर्भर बनने देने के स्थान पर पुरुष ने उसे पराधीन बनाया। उसकी पूर्णता को पुरुष के ऊपर निर्भर कर दिया। शोभा और भोग की वस्तु के रूप मे उसको स्थापित किया।

परन्तु रचना-कर्म के इतिहास में यह भाव नही रह सका। यह स्वस्थ मानसिकता के विपरीत था। विद्वान् या साहित्य-मर्मज्ञ तो उसे रहस्यवाद के नाम पर पराशक्ति के प्रति समर्पण का भाव मान सकता है, परन्तु साधारण व्यक्ति को कहीं-न-कहीं यह भाव पर निर्भरता की मनोदशा को पहुँचाता है। रचनाकार को भी समय के सन्दर्भ मे ही इस भाव को स्वीकार करना पडा, क्योंकि उसने अपने को ऐतिहासिक धारा से काटकर उस सीमित कालखण्ड के अन्दर घेर लिया था।

पूँजीवाद और औद्योगीकरण के साथ-साथ मनुष्य के दूसरे पक्ष, जो अधिक परुष और आत्मनिर्भर थे, सामने आये।

इस 'दृष्टि' को और अधिक सीधा और वैज्ञानिक बनाने की दिशा मे, इस युग के सर्वाधिक समर्थ और प्रासंगिक सामाजिक चिन्तन, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। वर्तमान आर्थिक विषमताओं से कराहते इन्सान को त्राण दिलाने का सबसे बड़ा साधन और दर्शन यही भौतिकवाद माना गया है। राजनीति के क्षेत्र मे इसके सकारात्मक परिणाम देखने को मिले हैं। इस बात से आश्वस्त होने के बावजूद कि यह चिन्तन मानव-कल्याण और उसकी मुक्ति की दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम है, यह निरन्तर अनुभव होता है कि उसकी गहराई को न राजनीति ही सहारा पा रही है और न साहित्य और संस्कृति ही। भारत के सन्दर्भ मे तो यह बात स्पष्ट नज़र आती है। आखिर ऐसा क्यों ? यह सवाल गांधीवाद के सन्दर्भ में और भी ज्यादा उभर कर आता है। गांधीवाद के परिणामों को भी राजनीतिक मुक्ति के स्तर पर राष्ट्र ने देखा है और भोगा है। परन्तु साहित्य और संस्कृति को उसने न्यूनतम समय के लिए प्रभावित किया। इसका अर्थ यह है कि साहित्य का क्षेत्र अत्यधिक संवेदनशील होता है। वैज्ञानिक से वैज्ञानिक और आजमाये से आजमाया विचार और दर्शन तब तक रचनात्मकता का हिस्सा नहीं बनते जब तक कि वे जन-मानस के सामाजिक सोच और अनुभव में अपनी जगह न बना लें। कभी यह भी शक होने लगता है कि कही ऐसा तो नही जिसका उपयोग हम राजनीति के माध्यम से राजनीतिक और आर्थिक उपलब्धियों के लिए कर लेते हैं, बाद में साहित्य के क्षेत्र में उसकी उपयोगिता को निर्विवाद रूप से स्वीकार करना कठिन हो जाता है ? मैं इस बात को फिर दोहराता हूँ कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अधिक वैज्ञानिक और मानव-मात्र को उसकी आर्थिक विपन्नता और वर्ग-संकुल समाज की विषमताओं से त्राण दिलाने वाला चिन्तन इस समय दूसरा नही है। परन्तु इस सिद्धान्त को व्याख्यायित करके अपने आपको ख़ुशहाल बनाने वाले देशों के पारस्परिक व्यवहार से और भारतीय परिस्थितियों मे इसके बिखराव से यह लगता है कि जो व्याख्यायें की गयी हैं, वे पर्याप्त और निर्दोष नहीं हैं। और अधिक समुचित, उदार तथा व्यावहारिक व्याख्या की आवश्यकता है। भारतीय परिस्थितियों मे तो यह बात और भी अधिक शिद्दत के साथ महसूस होती है। जो व्याख्यायें की गयी थीं, वे सम्बन्धित देशों के देश और काल के सन्दर्भों को देखते हुए की गयी थी। उनका लाभ अन्य देश कम उठा पाये। बिखराव ज्यादा बढा। सम्भवतः इसी वजह से उन देशों को भी अपनी वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों और अपनी-अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार उन व्याख्याओं की व्यावहारिकता पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। वे सब भी अपनी गलतियों से सीखने का प्रयत्न कर रहे हैं किसी भी क्रान्ति दर्शन की कोई भी अन्तिम नहीं होती साहित्य हर सोच से अपने को जोड़कर

चलता है। हमारा दुर्भाग्य यही है कि इस पूरी सोच को हम स्वतः-स्फूर्त सोच न बनने देकर ऊपर से आरोपित करने की कोशिश करने लगते हैं। एक समय था जब यही दर्शन रचनाकारों की सोच का ढंग बना सकने में सफलता प्राप्त कर सका था।

गमलों में वृक्ष नहीं उगते। अगर उगाने की कोशिश की भी जायेगी तो स्वाभाविक है कि उनका विकास भी गमले की परिधि के हिसाब से ही होगा, यानी हम बौने पेड़ तैयार करेंगे। हो सकता है, वे भी न हों। साहित्य एक ऐसा ही वृक्ष है। उसके लिए विस्तृत और अधिक उदार धरती की आवश्यकता है। इस काम को न राजनीति कर सकती है और न राजनीतिक विचार-धारा। अगर कर सकते तो अभी तक कर गुजरे होते। साहित्यकार को ही अन्तिम निर्णय लेना है कि वह जिस 'दृष्टि' को अपने सहज-बोध के साथ मिलाकर रचना-कर्म को आगे ले जाना चाहता है, वह क्या हो। अभी पिछले दिनों दूरदर्शन पर संभवतः ६ सितम्बर को श्री विजयदेव नारायण साही ने एक परिचर्चा के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। साहित्य में विद्रोह के क्षेत्र सिकुड़ते जा रहे हैं। यहाँ विद्रोह को कुछ ही हल्कों तक सीमित कर दिया गया है। स्वाभाविक है कि अगर विद्रोह के क्षेत्र सिकुड़ रहे हैं तो 'दृष्टि' सीमित हो रही है। वास्तव में साहित्यकार समाज का एक ऐसा विधायक होता है जो सदा असहमति और विद्रोह के माध्यम से रचनात्मक विधान की संरचना किया करता है। उस असहमति की स्वतन्त्रता को अवरुद्ध करने का मतलब होगा—साहित्य के क्षेत्र को सीमित करना। इस तरह की परिस्थितियाँ न टॉलसटाय पैदा कर सकता है, न तुलसीदास और न प्रेमचन्द। किसी भी दर्शन को आरोपित करके हम साहित्यकार की रचनाधर्मिता का हिस्सा नहीं बना सकते। इस बारे में मुझे एक ऐसे वरिष्ठ राजनीतिज्ञ का कहा हुआ वाक्य बार-बार परेशान कर रहा है जिसने अपने जीवन में देश की स्वतन्त्रता और जनवाद को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसी ७, ८ अगस्त को लेखकों की मीटिंग में बोलते हुए उन्होंने कहा कि जो रचनाकार हमारे साथ नहीं हैं, अगर जरूरत पड़ी तो उनके कलम तोड़ दिये जायेंगे।...हाथों की बात मैं नहीं कहता। यह बात कहीं-न-कहीं यह सोचने के लिए मजबूर करती है कि क्या साहित्य और साहित्य-कार के बारे में ऐसा सोचना और कहना असहिष्णुता का और अपनी वैचारिक श्रेष्ठता के अहंकार का द्योतक नहीं है ? सहिष्णुता ही साहित्य का मूल आधार है। क्या साहित्य के संदर्भ में अब हमें इसे भुला देने के लिए मजबूर होना पड़ेगा ?

साहित्यकार असहमति का प्रतीक है। जब भी, जो भी देश या शासन असहमति के इस अधिकार को उससे छीनकर उसे सहमति का माध्यम बनाने का प्रयत्न करता है, तभी साहित्य के ह्रास और अवमूल्यन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में ही यह असहमति नहीं, बल्कि उन देशों में भी है जो सुख-सुविधा और समृद्धि की दृष्टि से स्वर्णयुग में रहते हैं। हमारे देश में इन्सान की भौतिक-शक्ति का शोषण यहाँ की गरीबी और वर्गसंकुल समाज होने के कारण है। परन्तु अमेरिका-जैसे देश अपनी समृद्धि और धन के बल पर सम्पूर्ण संसार से श्रेष्ठतम मस्तिष्कों का आयात करते हैं। यह शोषण और भी अधिक भयावह है। इस शोषण पर हमारा कोई अधिकार नहीं। बल्कि लोहे के छोटे-छोटे कणों की भाँति हम या हम जैसे अन्य देशों के लोग उस महाकाय चुम्बक के चुम्बकीय क्षेत्र के अन्तर्गत असहाय पड़े है। यह बात वैज्ञानिकों पर ही लागू नहीं होती है, कला, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र पर भी लागू होती है। आज अमेरिका संसार भर से आयातित श्रेष्ठ मस्तिष्कों की सेंचुरी बन गया है। हम उसका विरोध कर सकने की स्थिति मे न होकर उसके हाथों बिकने की मानसिकता में रह रहे हैं। परन्तु इसी के साथ यह भी सही है कि सुख-सुविधा और समृद्धि भी रचनाकार की असहमति को अवरुद्ध नहीं कर पाती।

उन साधारण मानसिकता वाले लोगों की बात ही और है जो केवल अपने को बेचकर धन और सुख प्राप्त करने की दृष्टि से अपनी धरती, ज़बान और समाज को छोड़कर चले जाते हैं और उन्हे कुछ भी नही व्यापता। लेकिन इन ही अल्पसंख्यक वर्गों से आने वाले कुछ रचनाकार भी है जो अपनी पहचान बनाये रखने के लिए बेचैन नज़र आते है। अपनी रचनाओं के माध्यम से ये हर उस क़दम का विरोध करते हैं जो उनकी पहचान को खत्म करने की दिशा में आगे बढ़ता है। सॉल वेलो का उपन्यास 'एडवेंचर आफ़ ऑगि मार्च', राल्फ एलिसन का उपन्यास 'दी इनविजिबल मैन', लेज़ली मारमीन सिल्को का उपन्यास 'सेरेमनी', जेम्स वेल्व का 'विंटर इन दी ब्लड'—इन उपन्यासो के लेखक और उनके मुख्य पात्र वहाँ के अल्पसंख्यक समाज की उपज हैं। सॉल वेलो यहूदी है, राल्फ एलिसन अश्वेत तथा शेष दो वहाँ के मूल-निवासी 'इंडियन' हैं। 'सेरेमनी' की लेखिका सिल्को का यह अनुभव है कि अमेरिका के मूल-निवासी वहाँ के श्वेत समाज के सम्पर्क में आते हैं, उनके बीच अपना स्थान बनाना चाहते हैं, पर उन्हें हार, तकलीफ और अपमान के सिवाय कुछ नही मिलता।

अमेरिका के श्वेत समाजशास्त्री 'इजरायल जेंगविल' का यह स्वप्न कि सब विभिन्न नस्लो और संस्कृतियों से घुलमिल कर एक समरूप राष्ट्रीयता का उदय होगा तथा इस सपने को साकार करने के लिये वहाँ की सरकार द्वारा उठाये जाने वाले सभी संवैधानिक क़दम भी अमेरिका में इन नस्लों और संस्कृतियो की असुविधाजनक उपस्थिति को समाप्त करने में सफल नही हो सके। जातीय पहचान से ओतप्रोत इस साहित्य ने अमेरिका में अपने आपको स्थापित ही नहीं किया, बल्कि अपनी पहचान को बनाये रखना राजनीतिक और आर्थिक कारणों से अनिवार्य भी समझा। अन्य कारणो मे साहित्य भी इस बात का एक कारण है कि वहाँ के श्वेत समाजशास्त्रियों और राजनीतिशास्त्रियो को अपने समाज के संदर्भ में 'मेल्टिंग पॉट' (उबलते देग) में सब संस्कृतियों और नस्लों को पिघला कर एकदिल करने की परिकल्पना का परित्याग करके 'ए पॉट ऑफ़ वेजिटेबल्स सूप' के प्रतीक को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। 'ए पॉट ऑफ वेजिटेबिल सूप' इस बात का द्योतक है कि उसके अन्दर झोल तो तैयार होता है, परन्तु उसमें डाली हुई सब्जियों की पहचान यथावत् बनी रहती है। इस चौथाई शताब्दी के दौरान अल्पसंख्यक वर्ग से आनेवाले लेखकों द्वारा लिखे गये इस साहित्य मे से अधिकतर साहित्य उनकी जातीय पहचान का साहित्य है। इसके लिए उन्होंने वहाँ के शासक एवं श्वेत वर्ग के इस प्रयास का निरन्तर मुक़ाबला किया है कि उन्हें 'मेलटिंग पॉट' के हवाले कर दिया जाय जिससे उनकी अपेक्षा के अनुरूप एक सपाट और समरूप संस्कृति का उदय हो सके। अल्पसंख्यक वर्ग के लेखकों द्वारा लिखा गया यह साहित्य असहमति का साहित्य है। इससे यह भी प्रदर्शित होता है कि अमेरिका चाहे जितना भी धनी व्यापारी क्यों न हो, परन्तु वह किसी वर्ग की जातीय पहचान की चाह और उसके स्वर को किसी मूल्य पर भी क्रय नही कर सकता। चीन का जो इधर का कथा-साहित्य आया है, उन्होंने स्पष्ट रूप से वहाँ की नौकरशाही से मिलने वाले सन्त्रास का चाहे सीधे विरोध न किया हो, पर उसे कड़ी नज़र से देखा और उजागर किया है।

रचनाकार के सहज-बोध और उसके 'दृष्टिकोण' की यही पहचान है कि वह अपनी पहचान को, अन्य दबावों और लालचों के बावजूद, अप्रभावित रखने की क्षमता रखता है। इन दोनों का एक ऐसा रिश्ता है कि एक की भी कमी रचना के संतुलन को गड़बड़ा सकती है। सहज-बोध ही रचनाकार के संवेदनाचक्र का धुरा और सबसे मजबूत अरा है और 'दृष्टि' उसका घेरा है। × ×

मैं पुनः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर लौटता हूँ। अगर इस दर्शन को भारत के साहित्य और संस्कृति से जोड़ना है तो यह आवश्यक है कि भारतीय परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक क्रम के संदर्भ मे उसकी व्याख्या हो। अगर ऐसा नहीं होता तो राजनीतिक क्षेत्र में जो भटकाव की स्थिति है, वही स्थिति साहित्य के हल्कों में भी होगी उसका वर्तमान उपलब्ध कम साहित्य और संस्कृति को

दृष्टि से स्पष्ट होना है। यह कहकर हम इस दर्शन को साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार्य नहीं बना सकते कि जो लेखक हमारे साथ नहीं हैं, उनके हाथ नहीं तो कलम तोड़ दिये जायेंगे। चिन्तन और रचना की प्रक्रिया को कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता। और, खास तौर से उस वर्ग की रचना-प्रक्रिया को जो बधिक की सामाजिक शक्ति के विरुद्ध स्वर उठाने के फलस्वरूप अस्तित्व में आई थी। यह सही है कि हम लोग संघर्ष से हटकर सुविधाजनक और सुरक्षित कोटरों के लालची हो गये हैं। रचनाकार का धर्म लिख लेने तक ही सीमित नहीं, बल्कि जहाँ और जिस स्थिति में वह है, अगर उन्हीं स्थितियों में वह अपने संघर्ष को जीवित नहीं रखता तो वह अपनी संवेदना के कुंठित होने के खतरे से मुक्त नहीं। संघर्ष को निरंतरता ही रचनाकार की उस सुप्त कुंडलिनी को जागृत करती है जो मानवीय सत्ता और उसकी गरिमा को स्थापित करने के लिए आवश्यक ऊर्जा का स्रोत है।

सम्पूर्ण मानव-समाज की इकाई होने का और उसकी सत्ता को सुरक्षित रखने का सहारा और दायित्व ही रचनाकार के लिए रचना की पृष्ठभूमि तैयार करता है और उस संघर्ष और असहमति को सुप्त नहीं होने देता जो उसके अस्तित्व की आवश्यक शर्त है।

अन्त में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति—साहित्य' में उल्लिखित एक संदर्भ की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। उन्होंने लिखा है कि "सामंजस्य में सौन्दर्य होता है। अगर एक आदमी लाखों का खून चूसकर सेठ या साहूकार बन बैठे, लाखों को पीसकर सम्राट् बन जाय···तो वह सामंजस्य कहाँ रहा।" यहाँ पर साहित्य या चिन्तक के दायित्व का प्रश्न आता है कि वह ऐसे में क्या करे? किस सीमा तक जाकर वास्तविकता को रेखांकित करे? इस संदर्भ में उन्होंने चीन देश की एक कथा का भी उल्लेख किया है। उन्हीं के शब्दों में उसे सुनाकर मैं अपनी बात समाप्त करूँगा—

कहते हैं, जब चीन देश के 'छु' राज्य के सम्राट् ने एक छोटे-से 'सुंग' नामक राज्य पर आक्रमण करना चाहा तो चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य मो-च उनके पास गये। सम्राट् ने अभिवादनपूर्वक उनसे आने का कारण पूछा। मो-च ने बताया कि उनके गाँव में एक डाकू ने उपद्रव मचा रखा है। उसके अत्याचार से एक स्त्री विधवा हो गयी है और तीन बच्चे अनाथ हो गये हैं। कई लोग गृहहीन हो गये हैं। सम्राट् ने रोषपूर्वक उन्हें आश्वासन दिया कि डाकू को अवश्यमेव उसके किये का दण्ड दिया जायेगा। परन्तु मो-च की चिन्तित मुद्रा और भी गभीर हो गयी। उन्होंने गंभीरता के साथ पूछा, 'उसे दंड क्यों दिया जायेगा सम्राट्?' सम्राट् ने कहा, 'उसने समाज में विश्रृंखलता पैदा की है, मेरी प्रजा की शान्ति में बाधा पहुँचायी है।' मो-च ने नम्रतापूर्वक पूछा, 'दीनबन्धु, क्या समाज को विश्रृङ्खल करना, शान्ति में बाधा पहुँचाना दण्डनीय अपराध है?' सम्राट् ने घृणा के साथ उत्तर दिया, 'हाँ, ये संसार की सबसे भद्दी और घृण्य बातें हैं। इनसे संसार का सामंजस्य नष्ट होता है।' मो-च ने नम्रतापूर्वक कहा, 'तो धर्मावतार, एक और बड़ा डाकू है। यदि विचार करने में एक दिन की भी देर हुई तो वह हजारों स्त्रियों को विधवा बना देगा, लाखों को अनाथ कर देगा और लाखों प्रजाजन उसके अत्याचार से त्राहि-त्राहि पुकार उठेंगे। वह संसार की सबसे भद्दी और घृण्य बातों से भी घृण्य कार्य करना चाहता है। सम्राट् ने आवेश में प्रश्न किया, 'उस अत्याचारी जालिम का नाम क्या है?' मो-च ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'छु' राज्य का सम्राट्'।*

५०७ आई० आई० टी०, कानपुर

---

* श्री गिरिराज किशोर के द्वारा २६-६-८२ को हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद में दिया गया ।

धर्मशास्त्र में नारी की स्थिति

कु० कुसुम अग्रवाल

सभ्यता के प्रारम्भ से लेकर आज तक नारी की कहानी वास्तव मे सभ्यता की कहानी है जिसका यथातथ्य मूल्यांकन ही समाज-विशेष का सही मूल्यांकन माना जा सकता है। इस दृष्टि से भारतीय समाज में धर्मशास्त्र का महत्त्व नारी के प्रति उसकी दृष्टि का प्रतिबिम्ब है और इसके अध्ययन से हिन्दू समाज में नारी की स्थिति का सही चित्र सामने आता है।

ऋग्वैदिक काल मे पति व पत्नी समान रूप से धार्मिक कृत्यों में भाग लेते थे। यह युग वास्तव में नारी-इतिहास का स्वर्णयुग था, जिसमें अनेक दार्शनिक एवं विदुषी महिलाओं का प्रादुर्भाव हुआ था। महर्षि अत्रि के परिवार की ब्रह्मवादिनि विश्ववारा 'मन्त्रद्रष्टा' के रूप में विख्यात थी, जबकि ऋषि कक्षीवाद् की पुत्री 'घोषा' ऋग्वेद के दो मण्डलों तथा अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा दो ऋचाओं की प्रणेता थीं। राजा असंग की पत्नी रानी शाश्वती तथा ब्रह्मवादिनि अपाला उस युग की विख्यात दार्शनिक थीं। इन्द्र की पत्नी स्वनामधन्या मन्त्रद्रष्टा के रूप में सामने आती हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य विदुषी महिला 'सिकतानिवावरी' ने ऋग्वेद के एक मण्डल की दस ऋचाओं का प्रणयन किया था[1]। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में भी नारी-शिक्षा के कई प्रसंग आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस युग मे ज्ञान के क्षेत्र मे कुछ महिलाओं का विशिष्ट योगदान है। उदाहरणार्थ, मिथिला के दार्शनिक याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में से एक थीं। "मृत्यु के उपरान्त आत्मा की स्थिति" जैसे गहन दार्शनिक समस्या पर अपने पति के साथ उसके जो तर्क-वितर्क बृहदारण्यक उपनिषद् में दिये हैं, वास्तव में वही भारतीय दर्शन के आत्म-सिद्धान्त की आधार-शिला हैं[2]।" अन्त में यद्यपि स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन वर्जित माना है, लेकिन फिर भी स्त्रियों के वेदमन्त्रों के उच्चारण के लिए इतना प्रतिबन्ध नहीं है जितना शूद्रों के लिए है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार धार्मिक कार्यों में कुछ खास मन्त्र पत्नी के द्वारा ही उच्चारित किये जाते थे[3]। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक हिन्दू-परिवार की महिलाओं के लिए कुछ खास मन्त्रों का अध्ययन आवश्यक था। क्योंकि विवाह के समय प्रत्येक स्त्री को कुछ मन्त्रों का पुनरुच्चारण करना पड़ता था[4] और यज्ञादि में सम्मिलित होने पर भी[5]। इस प्रकार वैदिक युग में शिक्षा के क्षेत्र में नारियों का स्थान पुरुषों के समान था और वे आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं।

स्मृतियों तथा महाभारत में भी बहुत-सी विदुषी महिलाओं की चर्चा है। यथा—राम की माता कौशल्या, बलि की पत्नी तारा, शिवा, विदुला, कुन्ती आदि जो मन्त्रशास्त्र तथा वेदों में पारंगत थीं। महाभारत के वन पर्व मे 'बृहन्नला' नाम की विदुषी महिला का उल्लेख है जिसे राजा विराट ने अपनी रानियों को ललितकला की शिक्षा देने के नियुक्त किया था[6]। इतना होते हुए भी इस काल मे नारियों की शिक्षा का क्षेत्र वैदिक काल की अपेक्षा संकुचित हो गया था। जैसा कि यम तथा हारीत स्मृति में कहा गया है कि महिलाएं दीक्षा प्राप्त करने के बाद में प्रवेश करती थीं

तथा पिता चाचा भ्राता के संरक्षण मे शिक्षा प्राप्त करती थी[७]। स्मृतिकारों ने तो स्त्रियों की ज्ञान-प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग विवाह को मानकर विवाह को ही स्त्रियों का उपनयन[८] कहा है। मनु के अनुसार अविवाहित कन्या का विवाह-संस्कार बालक की दीक्षा-समारोह के समान है और विवाहित होने पर पति के साथ रहकर उसकी सेवा करना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी द्वारा गुरु की सेवा करना[९]। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य बताया है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी कहा है कि कन्या ६४ कलाओं का अभ्यास करे[१०]। आगे फिर ६४ कलाओं को गिनाया है जिनमें स्त्रियों के द्वारा वेदाध्ययन न होने पर पर भी उनको विविध विषयों का ज्ञान रहा होगा।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन मनीषियों की दृष्टि में महिलाओं का वास्तविक स्थान घर पर था और उनकी शिक्षा भी उसी प्रकार होनी चाहिये ताकि वे अपने पति व परिवार के अन्य सदस्यों को अधिक से अधिक सुख पहुँचा सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक युग के प्रारम्भ में पुरुष व नारी की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं था, किन्तु बाद में दोनों की शिक्षा-पद्धति में काफी अन्तर आ गया और धीरे-धीरे महिलाओं को शिक्षा की सुविधा से वंचित किया जाने लगा।

क्योंकि स्त्रियों का विवाह अनिवार्य है, इसलिए स्त्री का भार्या (पत्नी) के रूप में ही प्रमुख स्थान है। पत्नी का भारतीय धर्मशास्त्र में बहुत महत्त्व बताया गया है। ऋग्वेद में कहा है कि "पत्नी ही घर है।"[११] इस सिद्धान्त को मानने वाले ऋषियों ने उसे 'जाया' के नाम से सम्बोधित किया है, क्योंकि उनका ऐसा विश्वास था कि पति पुत्र के रूप में पत्नी के गर्भ से उत्पन्न होता है[१२]। इस प्रकार साधारण रूप में गृहिणी के कर्तव्यों में सफलता पाना ही नारी-जीवन का प्रधान लक्ष्य था और सन्तानोत्पादन उसका सहज धर्म था। सन्तान-रहित नारी 'निऋत' कहलाती थी[१३], क्योंकि परिवार, समाज, राष्ट्र का हित नारी के इन दो कर्तव्यों पर निर्भर था। इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्र उसके लिए निरुद्ध नहीं थे। धार्मिक जीवन की दृष्टि से विश्ववारा ने स्वतन्त्र यज्ञ किये थे[१४] तथा स्त्रियों द्वारा वैदिक मन्त्रों की रचना की गयी थी[१५]। अर्थ-सम्पादन में मुद्गलानी स्वयं अपना रथ चलाकर पशुधन जीत लाई थी[१६]। काम के क्षेत्र में कन्यायें समाज में वस्त्राभरणों से विभूषित होकर युवकों के बीच बे-रोकटोक घूम-फिर कर अपने योग्य पति को ढूँढ़ सकती थीं। मोक्ष-सम्पादन के लिए सुलभा जैसी स्त्री विवाह के बिना ही संन्यास लेकर मोक्ष के मार्ग पर चल पड़ी थी[१७]। इस प्रकार वैदिक युग में चारों पुरुषार्थों के मार्ग पर नारी स्वतन्त्र रीति से सफलता प्राप्त कर सकती थी। लेकिन कालान्तर में नारी की स्थिति में अपकर्ष होता गया। जीवन में उसका स्थान गौण होकर शनैः-शनैः कार्यक्षेत्र सीमित होता गया। मनुष्य को देवऋण व पितृऋण से मुक्त होने में स्त्री की सहायता की अनिवार्यता के कारण विवाह और सन्तानोत्पादन ही स्त्री-जीवन का लक्ष्य निर्धारित हुआ। मनु ने कहा है कि—"प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः"[१८]। इस प्रकार गृह-संस्थान में नारी की योग्यता की विशेषता निर्दिष्ट है। महाभारत में भी इसी प्रकार पातिव्रत्य ही स्त्री का ध्येय निर्धारित था जिसके अन्तर्गत पति की सेवा और सन्तानोत्पादन—इन दो महान् कार्यों का उत्तरदायित्व स्त्री पर था[१९]।

धर्मकृत्यों में भी स्त्रियों का स्थान महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि नारियों में धर्म के प्रति स्वाभाविक रुचि होती थी। सत्यवती, कुन्ती, द्रौपदी, सावित्री जैसी राजकुल की ऐश्वर्य-सम्पन्न नारियाँ भी स्वभाव से धर्मपरायण थीं[२०]। लेकिन जिस प्रकार वैदिक काल में स्त्रियाँ स्वतन्त्र रीति से यज्ञ का सम्पादन करती थीं, वह अधिकार स्मृतियों व महाभारत के काल तक लुप्तप्राय हो गया था और यज्ञ में

पुरुषों के लिये पत्नी का सहयोग मात्र आवश्यक रह गया था—"दारानावत्य क्रतुभिर्यजन्ते ।" कुन्ती ने द्रौपदी को अश्वमेध यज्ञ में 'यज्ञ-पत्नी' होने का आशीर्वाद दिया था। इस प्रकार पत्नी के बिना पुरुष के लिए धर्मकृत्य करना सम्भव नहीं था और पुरुष द्वारा किये धर्मकृत्य का आधा भाग स्त्रियो को मिलता है, परन्तु स्त्री के लिए पृथक् कोई धर्म नहीं था। स्त्री का धर्म पति पर अवलम्बित है[२१], अतः उनका धर्म एकमात्र पतिसेवा है। अत्रिस्मृति में स्त्रियों के लिए जप-तप, तीर्थयात्रा, मन्त्रसिद्धि, सन्यास और देवपूजा तथा व्रतों को मना करने के पश्चात् कहा है कि यदि स्त्री को तीर्थस्थान की इच्छा हो, तो वह पति के चरणों को धोकर पिये[२२]। शंख स्मृति का कथन है कि "व्रत, उपवास तथा नाना प्रकार के धर्म से नहीं, परन्तु पतिसेवा से स्त्री स्वर्ग प्राप्त करती है"[२३]। पतिसेवा के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में जो वर्णन है, वह इतने विस्तार से है और इतना सर्वज्ञात है कि उसका यहाँ वर्णन करना असम्भव है। "सीताजी ने इतने दिनों तक रावण के अधीन रहने पर तथा वन मे राम द्वारा निर्वासित कर दिये जाने पर भी पति के प्रतिकूल विचार मन में नहीं धारण किये थे।" उक्त समस्त उद्धरणों का अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक कृत्य स्त्रियों के लिए वर्ज्य थे, अपितु "भार्या-मूलम्—त्रिवर्गस्य", "नास्तिभार्यासमो लोको सहायो धर्म साधनाः", "स्त्री प्रत्ययो वै धर्मः"[२४], आदि उक्तियाँ गृहस्थाश्रम में विहित धार्मिक जीवन में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित करती हैं।

कुटुम्ब को सुखी व सफल बनाने के लिए नारी के कौटुम्बिक कार्य की सर्वोच्च सफलता थी। इस कार्यभार के वहन के लिए उसे केवल गृहकृत्यों का ही पर्याप्त ज्ञान नहीं, अपितु पुरुष की प्रेरक शक्ति, मार्गदर्शिका बनने के लिए तथा आपत्काल में कुटुम्ब का उत्तरदायित्व उठाने के लिए उसे पुरुष के कार्यक्षेत्र तथा उसमें निर्दिष्ट कार्याकार्य, सिद्धि के उपाय, धर्माधर्म आदि का गम्भीर ज्ञान आवश्यक था।

धनार्जन का कार्य कुलीन नारी से अपेक्षित नहीं था। स्त्री द्वारा अर्जित धन पर अपनी जीविका चलाने वाला निन्द्य माना जाता था। स्त्री द्वारा कमाया धन पितरों व ब्राह्मणों को अदेय था। धनार्जन करने वाली स्त्रियाँ समाज में आदर का पात्र नहीं थीं। वे पुंश्चली कहलाती थीं[२५]। आपत्ति मे भी विधवा, अनाथ आदि के पालन का भार राजा पर था[२६]। अतः कुलीन स्त्री के अर्थार्जन की आवश्यकता नहीं थी। आय का काम पुरुष का था, उसका उचित व्यय करना स्त्री का। मनु ने कहा है कि 'स्त्री को सोच-समझकर व्यय करने वाली होना चाहिये'[२७]। स्पष्ट है कि अर्थार्जन का अधिकार स्त्रियों को नहीं था, लेकिन घर की समस्त सम्पत्ति स्त्रियों के ही हाथ मे रखने का विधान था। इस प्रकार पत्नी पति के काम और धर्म की भाँति अर्थ का भी मूल थी।

भारतीय नारियों के राजनीति मे अभिरुचि तथा शासन-सूत्र हाथ में लेने की सूचनायें भी इतिहास में मिलती हैं। वैदिक काल मे तो राजा के रत्नियों में 'महिषी', 'परिवृक्ति', 'वबाता' स्त्रियाँ सम्मिलित थीं[२८], इन्हें 'राष्ट्रस्य प्रदातारः' माना गया है। स्पष्ट है कि स्त्रियों को महत्त्व-पूर्ण राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। लेकिन स्मृति-काल में राज्य के अठारह तीर्थों में, अर्थात् मन्त्री, सेनानी आदि अधिकारियों में रानी को स्थान नहीं प्राप्त था। धर्मशास्त्रों में नारी के राज्याधिकार के विषय में मतभेद था, प्रायः राज्य के उत्तराधिकारी पुरुष थे, लेकिन स्त्रियों को शासन के लिए अयोग्य नहीं माना गया था। रामायण में सीता को राजपद देने की सूचना दी गयी थी[२९]। लेकिन महाभारत के अनुसार राज्य-शासन की क्षमता स्त्रियों में विद्यमान नहीं रहती है[३०]। राज्य-शासक के रूप में नारी का स्वतन्त्र रूप से राज्याभिषेक नहीं होता था, फिर भी राजमहिषी का अभिषेक राजा के साथ होता था। कुन्ती के आशीर्वाद व युधिष्ठिर के अभिषेक-वर्णन में युधिष्ठिर

व द्रौपदी के साथ किये गये धार्मिक कृत्यों का वर्णन है। राज्य-शासक के पद पर न रहते हुए भी राजमातायें बाल-राजा के राज्य की शासन-विधि का उत्तरदायित्व उठाती थी। इस प्रकार शासन में नारियाँ प्रत्यक्ष भाग नहीं लेती थीं, फिर भी राजकुल की नारियाँ राजनीति में निपुण तथा युद्ध के नियमों से परिचित थीं। जैसा कि रामायण में स्पष्ट है कि जनमत का समर्थन ले लेने पर भी राजा दशरथ के राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव को विफल करने मे कैकेयी स्वयं सामर्थ्यवान् थी—उसकी भावना चाहे जैसी रही हो, किन्तु राजनैतिक दृष्टि से वह इस कार्य में सफल हुई थी।

इसी प्रकार महाभारत मे विदुला का स्थान बहुत ऊँचा है जिसने एक बार शत्रु से हार जाने पर हतोत्साहित अपने पुत्र संजय को क्षात्रधर्म की ऐसी शिक्षा दी जिसने उसकी प्रलुप्त आत्मा को जगाकर अजेय पराक्रम पर आरूढ़ कर विजय दिलाई—"पुत्र ! तुम क्षत्रिय-सन्तान हो। भूसे को आग की तरह धीरे-धीरे मत जलो। अधिक नहीं कर सकते तो सिर्फ एक मुहूर्त के लिए ही दावाग्नि की तरह अपनी शिखा फैला कर दिखा दो कि तुम क्षत्रिय सन्तान हो। यदि तुम वीरता का प्रमाण नहीं दे सकते तो तुम्हारी मृत्यु ही उत्तम है। जिस पुत्र में शौर्य-वीर्य नहीं है, उसे पुत्र कहकर बुलाने में शर्म आती है"[३१]। विदुला की प्रतिमूर्ति कुन्ती का भी वर्णन मिलता है जो राजनीति की बड़ी ज्ञाता थी। इसी तरह द्रौपदी का नाम भी पाण्डित्यपूर्ण भाषणों तथा राजनीति-विषयक ज्ञान के लिए नही भुलाया जा सकता।

राजनीति में सक्रिय भाग लेने के अतिरिक्त स्त्रियाँ सेना में भी भर्ती हुआ करती थीं, साथ ही पति के साथ युद्ध में जाती थी। ऋग्वेद से पता लगता है कि दास नमुचि ने एक स्त्री-सेना बनायी थी[३२]। यह भी प्रसिद्ध है कि देवासुर-संग्राम में दशरथ ने इन्द्र की सहायता की थी और उसमें पति के साथ कैकेयी भी गयी थी, जिसने रथ की धुरी के टूट जाने पर उसकी जगह अपनी ऊँगली लगाकर उनकी समयानुकूल सहायता की थी।

वैदिक काल के बाद ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता है जिसमें नारियाँ स्वयं शस्त्र लेकर युद्ध मे खड़ी हुई हों। इतना अवश्य था कि नारियाँ पुरुषों को युद्ध के लिए प्रेरणा देती थीं और समयानुकूल सहायता करती थीं। युद्धक्षेत्र मे पुरुषों का उत्साह बढ़ाती थीं, शम का प्रयत्न करती थी और युद्धधर्म का पालन करने का आग्रह करती थीं। इस प्रकार धैर्य व दृढ़विश्वास प्रकट करके युद्धक्षेत्र में भी महत्त्व का कार्य सम्पादित करती थीं।

स्त्रियों के सम्मान का धर्मशास्त्रों ने सर्वत्र आग्रह किया है। वैदिक काल मे तो स्त्रियों की महत्ता का गुणगान किया ही गया है, लेकिन उसके बाद के धर्मशास्त्रों मे भी कहा है कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"। मनु गृहस्थ को आदेश देते हैं कि वह अपनी पुत्री के प्रति अत्यधिक आदर-भाव रखे तथा उसकी किसी भी भूल पर क्षोभ न करे। साथ ही बड़ी बहन तथा पिता अथवा माता की बहन को माता के समान समझना चाहिये। इस संसार में सर्वाधिक आदृत माता है, वह पिता से भी अधिक सम्मान की पात्री है। जहाँ पिता गुरु से भी सौ गुना आदृत है, वही माता पिता से भी हजार गुना आदृत है[३३]। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार, माँ चाहे कैसी हो, पर पुत्र का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह हर दशा में उसकी मन से सेवा करे। कारण, माता अपने पुत्र के लिए असीम वेदनायें सहती है, वह अतुलनीय है। अनुशासन पर्व में तो यहाँ तक कहा है कि एक माता दस पिता के समान है, वह पृथ्वी से महान् है, उससे बढ़कर कोई गुरु नहीं है। मनुष्य सभी अभिशाप से बच सकता है पर माता के शाप से नहीं बच सकता[३४]। जिस घर में भावनाओं से पीड़ित महिलाएँ अश्रु बहाती हैं, निश्चय ही उस परिवार का नाश हो जाता है।

सत्यवादिनि, निष्कपट महिला देवी के समान है, अतः सभी को उसका आदर करना चाहिए -- कल्याण होगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय जीवन में स्त्रियों को पददलित, असम्मानित, पीड़ित तथा निम्न स्थान पर रखने की भावना नहीं थी। जैसा कहा है कि परमात्मा एक था, परन्तु उसको फिर दो होने की इच्छा हुई और वह आधे शरीर से पुरुष और आधे से स्त्री हो गया और दो होकर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की। अर्थात्, बिना स्त्री के परमात्मा ने भी अपने को पूर्ण अनुभव नही किया, सम्भवतः इसी कारण स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी मानी गयी है[35]। प्रकृति को परमात्मा का स्वरूप मानकर और प्रकृति की विभिन्न माताओ—पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि के रूप मे पूजा कर भारतीय जीवन में स्त्रियों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति होते हुए भी नारी को कभी-कभी घोर लाछन व तिरस्कार का शिकार होना पड़ता था। ऋग्वेद में भी 'नारी के मन पर नियन्त्रण नही किया जा सकता' कह कर उसकी भर्त्सना की गई है[36]। नारी की भूरि-भूरि प्रशसा करने वाले शतपथ-ब्राह्मण के ऋषियो ने यहाँ तक कहा है कि स्त्रियों से मैत्री नही हो सकती, उनके पास लकड़बग्घे का हृदय होता है। यह उक्ति उर्वशी के सन्दर्भ में पुरुरवा को सम्बोधित करके कही गयी है[37]। उक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि वैदिक युग में भी उसके प्रति तिरस्कार का भाव था। धर्मशास्त्र-युग के मध्य तक आते-आते उसकी स्थिति और भी खराब हो चुकी थी, अतः स्मृतियों व महाकाव्यों मे उसकी बहुत ही भर्त्सना की गई है तथा अपमानजनक शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। मनु उसे पूर्णतया पुरुष के नियन्त्रण में रखते हैं---बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक उसे पिता, पति, पुत्र के नियन्त्रण मे रहना होता था। महाभारत में कहा है कि नारी असत्य का प्रतीक है, दुष्टा है, वह चाकू की धार के समान है तथा गरल, सर्प व अग्नि का सम्मिलित रूप है। हजारों में एक नारी पतिव्रता हो सकती हैं, अधिकांश भ्रष्टा हैं[38]।

लेकिन नारियों की जो भी निन्दा धर्मशास्त्रों में मिलती है, वह स्त्रियों की निन्दा करने अथवा उनकी हीनता प्रदर्शित करने के लिए नहीं है। एक प्रकार की निन्दा तो यह प्रदर्शित करने के लिए है कि स्त्रियों की रक्षा बहुत आवश्यक होती है। यदि उनकी रक्षा न हुई और उनका पतन हो गया तो समाज दूषित हो जायगा। महाभारत में बताया है कि "महात्मा मनु ने देवलोक जाते समय पुरुषों के साथ में मित्रों को सौंप कर कहा—स्त्रियाँ सत्यपरायण व प्रियकारिणी होती हैं और बहुत-सी स्त्रियाँ ईर्ष्यालु, मान चाहने वाली, प्रचण्ड स्वभाव की, विचारहीन और अप्रिय करने वाली होती हैं। थोड़ा-सा प्रयत्न कर उन्हें धर्मभ्रष्ट किया जा सकता है, अतः तुम लोग उनकी रक्षा करना"। सम्भवतः इसीलिए स्त्रियों को कभी स्वतन्त्र नहीं माना है। इस प्रकार स्त्री की जो निन्दा है, वह इसी भावना से प्रेरित है कि यदि सावधानी न बरती जाये तो स्त्री अपने मधुर स्वभाव के कारण, अपनी दुर्बलता के कारण दूसरों के वश में सरलता से आ सकती है जिससे स्त्रियों का पतन होता है तथा समाज का स्वरूप भी दूषित होता है। दूसरी प्रकार की निन्दा इस प्रकार की है कि स्त्रियाँ पुरुषों को वश में कर लेती हैं, वे अपने हाव-भाव से पुरुषों को मोहित करती हैं और पुरुष उनके वश में हो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इस प्रकार की निन्दा पुरुषों को स्त्रियों के कामोपभोग से दूर करने के लिए है। स्पष्ट है कि संसार से भागने वाले, वैराग्य को अधिक महत्त्व देने वाले, संसार को मिथ्या समझने वाले वैरागी अथवा संन्यासी ही इस नारी-विरोधी आन्दोलन में अग्रणी थे। नारी ही इस संसार का सर्वाधिक आकर्षण है, अतः इसके प्रति अप-

साधारण में घृणा की भावना उत्पन्न कर अधिक से अधिक लोगों को अपना अनुयायी बनाना इन तथाकथित सन्त-वैरागियों का उद्देश्य था। ऐसे लोगों को छोड़कर समाज में शिक्षित वर्ग में नारी के प्रति सम्मान था। इस प्रकार यह सच है कि ये उक्तियाँ परस्पर-विरोधी हैं—जैसे देवी होने के साथ नारी प्रमदा भी थी, सत्यवादिनि व सच्चरित्र होने के साथ चरित्रहीन व अस्थिर भी थी, वह घर की रानी होते हुए भी स्वतन्त्रता से वंचित थी। प्रत्यक्ष रूप से शास्त्रकारों व महाकाव्य-प्रणेताओं ने विभिन्न युगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से नारी के चरित्र का मूल्यांकन किया है। किन्तु जहाँ परिवार के स्थायित्व व सुख का प्रश्न है, स्पष्ट रूप से सबने स्वीकार किया है कि उसे सम्मान तथा आदर मिलना चाहिए। साथ ही नारी की जन्मजात दुर्बलता के कारण लोगों का ऐसा विश्वास था कि उसे सतत् संरक्षण की आवश्यकता है और इसलिए उसे पुरुष पर अवलम्बित माना है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्त्रियों को महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे, उनकी स्थिति बहुत अच्छी थी, लेकिन शनैः-शनैः बाद के कालों में उनका पतन होता गया था। फिर भी यह निश्चित है कि भारतीय व्यवस्थापकों के द्वारा स्त्रियों का स्थान और उनके कार्य स्त्रियों के स्वाभाविक गुणों और उनकी दुर्बलताओं के आधार पर निर्मित किये गये हैं, क्योंकि स्त्री शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होती है और यह दुर्बलता कुछ विशेष अवस्था में विशेष रूप से प्रकट होती है। मानसिक दृष्टि से भी स्त्रियो की सीमाएँ होती हैं, वे अधिक विशाल दृष्टि से सोचने में असमर्थ रहती हैं, अर्थात् उनका मस्तिष्क इतना विकसित नहीं होता जितना पुरुषों का। इसके विपरीत, स्त्रियों में गुण भी बहुत हैं। स्त्रियाँ स्वाभाविक रीति से लज्जाशील होती हैं, स्नेहशील, त्यागवती होती हैं, कष्ट-सहिष्णु होती है। जिसके प्रति उनके मन में स्नेह है, उसके प्रति वे जितनी अधिक मात्रा मे सर्वस्वार्पण करने में समर्थ रहती हैं, उतनी मात्रा में पुरुष का किसी अन्य व्यक्ति के लिए समर्पण करना कठिन है। इस प्रकार एक ओर तो संकुचितता है, दूसरी ओर सर्वस्वार्पण की वृत्ति। इन दोनों के समन्वय की दृष्टि से स्त्री को प्रमुख रीति से भारतीय जीवन में गृहिणी व माता के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार स्त्री का एक क्षेत्र निर्मित कर दिया गया है जो उसके मानसिक व शारीरिक गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके लिए उपयुक्त है। अधिकार-भेद का सिद्धांत मानने के कारण स्त्री व पुरुष को भारतीय जीवन मे बिलकुल एक-सा स्थान व कार्य नही दिया गया है, अपितु स्त्रियों व पुरुषों की स्वाभाविक भिन्नता स्वीकार की गयी है। दोनों के शारीरिक गठन, स्वभाव, शारीरिक शक्ति, कार्य-शक्ति आदि में पर्याप्त अन्तर है। सामाजिक व पारिवारिक जीवन में दोनों के कार्यक्षेत्र एक से नहीं हो सकते। स्त्री मातृत्व-प्रधान है तो पुरुष पुरुषार्थ-प्रधान है। स्त्री में ममता अधिक है तो पुरुष में पौरुष। पुरुष शक्ति का व्यय करता है तो स्त्री उसमें शक्ति-उपार्जन की व्यवस्था करती है। पुरुष श्रम से थकता है तो स्त्री उसकी थकान का परिहार करके थकती है। तात्पर्य है कि कर्तव्य दोनों में हैं, किसी एक का महत्त्व दूसरे से कम नहीं है। दोनों के सहयोग की भित्ति पर ही पारिवारिक सुख-शक्ति और सामाजिक उन्नति का भवन निर्मित हो सकता है।

सन्दर्भ-संकेत

१. ऋग्वेद ८।३१।५; ८।२७।७। २. बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१७; ४।५।१। ३. आश्वलायन श्रौतसूत्र १'२। ४ गोभिल गृह्यसूत्र २।१।१९-२०। ५. पूर्व मीमांसा ६।१।२४।

卐

६. महाभारत, वनपर्व। ७. यम स्मृति; हारीत स्मृति। ८. विद्यारम्भ करना। ९. मनुस्मृति १२।३२। १०. वात्स्यायन का कामसूत्र १।३।१४। ११. ऋग्वेद ३।५३।४। १२. ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१। १३. अल्टेकर, ए० एस०, पोजीशन ऑफ़ वोमन, पृ० १०१। १४. वही, पृष्ठ १९७। १५. ऋग्वेद, ८।२७।१। १६. अल्टेकर, ए० एस०, पोजीशन ऑफ़ वोमन, पृ० ३२। १७. भगवतशरण उपाध्याय, वीमेन इन इण्डिया, पृ० १८२। १८. मनुस्मृति ९।९६। १९. महाभारत, आदिपर्व ७७।२१; अनुशासन पर्व ८१।११। २०. महाभारत सभापर्व ७२।१३; विराट पर्व ३।१९। २१. महाभारत, अनुशासन पर्व १२।२१। २२. अत्रि स्मृति १३३-३५। २३. शंख स्मृति ५।८। २४. आदिपर्व ६८।४०; शान्तिपर्व १४२।९०। २५. शान्तिपर्व ३१।२३। २६. शान्तिपर्व २२१।३९। २७. मनुस्मृति ९।११। २८. वही। २९. रामायण २।३७।२८। ३०. उद्योग पर्व ३८।४०। ३१. उद्योग पर्व १३३। ३२. ऋग्वेद ५।३।९। ३३. मनुस्मृति २।१४५। ३४. अनुशासन पर्व १०५।१४, १६। ३५. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०। ३६. ऋग्वेद १०।८५।१५। ३७. शतपथ ब्राह्मण ११।५।१।९। ३८. अनुशासन पर्व, १९।६; ३८।१२।

शोधछात्रा, राजनीतिविज्ञान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

हिन्दू-मुसलमानों का अनुयायियों के सम्बन्धों की समाजशास्त्रीय व्याख्या

☐

श्रीमती शीला कुमारी

प्लेटो, सुकरात आदि की रचनाओं से ज्ञात होता है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही समाज के विषय में विचार करता रहा है। भारत एक विशाल देश है। अनेक प्रजातियों, अनेक भाषाओं, धर्मों का सम्मिलित स्वरूप ही भारत की विशेषता है। भारत के मुस्लिम धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं की ही सन्तान हैं।[1] एक ही स्थान पर रहने के कारण प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से वे एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।[2] अनेक विद्वानों ने मनुष्य तथा समाज के सम्बन्धों का अनेक दृष्टिकोणो से समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किया है। मेरा उद्देश्य समाजशास्त्रीय अध्ययनों के आधार पर हिन्दू तथा मुस्लिम समुदाय के सम्बन्धों पर दृष्टिपात करना है तथा सम्बन्धों की उन समानताओं की ओर उन्मुख होना है जो हमारे सम्बन्धों को नई दिशा देते हैं। आज से १० हजार ईसापूर्व से मानव-समाज का इतिहास शुरू होता है। युगों के अन्तरालों ने मानव-समाज को परिवर्तित कर उसे मोड़ कर पहुँचा दिया है जहाँ वह सभ्य कहलाने लगा है।[3] सभ्यता के इस खोल के अन्दर आदिम प्रवृत्ति कहीं-न-कहीं विद्यमान है। आपस में विरोध तथा दूरियाँ भी हैं। समाजशास्त्र से सम्बन्ध होने के नाते हमारा उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है कि हम उन समस्याओं पर भी दृष्टिपात करें जो हमारे सम्बन्धों को बिगाड़ती हैं।

टॉलकट पारसन्स ने समाज की व्याख्या करते हुए कहा कि समाज मानवीय सम्बन्धों का ऐसा संगठन है जो मानव द्वारा निर्मित, संचालित तथा सदैव परिवर्तित किया जाता है।[4] यह सच है कि हमने ही इस धरती को विभिन्न धर्मों की सीमाओं में बाँटा है तथा उसका संचालन तथा परिवर्तन भी कर रहे हैं। पैरोटो ने भी कहा है कि "समाज मानवीय सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है। ये मानवीय सम्बन्ध परस्पर-क्रिया के द्वारा उत्पन्न होते हैं।"[5] समाज में साथ-साथ रहने के कारण दोनों धर्मों के व्यक्ति परस्पर-क्रियाओं में भाग लेते रहते हैं। ये परस्पर क्रियाएँ ही उनके सम्बन्धों को जन्म देती हैं। एक संस्था दूसरी संस्था से, एक समूह दूसरे समूह से, एक परिवार दूसरे परिवार से तथा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अलग-अलग स्तर पर सम्बद्ध है। ये सब क्रियाएँ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों के अन्तर्गत सम्पन्न की जाती हैं। मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह तथा प्रगति के लिए जो कुछ करता है, वह समाज के अन्य सदस्यों के सहयोग तथा संघर्ष के आधार पर करता है और इस प्रकार आपस में अन्तःक्रियाओं का जन्म होता है। "ये व्यक्ति चाहे निकट सम्बन्धी न हों या विभिन्न जातियों अथवा धर्मों के हों, उनमें एक भावना क्रियाशील रहती है कि उनका व्यवहार दूसरो को प्रभावित कर रहा है और वे दूसरों के व्यवहारों से प्रभावित हो रहे हैं—यही अन्तःसामाजिक सम्बन्ध है।"[6] यह बात हिन्दू तथा मुस्लिम समुदायों पर भी लागू होती है क्योंकि समाज को सीमा मे नही बांधा जा सकता। वे अलग-अलग शहरों तथा जगहों मे रहते हैं

धार्मिक दूरियाँ हैं, फिर भी वे एक-दूसरे की संस्कृति, संस्कारों, रीति-रिवाजों, रहन-सहन, फ़ैशन, बोलचाल सभी को प्रभावित करते है।

समूह की परिभाषा देते हुए ऑगबर्न तथा निमकाफ़ ने कहा कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एकसाथ मिलते हैं तो वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।[७] कहने का अर्थ यह है कि क्या वे दो व्यक्ति दो धर्मों के नहीं हो सकते ? अगर ऐसा होता है तो वे अलग-अलग धर्मों के व्यक्ति आपस में एक समूह की स्थापना अवश्य करते हैं। मैकाइवर तथा पेज ने भी कहा कि "समूह से हमारा तात्पर्य एक प्रकार की सामाजिक एकता से है जिसके सदस्यों के हितों में पर्याप्त समानता पायी जाती है, ताकि वे सामान्य जीवन में परस्पर अन्तःक्रियाये कर सकें।"[८] इस प्रकार दोनो समुदाय पास-पास रहते हुए विभिन्न क्षेत्रों में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और अन्तःसम्बन्ध स्थापित करते हैं जिसके फलस्वरूप अन्तःक्रियाएँ होती है। ए० एच० हॉवेल ने भी कहा है कि "मनुष्य के सामाजिक जीवन में अधिक या कम मात्रा में एक प्रकार की मनोवैज्ञानिकता, एक प्रकार की नैतिकता तथा एक प्रकार की अन्तर्सम्बन्धित एकता पायी जाती है। ये मनोवैज्ञानिकता, नैतिकता तथा एकता दूसरे समुदाय के सम्बन्धों की स्थापना में सहायक होती हैं।"[९]

ए० आर० सईद ने भी अपने लेख में लिखा है कि "इस्लाम ने समुदाय के महत्व पर अधिक बल दिया है और व्यक्ति को ख़ुदा का एक सेवक तथा समुदाय के अवयव के अतिरिक्त कुछ नहीं माना है।"[१०] कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने समुदाय का एक अंश है, और कुछ नहीं। अतः व्यक्ति अपने आप अपने समूह या समुदाय के प्रति उदार होता है। जिन दूसरे व्यक्तियों के साथ वह सामुदायिक सम्बन्ध स्थापित करता है, उनके प्रति भी एक 'हम' की भावना रहती है।

आधुनिक काल के समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण इस विषय में संकुचित न होकर व्यापक है। इस आधार पर १९६० में मौरिस तथा स्टोन ने विभिन्न समुदायों का अध्ययन किया और कहा कि विभिन्न समुदायों पर नगरीकरण, औद्योगीकरण तथा नौकरशाही का प्रभाव पड़ा है। जैसे-जैसे नगरीकरण बढ़ा, वैसे-वैसे विभिन्न समुदायों मे अपने समुदाय के प्रति निष्ठा कम हो गयी है। "आज भी मिली-जुली बस्तियों में रहने वाले लोग आपस में धार्मिक भेदभाव कम रखते है। एक-दूसरे के सुख-दुःख मे सहभागी होते हैं तथा साम्प्रदायिकता के जहर से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। " पहले एकता की भावना इस आधार पर पायी जाती थी कि सभी लोग एक समुदाय के सदस्य होते थे, पर अब विभिन्न समुदायों में परस्पर विभिन्न दृष्टिकोण होता जा रहा है। अब भौगोलिक क्षेत्र भी एक नहीं रह गया है। अब समुदाय की स्थिति यह है कि समुदाय के सदस्य सामूहिक दृष्टिकोण से कम, व्यक्तिगत दृष्टिकोण से हर सम्बन्ध को तौलते है। यह सब व्यक्ति की आत्म-निर्भरता के फलस्वरूप हुआ है।"[११]

इसी तरह का प्रभाव हमारे भारतीय समाज के हिन्दू-मुस्लिम समुदायों पर भी पड़ा है। वैयक्तिक स्तर पर सम्बन्ध अच्छे हैं क्योंकि समुदाय के हित के पहले व्यक्ति व्यक्तिगत हित की भावना को पहले महत्व देता है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के फलस्वरूप विभिन्न समुदायों तथा धर्मों के लोग एक जगह कार्य करते तथा रहते है और आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सम्बन्धों की स्थापना करते है। इन सम्बन्धों के कारण 'हम' की भावना का विकास अपने आप होता है। गाधी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप उच्च तथा निम्न जातियों के बीच की दूरी कम हुई है और खानपान निषेधों में भी कमी आयी है इसका प्रभाव मुस्लिम समाज पर भी पड़ा है हिन्दू मुस्लिम खान-पान के निषेधो में कमी आयी है।[१२]

टॉनीज का कथन है कि 'इच्छा ही है जो मानव-समुदाय को आपसी सम्बन्धों में बाँधती है।'[१३] उक्त बात अपने में बहुत बड़ी सच्चाई को छिपाये है कि मनुष्य इच्छाओं का दास है और इन इच्छाओं की पूर्ति हेतु उसे सम्बन्धों की स्थापना करनी ही पड़ती है। टॉनीज ने आगे कहा कि 'जिस प्रकार विनिमय-व्यवस्था के अन्तर्गत किसी वस्तु का आदान-प्रदान व्यक्ति की सन्तुष्टि के आधार पर होता है, ठीक उसी प्रकार सम्बन्धों की स्थापना व्यक्तियों के हितों तथा उनकी सन्तुष्टि के आधार पर होती है।' टानीज की सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या भी बहुत विवेकपूर्ण है, "दो समुदायों के सामाजिक सम्बन्ध तब स्थापित होते हैं जब दो या दो अधिक व्यक्ति परम्पराओं, संवेगों तथा स्नेह के आधार पर एक-दूसरे को निकट समझने लगते हैं।"[१४]

सामाजिक सम्बन्धों, समूहों, समुदायों की व्याख्या के अन्तर्गत दोनों धर्मों के व्यक्तियों की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि वे अपने समूह तथा समुदाय के सम्बन्धो के अलावा दूसरे धर्म के व्यक्तियों से भी सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इतने बड़े देश में सबसे बड़ा अल्प-संख्यक समुदाय मुस्लिम समुदाय है। लुइस डुमाइण्ट ने कहा है कि "भारत में मुस्लिम धर्म फैलने का मुख्य कारण हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था है। अगर जाति-व्यवस्था के स्थान पर सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की होती है कि ऊँच-नीच का अन्तर बहुत कम होता तो शायद ऐसा अधिक सम्भव नहीं हो पाता। अधिकांश मुस्लिम मूल रूप से परिवर्तित हिन्दुओं की ही सन्तान हैं।"[१५]

ए० आर० सईद ने भी अपने लेख में कहा कि भारतीय मुस्लिम भारतीय प्रभाव से पूरी तरह युक्त हैं।[१६] अतः दोनों धर्मों के लोग यहीं के, अर्थात् इसी समाज के हैं। परिवर्तन के इस युग में पुराने मूल्यों, पुरानी परम्पराओं एवं मान्यताओं में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। ये परि-वर्तन किसी समूह या समाज की किसी एक सीमा में नहीं हो रहे हैं, वरन् समाज का प्रत्येक अङ्ग इससे प्रभावित हो रहा है। यही कारण है कि सम्बन्ध जैसे पहले थे, वैसे आज नहीं हैं; जैसे आज हैं, वैसे कल नहीं रहेंगे और उनके स्थान पर नई मान्यताओं, परम्पराओं एवं मूल्यों की स्थापना हो जायेगी। इतिहास उठाकर देखें तो पायेंगे कि दोनों समुदायों में हमेशा सम्बन्ध रहा है। शिक्षा के प्रभाव, समाज-सुधार-अन्दोलनों, कानूनों के द्वारा सम्बन्धों को एक नई दिशा मिली है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के पृष्ठों से इतिहास सजा हुआ है।" भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम में जो १८५७ ई० में हुआ था, क्रान्तिकारियों तथा सम्पूर्ण जनता ने अपने साहस तथा वीरता का भरपूर परिचय दिया था।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का पहला पृष्ठ राजा बालकृष्ण राव तथा मौलवी अहमदशाह ने यहीं अवध में लिखा था। वह स्वतन्त्रता-संग्राम का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय था।[१७]

"आज हम पूरे भारत में पाते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम परिवार जो एक-दूसरे के पड़ोसी हैं या सहयोगी हैं तथा उनके बच्चे जो स्कूलों में पढ़ते हैं, उनका आपस में समान व्यवहार होता है।"[१८]

रीति-रिवाजों तथा त्योहारो पर हम जब दृष्टिपात करते हैं तो उनके समाजशास्त्रीय उद्देश्यों में काफ़ी समानता दृष्टिगोचर होती है। विवाह के अवसर पर हिन्दू वर सर पर मौर बाँधता था। अब उसको उतार कर उसके स्थान पर साफा बाँधा जाने लगा है और चेहरे पर फूलों का सेहरा बाँधने का भी रिवाज है। ये सब मुस्लिम रिवाज हैं। इसी तरह फेरे पड़ जाने के बाद हिन्दू वर को अपने साथियों तथा छोटे भाइयों के साथ घर के अन्दर बुलाया जाता है घर की

महिलायें तथा अन्य दूसरी स्त्रियाँ, वधू की बहनें और सहेलियाँ इस अवसर पर वर से छेड़छाड़ करती हैं और मिठाई खिलाकर उपहार दिये जाते हैं। इस प्रथा को उत्तर भारत में 'कुँवर-कलेवा' कहते हैं। यह प्रथा अन्य प्रान्तों में भी कुछ भिन्नता के साथ सम्पन्न की जाती है। बिल्कुल इसी तरह मुस्लिम विवाह में भी वर के साथ किया जाता है और इस प्रथा को 'सलाम-कराई' कहा जाता है। कितनी समानता है दोनो रिवाजो में! कब किसने किसकी परम्परा को अपनाया, कहना मुश्किल है। त्योहारों में भी होली तथा ईद का धार्मिक उद्देश्य अलग है, पर सामाजिक उद्देश्य दोनों का एक है। दोनों त्योहारों मे लोग आपसी भेदभाव भूलकर गले मिलते है। जिस प्रकार हिन्दू श्राद्ध के महीने में पूर्वजों के नाम से दान देते हैं तथा भोजन कराते हैं, उसी तरह शब्बे-बारात मे पूर्वजों के नाम से दुआ की जाती है, उनकी कब्रों पर दिया जलाया जाता है और उनके नाम से भोजन बांटा जाता है। कहने का अर्थ यह है कि समानता एक समाज के सदस्य होने के कारण है।

धार्मिक दृष्टिकोण से सम्बन्धों की ओर दृष्टिपात करे तो धर्म का महत्त्व ही धर्म को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रदान करता है। गांधीजी ने धर्म के महत्त्व को बताते हुए कहा था कि "मैं सारे धर्मों की मौलिक सच्चाइयों में विश्वास करता हूँ और मैं यह विश्वास करता हूँ कि यह सब ईश्वर की देन है और ये सच्चाइयाँ जरूरी हैं उन लोगों के लिए जिनके लिए ये धर्म आये।"[१९] उक्त कथन धर्म की उस ऊँचाई को छूता है जिस ऊँचाई पर पहुँचकर व्यक्ति धर्म के सही अर्थ को ग्रहण कर लेता है। उसके सामने से धार्मिक तथा व्यक्तिगत भेदभाव समाप्त हो जाते हैं। मोहम्मद साहब ने भी कहा था कि "सभी मनुष्य ख़ुदा के परिवार के सदस्य हैं तथा जो मनुष्यों की सहायता करते हैं, वे ख़ुदा के प्यारे होते हैं।"[२०]

मोहम्मद साहब का कहना था कि दूसरों के साथ अच्छाई करना विश्वास की नींव है।[२१] अच्छाई का सन्देश प्रत्येक धर्म की नींव है और धर्म जीवन की आवश्यकता है। हर धर्म अपने समाज के व्यक्ति को भावात्मक सुरक्षा प्रदान करता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री किंग्स्ले डेविस के अनुसार, "मनुष्य को मिलने वाली असफलताएँ उसके जीवन को निराश तथा अव्यवस्थित कर देती हैं। अतः धार्मिक पवित्र वस्तुओं की विद्यमानता और पवित्र संस्कारों मे भाग लेने से व्यक्ति को सुख ही नहीं प्राप्त होता, वरन् वह अपने जीवन के विश्वासों को दृढ़ करता है।"[२२] टॉलकट पारसन्स ने भी कहा है कि धर्म द्वारा स्वीकृत लोकाचार सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करते हैं।[२३] अतः जब समाज में सामाजिक कल्याण तथा जीवन के प्रति विश्वासों में दृढ़ता होगी, वहीं दोनों समुदायों के सम्बन्धो मे समानता की मात्रा अधिक होगी। अन्तर्जातीय विवाहों को धार्मिक दृष्टिकोण से तथा सामाजिक दृष्टि से कभी मान्यता नहीं मिली है, पर इस प्रकार के विवाह आपस की दूरियों को कम करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। जब भी ऐसे विवाह होते हैं तो दो व्यक्तिगत आधार परिवार तथा समाज के आधार बन जाते हैं।

चुनावों तथा राजनैतिक क्षेत्रों में कहीं सम्बन्ध मधुर दिखाई पड़ते हैं, कहीं सम्बन्ध हवा मे उड़ते नजर आते हैं, क्योंकि आज चुनाव व्यक्तिगत आधार पर कम, जातिगत अथवा पार्टी के आधार पर लड़े जाते है। न्यायमूर्ति के० वी० कृष्ण अय्यर ने लिखा है कि सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्वतन्त्रता खतरे में है, क्योंकि राजनीति सेवा न रहकर धंधा बन गयी है।[२४] १८५७ ई० के पहले जो घनिष्ट सामाजिक सम्बन्ध दोनों समुदायों के थे, वे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक काफ़ी कम हुए हैं। इसके लिए हमारी राजनीति जिम्मेदार है।[२५] दंगों के लिए जिम्मेदार व्यवस्था पर प्रहार करते हुए श्रीमती निर्मला श्रीनिवासन ने अपनी पुस्तक मे कहा है कि "राष्ट्रीय निर्माण के इन ३३ वर्षों

में ४५ प्रतिशत गरीबी, बेरोजगारी, निरक्षरता, कुण्ठा तथा अज्ञानता मिली है तथा दिसम्बर, १९७८ से अगस्त, १९८० के बीच २२३ दंगों की उपलब्धि हुई है। अतः राष्ट्रीय स्वरूप को पुनः परिभाषित करने की तत्काल आवश्यकता है।[२६] प्रसिद्ध चिन्तक तथा समाजशास्त्री विलियम रेडाल्फ हर्स्ट ने कहा था कि "एक राजनैतिक व्यक्ति अपनी कुर्सी पर बने रहने के लिए कुछ भी कर सकता है, यहाँ तक कि देशभक्त भी बन सकता है।"[२७] अतः राजनैतिक दृष्टि से संबंधों की मधुरता को कभी-कभी दंगों के रूप में बलि देनी पड़ती है, इसके लिए हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था तथा चेतना जिम्मेदार होती है।

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों तथा चिन्तन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दू तथा मुस्लिम एक समाज के सदस्य हैं और एक ही समाज में रहने के कारण वे आपस में अन्तः-सम्बन्धित हैं। सहयोग तथा संघर्ष समाज के दो पहलू है। एक विकसित सभ्य समाज की रचना सहयोग की नींव पर ही सम्भव हो पाती है तथा नियन्त्रण और परिवर्तन की प्रक्रिया को सहयोग से ही आगे बढ़ाया जाता है। कभी संघर्ष की कटुता अगर सम्बन्धों को कटु बनाती है, तो सहयोग की मधुरता सम्बन्धों को मजबूत बनाकर समाज को एक नई दिशा प्रदान करती है।

सन्दर्भ-संकेत

१. डुमाउन्ट लुईस, होमोआयर आरचीकस, दी कास्ट सिस्टम एण्ड इट्स इम्प्लीकेशन, विकास पब्लिकेशन देहली, १९७०, पृ० २११। २. अरस्तू, "पालिटिक्स", लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९०५, पृ० १५। ३. श्यामाचरण दुबे, "मानव तथा संस्कृति", राजकमल प्रकाशन, देहली, १९६०, पृ० ४४। ४. टॉलकाट पारसन्स, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ शोसल साइंसेस, पृ० २३१। ५. टॉलकाट पारसन्स, सोसाइटीज : इवोलूशनरी, कम्परेटिव एण्ड पर्सपेक्टिव, न्यू जेरसी, पेन्टीस हाल, १९६६, पृ० ९। ६. मेक्स वेबर, "दी थ्योरी ऑफ़ शोसल आर्गनाइजेशन", ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सटी प्रेस, १९६४, पृ० १०१। ७. डब्यू० एफ० ऑगबर्न तथा एम० एफ० निमकाफ़, 'ए हैण्डबुक ऑफ़ सोशोलाजी', रूतलेज एण्ड कैमनपाल लिमिटेड, लन्दन १९५७, पृ० १७२। ८. मैकाइवर तथा पेज, 'सोसाइटी', मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९५३, पृ० २१३। ९. आर० एम० मैकाइवर 'कम्युनिटी', मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन, १९५७, पृ० १०७। १०. एम० एच० हावल, इकोलोजी एण्ड ह्यूमन इकोलोजी, सोशल फोर्सेस, २२ मई, १९४४, पृ० ४०४। ११. ए०आर०सईद, डाइमेन्शन ऑफ़ सोशल चेन्ज, सम्पादक एम० एन० श्रीनिवास, एलाइड पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, १९७८, पृ० २१९। १२. मौरिस तथा स्टोन, दी इक्लिप्स ऑफ़ कम्युनिटी, १९६०। १३. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, सामाजिक विचारधारा, सरस्वती सदन ६-यू० ए० जवाहरनगर, दिल्ली-६, १९७३, पृ० ४०७। १४. टॉनीज, कम्युनिटी एण्ड सोसाइटी, न्यूयार्क, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५७, पृ० २२३-२३१। १५. डुमाउण्ट (ड्यूमो) लुईस, होमोआयर अरचीकस, दी कास्ट सिस्टम एण्ड इट्स इम्प्लीकेशन, विकास पब्लिकेशन, १९७०, पृ० २११। १६. ए० आर० सईद, डाइमेन्शन ऑफ सोशल चेन्ज, सम्पादक एम० एन० श्रीनिवास, एलाइड पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, १९७८, पृ० २२१। १७. नीरज बक्शी, क्रान्तिकारियों का उपहास उड़ाती रेजिडेंसी, अमृत प्रभात (इलाहाबाद) २६ जनवरी, १९८२, पृ० ३। १८. एस० आबिद हुसैन, दी डिस्टिनी ऑफ़ इण्डियन मुस्लिम, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६५, पृ० २३७। १९. मोहम्मद तैय्यबुल्ला, इस्लाम एण्ड नान सायसेन्स किताबिस्तान इलाहाबाद १९५९ पृ० २१। २० मौलाना हकीम हफ़ीजुल्लाह, आइने-रसूल (हदीस) जानसन प्रिन्टिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस ७८ कोलूटोला स्ट्रीट,

पृ० ७८ २१ वही, पृ० ८१। २२. डेविस किंग्स्ले, ह्यूमन सोसाइटी, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९६०, पृ० ५३२। २३. टॉलकाट पारसन्स, साइकालोजी एण्ड सोसियोलाजी लेखा बुक, फ़ार ए साइन्स ऑफ़ सोशल मैन (सम्पादक जी० पी० गिलि), न्यूयार्क, मैकनिकल कम्पनी, पृ० ६९। २४. श्यामजी पाण्डेय, लोकतन्त्र गोल है, अमृत प्रभात २६ जनवरी, १९८२, पृ० १। २५. एस० आबिद हुसैन, दि डिस्टिनी ऑफ इण्डियन मुस्लिम, अध्याय १३—रिलीजन विद ब्रादर इण्डियन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६५, पृ० २३७। २६. निर्मला श्रीनिवासन, आइडेन्टिटी क्राइसिस ऑफ़ मुस्लिम, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९८१, पृ० २३। २७. श्यामजी पाण्डेय, 'लोकतंत्र गोल है', अमृत प्रभात, २६ जनवरी, १९८२, पृ० १।

प्रवक्ता, समाजशास्त्र
हमीदिया गर्ल्स डिग्री कालेज
इलाहाबाद,

हीरो-मिथ का सांस्कृतिक विकास

डॉ० वीरेन्द्र सिंह

पितृसत्तात्मक समाज और 'हीरो' का जन्म

सभ्यता और संस्कृति के विकास में मातृसत्ता से पितृसत्ता तक का संक्रमण इस तथ्य को समक्ष रखता है कि पुरुष तत्त्व की क्रमिक प्रधानता और नारी तत्व की वरीयता में क्रमिक ह्रास होता गया। यह प्रक्रिया इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि 'चेतना' का यह क्रमिक पुल्लिंगीकरण 'हीरो' या 'नायक' का आरम्भ बिन्दु है जिसने क्रमशः हीरो-मिथ का सर्वाङ्गीण विकास किया। हीरो-मिथ का यह विकास सांस्कृतिक-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो संसार भर के मिथकों में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। अहं चेतना के इस पुल्लिंगीकरण ने 'हीरो' का रूप धारण किया। हीरो इसी अहं चेतना का विस्तार है जो अचेतन और विरोधी शक्तियों से संघर्ष करता है। हीरो मिथ का प्रमुख गुण उनकी विश्वजनीन अर्थवत्ता है जो इस संसार के केन्द्र में है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'हीरो' एक महत्त्वपूर्ण 'आदिरूप' या आरकिटाइप है जो मानवता का आदर्श और प्रेरणास्रोत रहा है। जहाँ एक ओर 'हीरो' या नायक समूह मन को प्रेरित और आन्दोलित करता है, वहीं 'वह' व्यक्तिमन को भी प्रेरित करता है। यही कारण है कि सांस्कृतिक चेतना में (जाति की) 'हीरो' दो स्तरों पर जाति को प्रेरित करता है—एक सामाजिक स्तर पर और दूसरे व्यक्ति के स्तर पर।

अचेतन और जातिवीर

हीरो का उद्भव और विकास जातीय अचेतन का स्वरूप है। युंग के अनुसार किसी व्यक्ति विशेष के चारों ओर जातीय प्रेम-भावना केन्द्रित हो जाती है, उसका स्रोत अचेतन मन ही है जो एक प्रकार से अचेतन के प्रति 'जाति' का प्रेम है।[1] ये हीरो हमारे ही अंग हैं जो जाति की सांस्कृतिक चेतना के 'हीरो' हैं। हीरो का यह रूप उसकी अतिमानवीय शक्ति से भी सम्बन्धित है जिसका स्वरूप हमें 'महामाता' के अधिकार में, ड्रैगन के संघर्ष में तथा अन्य बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में दिखाई देता है। यहीं से 'जातिवीर' या गिल्गमेश की भावना का सूत्रपात होता है। इस जातिवीर का आदिरूप उसके यातुक और अलौकिक रूप में भी प्राप्त होता है।[2] आदिम मानव के गुहा-चित्रों में (जो भारत और योरुप में प्राप्त हुए है) कुछ ऐसे चित्र प्राप्त हुए हैं जो किसी पुरुष द्वारा अस्त्रों से आहत 'पशु-चित्र' हैं जो आखेट की सफलता के लिए किए गए यातु कर्म हैं और ये तथाकथित जातिवीर सिंह या वृषभ पर विजय प्राप्त करते भी दिखाये गये हैं।[3] जातिवीरों की यह यातुक-शक्ति 'हीरो' भावना का एक अभिन्न अंग है। सैमशन ने इस अतिमानवीय शक्ति से शेर को पराजित किया। एन्किद् और गिल्गमेश भी यही कार्य करते हैं।

'हीरो' की द्विविधि पैतृकता

हीरो के स्वरूप का सम्बन्ध दो तत्त्वों से है। एक उसके जन्म से और दूसरे, उसकी द्विविधि पैतृकता से। हीरो के दो पिता या दो माता होते हैं। यह तथ्य हीरो-मिथ का एक केन्द्रीय तत्त्व है। हीरो के एक व्यक्तिगत पिता के अतिरिक्त एक 'उच्च' पिता भी होता है जिसे 'आदिरूपीय' पिता (आरकिटाइपल) का बिम्ब कहा जाता है और यही स्थिति 'माता' के सम्बन्ध में भी प्राप्त होती है। हीरो का यह व्यक्तिगत एवं पराव्यक्तिगत पैतृक रूप एक प्रकार से हीरो ड्रामा का एक अभिन्न अंग है। युंग तथा अन्य मनोविश्लेषकों ने ड्रैगन संघर्ष को तथा भूत या राक्षस युद्ध को 'हीरो' मिथ के साथ जोड़कर इडीपस ग्रन्थि, जो पश्चिमी जगत् को सदैव से आन्दोलित करती रही है, हीरो की मनस्-प्रक्रिया या घटना को समझने का एक आधार बनाने का प्रयत्न किया। इस हीरो-मिथ के साथ अक्सर यह भी देखा गया है कि माता या पिता में से एक 'दिव्य' व्यक्तित्व का होता है जैसे मातृदेवी या पितृदेवता !

पवित्र कौमार्य और हीरो का जन्म

सामान्यतः ये माताएँ पवित्र कौमार्य से युक्त थीं जैसा कि प्राचीन संसार में प्राप्त होता है। यह कौमार्य, महामाता की सृजनात्मक शक्ति से सम्बन्धित है[4] जो किसी एक नर साथी की अपेक्षा

नही रखती है, पर उसी में यह नर तत्त्व विद्यमान रहता है। पुरुष तत्त्व से अधिकृत हो जाने के पश्चात् भी वह अपने 'आदिरूप' को सुरक्षित रखती है। हीरो का जन्म इसी आदिरूप कौमार्य से सम्बन्धित है जिसके दो रूप हैं, एक भयंकर (ड्रैगन) और दूसरे शुभ एवं कल्याणमय रूप जो इस कौमार्य आदिरूप से गहरा सम्बन्धित है। सूर्य हीरो का जन्म इसी शुभ महामाता के आदिरूप से सम्बन्धित है जो पूर्व और पश्चिम के मिथकों में समान रूप से प्राप्त होता है। मैरी, कुंती और केडीशोथ ऐसी ही कुमारी माताएं थी जिन्होंने सूर्य हीरो अथवा दिव्य शक्तिसम्पन्न नायकों को जन्म दिया। इन हीरों का स्वरूप मूलतः परामानवीय या अलौकिक होता था। इस प्रकार के हीरो के जन्म से माता एक आन्तरिक उल्लास का अनुभव करती थी क्योंकि उसने अपने से एक दिव्य परामानवीय व्यक्ति को जन्म दिया जो उसी का एक 'चमत्कार' था। यह चमत्कार एक प्रकार का पूर्वसृजन है जो किसी देव या ईश्वर की अपेक्षा रखता है जो परामानवीय शक्ति का प्रतीक है। यह 'नारी' की पराशक्ति है जो उसे 'महामाता' अथवा 'पृथ्वीमाता' की संज्ञा प्रदान करती है। मिस्र में इसिस, जो पहले ओसिरिस को जीवन देती है और फिर वह दिव्य-देवता के द्वारा प्रजनन करती है। यह दिव्य देवता अनेक अनुष्ठानों में देव-सम्राट् के रूप में अवतरित होता है जिसका सम्बन्ध अनुष्ठानों में उर्वराशक्ति के रूप में है। यह आदि अवस्था मिस्र में प्राप्त होती है।[४] आगे चलकर यह देव-सम्राट् ही सूर्य-देवता के रूप में अवतरित होता है। हीरो के जन्म से इस सूर्य और देवता का एक अभिन्न सम्बन्ध है जो आदिम मिथकों में सामान्य रूप से प्राप्त होती है। लौकिक माता और अलौकिक-देवता (प्रजनक) के संसर्ग से कर्ण, बुद्ध, जोराष्ट्र, तथा परसियस आदि नायकों का जन्म 'महामाता' की उसी सृजनशक्ति का रूप है। इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि नायक के द्विविध रूप का एक अपना ऐतिहासिक महत्त्व है जो स्त्री के जन्म देने के अनुभव से सम्बन्धित है। यह स्त्री का एक आध्यात्मिक बिम्ब है जो अपने को 'स्वर्ग' के लिये समर्पित करता है। इसके अनेक रूप हैं। एक कौमार्य का रूप है जो स्वर्गीय देवता से सम्पर्क करता है, एक तरुणी का रूप है जो देवता के प्रति आनन्द भावना से प्रेरित होती है और एक सोफिया का वह दुःखपूर्ण रूप है जो दिव्यपुत्र या 'लोगॉस' को जन्म देती है। यही कारण है कि हीरो या नायक का जीवन संघर्ष और दुख का होता है, चाहे वह राम, कृष्ण, ईशु या बुद्ध हों।

पिताबिम्ब और हीरो

इस प्रकार नायक का जन्म 'माता' के प्रजनन से है और दूसरी ओर, पुरुष-तत्त्व (पुलिंग) की क्रमशः प्रधानता जो आगे चलकर, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से, स्त्री-तत्त्व की अपेक्षा, अधिक क्रियाशील और शक्तिशाली हो गया। यह पुरुष-तत्त्व की 'अहं' चेतना का विकास कहा जा सकता है जो अपनी शक्ति का क्रमशः साक्षात्कार करता है। यह पुरुष-तत्त्व 'पिता' का रूप नहीं है, पर इसमे व्यक्तिगत पिताबिम्ब का हल्का-सा समावेश रहता है। यह पिता ही 'समूह' का नेता हुआ और 'पुत्र' से उसका संघर्ष यहीं से आरम्भ हुआ। यहाँ पर 'पिता' और 'पुत्र' समूह-गुणों के वाचक शब्द हैं, नकि व्यक्तिगत सम्बन्ध के शब्द। अधिक आयु वाले व्यक्ति 'पिता' है और कम आयु वाले व्यक्ति 'पुत्र'। इनके मध्य जो संघर्ष प्राप्त होता है, वह आयु-भेद के कारण है और अपने मूल रूप में 'आदिरूपीय' प्रकृति के है। ये बड़े या अधिक आयु वाले 'पिता' (वृद्ध) न्याय और व्यवस्था संस्थापक है जो प्रतीकात्मक रूप से 'स्वर्ग' के प्रतिष्ठाता हैं।[५] यह 'स्वर्ग' की स्थिति नितांत नारी या 'माता-पृथ्वी' के विपरीत है। स्वर्ग और 'धरती' का यह 'युग्म' प्रतीकात्मक है जो 'आदिरूप' प्रकृति का माना जा सकता है। यही 'स्वर्ग' का विकास क्रमशः आध्यात्मिक तत्त्व को जन्म दे सका जिसके फलस्वरूप 'पितृ-देवता' की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ जो पुरुष-तत्त्व की वरीयता और प्रधानता को घोषित करता है। यह स्वर्ग 'शक्ति-समूह' का प्रतीक बन गया जो देवी आत्माओं, टोटमिक-पशुओं और पूर्वजों (पितर) का निवास माना गया जो मिथकीय कल्पना का एक रोचक तथ्य है। अनेक महान् पुरुष इसी 'आध्यात्मिक स्वर्ग' से अवतरित माने गए जिन्हें स्वर्ग-दूत अथवा स्वर्गपुत्र की संज्ञा दी गयी। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक-जन्म है जिसका सम्बन्ध पुरुष की अहं चेतना और इच्छा-शक्ति से है। स्वर्ग और पुरुष-तत्त्व का यह एक आधारभूत सह-सम्बन्ध है जहाँ चेतना का ऊर्ध्व रूप चेतन ज्ञान और चेतन सृजन का स्रोत है यह एक प्रकार से एवं महान् पुरुषतत्त्व का प्र तरूप है जो दिव्य नायकों और महापुरुषों का जन्म दे सका इस

संदर्भ में एक रोचक तथ्य यह भी है कि सामान्यतः सभी मानव संस्कृतियाँ चाहे वह ईसाई, यहूदी, ग्रीक, इस्लाम या भारतीय संस्कृति हो, सभी का स्वरूप मूलतः पुरुषतत्त्व प्रधान है। इन सभी सस्कृतियों में 'नारी-तत्त्व' अदृश्य प्रेरक तत्त्व है जो 'अचेतन' का स्वरूप है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नारी तत्त्व के महत्त्व और क्षेत्र को नकारा गया है जो इस संदर्भ से ध्वनित होता है। मेरे विचार से अनेक मनोवैज्ञानिकों ने (युंग तथा न्यूमॉन आदि) स्त्री तत्त्व को 'अचेतन' का रूप मानकर उसके उस प्रेरक एवं आदिशक्ति के रूप को ही अर्थवत्ता प्रदान की है क्योंकि नारी का सृजन तत्त्व ही वह आरम्भिक बिन्दु है जिससे नायक हीरो, स्वर्गदूत और अवतार का जन्म होता है जो परोक्ष रूप से संस्कृतियों के विकास का केन्द्र और स्रोत है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नायक या हीरो का जन्म और विकास 'महामाता' के आदिरूप को खण्डित कर, अपनी अहं-चेतना और इच्छा-शक्ति को विस्तार देता है। आदिम समाजों में आखेट और युद्ध का सम्बन्ध इसी पुरुष-तत्त्व की क्रियाशीलता का सूचक है जो क्रमशः 'पुरुषत्व' के अभिन्न अंग के रूप में मान्य हुआ। इस दशा में भी पुरुष-तत्त्व निरपेक्ष नहीं है, वह नारी-शक्ति से एक सापेक्ष स्थिति रखता है।[८] नेता या हीरो के रूप मे ही इस पुरुषतत्त्व का विकास नही हुआ, पर प्रजनक, सृष्टिदेवता, पितृ तथा आदर्श पुरुष आदि आध्यात्मिक रूपों में हीरो का विकास सभी धर्मों और मिथकों मे प्राप्त होता है। नायक के ये सभी रूप (लौकिक और पारिलौकिक) इतिहास के ऊषाकाल की एक ऐसी घटना है जिसने मानव संस्कृति और सभ्यता के विकास मे योगदान दिया। पितृ-देवता, जो समस्त वस्तुओं का निर्माता है, वह कालातीत है जो समस्त सृष्टि के पीछे विद्यमान एक परम शक्ति का रूप है।

इस सृष्टिकर्ता 'प्रतिमा' से राजा का ईश्वरीय रूप प्रक्षेपित होता है जिसे 'ईश्वर-राजा' की संज्ञा दी गयी है। नायक या हीरो यहाँ पर ईश्वर का पुत्र है, यदि 'वह' स्वयं ईश्वर नही है। सांस्कृतिक नायक और सृष्टिकर्ता ईश्वर का एकीकरण इसी मानवीयकरण प्रक्रिया का क्रमिक विकास है जिसने नायक के व्यापक स्वरूप का विकास किया। हीरो 'ईश्वर-पुत्र' का प्रतिरूप माना गया जिसमें 'स्वर्ग' की समस्त शक्तियों का समाहार हुआ। इस प्रकार 'वह' अपार शक्ति और ऐश्वर्य का प्रतीक बन गया जो ड्रैगन, राक्षस, असुर और अशुभ प्रवृत्तियों का दमन करने वाले नायक के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। मिथकों का यह नायक मुक्तिकर्ता, उद्धारक और सांस्कृतिक प्रगति का एक मूलस्रोत माना गया। ईश्वर-पुत्र से मानव-नायक की यह यात्रा एक तथ्य की ओर संकेत करती है कि नायक का पुनर्जन्म या 'अवतार' होता है, वह अहं चेतना का एक प्रकार से ऐसा रूपांतरण है जो सांस्कृतिक प्रक्रिया के एक अभिन्न 'तत्त्व' के रूप मे प्राप्त होता है।

हीरो का सांस्कृतिक पक्ष

हीरो या नायक का यह 'विशेष' और 'असाधारण' रूप मिथिक चेतना का एक ऐसा रूप है जो क्रमशः प्रतीकात्मक रूप में 'जातीय-मन' का एक प्रेरक बन गया। इसी के साथ वह 'व्यक्ति' और 'समूह' की आकांक्षाओं को जोड़नेवाला एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है जो सांस्कृतिक चेतना का एक अभिन्न अंग है। हीरो के इस सांस्कृतिक एवं जातीय पक्ष के तीन प्रमुख तत्त्व है—एक स्वयं नायक, दूसरा ड्रैगन-युद्ध तथा तीसरा फलप्राप्ति या निधिप्राप्ति (ट्रेजर) जो संघर्ष-प्रक्रिया की एक प्रकार से परिणति है। यह राक्षस या ड्रैगन संघर्ष अचेतन का प्रतीक है जिस पर नायक विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार, ड्रैगन संघर्ष अचेतन एवं अशुभ प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर नायक के उस रूप की ओर संकेत करता है जो ड्रैगन के रूप में रात्रि, अंधकार, समुद्र तथा अपर लोकों को 'भेद' कर विजयी रूप में अवतीर्ण होता है। अहं चेतना (नायक) और अचेतन का यह द्वन्द्व हीरो-मिथ का अभिन्न अंग है जो नित्य और अनादि है। यही देव-असुर, शुभ-अशुभ और सद्-असद् का चिरंतन संघर्ष है जो बाह्य या भौतिक रूप भी ग्रहण करता है।

हीरो मिथ में पिता की हत्या या उस पर अधिकार करने का प्रतीकात्मक अर्थ है। यहाँ पर पिता के दो रूप है—एक सकारात्मक रूप जो जर्जरित व्यवस्था और मूल्यो के विरोध में हीरो की सहायता देता है जो एक प्रकार से पिताबिम्ब का अतिवैयक्तिक रूप है। दूसरा नकारात्मक रूप है जो हीरो के इस संघर्ष म बाधा उपस्थित करते हैं जो व्यक्तिगत पिता का बिम्ब है बाइबिल मे जेहोवा का अब्राहम के प्रति आदेश इसे स्पष्ट करता है तुम अपने सगे और अपने देश से बाहर आओ

अपने पिता के घर से बाहर आओ, मैं तुम्हें इस दृश्य जगत् पर ले जाऊँगा।'[५] हिन्दू मिथको मे स्थिति विपरीत भी है जहाँ पर व्यक्तिगत पिता नायक का पक्षधर है और रामकथा मे दशरथ की यही स्थिति है, पर दयनीय अवस्था में। इस प्रकार, हीरो एक स्वतंत्र संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप मे अवतीर्ण होता है जो अशुभ व्याख्या, तंत्र, मूल्य तथा प्रतिमानों को नष्ट या परिवर्तित करता है।

'बंदी' और 'निधि' के अर्थ

हीरो-मिथ के संदर्भ में माता और पिताबिम्ब में संघर्ष और अंत में, हीरो का गंतव्य तक पहुँचना और तदनुसार 'बंदी' या 'निधि' को स्वतंत्र और प्राप्त करना—ये तीनों प्रक्रियाएँ हीरो के बहुमुखी विकास के सोपान हैं जो मिथकीय प्राकल्पना का अभिन्न और आवश्यक अंग है। यह 'बंदी' और 'निधि' शब्दों का अर्थ नितांत सांकेतिक और व्यंजनात्मक है। बंदी कोई भी प्रेमिका या कुमारी हो सकती है जो किसी दैत्य, राक्षस या अशुभ तत्त्व के द्वारा बंदी कर ली गयी है और हीरो, अपने पौरुष और वीरता से उसे मुक्त करता है। जहाँ तक 'निधि' का प्रश्न है, वह अनेक अर्थों का वाचक है। स्वर्ण, हीरा, मोती तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ इसके अन्तर्गत आते हैं जो मूलतः अमर 'मूल्यों' के प्रतीक हैं।[६] इसी प्रकार 'जीवन जल', 'अमृत', 'अमर-पौदा', दार्शनिक का पाषाण, रहस्यमय अँगूठियाँ तथा पर-युक्त घड़ियाँ आदि निधि के ही प्रतीक हैं जो मिथकों, परीकथाओं, अनुष्ठानों, धर्मों, काव्यों और रहस्यवादी साहित्य में अपने व्यंजनात्मक अर्थ को सुरक्षित किये हुए हैं। ये सभी पदार्थ, जहाँ तक मिथकों का सम्बन्ध है, विषयगत या वस्तुगत अर्थ देते हैं, तो दूसरी ओर वे विषयीगत या आध्यात्मिक अर्थ भी देते हैं। ये दोनों ही अर्थ महत्त्वपूर्ण और सार्थक हैं क्योंकि इनके द्वारा मिथ के अर्थ का विस्तार होता है और साथ ही, मिथ की गतिशीलता का परिचय भी प्राप्त होता है।

रूपान्तरण-मिथकों का रूप

इस अंतिम अवस्था मे जहाँ हीरो मुक्तदाता के रूप में अवतरित होता है अथवा 'बंदी' को मुक्त करता है—ऐसी अवस्था में वह स्वयं भी रूपांतरित होता है और दूसरों को भी रूपांतरित करता है। इन्हें ही रूपांतरण-मिथकों की संज्ञा दी गयी है। इन रूपांतरण-मिथकों का महत्त्व सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी है जो मानवीय चेतना को गतिशीलता देते हैं और साथ ही, व्यक्ति और समूह के ऊर्ध्वगामी विकास को रेखांकित करते हैं।

जैसाकि कहा गया है कि 'बन्दी' और 'निधि' का एक अपना सांकेतिक अर्थ है जो वस्तुपरक और विषयीगत अर्थों को प्रकट करते हैं। वस्तुगत रूप में 'बन्दी' एक वास्तविक जीवित स्त्री है जो पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध को रेखांकित करती है। दूसरी ओर स्त्री का यह रूप वस्तुगत क्षेत्र का अतिक्रमण कर, परावैयक्तिक बिम्ब को प्रकट करती है जो मूलतः सामूहिक-मनस् का रूप है जो मानवता में अन्तर्व्याप्त है। इस अर्थ में क्रमशः 'बन्दी' का रूपांतरण होता है और वह आंतरिक तत्त्व या 'आत्मा' के रूप मे सामने आती है। अनेक मिथक इस 'आत्मा' और पुरुष 'अहं' के सम्बन्ध को व्यंजित करते हैं और संघर्ष के द्वारा पुरुष इस आंतरिक-तत्त्व या आत्मा को मुक्त करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि नारी और पुरुष का सम्बन्ध अभ्यांतरिक है और साथ ही, मनस् पृष्ठभूमि मे इन घटनाओं का घटित होना मिथकीय प्रतीकवाद का एक ऐसा स्रोत है जो सांस्कृतिक चेतना के विविध रूपों में व्यक्त होता है। यह परालौकिक सम्बन्ध एक प्रकार से आध्यात्मिक प्रतीकों को भी जन्म देता है जो धर्म और पुराणों में, रहस्यवादी संप्रदायों में, लोकगाथाओं में तथा सृजनात्मक अभिप्रायों में प्राप्त होता है। ये आंतरिक घटनाएँ ही बाह्य रूप ग्रहण करती हैं जो वस्तुओं के द्वारा आकार ग्रहण करती हैं। इस प्रकार मिथिक चेतना अन्तर और बाह्य को एक सूत्र में बाँधते हैं अथवा अनेक विचारकों का मत है कि मिथ जो आंतरिक-घटनाओं को प्रकट करते हैं, वे ही बाह्य रूपाकार ग्रहण करते हैं। अन्तर का संघर्ष ही बाह्य संघर्ष को जन्म देता है। अन्तर और बाह्य का यह संवाद एक नित्य घटना है जो मिथकीय चरित्र की होते हुए भी यथार्थ और वास्तविकता से गहरी जुड़ी हुई है। मिथ का वस्तुगत और विषयीगत विवेचन मिथ के भौतिक और अतिभौतिक (या अतिवैयक्तिक) स्वरूपों को एकसाथ चरितार्थ करते हैं और यही कारण है कि हीरो मिथ (या अन्य कोई मिथक) केवल व्यक्ति का ऐकांतिक इतिहास नहीं है, पर वह समूह या जाति की अतिवैयक्तिक या परावैयक्तिक सामूहिक घटना है जो अचेतन में गहरी पैठी रहती है। हीरो जब

५

ड्रैगन या राक्षस पर विजय प्राप्त करता है तो यह घटना अतिवैयक्तिक स्वरूप की है जो स्वयं हीरो मे घटित हो रही है। हीरो का यह रूप सारी मानवता की धरोहर है क्योंकि वह जाति के चिन्तन, विचार और उसके अनुभवबध मे पुन: पुन: विवेचित होने में सदा रूपांतरित होता रहता है।

'बदी' बिम्ब और हीरो मिथ

अनेक मिथकों मे हीरों के संघर्ष का गतव्य 'बन्दी' का राक्षस या दैत्य से मुक्त करना है। यह 'दैत्य' एक आदिरूप है जिसके अनेक रूपांतरण प्राप्त होते हैं— कही वह ड्रैगन है, कहीं तांत्रिक है, कहीं चुड़ैल है तो कही व्यक्तिगत क्रूर माता व पिता के बिम्ब हैं। अन्त में, बन्दी (जो प्रेमिका के रूप मे) सदैव हीरो से विवाह-बंधन में बँध जाती है और यह तथ्य संसार भर के मिथकों में एक सामान्य प्रवृत्ति है। प्रतीकात्मक रूप मे हीरो की यह विजय, यातुक रीति से उर्वरा अनुष्ठानों मे भी प्राप्त होती है जहाँ तरुण हीरो-सम्राट् का मिलन पृथ्वीमाता या देवी से होता है। हीरो की बदी पर यह विजय इसी यातुक उर्वरा अनुष्ठान का प्रतीकात्मक रूप है। यह तथ्य हीरो मिथ को एक सामाजिक एवं आर्थिक संदर्भ प्रदान करता है जिसे फ्रेजर, मेलीनोवस्की आदि विचारकों ने महत्त्व प्रदान किया है। हीरो का यह 'मुक्तिदाता' रूप पुरुष की चेतना और उसकी शक्ति का और अधिक विस्तार है जिसका आरम्भ ड्रैगन संघर्ष और भयानक माता संघर्ष से हुआ है। इस प्रकार हीरो एक गतिशील व्यक्ति है जो सामूहिक महत्त्व का तथा परावैयक्तिक अर्थवत्ता का 'बिम्ब' है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष का यह मिलन अंततः हीरो को एक पारिवारिक अर्थवत्ता देता है जो पितृसत्ता युग के वि॰ास में एक प्रेरक तत्त्व माना जा सकता है। स्त्री के पक्ष का एक तथ्य यह भी प्रकट होता है कि महामाता का जो प्रभुत्व अभी तक था जिसके द्वारा नारी शक्ति का अनुभव होता था, वह प्रभुत्व एक प्रकार से समाप्त हो गया। 'बंदी' का रूप नारी के उस पक्ष की ओर संकेत करता है जहाँ वह मानवीय रूप में अवतरित होती है और सगिनी का रूप धारण करती हैं जिससे पुरुष किसी भी समय प्रेम-बंधन में बँध सकता है। नारी (बंदी) इस समय पुरुष के पौरुष और साहस की ओर आकृष्ट होती है। अब पुरुष नारी के लिए केवल लिंग धारण करने वाला प्राणी नहीं है, पर सही अर्थ में आध्यात्मिक एवं शारीरिक शक्तियों से युक्त 'हीरो' का स्वरूप है।

बहुत से पुराणों और मिथकों में 'बंदी' का एक अन्य रूप भी प्राप्त होता है जो ड्रैगन संघर्ष और राक्षस संघर्ष में हीरो को सहायता देती है और इस प्रकार एक सहयोगी मित्र की तरह हीरो को शक्ति प्रदान करती है। इस संदर्भ में मीडिया, एथीन, कैकेयी, सीता और इसिस आदि के नारी-बिम्ब समक्ष आते हैं जिन्होंने हीरो को किसी न किसी रूप में, संघर्ष में सहायता प्रदान की। नारी के इस रूप को पुरुष अपने 'अहं' और 'चेतना' के अधिक निकट पाता है और केवल उसके यौन सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं रहता है। नारी का यह रूप उसके 'माता' रूप से भिन्न है, यहाँ पर उसका अपना व्यक्तित्व है, वह एक आध्यात्मिक शक्ति है जो 'माता' के सामूहिक पक्ष से नितात अलग है।[11] नारी का यह 'बहन' के समान सहायता देने वाला रूप पुरुष और नारी के सम्बन्ध को एक नया आयाम देता है जहाँ नारी स्वतन्त्र रूप से अहं चेतस् प्राणी है और इस दृष्टि से वह हीरो या नायक के समान एक 'अहं' से युक्त शक्ति का प्रेरणा-स्रोत है। हीरो उसकी सहायता के द्वारा संसार से एक जीवंत सम्बन्ध स्थापित करता है।

बंदी का सम्बन्ध 'निधि' से है जिसे प्राप्त करना एक कठिन कार्य है और यह भी सत्य है कि 'बन्दी' और 'निधि' प्रकारांतर में पर्याय ही हो गए। 'निधि' का गुण यातुकीय है और उसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति, अदृश्य होने, तन्त्रमन्त्र करने तथा दिक् काल के अतिक्रांत करने की 'शक्तियाँ' प्राप्त कर लेता है। हीरो 'बंदी' और 'निधि' की प्राप्ति से अपनी आत्मा की निधि को प्राप्त करता है। यह तथ्य व्यक्ति की सम्भावनाओं की ओर संकेत करता है और साथ ही, 'है' और 'चाहिए' के मध्य सेतु का काम करता है। हीरो का कार्य इन सुसुप्त बिम्बों का जागृत करना है जो अंधकार और अज्ञान से उद्भूत होते हैं और फलतः एक 'प्रकाश-पुंज' की संभावना को प्रकट करते हैं। हीरो, बंदी और 'निधि'—इन सबका एक तात्त्विक रूपांतरण मिथकीय चेतना मे प्राप्त होता है। सभी संस्कृतियो का लक्ष्य उसी 'चेतन-प्रकाश-पुंज' को जागृत करना होता है। यह एक प्रकार से मानवीय सृजन-शक्ति का सूचक है जो केवल मिथकों और धर्मों में ही नहीं, पर कला, साहित्य, विज्ञान और अन्य मानवीय क्रियाओं मे प्राप्त होता है। आत्मा की यह 'स्वयंभू' शक्ति मानव का आतरिक रहस्य है जिसके कारण वह ईश्वर का बिम्ब माना गया इस दृष्टि से मानव शम्ब से विशिष्ट प्राणी है जो उसे (विवेकयुक्त प्रतीक निर्माता की

संज्ञा प्रदान करता है मानव की इस शक्ति का रूपांतरण कलाकार, वैज्ञानिक, महात्मा और विचारक में होता है जो एक व्यापक अर्थ में 'हीरो' कहे जा सकते हैं। आधुनिक संदर्भ में इसे 'हीरो' की अवधारणा का विकास ही कहा जा सकता है।

हीरो का यह सांस्कृतिक रूपांतरण एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करता है कि इस सारी सांस्कृतिक रूपांतरण-प्रक्रिया में यह केवल बाह्य तथा अंतर का ही रूपांतरण नहीं करता है, पर उसका लक्ष्य आत्म-रूपांतरण का साक्षात्कार है जो अधिक उच्च मानवीय मूल्य है जो सबल 'समूह' तक सीमित नहीं है, पर वह एक प्रकार से, मानव-मनस् का वह केन्द्रीभूत रूप है जो आत्म-निर्माण और आत्म-साक्षात्कार को गति देता है। व्यक्तित्व का यह निर्माण (आत्म-रूपांतरण) अनेक मिथकों में प्राप्त होता है जहाँ मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की अकाट्य लालसा प्राप्त होती है। मृत्यु एक ऐसी आदि शक्ति और प्रतीक है जो मानव व्यक्तित्व और उसकी शक्तियों का हनन और विलय कर लेती है। मृत्यु के इस भय ने संसार के अनेक धर्मों और मिथकों में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने और साथ ही, मानव की अमर तथा मृत्युंजय होने की लालसा ने अनेक प्रतीकों, बिम्बों और धारणाओं को जन्म दिया। प्राचीन मिस्र के राजा को अमरत्व का प्रतीक मानना, पूर्वजों की उपासना, आत्मा की अमरता और नित्यता, मृत्यु से परे 'जीवन' की कल्पना (स्वर्ग, नरक आदि) आदि ऐसी मान्यताएँ हैं जो हमें संसार के सभी मुख्य धर्मों में प्राप्त होती हैं। मिस्री मिथकों में 'ओसीरिस' का मिथक इसी प्रकार का है जो व्यक्तित्व रूपांतरण को समक्ष रखता है और साथ ही ड्रैगन संघर्ष के द्वारा हीरो-मिथ को एक ऐसा आयाम देता है जो 'ओसीरिस' की प्रतिमा को आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रतीक ही बना देता है।'[12] मिस्र का एक अन्य देवता 'एडोनिस' है जो मर कर पुनर्जीवित होता है, और इस प्रकार वह सदैव जीवित रहता है। 'ओसीरिस' केवल 'उर्वरा देवता' ही नहीं है जैसाकि फ्रेजर का मत है,'[13] पर वह निम्न उर्वरा स्तर को अतिक्रांत करता है और अन्ततः उच्च आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक बन जाता है। हिन्दू विचारधारा में नचिकेता, सावित्री और युधिष्ठिर का भी यही रूप है जो मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उच्च आध्यात्मिक शक्ति का परिचय देते हैं।

'ओसीरिस का यह रूपांतरण सूर्य (रा) को भी अपने अंदर समाहित कर लेता है और मिस्री मिथकों में सूर्य और ओसीरिस पर्यायवाची शब्द हैं। यही नहीं, 'ओसीरिस' एक स्वयंभू आध्यात्मिक शक्ति है जो 'आत्मा-शरीर' के एकीभूत संस्कार का फल है। ओसीरिस में फिर से उत्पन्न होने की शक्ति है, वह एक ऐसी दिव्यात्मा है जिसने देवताओं का सृजन किया।[14] 'वह' ही भूत, वर्तमान और भविष्य है, सभी कुछ 'उसी' से उद्‌भूत एवं विकसित हुआ है। ओसीरिस का यह रूप एक ऐसी मिथकीय धारणा है जो हमें कृष्ण के विराट रूप में तथा ब्रह्म की अवधारणा में भी प्राप्त होता है। यह समानता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि विभिन्न संस्कृतियों की संरचना में यह मिथकीय बोध की समानता मानव मनस् की समान सार्वभौम प्रक्रिया का सूचक है। यह प्रक्रिया रूपान्तरण की प्रक्रिया है जो आदिम मानसिकता से लेकर आधुनिक मानसिकता तक किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है। यह रूपांतरण मानव व्यक्तित्व और चरित्र का एक ऐसा रूपांतरण है जो मानव-इतिहास की एक अभिन्न घटना है।

संदर्भ-संकेत

१. साइकोलॉजी ऑफ दि कांग्रेस, युंग, पृ० १०८। २. हीरोइक पोएटरी, बॉवरा, पृ० १२। ३. प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० ४०१। ४. दें मिथ आफ दि बर्थ आफ हीरो, आटो रैंक, पृ० २८। ५. मिथ एण्ड रिच्यूअल्स इन एन्शेंट इजिप्ट, क्लैकमैन, पृ० ४१। ६. एन्थ्रॉपोलोजी, गोल्डनविज़र, पृ० ४०८। ७. दि ओरजिन एण्ड हिस्ट्री आफ दि कांशेस-नेस, पृ० १४७। ८. जेनिसिस, पृ० १२; १। ९. साइकोलॉजी एण्ड एलार्कमी, युंग, पृ० ६०-६१। १०. दि ओरजिन्स एण्ड हिस्ट्री आफ कान्शेसनेस, न्यूमॉन, पृ० १८७। ११. सॉइकोलाजी आफ दि ट्रांसफेरेन्स, युंग, पृ० ४८। १२. पैरामिड टेक्ट्स से उद्‌धृत। इसी अमरता को 'ममी' के द्वारा व्यक्त किया गया। १३. गोल्डन बो, फ्रेज़र, पृ० २३४। १४. दि ओरजिन एण्ड हिस्ट्री ऑफ कान्शेसनेस, पृ० २३७-२३८।

५ झ १५, जवाहरनगर, जयपुर (राज०)

डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव एवं कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित एवं
वीना प्रिंटिंग प्रेस कीटगंज, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित